नैषध-परिशीलन

[प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा सन् १९५४ में डी० फिल्० उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबन्ध]

डॉ० चण्डिकाप्रसाद शुक्ल
एम० ए०, डी० फिल्० साहित्याचार्य

पुरोवाक्
म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज

१९६०
हिन्दुस्तानी एकेडेमी
उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

प्रकाशक
हिन्दुस्तानी एकेडेमी
उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

प्रथम सस्करण—२०००
मूल्य १०)

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय
इलाहाबाद

प्रकाशकीय

सस्कृत-साहित्य के महाकाव्य पचको मे महाकवि हर्ष रचित "नैषधीयचरितम्" अपने काव्य-सौष्ठव के लिए अप्रतिम है। हिन्दी मे सस्कृत-साहित्य की समालोचना प्रस्तुत करने का नवप्रयास हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन के साथ किया है।

सस्कृत समालोचना-क्षेत्र में विशेषतः साहित्यिक सिद्धान्त का ही विवेचन अभिप्रेत रहा है। काव्यग्रन्थ सिद्धान्त पुष्टि के लिए उद्धृत हुए है। हिन्दी मे अभी तक संस्कृत-काव्यकृतियो और कृतिकारों का अध्ययन आधुनिक समालोचना पद्धति से कम ही हुआ है। डाक्टर चण्डिका प्रसाद शुक्ल ने अपने इस शोध प्रबन्ध में विस्तार के साथ "नैषध" की विस्तृत व्याख्या की है एवं उसकी काव्यगत विशेषताओ पर सागोपाग प्रकाश डाला है। शुक्ल जी ने ग्रन्थ को प्रस्तुत करते हुए जिस अध्यवसाय एवं विवेक का परिचय दिया है उसके लिए वह बधाई के पात्र है।

आशा है, इस ग्रन्थ का सस्कृत तथा हिन्दी वर्ग में समुचित आदर होगा और इस विषय पर शोध करने वाले छात्रो का मार्गदर्शन होगा।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी
उत्तरप्रदेश, इलाहाबाद

विद्या भास्कर
मंत्री तथा कोषाध्यक्ष

पुरोवाक्

[महामहोपाध्याय, डॉ० गोपीनाथ कविराज]

प्रस्तुत पुस्तक में श्रीहर्षरचित महाकाव्य नैषधीय-चरित के विभिन्न पहलुओं पर किए गए समालोचनात्मक चिन्तन के परिणामो को समाविष्ट किया गया है। यह तो सुप्रसिद्ध ही है कि नैषध संस्कृत के गौरवपूर्ण महाकाव्य-पञ्चक में अन्यतम ही नही अपितु सर्वोत्तम है। कालिदास को, जो निर्विवाद रूप से श्रेष्ठता के अधिकारी है, छोडकर श्रीहर्ष की प्रतिष्ठा साधारणतया भारवि तथा माघ से कहीं अधिक उच्चस्तर पर मानी गई है—"उदिते नैषधे काव्ये क्व माघ· क्व च भारवि ।"

अत· ऐसी वस्तुस्थिति मे यह आवश्यक था कि सस्कृत साहित्य का कोई गम्भीरज्ञानवाला अध्येता इस महाकाव्य की परम सूक्ष्म समीक्षणा मे अपने को तत्पर करे।

पण्डित चण्डिकाप्रसाद ने इस काव्य की तथा इसके रचयिता की समीक्षा मे पन्द्रह अध्याय लगाए है, जिनमे उन्होंने श्रीहर्ष के समय और स्थान का विवेचन करते हुए काव्य में वर्णित विषय का विभिन्न शीर्षकों में समीक्षात्मक विवरण भी दिया है। उन्होने मूलकथानक के विवरण तथा इस रचना मे श्रीहर्ष को प्रेरणा देनेवाले अन्य मौलिक स्रोतो के विवेचन से निबन्ध का प्रारम्भ किया है। तदनन्तर इसमें साहित्यिक समालोचना के आवश्यक अङ्ग रस, भाव, वस्तु, अलंकार, गुण, दोष आदि महत्त्वशील विषयो का विवेचन किया गया है। ग्रन्थ का सर्वाधिक आकर्षक भाग 'व्युत्पत्ति' शीर्षक के अन्तर्गत अध्यायों वाला है, जो प्राय· दो सौ पृष्ठो में सम्पन्न हुआ है। ये अध्याय श्रीहर्ष के अन्त·साक्ष्य पर आधारित दर्शन आदि विविध विषयो के विस्तृत ज्ञान का सुव्यवस्थित विवरण देते है। 'लोक-चित्रण' अध्याय भी उतना ही आकर्षक है। अन्त मे लेखक ने इस काव्य के परवर्ती भारतीय साहित्य पर पडने वाले प्रभाव का संक्षेप मे विवेचन किया है, तथा इस काव्य पर विभिन्न कालो मे एव देश के विभिन्न भागो मे लिखी गई बहुसख्यक टीकाओ मे कुछ की सूची भी दी है।

लेखक की निबन्धशैली श्लक्ष्ण एव आकर्षक है। वे कोई भी महत्त्वपूर्ण विवेचन करते समय मूलस्रोतों से पर्याप्त प्रमाण उद्धृत करते है। जिस अद्भुत

श्लाघ्य विधि से उन्होने अपनी इस स्वयं-निर्वाचित कृति का सम्पादन किया है उसके लिए हम उन्हे बधाई देते है। इस तथ्य को दृष्टि मे रखते हुए कि खण्डन-खण्ड-खाद्य—जैसे ग्रन्थ के रचयिता की लेखनी से प्रादुर्भूत होने के कारण इस महा-काव्य पर अधिकार प्राप्त करना स्वभावतया अत्यन्त कठिन है, मै इस निबन्ध के लेखक की विद्वत्ता एव परिश्रम के प्रति अपनी प्रशसा प्रकट किए बिना नही रह सकता। मुझे आशा है कि इससे हिन्दी साहित्य की भी श्री-वृद्धि होगी।

२ ए, सिगरा, वाराणसी
७-४-६०

गोपीनाथ कविराज

निवेदन

"वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं गुणाद्भुते वस्तुनि मौनिता चेत्"

—नैषध

हृदय मे नैषध के प्रति आदर एव अनुराग का सस्कृत के अध्ययन के साथ ही उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक ही था। सदा यही अभिलाष रहता था कि कब सस्कृत भाषा को समझने की इतनी शक्ति आ जायगी कि श्रीहर्ष की वाणी का आनन्द ले सकूगा। प्रारम्भ मे "नैषधे पदलालित्यम्" की सूक्ति सुनकर जो उत्सुकता अङ्कुरित हुई थी, नल-दमयन्ती के प्रति अनुराग से वह पल्लवित हुई तथा अन्त मे श्रीहर्ष के दुर्धर्ष पाण्डित्य के प्रति श्रद्धानुराग से पूर्ण प्रौढ हो गयी। संस्कृत परीक्षाओ के प्रसङ्ग में जब नैषध का अध्ययन किया तो मन मे एक प्रबल भावना हुई कि क्यो न नैषध पर एक समालोचनात्मक निबन्ध लिखा जाय। किन्तु संस्कृत-साहित्य की समालोचना पद्धति को देख कर किसी एक कवि पर समालोचना लिखने का साहस नही होता था, क्योकि वहा साहित्य के सिद्धान्तो (लक्षणो) का ही विवेचन किया गया है। लक्ष्य (काव्य आदि) केवल उदाहरण रूप मे प्रस्तुत किए जाते हैं। लब्धप्रतिष्ठ कवियो के काव्यो से यथाभिलषित उद्धरण देते हुए आचार्यो ने अपने साहित्य-सिद्धान्त-विषयक मत स्थापित किए हैं। किसी कवि-विशेष की सारी कृतियो अथवा कृति-विशेष पर आलोचनात्मक निबन्ध नही लिखा गया है। हा, टीका करते हुए टीकाकार प्रत्येक श्लोक के सौन्दर्य का यथाशक्य निरूपण अवश्य कर देते है। यह बहुत कुछ अश में ठीक भी है, क्योकि जहा एक वाक्य[1] को ही नही अपितु एक शब्द[2] तक को काव्य माना गया है, वहा उस प्रत्येक वाक्य अथवा शब्द का सब प्रकार से निरूपण करना ही तो काव्य निरूपण होगा, और इसीलिए किसी भी प्रसिद्ध काव्य पर इतनी अधिक टीकाए देखने को मिलती हैं, जो दूसरे रूप में उतनी समालोचनाए ही कही जा सकती है। किन्तु पाश्चात्य समालोचना की पद्धति पर चला हुआ आधुनिक साहित्यज्ञ-समुदाय उससे सन्तुष्ट नही होता, और

---

१. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्—साहित्य-दर्पण

२. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्—रसगङ्गाधर

वह अवश्य कह उठता है कि "संस्कृत में कवियों की वैयक्तिक काव्यालोचना का नितान्त अभाव है। वहां तो केवल साहित्य-सिद्धान्तों का विवेचन-मात्र है" इत्यादि। पर पाश्चात्य समालोचना प्रणाली से नैषध की समालोचना करना अपने को उसी प्रकार प्रतीत होता था जैसे मन्दिर में विष्णु की मूर्ति को पीताम्बर आदि न पहना कर पैंट, कोट और टाई से सजाया जाय। अतः मैंने समालोचना का मापदण्ड भारतीय ही रखने का निश्चय किया।

इस बीच एम० ए० करने के साथ ही कार्य-वश चार वर्ष तक प्रयाग छोड़ कर देहरादून रहना पड़ा। पर नैषध के प्रति अनुराग-भावना वहां भी ज्यों की त्यों बनी रही, जिसके फलस्वरूप मैंने सम्पूर्ण नैषध का हिन्दी-रूपान्तर कर डाला। इस अनुवाद के प्रसङ्ग में नैषध के अन्त: में प्रविष्ट होकर उसका रसास्वादन करने का और अधिक अवसर मिला। अब नैषध पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखने की भावना और भी बलवती हो गई। इसी समय देहरादून के कार्य से कुछ अवकाश-सा मिला। अत: रिसर्च के लिए भाग कर प्रयाग आया। यहां आने पर संस्कृत विभाग के अध्यक्ष पूज्य गुरुवर डा० बाबूराम सक्सेना ने सौभाग्य से नैषध पर ही रिसर्च करने का निर्देश किया। इसके लिए हृदय उनका सदा आभारी रहेगा। उनके वत्सल प्रोत्साहन तथा पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री रघुवर मिट्ठूलाल शास्त्री, विद्याभूषण के साधु आश्वासन एवं वरद सान्निध्य से सोत्साह कार्य प्रारम्भ कर दिया। रिसर्च का विषय अपना मनोभिलषित ही मिला था, अत: यह विचार कर बड़ा हर्षोल्लास था कि यह निबन्ध केवल बुद्धिव्यायाम ही नहीं होगा, इसमें हृदय का भी पूर्ण सहयोग रहेगा। और समालोचना का आधार भारतीय शास्त्रीय पद्धति ही रक्खी। क्योंकि मेरे मन में कुछ ऐसा दृढ विश्वास भी हो गया है कि संस्कृत समालोचना की रस तथा ध्वनि वाली शैली पाश्चात्य समालोचना की अर्वाचीनतम शैली से भी परिष्कृत है। उस पौरस्त्य-पद्धति से की गई काव्य-समीक्षा इस पाश्चात्य शैली की तुला पर भी ठीक ही उतरेगी। यहाँ प्रायः श्रीहर्ष से पूर्ववर्ती आचार्यों के ही सिद्धान्तों को प्रमाण रूप में रखने का प्रयत्न किया गया है। यत्र-तत्र परवर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों का भी उल्लेख हुआ है, पर बहुत कम।

इस निबन्ध में सब मिला कर पन्द्रह अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में नैषध-रचयिता महाकवि श्रीहर्ष के जीवन तथा देशकाल आदि के विषय में विचार किया गया है। अनेक विद्वानों द्वारा श्रीहर्ष के समय आदि के विषय में पर्याप्त विवेचन किया जा चुका है, और सभी किसी न किसी निर्णय पर पहुँचे हैं। इस अध्याय में केवल उन्हीं के मतों का उल्लेख किया गया है जिनके विचार कुछ तर्क-संगत प्रतीत हुए। साथ ही अपनी भी युक्तिसंगत दृढ़ धारणा रक्खी गई है।

द्वितीय अध्याय मे सक्षेप मे सम्पूर्ण काव्य कथानक रक्खा गया है, और अन्त मे शास्त्रीय ढग से उस कथानक की मीमासा की गई है। साथ ही नैषध एक पूर्ण काव्य है, इस पर भी विस्तृत मौलिक विचार प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय अध्याय में कथानक का औचित्य है। इसको प्रबन्धौचित्य या 'कवि की प्रबन्ध-मौलिकता' भी कहा जा सकता है। इसमे नैषध के कथानक के आधार, महाभारत-गत नल-कथा से नैषध के कथानक मे कहा, क्या और क्यों अन्तर किया गया है, कथानक के सकोचविस्तार एव परिवर्तन का क्या प्रयोजन है, इत्यादि का नितान्त मौलिक विवेचन हुआ है।

चतुर्थ अध्याय 'आदान' है[1], इसमे पूर्व काव्यो से नैषध मे क्या भाव-साम्य अथवा उक्ति-साम्य है, अर्थात् पूर्ववर्ती काव्यो का नैषध पर क्या प्रभाव पड़ा है, इसका सविस्तार तुलनात्मक विवेचन किया गया है।

पञ्चम अध्याय मे नैषध के रस तथा भाव का निरूपण किया गया है। शृङ्गार के अतिरिक्त जितने अन्य रसों का जिस रूप मे श्रीहर्ष ने समावेश किया है, उनका यहा प्रदर्शन किया गया है।

षष्ठ अध्याय 'वस्तु-वर्णन' का है। इसमे नैषध-गत उपवन, पुर, प्रभात आदि के वर्णन-सौन्दर्य पर विचार किया गया है।

सप्तम अध्याय मे प्रकृतियो (पात्रो) के चरित्र का निरूपण किया गया है। नैषध मे वर्णित पात्रो के चरितो का इसमे अत्यन्त मौलिक एव वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। संस्कृत के विरले ही काव्यो में पात्रो के चरित्र का इस प्रकार विकास हुआ है।

अष्टम मे नैषध मे कुछ दोषो की उद्भावना की गई है, जिनमे अनेक वस्तुत. दोष नही है।

नवम मे नैषध की ध्वनि तथा अलकारो के सौन्दर्य का स्वतंत्र विस्तृत विवेचन हुआ है। श्रीहर्ष मे अद्भुत काव्य-प्रतिभा के साथ ही अपूर्व शास्त्र-व्युत्पत्ति भी थी। सरस्वती की कृपा से भारती का समस्त ज्ञानकोष उनके लिए खुल गया-सा प्रतीत होता है। अब तक के अध्यायों मे उनकी अपूर्व प्रतिभा के चमत्कार को काव्य-समालोचना की विभिन्न दृष्टियो से देखने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु जब तक

---

१. जिसे राजशेखर ने 'हरण' कहा है :—
'परप्रयुक्तयोः शब्दार्थयोरुपनिबन्धो हरणम्'—काव्य मीमांसा अध्याय ११, किन्तु इस शब्द की अपेक्षा मुझे 'आदान' अधिक उपयुक्त समझ पड़ा।

उनकी व्युत्पत्ति का सविस्तार विचार न किया जाय नैषध की समीक्षा पूरी कही ही नही जा सकती। सस्कृत के अन्य कवियो से श्रीहर्ष मे यही विशेष अन्तर है कि अन्य कवि या तो केवल कवि है या केवल पण्डित। उनके काव्य मे या तो केवल काव्य का रसमय सौन्दर्य ही मिलता है, या फिर केवल शास्त्र के नियमो का शुष्क प्रदर्शन ही। शास्त्रज्ञान की दिव्यज्योति मे काव्य-प्रतिभा का रूपललाम विरले ही दिखा सके है। अतएव राजशेखर ने कवियो के शास्त्र-कवि, काव्य-कवि, तथा उभयकवि ये तीन भेद बताकर अन्त मे विवश होकर कहा कि "शास्त्र-ज्ञान से काव्य-सौन्दर्य अवश्य बढता है, किन्तु शास्त्र की नितान्त परायणता से तो काव्यचारुता का ह्रास ही होता है। उसी प्रकार काव्य-भावना शास्त्रीय वाक्यों की प्रौढता को सुन्दर रूप अवश्य देती है, किन्तु काव्य की नितान्त परायणता से शास्त्रज्ञान का प्रचुर अर्जन हो ही नही सकता।"[1] और इसीलिए राजशेखर की दृष्टि मे वह कवि जो शास्त्रज्ञान की मणि को काव्य-कञ्चन मे सुन्दर पिरो दे उसे काव्य-कवि एव शास्त्र-कवि दोनो से श्रेष्ठ कहा है।[2] यदि श्रीहर्ष राजशेखर से पूर्व हुए होते तो राजशेखर निश्चित ही श्रीहर्ष को उभयकवि के उदाहरण के रूप मे रखते। अस्तु। तो, श्रीहर्ष की व्युत्पत्ति का यथाशक्य पूर्ण विवेचन करना निबन्ध के लिए परम आवश्यक एवं महत्त्वशाली भी था। अत: दशम, एकादश, द्वादश तथा त्रयोदश चार अध्यायों मे उसका विस्तृत विवेचन किया गया है। इन अध्यायों को लिखने की शैली राजशेखर की काव्य-मीमासा की जैसी ही रक्खी है।

दशम अध्याय मे श्रीहर्ष की वेद तथा वेदाङ्ग विषयक व्युत्पत्ति का विस्तृत एव मौलिक विवेचन हुआ है।

एकादश अध्याय में नैषध में उल्लिखित दार्शनिक सिद्धान्तो का विवेचन हुआ है। दुर्धर्ष तार्किक, अद्भुत दार्शनिक तथा पूर्णब्रह्मज्ञ होने के कारण श्रीहर्ष के काव्य मे दर्शन की झलक का मिलना स्वाभाविक ही है। विशेषता यह है कि जिन सिद्धान्तों का नैषध मे कही उल्लेख हुआ है, वे साधारण कोटि के नही है, अपितु उच्चकोटि के सैद्धान्तिक सकेत है।

द्वादश मे पुराणो के आख्यानो का उन-उन मौलिक स्थलो से खोज कर विवेचन किया गया है।

---

१. यच्छास्त्रसंस्कारः काव्यमनुगृह्णाति शास्त्रैकप्रवणता तु निगृह्णाति। काव्यसंस्कारोऽपि शास्त्रवाक्यपाकमनुरुणद्धि काव्यैकप्रवणता तु विरुणद्धि।
—काव्य मीमांसा, पञ्चम अध्याय

२. उभयकविस्तूभयोरपि वरीयान् यद्युभयत्र परं प्रवीणः स्यात्। वही, पञ्चम अध्याय

त्रयोदश मे श्रीहर्ष की अन्य विविध-विषय-सम्बन्धी विशेषज्ञता का परिशीलन हुआ है।

चतुर्दश मे नैषधोक्त तत्कालीन समाज को प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया गया है। यह भी एक प्रकार से कवि की लोक-विषयक व्युत्पत्ति कही जा सकती है।

पञ्चदश (अन्तिम) अध्याय मे नैषध का सस्कृत साहित्य मे क्या स्थान है, इस पर कुछ विचार किया गया है। इसीलिए इसका नाम "प्रदान" रक्खा गया। यहा नैषध के परवर्ती प्रति ग्रन्थ मे नैषध का क्या प्रभाव पडा इसका विस्तृत विवेचन न तो उचित समझ पड़ा, और न सम्भव ही, क्योकि उसके लिए तो एक स्वतन्त्र निबन्ध ही लिखा जा सकता है। अत. केवल कुछ ग्रन्थो का नामोल्लेख ही कर के सन्तोष किया गया है। यद्यपि नैषध के सौन्दर्य को हर प्रकार से देख लेने पर अब यह विशेष आवश्यक नही समझ पडता है कि अलग से उसके साहित्य मे विशिष्ट स्थान या महत्त्व को गाया जाय, किन्तु एक-दो विशेष बाते कहनी शेष रह गयी थी, जो इसी प्रसङ्ग मे कहनी उचित समझ पडी, अत उनके लिए यह अध्याय भी आवश्यक समझ पडा।

इस निबन्ध के लिखने मे मैंने जिन ग्रन्थ-रत्नो की सहायता ली है, उन सब के प्रति मैं परम कृतज्ञ हू। व्युत्पत्ति के वेद वेदाङ्ग तथा विविध विषय वाले अध्यायों मे मुझे उन ग्रन्थो के अतिरिक्त नारायण की नैषध-प्रकाश टीका से बहुत कुछ सहायता मिली है। नैषध के श्लोको का उद्धरण भी (निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित) नारायणीय टीका युक्त नैषध से ही दिया गया है। दर्शन वाले अध्याय में प्रो० कृष्णकान्त हान्दिकी द्वारा सम्पादित (अग्रेजी मे) नैषध-चरित से विशेष सहायता ली है। उन दोनो ग्रन्थों के प्रति हृदय विशेष रूप से आभारी है। ज्यौतिष-सिद्धान्तों के विषय मे पूज्यपाद पितृदेव ज्यौतिषाचार्य प० रामकिशोर शुक्ल जी का उपदेश सुलभ मिल गया। आदरणीय गुरुवर्य म० म० डा० उमेश मिश्र का हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिनसे समय-समय पर बहुमूल्य उपदेश पाता रहा। परम श्रद्धेय गुरुवर्य पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय जी का विशेष अनुगृहीत हू, जिनसे समय-समय पर यथाभिलषित दुर्लभ उपदेश एव पुस्तके भी सुलभ होती रही। भडारकर रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना का परम आभार मानता हू, जिन्होने बड़ी उदारता के साथ चण्डू-पण्डित, विद्याधर तथा नारायण की टीकाओं की प्राचीन पाण्डुलिपिया देने की कृपा की। प्रयाग विश्वविद्यालयीय पुस्तकालय के अधिकारियों के प्रति भी कृतज्ञ हू, जिन्होने उन पाण्डुलिपियो को मंगाने आदि की व्यवस्था की।

आदरणीय गुरु डा० धीरेन्द्र वर्मा ने इस निबन्ध को 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी' से प्रकाशित कराने की सुव्यवस्था की। उनकी इस महाशयता एवं गुणग्राहिता

से मेरा हृदय उनके प्रति श्रद्धा एव कृतज्ञता से सन्नत है। प्रिय सुहृद् डा०सत्यव्रत सिन्हा, सहायक मन्त्री, हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने इसके छपते समय जिस स्नेह एवं सुरुचि के साथ इस कार्य का सम्पादन किया है उसके लिए मै उनका आभार मानता हूँ।

जिन ऋषिकल्प विद्या-वारिधि मनीपी परीक्षको के कृपा-कटाक्ष से अनुगृहीत होकर तथा जिनका अमोघ आशीर्वाद पाकर यह निबन्ध सफल एव सम्मानित हुआ है, उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए मेरे इस भावविभोर हृदय के शब्द ही असमर्थ है। परमपूज्य म० म०, डा० कविराज ने तो परम कृपा के साथ पुरोवाक् भी लिख दिया। उनके इस अनुग्रह के प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

हृदय में साहित्यिक-चेतना को जागरित करने वाले तथा जीवन में दार्शनिक दृष्टि प्रवर्तित करने वाले पूज्य गुरुदेव शास्त्री जी के सान्निध्य मे श्रीहर्ष की वाणी का आस्वादन करता रहा था। यह निबन्ध उन्ही के उपदेशो का मूर्त्त रूप है। उनसे तो इतना ही निवेदन है कि—

यत्त्वदाप्तं गुरो वस्तु तदेतत्ते समर्प्यते।
त्वं चेत्प्रीतोऽसि साफल्यं सर्वथाऽस्य भविष्यति ॥

चण्डिकाप्रसाद शुक्ल

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

नैषध-रचयिता महाकवि श्रीहर्ष

महाकवि श्रीहर्ष के जीवनवृत्त के विषय मे विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है। वास्तव मे संस्कृत-साहित्य मे श्रीहर्ष नाम से अनेक विद्वान् एवं कवि विख्यात हुए है। सर्वप्रथम, स्थाण्वीश्वर तथा कान्यकुब्ज के प्रसिद्ध सम्राट् हर्षवर्धन, जो काव्य-क्षेत्र मे श्रीहर्ष, श्रीहर्षदेव एवं हर्ष नाम से प्रसिद्ध हुए हैं, बाण, मयूर, मातङ्ग, दिवाकर[1], धावक[2], आदि कवि-शिरोमणियो के आश्रयदाता थे। रत्नावली, नागानन्द और प्रियदर्शिका—इन तीनो नाटक-ग्रन्थो के रचयिता ये ही सम्राट् माने जाते हैं। इन तीनों नाटकों की प्रस्तावना में इन्होने अपना नाम श्रीहर्ष दिया है।[3] श्रीहर्ष का शासन-काल ईसा की सप्तम शताब्दी का पूर्वार्द्ध (६०६ से ६४७ ई० तक) माना गया है। इन्ही के शासन-काल मे प्रसिद्ध विद्वान् चीनी यात्री यानच्वाग (ह्वेनसाग) भारतवर्ष में आया था। फिर, कल्हण की राजतरङ्गिणी में भी श्रीहर्ष नाम के एक नरेश का वर्णन आता है। इनका शासन-काल एकादश शताब्दी का अन्तिम दशक था। ये कश्मीर-नरेश श्रीहर्ष भी एक सत्कवि तथा अनेक देश-भाषाओं के पण्डित थे। देशान्तरो में भी इनका यश फैला था।[4]

किन्तु पूर्वोक्त दोनों श्रीहर्ष नैषधीय-चरित के रचयिता नही हो सकते। क्योंकि नैषध-कवि श्रीहर्ष को कान्यकुब्जेश्वर से दो ताम्बूल तथा आसन पाने का गर्व था।[5] यह बात कितनी असङ्गत लगती है कि जो स्वयम् नरेश हो वह किसी अन्य नरेश से इतना छोटा सम्मान स्वीकार करे और उस पर भी इतना

---

१. अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्मातङ्गदिवाकराः।
श्रीहर्षस्याभवन् सभ्याः समा बाणमयूरयोः॥ शार्ङ्गधरपद्धति में उद्धृत राजशेखर।

२. श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिवधनम्। : काव्यप्रकाश (प्रथमउल्लास)।

३. श्रीहर्षोनिपुणः कविः—इत्यादि।

४. सोऽशेषदेशभाषाज्ञः सर्वभाषासु सत्कविः।
कृती विद्यानिधिः प्राप ख्यातिं देशान्तरेष्वपि॥—राजतरङ्गिणी (७।६११)

५. ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्—नै० (२२।१५३)

गर्व करे कि अपने ग्रन्थो मे उसका उल्लेख करे। पूर्वोक्त दोनों श्रीहर्ष स्वयम् नरेश थे। फिर हर्षवर्धन तो स्वयम् कान्यकुब्जेश्वर थे। उनकी ओर से यह उक्ति तो और भी अनुचित एवम् असम्भव होगी। अतः नैषध-रचयिता इन दोनों से भिन्न कोई अन्य महाकविशिरोमणि थे।

श्रीहर्ष नाम के एक कवि ने भरत के नाट्यशास्त्र पर वार्तिक बनाया था, जो विशेष रूप से आर्या छन्द में था। ये अभिनवगुप्त से भी पूर्व हो चुके थे, इनके विषय में अभी अधिक कुछ ज्ञात नही हुआ है। डा० शङ्करन् ने "रस और ध्वनिसिद्धान्त" पृ० १३ मे इन वार्तिककार श्रीहर्ष का कन्नौज के सम्राट् हर्षवर्धन के साथ ऐक्य स्थापित किया है। किन्तु महामहोपाध्याय डा० पाण्डुरङ्ग वामन काणे महोदय ने इसे केवल अनुमान ही माना है।[१] ये श्रीहर्ष नैषध-कर्ता तो निश्चित ही नही हो सकते। नैषधकार ने अपने अन्य ग्रन्थो का नाम बताते हुए इस वार्तिक का कही उल्लेख नही किया है।

नैषध-रचयिता ने नैषध में स्वयं अपना कुछ परिचय दिया है। प्रति-सर्ग समाप्ति-श्लोक में वे अपना नाम श्रीहर्ष, अपने पिता का नाम श्रीहीर तथा माता का मामल्लदेवी बतलाते हैं। इन्ही सर्गान्त्य श्लोको से यह भी ज्ञात होता है कि वे कान्यकुब्जेश्वर से सदा दो ताम्बूल तथा आसन पाया करते थे।[२] माता (भगवती वागीश्वरी तथा स्वजननी) के चरणोपासक थे।[३] तर्कशास्त्रों मे उनका अनुपम अभ्यास था, इतना कि शास्त्रार्थों मे उनके युक्ति-वचनों से प्रतिवादी तर्कशून्य ही हो जाते थे।[४] उनकी कविता अति सरस होने से मधु-वर्षा करनेवाली होती थी।[५] नैषधीयचरित के अतिरिक्त उन्होने शिव-शक्ति-सिद्धि,[६] स्थैर्यविचारण (प्रकरण)[७], खण्डन-खण्ड-खाद्य[८], नवसाहसाङ्क-चरित-चम्पू,[९] अर्णव-वर्णन,[१०]

---

१. हिस्ट्री आफ़ संस्कृत पोएटिक्स—पृ० ५९ नवीन संस्करण, १९५१
२. ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्—नै० २२।१५३
३. मातृचरणाम्भोजालिमौलेः—नै० १२।११३
४. धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः—नै० २२।१५५
५. यत्काव्यं मधुवर्षि—नै० २२।१५५
६. अस्मिन् शिवशक्तिसिद्धिभगिनीसौभ्रात्रभव्ये महाकाव्ये—नै० १८।१५४
७. स्थैर्य-विचारण-प्रकरण-भ्रातरि—महाकाव्ये। नै० ४।१२३
८. खण्डन-खण्डतोपि सहजात् क्षोदक्षमे महाकाव्ये—नै० ६।११३
९. नवसाहसाङ्कचरिते चम्पूकृतः (तस्यकवेः) (महाकाव्ये)॥ नै० २२।१५१
१०. सन्दृब्धार्णववर्णनस्य तस्य (कवेः) महाकाव्ये—नै० ९।१६०

गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति,[१] श्रीविजयप्रशस्ति,[२] तथा छिन्दप्रशस्ति[३] नाम के, तान्त्रिकी उपासना (शिव-शक्ति-सिद्धि का विषय), दार्शनिक विचार (स्थैर्य-विचार एवं खण्डन-खण्ड-खाद्य का विषय) और काव्य (नवसाहसाङ्कचरित-चम्पू प्रभृति शेष ग्रन्थो का विषय)—विषयों वाले अन्य ग्रन्थ भी बनाये थे। उनका नैषधीय-चरित महाकाव्य चतुर्दश विद्याओ के विशेषज्ञ कश्मीर के विद्वानों द्वारा आदृत हुआ था,[४] और इस असामान्य सफलता का मूल यह रहस्य है कि नैषधीयचरित उनकी चिन्तामणिमन्त्र की उपासना (चिन्तन) का फल था।[५] इन्होने यह काव्य प्राचीन मुनि और आचार्यों के मान्य उद्देश्य—काव्यरसामृत की लहरियों मे डुबकी लगाने वाले सज्जनों की सुखप्राप्ति—अर्थात् मम्मट के शब्दो में 'सद्यः पर-निर्वृति'[६]—के एकमात्र प्रयोजन को लक्ष्य मे रखकर रचा था, और इसकी रचना मे बराबर इस बात का ध्यान रक्खा था कि इस ग्रन्थ मे उसी सज्जन को यथोक्त आनन्द प्राप्त हो सके जो श्रद्धापूर्वक देवभावना से गुरु की आराधना-पूजा करके गुरुकृपा से (शब्द और अर्थ की) उन सब कुटिल दृढ़ ग्रन्थियों को खुलवा (सुलझा) चुका है, जिन्हें कवि ने अपने इस ग्रन्थ मे स्थान-स्थान पर (व्यासकृत महा-भारत के ८८०० कूट श्लोकों के समान) प्रयत्नपूर्वक (सोच-विचार और जान-बूझकर) केवल इस प्रयोजन से सन्निविष्ट कर रक्खा है कि अपने को विद्वान् लगाने वाला अर्थात् पाण्डित्य का अभिमानी (अशुद्ध अन्तःकरण वाला) कोई भी दुर्जन (खल) केवल अपने बुद्धि-बल के हठ से इसके पाठमात्र में पैठ (प्रवेश) पाकर भी इसके साथ खेल न सके (अर्थात् 'इसमें क्या बड़ी बात है जो इसके ज्ञान और प्रवचन के लिए गुरु-परम्परानुसार श्रद्धा भक्ति ध्यान-योग सहित श्रवणादि साधन का आश्रय लिया जाय'[७]

---

१. गौडोर्वीशकुल-प्रशस्ति-भणितिभ्रातरि—महाकाव्ये॥—नै० ७।११०

२. तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य (कवेः) नव्ये महाकाव्ये—नै० ५।१३८

३. स्वसुः षुसदृशिच्छिन्दप्रशस्तेर्महाकाव्ये—नै० १७।१२२

४. काश्मीरैर्महितेचतुर्दशतयीं विद्यां विदद्भिःमहाकाव्ये तद्भुवि नैषधीयचरिते।
—नै० १६।१३१

५. तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले महाकाव्ये—नै० १।१४५

६. काव्यंयशसेऽर्थकृतेव्यवहारविदेशिवेतरक्षतये। सद्यःपरनिर्वृतये कान्तासम्मित-तयोपदेशयुजे।—का० प्र० १।२

७. किमत्रास्ति? अश्रुतमेव व्याकर्तुं शक्यते इत्यवज्ञापूर्वा दर्पाभिव्यक्तिमा कर्षीदित्येवमर्थम्। नै० २२।१५४ पर नारायणकृत टीका।

ऐसी अवज्ञापूर्वक दर्प-अभिमान की अभिव्यक्ति रूप खिलवाड़ न कर सके)।[१]

इस प्रकार से इस काव्य के प्रयोजन मे कवि अथवा पाठक को यश, धन, लौकिक व्यवहार, ज्ञान, मधुर उपदेश रूप किसी निम्न कोटि के लौकिक फल की प्राप्ति का गन्ध भी नहीं है। इससे श्रीहर्ष की परमार्थ-प्रवण साधना, और उसके सम्प्रदाय की अभिमानी अनधिकारियो से रक्षा एव शुद्धान्त करण वाले वास्तविक अधिकारियो मे प्रचार की चिन्ता में लगा हुआ निवृत्त्युन्मुख प्रवृत्तिमार्ग-निष्ठ तत्प्रवर्तक अवतारो का-सा उत्कृष्टतम व्यक्तित्व स्पष्ट झलक रहा है। वस्तुतः वह व्यक्तित्व किस उच्चतम कोटि का था इसका उल्लेख भी उन्होंने लोकशिक्षा की ही दृष्टि से उचित जानकर नैषध की समाप्ति पर सर्वान्त्य पद्य में खुले शब्दों मे इस प्रकार किया है, "जो नित्य की समाधि में (वचनादि के अगोचर) सर्वोत्कृष्ट आनन्दसिन्धु परब्रह्म का साक्षात्कार-लाभ करते हैं, उन श्रीहर्ष (अर्थात् भगवती शक्ति(श्री) के प्रसाद से ब्रह्मानन्दानुभव पर्यन्त उद्बोधन (हर्ष) को पाने वाले (अन्वर्थ-नामवाले) कवि की यह कृति सुधीजनों के आनन्द के लिए सदा उदय को प्राप्त होती रहे।"[२]

नैषध मे श्रीहर्ष ने अपने विषय मे जो ये सारी बाते स्वयं बतला दी है, इनमें से अनेक का उल्लेख जैन कवि राजशेखर सूरि ने (वि० सं० १४०५ के लगभग विरचित) अपने प्रबन्ध-कोश मे किया है।[३] उन्होंने भी श्रीहर्ष के पिता का नाम श्रीहीर लिखा है तथा इनके आश्रयदाता का कान्यकुब्जेश्वर जयन्तचन्द्र बतलाया है। राजशेखर ने यह भी बतलाया है कि श्रीहर्ष को कश्मीर के राजा माधवदेव[४]

---

१. ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित् क्वचिदपि न्यासिप्रयत्नान्मया
प्राज्ञम्मन्यमना हठेन पठिती मास्मिन् खलः खेलतु।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय
त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः॥ —नै० २२।१५४

२. यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम्।
श्रीश्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदेतस्याभ्युदीयादियम्॥

३. प्रबन्ध-कोश के 'हर्षकविप्रबन्ध' (११वें प्रबन्ध) में सिंघीजैनग्रंथमाला ग्रन्थाङ्क ६, १९३५ ई०, पृ० ५४–५८

४. राजतरङ्गिणी में कान्यकुब्जेश्वर जयन्तचन्द्र का समकालीन कोई माधवदेव नामक नृप नहीं उल्लिखित है। सम्भवतः माधवदेव कोई आश्रित सामन्त-नरेश था।

से सम्मान तथा इनके नैषध को वहाँ के पण्डितो का आदर विशेष रूप से प्राप्त हुआ था।[1]

राजशेखर से भी पूर्ववर्ती और नैषध के प्रसिद्ध टीकाकार चाण्डू पण्डित ने अपनी टीका नैषधदीपिका[2] के प्रारम्भ मे कुछ बातें श्रीहर्ष के सम्बन्ध मे बतलाई है।[3] राजशेखर के अनेक विवरण चाण्डू पण्डित के कथन से सङ्गत (मेल खाते) है। चाण्डू पण्डित ने भी श्रीहर्ष के पिता का शास्त्रार्थ में पराजित होना लिखा है। राजशेखर ने श्रीहर्ष के पिता का नाम लिखते हुए भी राजसभा मे उन्हे जीतने वाले तथा बाद में श्रीहर्ष से पराजित किये जाने वाले राजकीय पण्डित का नाम नही लिखा है[4] जब कि चाण्डू पण्डित श्रीहर्ष कवि के पिता के परिभव-कर्ता का नाम उदयन लिखते हैं।[5] राजशेखर[6] तथा चाण्डू पण्डित दोनों ही श्रीहर्ष के खण्डन (खण्ड-खाद्य)

---

१. श्रीहर्षेण पण्डिता उक्तास्तत्रत्या ग्रन्थमत्रत्याय राज्ञे माधवदेवनाम्ने दर्शयत श्रीजयन्तचन्द्राय च शुद्धोऽयंग्रन्थ इति लेखं प्रदत्त—इति. . .राजा पण्डिता-नाहूयावादीद्धिङ्मूढा। ईदृशे रत्ने न स्निह्यथ।. . .एनं महात्मानं प्रत्येकं स्वगृहेषु सत्कुरुत। ललक्षिरे पण्डिताः सर्वे गृहंनीत्वासत्कृत्यानुनीय राज्ञा च सत्कार्य तैः प्रहितः श्रीहर्षः काशीम्॥ —नैषध-प्रकाश की भूमिका में म० म० पं० शिवदत्त शर्मा द्वारा उद्धृत पृ० ४,५ तथा प्रबन्धकोष पृ० ५६

२. वि० सं० १३५३ (१२९६ ई० में)

३. भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना में सुरक्षित पाण्डुलिपि।

४. "तस्य राज्ञो बहवो विद्वांसः। तत्रैको हीरनामा विप्रः तस्य नन्दनः प्राज्ञचक्र-वर्ती श्रीहर्षः। सोऽद्यापि बालावस्थः। सभायां राजकीयेनैकेन पण्डितेन वादिना हीरो राजसमक्षं जित्वामुद्रितवदनः कृतः लज्जापङ्कमग्नोवैरं बभार। मृत्युकाले श्रीहर्षं सम्बभाषे। वत्सामुकेन पण्डितेनाहमाहत्यराजदृष्टौजितः। तन्मे दुःखम्। यदि सत्पुत्रोऽसि तदा तं जयेः क्ष्मापसदसि। श्रीहर्षेणोक्तमो-मिति।"—निर्णयसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित नैषध की म० म० पं० शिवदत्तशर्मा द्वारा लिखित प्रस्तावना (पृ० २)। तथा प्रबन्ध-कोश पृ० ५४-५५

५. प्रथमं तावत्कविर्विजिगीषुकथायां स्वपितृपरिभावुकमुदयनमत्यमर्षणतया कटा-क्षयंस्तद्ग्रन्थग्रन्थीनुद्ग्रथयितुं खण्डनं प्रारिप्सुश्चतुर्विधपुरुषार्थैरभिमान-मनवधीयमानमवधीर्य मानसमेकतानतां निनाय। —नैषधदीपिका का प्रारम्भ।

६. खण्डनादिग्रन्थान् परश्शताञ्जग्रन्थ—नै० प्रस्तावना (पृ० ३)

नामक ग्रन्थ रचने का उल्लेख करते हैं।[1] परन्तु चाण्डू पण्डित ने जिन उदयन का उल्लेख किया है उन्हें यदि प्रसिद्ध उदयनाचार्य माने तो ऐतिहासिक अड़चन पड़ती है। उदयनकृत न्यायकुसुमाञ्जलि के तृतीय स्तबक के श्लोक ७ "शङ्काचेदनुमास्त्येव न चेच्छङ्का ततस्तराम्। व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिर्मतः।।" को श्रीहर्ष ने अपने खण्डनखण्डखाद्य मे 'तस्मादस्माभिरप्यस्मिन्नर्थे न खलु दुष्पठा। त्वद्-गाथैवान्यथाकारमक्षराणि कियन्त्यपि।' इस भूमिका के सहित...

व्याघातो यदि शङ्कास्ति न चेच्छङ्का ततस्तराम्।
व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिः कुतः।।

इस प्रकार कुछ परिवर्तित रूप मे उद्धृत किया है। उदयन ने लक्षणावली की रचना

तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः।
वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम्।।

इस अन्तिम वाक्य के अनुसार शाके ९०६ अर्थात् वैक्रम संवत् १०४१ (९८४ से ८५ ई०) मे की थी। परन्तु श्रीहर्ष का गाहडवाल महाराज गोविन्द-चन्द्र के समकालिक होना प्रसिद्ध है। महाराज गोविन्दचन्द्र महाराज जयच्चन्द्र के पितामह तथा महाराज विजयचन्द्र के पिता थे। श्रीहर्षविरचित 'विजयप्रशस्ति' सम्भवतः इन्ही महाराज विजयचन्द्र का प्रशसापरक काव्य रहा होगा। जयच्चन्द्र के यौवराज्य दानपत्र में संवत् १२२५ (ई० ११६९) पड़ा है। इनके पितामह गोविन्दचन्द्र के राजत्वकाल में इण्डियन ऐण्टिक्वेरी भाग १४, पृ० १०३ सूचीगत संख्या ७७ के अनुसार विक्रम संवत् ११६१ (ई० ११०४) तथा अन्य लेखो के अनुसार सवत् ११८६ (ई० ११२९ जिसका मुसलमानों के आक्रमण को रोकने के लिए लगाए हुए टैक्स 'तुरुष्क-दण्ड' के साथ उल्लेख मिलता है) और सवत् १२१२ (ई० ११५५) पड़ते हैं। इस प्रकार श्रीहर्ष से लगभग पौने दो सौ वर्ष पूर्ववर्ती उदयनाचार्य न तो श्रीहर्ष के और न उनके पिता श्रीहीर के समकालवर्ती हो सकते थे।

किन्तु इस निर्णय पर पहुँचने के पूर्व एक शङ्का बनी ही रह जाती है। वह यह कि माना श्रीहर्ष ने अपने प्रतिपक्षी का नाम कही उदयन नही लिखा है, किन्तु

---

१. **खण्डनं प्रारिप्सुः—नै० दीपिका का प्रारम्भ—**
(स्वयं श्रीहर्ष ने खण्डन में अपनी कृति नैषध का उल्लेख यों किया है—"तथाहमकथयं नैषधचरितस्य परमपुरुषस्तुतौ सर्ग इत्येषा दिक्।)"

अपने खण्डनखण्डखाद्य मे जो प्रसिद्ध दार्शनिक उदयनाचार्य के कुसुमाञ्जलि, तात्पर्य-परिशुद्धि तथा बौद्धाधिकार आदि ग्रन्थो के उद्धरण देते हुए खण्डन किया है, और जो कही-कही उन्हे मध्यमपुरुष सर्वनाम द्वारा कुछ इस प्रकार से सम्बोधित किया है मानों उन (उदयनाचार्य) से साक्षात् शास्त्रार्थ कर रहे हो, उससे तो यही प्रतीत होता है कि उदयनाचार्य का श्रीहर्ष से कभी न कभी साक्षात्कार अवश्य हुआ रहा होगा, या उदयन से श्रीहर्ष का कभी कोई ऐसा सम्बन्ध पड़ा रहा होगा जिससे श्रीहर्ष ने उनके विरुद्ध वैर-सा मान रक्खा था। इसका समाधान यही प्रतीत होता है कि श्रीहर्ष को उदयन नाम से ही विद्वेष हो गया था, क्योंकि किसी उदयन ने ही तो उनके पिता को पराजित किया था, पितृपरिभावुक वास्तविक उदयन को शास्त्रार्थ मे परास्त करके भी उनकी प्रतिशोध-भावना शान्त नही हुई थी। शत्रु का नाम ही उन्हे चिढ़ाने वाला था। उनकी यह भावना नैषध में एक स्थान पर सामान्य उक्ति के रूप मे व्यक्त भी हो गयी है। उनका कहना है "जिस व्यक्ति में शत्रु का नाम भी यदि मिल जाय (अर्थात् यदि किसी व्यक्ति का वही नाम हो जो अपने शत्रु का है) तो कौन तेजस्वी उसे सहेगा।"[१] और फिर श्रीहर्ष का उदयनाचार्य के सिद्धान्तो से विरोध, सिद्धान्त के नाते ही, हो सकता है। मध्यमपुरुष का प्रयोग तो आचार्यो की शैली है। अपने पूर्वगामी आचार्यो के मत का विवेचन करते समय पश्चात्कालीन आचार्य अपने ग्रन्थ में प्रायः मध्यमपुरुष पद का ही प्रयोग करते है, हाँ किसी के प्रति आदर दिखाते है, किसी की उपेक्षा कर देते हैं। इससे समकालिकता तो माननी ही न चाहिए। अस्तु।

वैसे तो श्रीहर्ष के जीवनकाल के विषय में भी विद्वानो मे बड़ा मतभेद रहा है,[२] किन्तु 'खण्डन' की एक उक्ति से श्रीहर्ष का समय निश्चित करने में बहुत कुछ सरलता हो जाती है। खण्डन मे एक स्थान पर श्रीहर्ष ने बड़े आदर के साथ व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट का उल्लेख किया है "कवियों के नेत्ररूप व्यक्तिविवेक में काव्यसमालोचकों में आदृत महिम ने भी इस दोष का आदर किया है (स्थान

---

१. नामापि जागर्ति हि यत्र शत्रोस्तेजस्विनस्तं कतमे सहन्ते। नै० ८।७४

२. बूलर का आई० ए० भाग १ पृ० ३०, जे० बी० आर० ए० एस० भाग १० पृ० ३३, भा० ११, पृ० २७९-८७ तक, एफ० एस० ग्राउस का आई० ए० भाग २ पृ० २१३, के० टी० तैलंग का आई० ए० भाग २ पृ० ७१, रामदास सेन का आई० ए० भाग ३, पृ० ३१, पी० एम० पूर्णिया का आई० ए० भाग ३, पृ० २९, रामप्रसाद चन्द का भाग ४२, पृ० ८३-१८६ आदि लेख।

दिया है)।[१] महिमभट्ट का समय अभिनवगुप्त[२] के पश्चात् पडता है। क्योकि महिमभट्ट ने व्यक्तिविवेक मे अभिनवगुप्त से उद्धरण दिया है,[३] अत. महिमभट्ट का समय १०२० ई० के बाद माना जा सकता है। और व्यक्तिविवेक की टीका व्यक्तिविवेक-विचार के कर्ता प्रसिद्ध आलङ्कारिक रुय्यक का समय ११०० से ११५० के आस-पास माना जाता है।[४] अतः महिमभट्ट के जीवनकाल की अवधि अधिक से अधिक ११०० तक पहुच सकती है। और इस प्रकार श्रीहर्ष का भी समय १०७५ ई० के आस-पास के पूर्व किसी प्रकार नही जा सकता।

दूसरी ओर श्रीहर्ष का अथवा नैषध का उल्लेख करने वालों मे सर्वप्रथम हेमचन्द्र के शिष्य महेन्द्रसूरि है। हेमचन्द्र का समय १०८८ ई० से ११७२ ई० के बीच पड़ता है।[५] हेमचन्द्र के अनेकार्थसङ्ग्रह[६] की टीका करते समय महेन्द्रसूरि नैषध से अनेक पद उदाहरण रूप मे देते हैं।[७]

यहाँ एक बात और ध्यान देने की है कि महेन्द्र ने जिन ग्रन्थो से उद्धरण दिया है अथवा जिनका नामोल्लेख किया है, उनमे से प्रायः एक भी द्वादश शताब्दी[८] के

---

१. दोषं व्यक्तिविवेकेऽमुं कविलोकविलोचने।
काव्यमीमांसिषु–प्राप्तमहिमा महिमादृत।—खण्डन-खण्ड-खाद्य पृ० १३२७, चौ० सं० सिरीज, १९१४ ई०।

२. जिनका साहित्यिक जीवन ई० ९८० से ई० १०२० तक माना गया है। (म० मं० डा० पी० वी० काणे की हिस्ट्री आफ़ संस्कृत पोएटिक्स, पृष्ठ २३२ —नवीन संस्करण १९५१ ई०)

३. अत्र केचिद् विद्वन्मानिनः......मन्यमानाः
'व्यङ्क्त इति द्विवचनेनेदमाहुः...यद्यप्यविवक्षितवाच्ये शब्द एव व्यञ्जकस्तथाप्यर्थस्य सहकारिता न त्रुट्यति।... यदाहुस्तद्भ्रान्तिमूलम्' इत्यादि। ध्वन्यालोकलोचन पृ० ३३ (काव्य माला, १८९१ में द्रष्टव्य अंश,) व्यक्तिविवेक, (त्रिवेन्द्रम् प्रकाशन) पृ० १९ पर उद्धृत।

४. हिस्ट्री सं० पो० पृ० २७३ काणे

५. हि० सं० पो० पृ० २७८ काणे।

६. जकराया प्रकाशन १८९३ ई०।

७. पृ० ८ पर २।१८, १३ पर २।५६, ४३ पर २।२७४, १८४ पर ४।३३९ इत्यादि। श्रीदिनेशचन्द्रभट्टाचार्य द्वारा सिद्धभारती द्वितीयभाग पृ० १४० पर उद्धृत विश्वेश्वरानन्द इंडोलाजिकल सिरीज, होशियारपुर।

८. सिद्ध-भारती द्वि० भा०, पृ० १४०

मध्य के बाद का नही है। अतः श्रीहर्ष ने भी द्वादश शताब्दी के द्वितीय चरण के आस-पास ही नैषध की रचना की होगी।

प्रकारान्तर से भी सिद्ध है कि उस समय कान्यकुब्ज का अधिपति गाहडवाल-वशीय गोविन्दचन्द्र (कम से कम ११०४ से ११५४ ई० तक) था। नैषधीय-चरित के टीकाकार गदाधर[1] श्रीहर्ष को वाराणसी के महाराज गोविन्दचन्द्र के आश्रित बताते है। मङ्ख के अनुसार कान्यकुब्ज के महाराज गोविन्दचन्द्र के दूत सुहल पण्डित कश्मीर-नरेश जयसिह द्वारा वन्दित[2] हुए थे। मङ्ख और गदाधर दोनो के द्वारा वर्णित गोविन्दचन्द्र का वाराणसी (काशी) तथा कान्यकुब्ज दोनों प्रदेशो का महाराज होना उनके अनेक ताम्रपत्रों से प्रमाणित होता है। ये ई० ११५५ तक अवश्य थे। ११६९ ई० जयन्तचन्द्र के यौवराज्य का काल है। मध्य-वर्ती काल मे महाराज विजयचन्द्र का शासन होना चाहिए। श्रीहर्ष का उनके भी आश्रित होना 'विजयप्रशस्ति' के नामकरण से अनुमित है एवं बारहवीं शताब्दी का मध्य और उत्तरार्ध श्रीहर्ष के ग्रन्थो का रचनाकाल हो सकता है। इस विषय मे राजशेखर का विवरण कि श्रीहर्ष ने नैषध की रचना जयन्तचन्द्र के शासनकाल (ई० ११६९ के पश्चात् ११९४ तक) मे की थी अक्षरशः सत्य नही माना जा सकता है। राजशेखर ने तो गाहडवाल-वंशावली से विजयचन्द्र की सत्ता ही मिटा दी है। उन्होने जयन्तचन्द्र को गोविन्दचन्द्र का पुत्र कहा है।[3] राजशेखर ने जयचन्द्र के प्रधान मन्त्री की (११७४ ई० मे) सोमनाथ की यात्रा का वर्णन किया है। और इस यात्रा के पूर्व ही श्रीहर्ष के कश्मीर जाने का उल्लेख किया है। श्रीहर्ष नैषधकाव्य की पूर्ण रचना लेकर ही कश्मीर गए थे। अतः यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि नैषध की रचना ११७४ ई० के पूर्व हो चुकी थी। अस्तु।

श्रीहर्ष के प्रदेश के विषय में भी विद्वानो मे उतना ही मतभेद रहा है। किसी ने उन्हें कश्मीर का बताया तो किसी ने बङ्गाल का और किसी ने कान्यकुब्ज का। उन्हें बङ्गाली बतानेवालो मे सबसे प्रधान व्यक्ति स्व० प्रोफेसर श्रीनीलकमलभट्टाचार्य

---

१. प्रो० श्रीधर रामकृष्ण भाण्डारकर के द्वितीय भ्रमण का विवरण ई० १९०४, १९०५ पृ० ४३, ८७

२. अन्यः स सुहलस्तेन ततोवन्द्यत पण्डितः।
दूतो गोविन्दचन्द्रस्य कान्यकुब्जस्य भूभुजः। (श्रीकण्ठचरित २५।१०२)

३. गोविन्दनन्दनतया च वपुःश्रिया च मास्मिन्नृपे कुरुत कामधियं तरुण्यः।
अस्त्रीकरोति जगतां विजये स्मरः स्त्रीरस्त्रीजनः पुनरनेन विधीयते स्त्री॥
—प्रबन्धकोश पृ० ५५.

है।[१] उन्होने नैषध से कुछ अन्त साक्ष्य लेकर बड़े विस्तार के साथ श्रीहर्ष को बङ्गाली सिद्ध करने का प्रयास किया है। किन्तु आचार्य श्रीरघुवरमिट्ठूलाल शास्त्री 'विद्याभूषण' ने[२] दृढ़तर प्रमाणों के आधार पर भट्टाचार्य महोदय के तर्को को निराधार तथा श्रीहर्ष को कान्यकुब्ज सिद्ध किया है। डा० सु० कु० दे महोदय ने[३] भी पूर्ण प्रमाण के साथ श्रीहर्ष के बङ्गाली होने का खण्डन किया है।

श्रीहर्ष की माता के नाम के आधार पर भी श्रीहर्ष का स्थान निश्चित करने में बड़ी कल्पनायें हुई। मामल्ल नाम दक्षिणभारत का-सा लगता है। किन्तु यदि यह मान भी लें कि उनका मातृकुल दक्षिणभारत का था तो भी उन्हें दाक्षिणात्य नही कह सकते। बहुत सम्भव है कि श्रीहर्ष के पिता तीर्थयात्रा आदि किसी प्रसङ्ग मे दक्षिण भारत गए हों और वही कहीं विवाह कर लिया हो, या काशी मे ही, विद्याकेन्द्र होने के कारण, दक्षिण के भी विद्वान् रहते रहे हो जैसा कि आज भी है, और वही श्रीहीर पण्डित ने परिणय कर लिया हो। और यदि मामल्ल देवी कश्मीर की रहीं (जैसा कि नीलकमलभट्टाचार्य ने माना है) तो भी कन्नौज या काशी के पण्डित से ही उनका सम्बन्ध अधिक सम्भव है।

नैषध मे आगे कुछ विशेष शब्दो तथा अन्य प्रसङ्गो के आधार पर श्रीभट्टाचार्य द्वारा श्रीहर्ष को बङ्गाली सिद्ध करने का बड़ा प्रयत्न किया गया है। उनमें उलूलु शब्द प्रधान है। जिस समय स्वयवर मे दमयन्ती ने नल के गले मे माला डाली, उस समय पुरसुन्दरियों ने प्रमोदवश अस्फुट स्वर में उलूलुध्वनि की।[४] नारायण ने इसकी टीका करते हुए लिखा है: "विवाहाद्युत्सवे स्त्रीणां धवलादिमङ्गल गीतिविशेषो गौडदेशे उलूलु इत्युच्यते* सो प्यव्यक्तवर्ण उच्चार्यते। स्वदेश-रीतिः कविना उक्ता।" और मल्लिनाथ ने इसकी टीका में "उदीच्यानामयमाचारः" लिखा है। श्रीनीलकमलभट्टाचार्य का मत है कि उलूलु शब्द यद्यपि आसाम और उड़ीसा में भी प्रचलित है, किन्तु इसका प्रयोग विशेष रूप से ऐसे अवसर पर जिसका नैषध में उल्लेख हुआ है, केवल बङ्गाल मे ही होता है।

---

१. सरस्वतीभवन स्टडीज पत्रिका भाग ३, पृ० १५९ से १९४ तक।

२. ओरियण्टल कान्फ्रेन्स प्रयाग १९२६ में पठित अपने लेख में।

३. न्यू इण्डियन एण्टीक्वेरी, भाग २, पृ० ८१ टिप्पणी।

४. कापि प्रमोदास्फुटनिर्जिहानवर्णेव या मङ्गलगीतिरासाम्।
सैवाननेभ्यः　पुरसुन्दरीणामुच्चैरुलूलुध्वनिरुच्चचार॥　नै० १४।५१

किन्तु अन्य प्रान्तवासी कवियो ने भी उलूलु शब्द का प्रयोग ठीक उसी प्रसङ्ग मे किया है जिसमें श्रीहर्ष ने नैषध में किया है। मुरारि ने अनर्घराघव मे सीता-विवाह-प्रसङ्ग मे उलूलु शब्द का उल्लेख किया है।[1] मुरारि को निश्चित रूप से काश्मीरी माना गया है। रुचिपति ने उस नाटक की टीका में लिखा है "दक्षिण देश मे विवाहादि अवसर पर स्त्रियाँ उलूलु-ध्वनि करती हैं।"[2] १३ वीं शताब्दी में गुजरात के राणा वीर-धवल के मन्त्री वस्तुपाल द्वारा रचित नरनारायणानन्द में भी 'उलूलु' शब्द आया है। उन्होने सुभद्रा और अर्जुन के विवाह के सम्बन्ध में उलूलु शब्द का प्रयोग किया है।[3] वस्तुपाल के समसामयिक अमरचन्द ने भी पद्मानन्द महाकाव्य मे जैन तीर्थङ्कर ऋषभ के विवाह-वर्णन के प्रसङ्ग मे उलूलु शब्द का प्रयोग किया है।[4] परकालीन साहित्यशास्त्रकारों ने तो उलूलु शब्द को विवाह-प्रसङ्ग में एक वर्ण्य विषय ही बताया है। वस्तुपाल के आश्रित कवि अरिसिह ने अपनी काव्य-कल्पलता तथा उसकी वृत्ति लिखने वाले अमरचन्द्र ने विवाह-वर्णन करते समय अन्य वस्तुओ के साथ उलूलु का भी वर्णन करने को लिखा है।[5] इसी प्रकार देवेश्वर की कविकल्पलता मे भी 'उलूलु' का परिगणन है। छान्दोग्य उपनिषद् मे भी उलूलु शब्द आया है।[6] अतः उलूलु कोई ऐसा शब्द नही जिसे केवल बङ्गाली कवि ही जानता हो। यदि भट्टाचार्य के अनुसार नारायण की टीका के आधार पर हम श्रीहर्ष को बङ्गाली मान ले तो फिर रुचिपति के आधार पर दाक्षिणात्य मानना पड़ेगा और वस्तुपाल के उल्लेख के आधार पर गुजराती भी। वास्तव में श्रीहर्ष के समय तक आचार्यो ने उलूलु शब्द का विवाहवर्णन प्रसङ्ग मे परिगणन कर लिया था, और सम्भव है श्रीहर्ष ने भी यहाँ परम्परा ही निभाई हो।

श्रीहर्ष को बङ्गाली बनाने का दूसरा आधार शङ्खवलय शब्द है। विवाह के

---

१. वैदेहीकरबन्धमङ्गलयजुःसूक्तं द्विजानां मुखे।
नारीणां च कपोलकन्दलतले श्रेयानुलूलुध्वनिः॥ (नि० सा० प्रे०) अन० राघवः ३।५५

२. दक्षिणदेशे विवाहाद्यवसरे स्त्रीभिरुलूलुध्वनिः क्रियते इत्याचारः।

३. मुदितमृगाक्षीमण्डलोलूलुनादः १५।१७

४. इन्द्राण्युलूलुविलसत्प्रतिशब्दपूरैर्निःशेषदिङ्मुखभवद्धवलानुवादः। सर्ग ९।६८

५. विवाहे स्नानशुभ्राङ्गभूषोलूलुत्रयीरवाः।
वेदीसीमन्ततारेक्षालाजा मङ्गल-वर्तनम्। (का० क० ल० १।५।८६)

६. अथयत्तदजायत सोऽसावादित्यः तं जायमानं घोषा उलूलवोनूदतिष्ठन् तस्मात्त स्योदयं प्रति प्रत्यायनं प्रति घोषा उलूलवोनूत्तिष्ठन्ति॥ छा० उप० ३।१९।३

अवसर पर भूषालङ्कृत दमयन्ती का वर्णन करते हुए नैषध मे लिखा है—'दमयन्ती की बाहुएँ मङ्गल शङ्खवलय से सुशोभित थी। मानो उन बाहुओ से कोमलता सीखने के लिए बालमृणालदण्ड उनकी सेवा कर रहे है।'[१] नारायण ने इसकी टीका करते हुए लिखा है—"गौड़देशे विवाहकाले शङ्खवलय-धारणमाचारः" और श्रीभट्टाचार्य महोदय ने उस गौड से बङ्गाल का अर्थ लगाया और यह प्रथा केवल बङ्गाल की बता दी। किन्तु शङ्खवलय का उल्लेख महाभारत तथा कादम्बरी मे भी हुआ है। महाभारत में अज्ञातवास के लिए प्रस्तुत पाण्डवों ने अपनी अलग-अलग वेशभूषा बताई है। अर्जुन ने अपना बृहन्नला का रूप बताते हुए शङ्ख-वलय पहिनने के लिए कहा है।[२] भट्टाचार्य महोदय ने पहले तो विराटराज्य '(मत्स्य-देश) को ही बङ्गाल मे स्थिर करना चाहा और उसमे अपने तर्क के लिए तथा पाण्डवो के अज्ञातवास के लिए कई सुविधाएँ बताई। किन्तु इतिहास और भूगोल दोनों की ऑखो मे वे धूल न झोंक सके। जब मत्स्यदेश की स्थिति बङ्गाल से दूर सिद्ध हुई तो उन्होने अर्जुन को बङ्गाली-वेश मे ही विराट के यहाँ गुप्त रखना चाहा। उन्होने बताया कि अर्जुन ने तीर्थयात्रा-प्रसङ्ग मे बङ्ग देश की भी यात्रा की थी।[३] उसी समय वहाँ के आचार-व्यवहार से भी परिचित हो गए होगे। अतः जब अज्ञातवास का प्रसङ्ग आया तो उन्हें उसी बङ्गाली वेश मे ही गुप्त रहना अच्छा समझ पड़ा। शङ्खवलय तो उन्हे विराट नगर मे मिल ही सकते थे क्योकि व्यापार प्रसङ्ग से ये वस्तुएँ बिकने तो आती ही रही होगी। भट्टाचार्य महोदय का यह तर्क उन्ही के प्रतिकूल पडता है। क्या जो तर्क उन्होने अर्जुन के लिए दिए वे ही श्रीहर्ष के लिए नही दिए जा सकते? सम्भव है श्रीहर्ष ने भी बङ्ग देश की तीर्थ-यात्रा की हो और वहाँ की वेश-भूषा देखी हो, अथवा काशी मे ही, धर्म तथा विद्या के केन्द्र होने के कारण, बङ्गाल की स्त्रियों को शङ्खवलय धारण किए हुए देखा हो, या फिर काशी-कन्नौज के सम्पन्न बाजारो में शङ्खवलयो को बिकते देखा हो।

---

१. उपास्यमानाविव शिक्षितुं ततो मृदुत्वमप्रौढमृणालमालया।
विरेजतुर्माङ्गलिकेन सङ्गतौ भुजौ सुदत्या वलयेन कम्बुनः। नै० १५।४५

२. वलयैश्छादयिष्यामि बाहू किणकृताविमौ।
कर्णयोः प्रतिमुच्याहं कुण्डले ज्वलनप्रभे।
पिनद्धकम्बुः पाणिभ्यां तृतीयां प्रकृतिं गतः।
वेणीकृत-शिरा राजन् नाम्ना चैव बृहन्नला। म० भा०, विराटपर्व २–२६,२७

३. अङ्ग-बङ्ग-कलिङ्गेषु यानि तीर्थानि कानिचित्।
जगाम तानि सर्वाणि पुण्यान्यायतनानि च॥ म० भा०, आ० प० २१५।९

अच्छा होता कि भट्टाचार्य महोदय महाभारत के रचयिता को ही बङ्गाली सिद्ध करने का प्रयत्न करते, इस प्रकार वे सभी झञ्झटो से मुक्त हो गए होते। अस्तु।

कादम्बरी में भी जाबालि-आश्रमवर्णन के प्रसङ्ग मे शङ्खवलय का उल्लेख हुआ है। बाणभट्ट बिहारवासी थे, किन्तु थानेश्वर और कन्नौज मे ही अधिक रहे। श्रीभट्टाचार्य महोदय ने पूर्ण प्रयत्न किया है कि कादम्बरी के इस वर्णन को सदोष सिद्ध कर दे। किन्तु यह एक बाल की खाल ही निकालनी है। बाण तथा श्रीहर्ष ऐसे प्रतिभाशाली कवियों के लिए विभिन्न प्रान्तों के आचार-व्यवहार का ज्ञान कोई विशेष बात नही थी।

श्रीहर्ष की चिन्तामणि मन्त्र के प्रति भक्ति पर भट्टाचार्य ने उन्हे बङ्गाली बताया है, क्योंकि उन्होने मन्त्र-तन्त्रवाद का उद्गम बङ्गाल ही से माना है। मन्त्र-तन्त्र का प्रारम्भ चाहे बङ्गाल से ही हुआ हो किन्तु उसका प्रयोग तो समस्त भारत मे होने लगा था। कश्मीर तथा दक्षिणभारत मे भी मन्त्रों का वैसा ही प्रचार था जैसा बङ्गाल मे। अतः यह तर्क नितान्त निराधार है।

नल के विवाह में बरातियो के भोजन के समय मत्स्य-मास तथा अन्न-मीन का बहुश. प्रयोग देखकर श्रीहर्ष को बङ्गाली बताना तो भ्रममात्र ही कहा जा सकता है। कान्यकुब्ज प्रदेश की बरात में वही दृश्य आज भी देखा जा सकता है। फिर क्षत्रिय राजा की बरात मे तो मत्स्य-मांस का बोलबाला होता ही है।

कुछ शब्दालङ्कारों मे श, ष, स; ण, न; व, ब; य, ज, तथा ष, क्ष, ख की समानता देखकर श्रीहर्ष को बङ्गाली बताना उचित नहीं। यद्यपि बङ्गाली उच्चारण में साधारणतया इन अक्षरों में कोई अन्तर नही माना जाता, किन्तु अलङ्कार-शास्त्रियों ने भी तो इसकी छूट दे रखी है। वहाँ भी अनुप्रास, यमक आदि के प्रयोग मे इन वर्णों को एक ही माना जाता है। कवियों ने इस छूट का प्रचुर प्रयोग भी किया है।[1] अतः इसे किसी कवि की मातृभाषा का प्रमाण मानना उचित नही।

---

१. यमकादौ भवेदैक्यं डलो र्वबो रलोस्तथा। (सा० द०, द० प०) यमक प्रकरण

(अ) यथा कालिदास . . . भुजलतां जडतामबलाजनः।
शष (सब) योर्नणयोश्चान्ते सविसर्गाविसर्गयोः
सबिन्दुकाबिन्दुकयोःस्यादभेदप्रकल्पनम्। —इतिशेषः

(ब) रलयोर्डलयोश्चैव बवयोःशसयोर्नभित्
नानुस्वारविसर्गौ च चित्रभङ्गाय सम्मतौ।
—अलङ्कार-शेखर केशवमिश्रः पञ्चदशमरीतिः।

विद्यापति ने पुरुषपरीक्षा की मेधाविकथा में श्रीहर्ष को गौड-विषयवासी बताया है, और आगे लिखा है कि "श्रीहर्ष अपने नलचरित-काव्य की रचना करके पण्डित-मण्डली से उसका अनुमोदन कराने वाराणसी गए। वहाँ वे उसे कोक नाम के पण्डित को प्रतिदिन सुनाया करते थे। किन्तु कोक पण्डित उसका कोई उत्तर न देते। इस पर श्रीहर्ष ने कहा—"आर्य, मैंने इस महाकाव्य में बड़ा श्रम किया है, उसकी परीक्षा के लिए अपने देशवासी होने के नाते आपको लक्ष्य करके स्नेहवश बहुत दूर से आया हूँ।"[1] श्री भट्टाचार्य महोदय ने तथा अन्य विद्वानो ने भी इस कथन के आधार पर श्रीहर्ष को बङ्गाली बना डाला है। किन्तु इसमें दो बातें विचारणीय है। प्रथम तो यह कि श्रीहर्ष कोक के पास स्वदेशीय वात्सल्य से गए थे। कोक, यदि वे रतिरहस्य के प्रसिद्ध आचार्य कोक्कक थे, तो निश्चित ही काश्मीरी ठहरते है, और इस नाते तो श्रीहर्ष का काश्मीरी होना निश्चित हो जाता है। सम्भव है श्रीहर्ष का काश्मीरियो से कोई सम्बन्ध रहा हो। (किवदन्ती तो उन्हे मम्मट का भागिनेय बताती ही है।) पर वे बङ्गाली तो निश्चय ही नही ठहरते। वास्तव मे गौड शब्द का प्रयोग बङ्गाल, गोडवाना, गोंडा तथा कभी-कभी समस्त उत्तरीय भारत के लिए हुआ है। जातिभास्कर[2] में गौड़ देश के विषय में लिखा है "बङ्ग देश से लेकर अमरनाथ पर्यन्त गौड देश की स्थिति है ऐसा एक श्लोक आदिगौड़दीपिका में लिखा है. ..यथाहि......

गौडदेशं समारभ्य भुवनेशान्तगः शिवे।
गौडदेशः समाख्यातः सर्वविद्याविशारदः।"

मध्यदेश के अवान्तर आरण्यदेश जिसको हरियाना और जङ्गल देश कहते है तथा दिल्ली के प्रान्त, सुनपत, पानीपत, करनाल, कुरुक्षेत्र, फल्गु, कैथल, यमुना के प्रान्त हस्तिनापुर, मारवाड़, झंझनु, फतेहपुर, शेखावटी, पुष्कर आदि प्रान्त मत्स्य, विराट्, भिवानी आदि स्थानों में गौड ब्राह्मणों का निवास है। अयोध्या में उत्तर

---

१. **"बभूव गौडविषये श्रीहर्षोनाम कविपण्डितः। स च नलचरिताभिधानं काव्यं कृत्वा...तत्काव्यं दर्शयितुं पण्डित-मण्डलीमुद्दिश्य वाराणसीं जगाम। तत्र च कोकनामानंपण्डितं श्रावयामास।...श्रीहर्षस्तु तमनुगच्छन् पठति प्रत्यहम्। तदुत्तरं किमपि नाप्नोति। एकदा श्रीहर्षेणोक्तम्। आर्य महाकाव्ये कृत-श्रमोहम्। तत्परीक्षार्थं त्वामुद्दिश्य बुद्ध्या स्वदेशीयवात्सल्येन च महतो दूरादागतोस्मि।" इत्यादि।—(सर० भव० स्ट० भाग ३ में, पृ० १९०-९१ की टिप्पणी में उद्धृत)**

२. **खेमराज श्रीकृष्णदास संस्करण पृ० ७३।**

सरयूनदी और सरयू के उत्तर सरवार तथा गौड़ देश है। यह ब्राह्मणोत्पत्तिमार्तण्ड के रचयिता का मत है। मत्स्यपुराण में श्रावस्तीपुरी का वर्णन गौड देश मे किया गया है।[१] यथाहि. . .

"यह श्रावस्तीपुरी (सेहेत-मेहेत नाम से) गौड़ देश में इस समय सरयूनदी के उत्तर गोडा नगर के समीप वर्तमान है। जिस देश की सीमा पूर्व में गङ्गा और गण्डकी का सङ्गम है, पश्चिम और दक्षिण दिशाओ मे सरयू है, उत्तर मे हिमालय है इसके मध्य की भूमि का नाम गौड़ देश है. . . गण्डकी नदी के पश्चिम की भूमि गौड देश कहाती है। इस स्थान मे जो ब्राह्मण सृष्टि के आरम्भ से निवास करते है वे आदि गौड़ कहाते हैं।"[२] इस प्रकार गौड़ देश वास्तव मे केवल वङ्गाल का द्योतक न होकर उस सारे प्रदेश का वाचक होता है जहाँ गौड़ ब्राह्मणो का निवास रहा है। फिर भी यदि गौड़ बङ्गाल तक माना जाय तो भी यहाँ गौड़ेश्वर कान्य-कुब्जेश्वर ही होगा। क्योकि गोविन्दचन्द्र के मनेर, लार तथा सेहेत-मेहेत के ताम्रपत्रो से सिद्ध होता है कि गाहडवालो का राज्य उत्तरी भारत मे मगध तथा मगध के पूर्व तक फैला हुआ था।[३] हितोपदेश मे भी कौशाम्बी नगरी को गौड़ देश मे बताया है।[४] वास्तव मे दक्षिणी तथा पश्चिमी भारत के लोग गौड़ देश या गौड़-विषयक से वह समस्त भूभाग समझते थे जहाँ गौड़ों का निवास हो। अथवा मूलतः गुड़ के कारण भी गौड़ देश का नामकरण ईख-गन्ने की खेती वाले सर्वाधिक गुड़ोत्पादक इस वर्तमान उत्तर प्रदेश से विशेषतः सम्बद्ध हो सकता है। शाक, प्लक्ष, शाल्मली, जम्बू इत्यादि द्वीपनाम भी ऐसे ही पड़े थे, यह इतिहास-पुराणों से सिद्ध है। इस प्रकार राजशेखर-सूरिका हरिहरप्रबन्ध में 'गौडदेश्यः हरिहरः' का तथा विद्यापति की पुरुष-परीक्षा की मेधाविकथा के गौड़देश का भी यही अभिप्राय सम्भव हो सकता है। यहाँ गौड़ अर्थ बङ्गाल नही अपितु वह प्रदेश है जहाँ गौड़ ब्राह्मणों का निवास है। अस्तु।

---

१. श्रावस्तश्च महातेजा वत्सकस्तत्सुतोऽभवत्।
निर्मिता येन श्रावस्ती गौडदेशे द्विजोत्तमाः। म० पु० १२-३०
उत्तराकौशले राज्यं लवस्य च महात्मनः।
श्रावस्ती लोकविख्याता श्राविता च लवस्य च॥ वायु० पु० भाग २ अध्याय २६—श्लोक १९८

२. जातिभास्कर—खेमराज श्रीकृष्णदास संस्करण, पृ० ७३

३. जे० बी० ओ० आर० एस०, भाग १९, पृ० २३३

४. अस्ति गौडीये कौशाम्बी नगरी। हि० १।५

श्रीनलिनीनाथ दास गुप्त[1] ने श्रीहर्ष रचित विजय-प्रशस्ति को बङ्गाल के सेनवंशीय विजयसेन की प्रशस्ति मानी है। उन्होने नैषध की हर्षहृदय नामक टीका के कर्ता गोपीनाथ आचार्य का मत उल्लिखित किया है।

आचार्य महोदय ने अपनी टीका मे विजय-प्रशस्ति शब्द पर लिखा है—'विजयसेननाम्नो गौडेश्वरस्य प्रशस्तिः।' दासगुप्त महोदय का कहना है कि गौड़ (जिसे उन्होने बङ्गाल माना है) देश के अधिपति विजयसेन का शासनकाल ११५८ ई० में समाप्त हो जाता है और कन्नौज तथा बनारस के नरेश जयचन्द्र का शासन इसके पश्चात् प्रारम्भ होता है—अत. यह नि सन्देह निर्णीत हो जाता है कि श्रीहर्ष विजयसेन की मृत्यु के बाद गौड़ देश से जयचन्द्र के आश्रय मे कान्यकुब्ज चले आए। यह मत विद्यापति की मेधाविकथा तथा राजशेखरसूरि के कोश दोनों से सङ्गत पड़ता है। केवल कवि के पिता का नाम श्रीहीर तथा उसका जयचन्द्र का समकालीन होना इन दो बातो मे अवश्य अन्तर पड़ता है। दासगुप्त महोदय ने आगे अन्तःसाक्ष्य के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि नैषध में कई शब्द ऐसे आए है जो श्लेषबल से नल तथा गौडेन्द्र विजयसेन दोनों के लिए चरितार्थ होते हैं। सेनवश ने अपने को चन्द्रवशीय बताया है तथा विजयसेन के भी पूर्व पुरुष वीरसेन थे। (पौराणीभिः कथाभिः प्रथितगुणगणो वीरसेनस्यवंशे) इस प्रकार नैषध का यह श्लोक—

अब्रवीदथ यमस्तमहृष्टं वीरसेनकुलदीप तमस्त्वाम्।
यत् किमप्यभिबुभूषति तत् किं चन्द्रवंशवसतेः सदृशं ते।[2]

विजयसेन तथा नल दोनों के लिए समानार्थक है, फिर दमयन्तीस्वयंवर में सरस्वती द्वारा गौड़नरेश का वर्णन विशेष महत्त्व का है। इस प्रसङ्ग का एक श्लोक इस प्रकार है—

आलिङ्गितः कमलवत् करकस्त्वयायं श्यामः सुमेरुशिखयेव नवः पयोदः।
कन्दर्पमूर्द्धरुहमण्डन - चम्पकस्रग्दामत्वदङ्गरुचिकञ्चुकितश्चकास्तु॥[3]

यहाँ दमयन्ती की तुलना सुमेरु पर्वत की चोटी से की गयी है तथा गौड़-देश के राजा को नूतन-श्याम-पयोद के समान कहा गया है। श्रीदासगुप्त महोदय ने यह श्लोक भी विजयसेन के लिए श्लिष्ट माना है—"क्योंकि कर्नाटक देश का

---

१. इण्डियन कल्चर, भाग २, १९३५,३६
२. नै० ५।१२४

मूलवासी होने के कारण विजयसेन का श्याम होना स्वाभाविक ही था।" इन सब तर्कों के आधार पर उन्होंने यह सिद्ध किया है कि श्रीहर्ष गौड़-देश-(बंगाल) वासी थे। उन्होंने आगे यह भी कल्पना की है कि सभवतः "नल तथा विजयसेन मे, जो श्रीहर्ष के जन्म प्रदेश के नरेश थे, इतना अधिक साम्य होने के कारण ही महाकवि नें नल के शेष दु खपूर्ण जीवन की कथा पर काव्य-रचना ही नही की।"

श्री दासगुप्त महोदय के सारे पूर्वोक्त तर्क केवल कल्पना पर ही आधारित है। वास्तव मे श्रीहर्ष स्वतन्त्र वृत्ति के परम मानी महाकवि थे। नैषधीय चरित का वर्णन करते समय उन्हे उस बहाने किसी तात्कालिक नरेश की चाटुकारिता नही करनी थी। और यदि यह माने कि जिसका वर्णन अधिक प्रशसापूर्ण हो श्रीहर्ष उसी के आश्रित थे तव तो गौड़ेन्द्र का सबसे कम तथा उपेक्षापूर्ण वर्णन है, बल्कि कीकट-नरेश का वर्णन सर्वश्रेष्ठ हुआ है। अत. श्रीहर्ष को कीकटवासी ही समझें। और इस सिद्धान्त के बल पर बेचारा कवि सदा बेठिकाने का ही रहेगा। वास्तव मे यदि कोई श्लोक नल के साथ किसी तात्कालिक अन्य नरेश के लिए भी चरितार्थ होता है तो इसे तो हम सयोग ही की बात कहेगे, कवि को यह अभीष्ट नहीं कहा जा सकता। फिर नैषध के "श्याम.सुमेरुशिखयेव नवः पयोद." वर्णन को विजयसेन की श्यामता को दृष्टि में रखकर किया गया मानना भी उचित नही, क्योकि संस्कृत-कविसम्प्रदाय में पौरस्त्य (पूर्व के) लोगो का श्यामवर्ण मान ही लिया गया है।[1] और यह कहना कि अपने देश के राजा के जीवन से नल के जीवन में अधिक समता होने के कारण श्रीहर्ष ने नल-चरित्र का दु.खद अश चित्रित ही नही किया नितान्त भ्रान्त धारणा है। नैषध में नल के जितने चरित्र का वर्णन किया गया है उतना ही श्रीहर्ष को अभीष्ट था, क्योकि उन्हे एक ऐसा महाकाव्य बनाना था जो 'श्रृङ्गारा-मृत-शीतगु' हो। श्रृङ्गार के अतिरिक्त अन्य कोई रस वे लाना ही नहीं चाहते थे। अतः नल के जीवन के इतने ही अंश को लिया है। और फिर, यदि श्रीहर्ष विजयसेन के यहाँ रहते या रहे होते, तो कही स्वयं उनके द्वारा या विजयसेन के लेखों में या अन्य बाद वाले किसी लेखक द्वारा उसका उल्लेख तो अवश्य होता। कान्यकुब्जे-श्वर द्वारा किये गये सम्मान का तो श्रीहर्ष सगर्व उल्लेख करते है।[2] गौडेश्वर के आदर को कैसे भूल जाते ? अतः हम इसी निर्णय पर पहुँचते है कि श्रीहर्ष कान्य-

---

१. तत्र पौरस्त्यानां श्यामो वर्णः—काव्यमीमांसा, अध्याय १७, पृ० २९०, चौ० सं० सि० १९३४ ई०।

२. ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्।

कुब्ज प्रान्त के थे। उनका विशेष निवास काशी या कन्नौज मे होता था। यही प्रबन्ध-कोश तथा चाण्डूपण्डित द्वारा भी समर्थित होता है।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो नैषध मे ही स्वय श्रीहर्ष अपने प्रिय (जन्म-) प्रदेश का उल्लेख करते हुए मिलते हैं। चाहे हम इसे मनुष्य की दुर्बलता कहे चाहे सहज धर्म किन्तु होता यही है कि न चाहते हुए भी मनुष्य अपने हृदय को प्रिय लगने वाली वस्तु की ओर बरबस सङ्केत कर ही देता है। कालिदास ने मेघ को बेरास्ते भी चलकर उज्जयिनी अवश्य पहुँचने की सलाह दी।[1]

श्रीहर्ष ने कीर (तोते) के मुख से नव दम्पति नल-दमयन्ती का वर्णन करवाते हुए अपने प्रिय-प्रदेश के प्रति अपने प्रेमोद्गार को व्यक्त करवा दिया है। कीर कहता है—"जिस प्रकार गङ्गा-यमुना दो नदियो का हार पहने, जन-मन को प्रिय लगने वाले 'मध्यदेश' से युक्त तथा 'अन्तर्वेदि' प्रान्त से सुशोभित वसुमती को धारण किए हुए, चन्द्रमा के प्रकाश से उल्लासित (उर्मिल) सागर की शोभा होती है, उसी प्रकार धवल (मुक्ता) हार-समन्वित अतिरम्य कटिप्रदेश वाली प्रिया को गोद मे लिए हुए आप उसके मुखचन्द्र से प्रफुल्लित हो रहे है।[2]

यहाँ नल-दमयन्ती के लिए जिस उपमान की कल्पना की गयी है वह एक प्रकार से असम्भव अथवा अज्ञात वस्तु है। कहाँ सागर और कहाँ 'मध्यदेश'? इतनी कठिन दूरी की उपेक्षा कर कवि ने मध्यदेश की भूमि को सागर की गोद में बैठाकर एक उपमान खडा किया है। जब सागर और नदी के सयोग से भी काम चल सकता था तब मध्यदेश को बीच मे लाने की क्या आवश्यकता थी? इसका केवल एक ही समाधान है कि वह प्रान्त कवि का अपना जन्म-प्रान्त था। 'जनमन.प्रिय' विशेषण इस भाव को और भी पुष्ट करता है। इतना ही नही, श्रीहर्ष ने उस प्रान्त की राजधानी 'महोदय' (कन्नौज) नगरी का भी नामोल्लेख करते हुए वर्णन किया है। कीर वही दमयन्ती की प्रशंसा करते हुए कहता है—"सुन्दरि, तुम भगवान् कामदेव की राज-नगरी हो और तुम्हारे कुचों पर की गयी यह मकर-रचना उस राजा की मकराङ्कित पताका है। महोदय (कन्नौज अथवा महान् अभ्युदय) के

---

१. **वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां।**
सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मास्म भूरुज्जयिन्याः॥ मेघदूत, पूर्व-मेघ।

२. **एतां धरामिव सरिच्छवि-हारि-हारा-मुल्लासितस्त्वमिदमाननचन्द्रभासा।**
बिभ्रद्विभासि पयसामिव राशिरन्तर्वेदिश्रियं जनमनः प्रियमध्यदेशाम्॥
नै० २१।१३३

महोत्सव से युक्त इस नगरी (तुम) मे तुम्हारी भौहों को कौन कामदेव का तोरण न कहेगा?"[1]

यदि ये वर्णन दमयन्ती के स्वयवर मे आए हुए किसी नरेश के प्रसङ्ग मे किए गए होते तो उनसे कोई अन्य सङ्केत न समझा जाता। किन्तु यहाँ एक नितान्त भिन्न प्रसङ्ग में अलङ्कार के सहारे कवि ने इन स्थानों का जिस भावना के साथ उल्लेख किया है उससे उसका यही अभिप्राय निकाला जा सकता है कि इन स्थानो से कवि का कोई हार्दिक सम्बन्ध था।

बाह्य साक्ष से भी श्रीहर्ष का कन्नौज प्रान्त का होना सिद्ध होता है। फर्रुखाबाद जिले मे कन्नौज के पास मीरा-सराय नाम का एक कस्बा है, जहाँ कन्नौज का रेलवे स्टेशन है। यहाँ विशेष वस्ती कान्यकुब्ज मिश्रों की है। ये लोग स्मार्त और शाक्त हैं और अपने को श्रीहर्ष का वशज वतलाते है। इनका कहना है कि "हम लोग पहले त्रिपाठी थे, परन्तु श्रीहर्ष ने एक यज्ञ किया जिससे हम मिश्र कहे जाने लगे।" ये लोग श्रीहर्ष का किसी राजा द्वारा सम्मानित होना भी बतलाते हैं।

इस प्रकार अन्तः तथा बाह्य दोनो साक्ष्यो के आधार पर श्रीहर्ष कन्नौज प्रान्त के ठहरते हैं। साथ ही उन्हे काशी से भी विशेष प्रेम था। चाण्डूपण्डित ने भी उनका काशी में निवास करना बताया है।[2] स्वयंवर-सभा में काशिराज का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष ने काशी का बड़े अनुराग के साथ वर्णन किया है:— "वाराणसी भूलोक से परे है, वहाँ रहना देवलोक में वास करना है। अतएव उस तीर्थ मे मरने वालो को मुक्ति ही मिलती है। अन्यथा मुक्ति के अतिरिक्त स्वर्ग से बडा कौन पद है जो अधिक आनन्द देगा?"[3] इत्यादि। और अन्त में जब स्वयंवर मे देवगण प्रसन्न होकर नल-दमयन्ती को वरदान देने लगते हैं उसी प्रसङ्ग में इन्द्र नल को एक वरदान देते है—"राजन् तुम्हारे निवास के लिए वाराणसी के

---

१. चेतोभवस्य भवती कुचपत्रराज-धानीयकेतुमकरा ननु राजधानी।
अस्यां महोदयमहस्पृशि मीनकेतोः के तोरणं तरुणि न ब्रुवते भ्रुवौ ते॥
नै० २१।१३५

२. "तथा च श्रीवाराणस्यां मुक्तिक्षेत्रेऽनुभूतपरब्रह्मस्वरूपो गङ्गादर्शनादिना धर्मकर्ममध्यमध्यासीनः" इत्यादि॥ नैषधदीपिका का प्रारम्भ।

३. वाराणसी निविशते न वसुन्धरायां तत्र स्थितिर्मखभुजां भुवने निवासः।
तत्तीर्थमुक्तवपुषामत एव मुक्तिः स्वर्गात्परं पदमुदेतुमुदेतु कीदृक्॥
नै० ११।११६

समीप असी नदी के पार तुम्हारे नाम की नगरी होगी। मोक्षाभिलाषी होने पर भी काशी मे तुम्हारा निवास इसलिए नही किया कि वहाँ रहकर तुम्हे दमयन्ती के साथ सम्भोग-सुख करने में सङ्कोच करना पडता"[१]— देवो के जितने वरदानो का नैषध मे उल्लेख हुआ है वे प्राय सभी महाभारत मे कहे गए है। किन्तु वाराणसी के समीप नल के नाम से बसने वाली नगरी या गाँव का वहाँ कोई उल्लेख नही हुआ है। नल की कथा जहाँ कही भी मिलती है वहाँ, कही भी, इस वरदान की चर्चा नही हुई है। अतः यह श्रीहर्ष द्वारा कल्पित ही समझ पडता है। अब प्रश्न उठता है कि इस कल्पना का आधार अथवा मूल क्या था? कवि ने यह एक नूतन वरदान क्यो दिलवाया? इसका एकमात्र उत्तर यह समझ पडता है कि श्रीहर्ष के समय में काशी के समीप असी के उस पार कोई ऐसा गाँव या नगर रहा होगा जिसका नाम नल के नाम के समान पड़ता था, तथा जो बहुत पुराना बसा हुआ बताया जाता था, जिसे देखकर कवि ने यह कल्पना कर डाली। इस कल्पना से यह भी अनुमान सहज मे लगाया जा सकता है कि श्रीहर्ष काशी मे रहते समय या तो काशी के पास उसी नल नाम वाले गाँव मे रहते थे, या उस गाँव से इनका कोई सम्बन्धविशेष था। आज भी काशी के समीप असी के पार नरोत्तमपुर, नरियापुर (नलपुर) तथा नैषढा (नैषधपुर) तीन गाँव है। इन्ही मे से किसी एक के प्रति श्रीहर्ष का सङ्केत समझ पड़ता है।

नैषध में श्रीहर्ष का व्यक्तित्व

कवि का हृदय उसके काव्य में झलकता है। छिपाने का लाख प्रयत्न करने पर भी कवि का अपना सच्चा व्यक्तित्व काव्य मे प्रकट हो ही जाता है। और यदि प्रयत्न करके कोई कवि अपने स्वभाव के विरुद्ध कोई काव्य-रचना करे भी तो वह उसकी अत्यन्त निम्न श्रेणी की कृति होगी, क्योंकि वह उसके हृदय के सच्चे भावों से रहित होगी। उत्तम काव्य तो वही है जिसमें कवि के हृदय का सच्चा स्वर सुनाई पड़ता है। राज-प्रशस्तियाँ इसीलिए अधिक लोकप्रिय न हो सकी कि उन्हें कविगण धन-कीर्त्यादि की लिप्सा से दूसरों को प्रसन्न करने के लिए (विशेष स्वार्थवश) लिखा करते थे। सच्चे काव्य मे यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो कवि का सच्चा स्वरूप दिखायी देता है। नैषध में वैसे तो एक राजा की कथा है किन्तु काव्य की सूक्ष्म समीक्षा करते समय विचारक को श्रीहर्ष के निजी व्यक्तित्व की

---

१. तवोपवाराणसि नामचिह्नं वासाय पारेसि पुरं पुरास्ति।
निर्वातुमिच्छोरपि तत्र भैमीसम्भोगसङ्कोचभियाधिकाशि॥ नै० १४।७५

कथा भी मिल जाती है। श्रीहर्ष कही-कही स्पष्ट उत्तम-पुरुष-वाचक क्रिया द्वारा ही अपने विचारों को रखते हैं। दमयन्ती के मुँह खोल कर हंस से अपने नलानुराग को प्रकट करने पर श्रीहर्ष अपना विचार प्रकट करते हैं—"इतना कहने में दमयन्ती ने जो लज्जा का परित्याग किया वह हमारे (कवियो के) चित्त में भले ही अनुचित लगा करे", इत्यादि।[1] एक स्थान पर और उन्होने अपना विचार स्पष्टतया उत्तम पुरुष-वाचक क्रिया द्वारा प्रकट किया है। स्वयंवर मे अवन्तिनाथ की बडी प्रशसा सुनकर भी दमयन्ती ने उनकी ओर देखा तक नही। इस पर कवि मानो भूल कर अपनी रुचि सुनाने लगता है—"किसी अन्य में अनुराग होने के कारण किसी दूसरे व्यक्ति को नीरस दृष्टि से देखने की अपेक्षा, मेरी समझ में, उसे बिलकुल न देखना ही उचित होता है।"[2] इस प्रकार कही किसी पात्र-विशेष के चरित्र का चित्रण करने मे, कहीं किसी विशेष घटना की कल्पना तथा योजना करने में, कही अर्थान्तिरन्यास द्वारा कवि अपने व्यक्तिगत स्वरूप को प्रकट कर देता है। नैषध मे कवि के व्यक्तित्व की झलक कुछ इसी रूप मे मिल जाती है।

समस्त विद्याओ तथा कलाओ मे पूर्ण निष्णात होने के साथ ही श्रीहर्ष राज-वैभव एवं राजकीय सुख का भी अनुभव कर चुके थे।[3] किन्तु विलास के समस्त उपकरणों के रहते हुए भी वे विलासप्रियता के कदापि वश्य न होकर जितेन्द्रिय ही बने रहे।[4] उनका सिद्धान्त था कि ज्ञान से निर्मल चित्तवाले को विषयों में आसक्ति हो ही नही सकती।[5] वे सिद्ध-समाधि योगी थे। नैषध की समाधि-विषयक अथवा ब्रह्म-साक्षात्कारविषयक अनेक उक्तियो की ध्वनि इसका प्रमाण है।[6] साथ ही जीवन में मुनियों की सी शान्त एवं निरपराध वृत्ति उन्हे प्रिय थी, जैसा वे हंस से कहलाते है—"जिस मेरी जीवन-वृत्तियाँ मुनि की भाँति जल तथा भूमि पर उत्पन्न होने वाले वृक्षो के फल एवं मूल से चलती है।"[7]

---

१. इत्युक्तवत्यायदलोपिलज्जा सा नौचिती चेतसि नश्चकास्तु॥ नै० ३।९७
२. अन्यानुरागविरसेन विलोकनाद्वा जानामि सम्यगविलोकनमेव रम्यम्॥ नै० ११।९३
३. ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्॥
४. श्रीहीरः सुषुवे 'जितेन्द्रियचयं' मामल्लदेवी च यम्॥
५. आहृता हि विषयैकतानता ज्ञानधौतमनसं न लिम्पति॥ नै० १८।२
६. नै० १।४०, ११७, २।१, ३।३, ४, ७।३ इत्यादि तथा ५।३, ६।४६ इत्यादि।
७. फलेन मूलेन च वारिभूरुहां मुनेरिवेत्थं मम यस्य वृत्तयः॥ नै० १।१३३

नैषध का प्रारम्भ उन्होंने किसी अन्य प्रकार के (देव-नमस्कारादि रूप) मङ्गलाचरण से नही किया है। किन्तु जब पुण्य-श्लोक नल का नामोच्चारण ही मङ्गल है तो जिसमे उनका चरितगान होने जा रहा है वह तो समस्त काव्य ही मङ्गल-रूप है, यह धारणा भरपूर उनके ध्यान मे रही है। अतएव प्रथम दो श्लोकों मे वे वस्तुनिर्देश के रूप मे नल की स्तुति करते है, (उसी प्रकार जैसे मङ्गलाचरण मे किसी देवता की स्तुति की जाती है।) फिर तीसरे मे अपनी अभिलाषा या आशंसा प्रकट करते है—

"इस युग में जिसकी कथा स्मरण-मात्र से रसक्षालना (पानी से धोने, या रस छानने की छन्नी) की भाँति ससार को पवित्र करती है वही मेरी मलिन वाणी को भी अपनी सेविका ही समझकर क्यों न पवित्र करेगी।"[1]

इससे उनके जीवन की आस्तिक वृत्ति का परिचय मिलता है। श्रीहर्ष दान देने का बडा माहात्म्य मानते थे। वे राजा नल की अलौकिक दानशीलता की अत्यधिक प्रशसा करते है।[2] यहाँ तक कि राजा का दानवीर रूप प्रधान हो जाता है। वे अयाचित (न माँगने के) व्रत को भी सर्वोपरि समझते थे। मानी पुरुषो के प्राण भले ही निकल जायँ पर वे किसी से याचना नही करते।[3] तथापि यदि कोई वस्तु विना याचना के प्राप्त होती है तो उसे सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिए, क्योकि किसी व्यक्ति को अपना सहायक बनाकर मङ्गलकारी देव ही ऐसा उपहार अर्पित करता है।[4] बिना याचना किए स्वय प्राप्त हुई थोड़ी भी वस्तु की बुद्धिमान् लोगो को अवज्ञा नही करनी चाहिए। और यदि किसी पूज्य द्वारा सप्रेम दी गयी है तो उस थोड़ी भी वस्तु को बहुत समझना चाहिए।[5] वे अतिथि-सत्कार को गृहस्थ का सबसे प्रधान कर्तव्य मानते थे।[6] श्रीहर्ष को कदाचित् वृत्तिवश अथवा किसी अन्य प्रयोजन-वश प्रवासी जीवन का भी अनुभव करना पड़ा हो तो कोई आश्चर्य नही। प्रियावियुक्त प्रवासी के हृदय के भावों का कुछ ऐसा ही अनुभव-

---

१. पवित्रमत्रातनुते जगद्युगे स्मृता रसक्षालनयेव यत्कथा।
कथं न सा मद्गिरमाविलामपि स्वसेविनीमेव पवित्रयिष्यति॥ नै० १।३

२. नै० १।१५, १६ : ५।७९–९२

३. त्यजन्त्यसून् शर्म च मानिनोवरं त्यजन्ति नत्वेकमयाचितव्रतम्। नै० १।५०

४. करकल्पजनान्तराद् विधेः शुचितः प्रापि स हि प्रतिग्रहः। नै० २।१२

५. अर्थो विनैवार्थनयोपसीदन्नाल्पोऽपि धीरैरवधीरणीयः।
मान्येन मन्ये विधिना वितीर्णः स प्रीतिदायो बहुमन्तुमर्हः॥ नै० १४।८७

६. नै० १।७६, ७७ : ५।७, ९ : १०।२७,२८

प्रधान चित्रण इन्होने (हस-प्रसङ्ग मे) किया है।[1] नैषध मे श्रीहर्ष की जो मूर्ति अत्यधिक स्पष्ट झलकती है वह है प्रारब्धवादी या भाग्य-पारवश्यवादी की। उनका विश्वास था कि विधि-इच्छा के पीछे मानव-चित्त उसी प्रकार दौड़ता है जैसे वात्या (बवण्डर) के पीछे तृण उडता है।[2] दैवेच्छा से विनाशशील वस्तु का प्रतीकार इन्द्र भी तो नही कर सकते।[3] जब भाग्य ही काम मे बाधक हो जाता है तो फिर कोई प्रयत्न, कोई पौरुष साधक नही हो सकते।[4] ईश्वर ने जिसके ललाट में जो लिख दिया वह अनुचित होते हुए भी उचित को हटाकर होता है।[5] भाग्य ही के बल पर नीति भी सफल होती है।[6] श्रीहर्ष करुण जीवन से अति परिचित समझ पड़ते है, अन्यथा वे हस के करुण विलाप का इतना हृदयस्पर्शी चित्रण न कर सकते।[7] जिसका हृदय दु:ख का अनुभव किए रहता है वही दुःख की कहानी भी सफलता से कह सकता है। सूखे आँसुओ से जब अपनी ही आँखे नही भीगती तो दूसरे की आँखे उससे क्या भीगेगी ?

श्रीहर्ष मे उदात्त वृत्तियाँ भी थी। उपकारी के प्रति उनका हृदय कृतज्ञ रहता था। उनके जीवन का सिद्धान्त था—'अपना उपकार करने वाले का यथासाध्य प्रत्युपकार शीघ्र करना चाहिए। वह प्रत्युपकार बड़ा हो या छोटा विद्वान् लोग इसका विशेष विचार नही करते।[8] सत्पुरुष को डीग हाकना उचित नही होता। वे कार्य द्वारा अपनी योग्यता बताते है, शब्दो द्वारा नही।"[9] श्रीहर्ष का योग-शुद्ध हृदय पिशुनता को प्रश्रय देने के लिए सर्वथा विरूप था। उन्हें जनापवाद से भय

---

१. नै० १।८६, १०१

२. अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा।
तृणेन वात्येव तयानुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना॥ नै० १।१२०

३. न वस्तु दैवस्वरसाद्विनश्वरं सुरेश्वरोऽपि प्रतिकर्तुमीश्वरः॥ नै० ९।१२६

४. दैवे निरुन्धति निबन्धनतां वहन्ति हन्त प्रयास-परुषाणि न पौरुषाणि।
नै० ११।५५

५. यस्येश्वरेण यदलेखि ललाटपट्टे तत्स्यादयोग्यमपि योग्यमपास्य तस्य।
नै० १३।५०

६. जगाम भाग्यैरिव नीतिरुज्ज्वलैः...महार्घताम्। नै० १५।५४

७. नै० १।१३५–१४२

८. अचिरादुपकर्त्तुराचरेदथवात्मौपयिकीमुपक्रियाम्।
पृथुरित्थमथाणुरस्तु सा न विशेषे विदुषामिह ग्रहः॥ नै० २।४

९. ब्रुवते हि फलेन साधवो न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम्॥ नै० २।४८

अवश्य था।[1] किन्तु वे उसकी विशेष चिन्ता या परवाह भी नही करते थे जैसा कि उनके इस वाक्य से सिद्ध है—"लोगो के मुँह पर हाथ ही कौन धर सकता है?"[2]

श्रीहर्ष बौद्धमत के प्रति उदार भाव रखते थे। "ज्ञितेन्द्रिय गौतमबुद्ध ने पहले ही तुम्हे (मदन को) पराजित कर तुम्हारे महान् यश शरीर को नष्ट कर दिया था, फिर शेष बचे हुए पञ्चभूतमय (अथवा मरकर भूत बने हुए) देह को शिव ने भस्म किया।"[3] मदन के प्रति दमयन्ती की पूर्वोक्त भर्त्सना में तथा दूत नल के सम्मुख "जिस चरित्ररूपी धर्मचिन्तामणि को भगवान् बुद्ध ने 'त्रिरत्न' मे रक्खा है उसे जिस स्त्री ने शङ्कर की कोपाग्नि मे राख बने मदन के लिए त्यागा उसने मानो अपने कुल में वह राख ही उडाई।"[4] ये उक्तियाँ श्रीहर्ष के बौद्ध मत से अविरोध और सद्भाव की ही द्योतक है।

श्रीहर्ष ऋजुमार्ग के समर्थक होते हुए भी कुटिल व्यक्ति के साथ सरलता उचित नही समझते थे।[5] वे कीर्ति को सबसे वड़ी मानते थे। उनके मत से "अपनी धवलिमा से चन्द्र की मुख-कान्ति को भी तिरस्कृत करने वाली दिगन्त तक साथ न छोडनेवाली प्रिय कीर्ति को एक क्षणभङ्गुर सङ्गमवाली कुरङ्गाक्षी के लिए कौन पीड़ित करेगा?"[6] श्रीहर्ष गुणों के प्रशसक थे। "गुणों से उत्कृष्ट वस्तु के विषय मे यदि मौन रहा जाय तो वाणी का पाना ही व्यर्थ हुआ। और यदि उस वस्तु का थोड़ा ही वर्णन किया जाय तो लोग खल कहेगे। अतः उत्कृष्ट गुणों वाली वस्तु की खुलकर प्रशसा करनी चाहिए चाहे लोग चारण की उपाधि भले दे डालें।"[7] उनके मत से आपत्ति के समय धर्म के कठोर बन्धन मे शिथिलता की

---

१. जनापवादार्णवमुत्तरीतुं विधा विधातुः कतमा तरीः स्यात्॥ नै० ३।५१

२. जनानने कः करमर्पयिष्यति॥ नै० ९।१२५

३. सुगत एव विजित्य जितेन्द्रियस्त्वदुरुकीर्तितनुंयदनाशयत्।
तव तनूमवशिष्टवतीं ततः समिति भूतमयीमहरद्धरः॥ नै० ४।८०

४. न्यवेशि रत्नत्रितये जिनेन यः स धर्मचिन्तामणिरुज्झितो यया।
कपालिकोपानलभस्मनः कृते तदेव भस्म स्वकुले स्तृतं तया॥ नै० ९।७१

५. आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः। नै० ५।१०३

६. प्रेयसी जित-सुधांशुमुखश्रीर्या न मुञ्चति दिगन्तगतापि।
भङ्गि-सङ्गम-कुरङ्गदृगर्थे कः कदर्थयति तामपि कीर्तिम्॥ नै० ५।१३१

७. वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं गुणाद्भुते वस्तुनि मौनिता चेत्।
खलत्वमल्पीयसि जल्पितेऽपि तदस्तु बन्दिभ्रमभूमितैव॥ नै० ८।३२

जा सकती है। "जब विपत्ति के समय शास्त्र-सङ्गत उचित कार्य किसी प्रकार रक्षा न कर सके, तो वर्जित कर्म भी कर लेना चाहिए। जब राज-मार्ग मेघ-जल से फिसलने वाला हो जाता है तब कहीं-कहीं विद्वान् पुरुष भी अमार्ग से जाया करते हैं।"[१] किन्तु उनकी हार्दिक भावना सदा यही रहती थी कि "घोर कष्ट-पूर्ण अवस्था में पड़ जाने पर भी चित्त को धर्म से कभी विचलित न होने देना चाहिए, क्योंकि पुण्यशील धर्मैकरत मनुष्य के सदा धर्मार्थकाम तीनों अधीन रहते हैं।"[२]

देव-भक्ति में श्रीहर्ष की पूर्ण आस्था थी। उनका दृढ़ विश्वास था कि "देवता ही हम मानवों के कल्पवृक्ष हैं। हमारी परिक्रमाएँ उन देव-कल्पवृक्षों के आल-वाल (थाले) हैं। चन्दन-लेप तथा धूप आदि परिचर्या ही उनके लिए जल-सेचन है। प्रसन्न होकर वे देवगण, जो हमारे लिए कल्पवृक्षों के वन हैं, हमें हमारे अभीष्ट मनोरथरूपी मधुर फल देते हैं।"[३]

---

१. निषिद्धमप्याचरणीयमापदि क्रिया सती नावति यत्र सर्वथा।
घनाम्बुनाराजपथे हि पिच्छिले क्वचिद्बुधैरप्यपथेन गम्यते ।। नै० ९।४६

२. कृच्छ्रं गतस्यापि दशाविपाकं धर्मान्न चेतः स्खलतुत्वदीयम् ।
अमुञ्चतः पुण्यमनन्यभक्तेः स्वहस्त-वास्तव्य इव त्रिवर्गः ।। नै० १४।८१

३. प्रदक्षिणप्रक्रमणालवालविलेपधूपाचरणाम्बुसेकैः ।
इष्टंच मिष्टंच फलं सुवाना देवाहि कल्पद्रुमकाननं नः ।। नै० १४।२

द्वितीय अध्याय

क

कथानक

पूर्वानुराग २

(नैषध का प्रारम्भ वस्तुनिर्देश के साथ होता है।[1]) पुण्यश्लोक महाराज नल की कथा सुधातिशायिनी है। उनका यश तथा प्रताप जगद्व्यापी था। अतः उसी के द्वारा श्रीहर्ष अपनी वाणी को पवित्र बनाने की आशा करते हैं। नल ने अट्ठारहो विद्याओ का अध्ययन, बोध, आचरण तथा प्रचार किया। उन्होने स्वेच्छाचारिता को भी शास्त्र-दृष्टि से दूर किया। उस कृतयुग मे नल ने धर्म के तप, शौच, दया और सत्य—चारो चरणो को स्थिर किया था तथा उनके शासनकाल मे अधर्म क्षीण तपस्वी बना था। विजय-यात्रा के समय नल की विशाल सेना से अपार धूल-राशि उठती। सङ्ग्राम मे नल के भयानक टङ्कार करने वाले धनुष की असह्य घनघोर बाण-वृष्टि से शत्रुओ की प्रतापाग्नि प्रशान्त हो जाती। उन्होने सम्पूर्ण महीतल को ईति-भीति से रहित कर दिया था। सूर्य से बढ़कर नल का प्रताप तथा चन्द्रमा से बढकर उनका यश था। उस महादानी के सामने कल्पवृक्ष भी तुच्छ था। सूर्य के समान कान्तिमान् राजा नल कवि तथा विद्वानों के साथ काव्य एव शास्त्र का सानन्द अभ्यास करते हुए समय विताते। शैशव (प्रथम वय) के अन्त होते-होते नल ने जगद्विजय कर डाली तथा विजयोपार्जित धन से अपना कोष अक्षय बना डाला। अब उनके शरीर में यौवन का आगमन हुआ, वैसे ही जैसे वन मे मदन-मित्र वसन्त का आगमन होता है। युवा नल का सौन्दर्य त्रैलोक्य मे अनुपम था। उस मदन-सुन्दर को पाने के लिए तीनों लोको की सुन्दरियो की तीव्र अभिलाषा रहती थी। दमयन्ती के अतिरिक्त किस सुन्दरी ने नल को देखकर "मै सौन्दर्य में नल के योग्य हूं या नही" इसे जानने के लिए अपने रूप को दर्पण मे देखकर गतदर्प हो हस्तगत दर्पण को आहों से मलिन नही किया ? यौवन के साथ विदर्भ कुमारी दमयन्ती के मन में भी धीरे-धीरे नल के प्रति अनुराग आने लगा। नल सब प्रकार से दमयन्ती की रूप-सम्पत्ति के योग्य

---

१. "वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्"—काव्यादर्श० १।१४

थे, सुन्दरी ने उनके विषय मे बहुत कुछ सुना भी था, अत उसका मदनकिङ्कर मन राजा (नल) मे विशेष रूप से लगा। दमयन्ती प्रतिदिन चारणो द्वारा यशोगान के समय ही प्रायः पिता की वन्दना करने के लिए जाती, तथा अन्य राजाओ के चरित-वर्णन के प्रसङ्ग मे नल-चरित सुनकर अत्यन्त पुलकित होती। सखियो के मुख से कभी तृण (नरकुल) का भी नाम 'नल' सुन कर दमयन्ती सब कुछ भूलकर उधर ही कान लगा देती। निषध देश से आए दूत, ब्राह्मण, वन्दी तथा चारणो से किसी न किसी बहाने नल के गुणों को पूछती, फिर उस यशःकथा को सुनकर सुन्दरी बडी देर तक अन्यमनस्क बनी रहती। चित्रभित्ति पर नल के तथा अपने समान अति सुन्दर स्त्री-पुरुष का चित्र बनवा कर दमयन्ती उसे देखा करती। ऐसी कौन-सी रात थी जब सोती हुई वह सुन्दरी अभिलाषा से पति-रूप में माने हुए नल को न देखती ?

उसी प्रकार कभी नल ने भी युवको के धैर्य को विलुप्त करने वाले दमयन्ती के गुणो को लोगो से सुना और उसमें उनका मदनानुराग भी जगा। अनङ्ग के फूल के भी बाणो से जो नल का वह धैर्यकवच विदीर्ण हो गया, इससे भविष्य में नल के साथ दमयन्ती का संयोग कराने वाले विधि की अभिलाषा की सफलता ही प्रकट होती थी। विधि की इच्छा ही ऐसी थी। नल अपनी अधीरता लोगो से छिपाते किन्तु मदन ने उनकी जो दशा की थी, उसे उनके जागरण-दुःख की साक्षी चन्द्रधवल रात्रि तथा चन्द्रधवल शय्या ही जानती थी। नल कभी-कभी झूठे विषाद का अभिनय कर अपने विरह की आहों को छिपाते तथा अङ्गराग मे कपूर की अधिकता का बहाना कर विरह-जनित पीतिमा का निराकरण करते। समाज मे जब मदन के अगोपनीय लक्षण धीरे-धीरे स्पष्ट हो जाते तो उस जितेन्द्रिय को बड़ी लज्जा लगती। अतिशय मदन-पीड़ित होकर भी महामानी नल ने विदर्भराज से उनकी पुत्री न मागी। मानी पुरुष भले ही सुख तथा प्राण का परित्याग कर देते है, पर याचना कभी नही करते। अन्त में जब विरह-लक्षणो को छिपाने मे नल हर प्रकार से असमर्थ हो गए तो उन्होने उपवन-विहार के बहाने निर्जन स्थान में जाने की अभिलाषा की और अपने कुछ अति विश्वासी मित्रों के साथ वे एक अद्भुत गुण-सम्पन्न घोड़े पर चढ़कर प्रसिद्ध अश्वारोहियो से अनुगत हो उपवन की ओर चले। रमणीय वेश धारण किए, अत्यन्त वेगशाली घोडे पर सुशोभित, राजा को नगरवासियों ने आनन्द निर्निमेष नेत्रो से देखा। अन्त में शान्ति की अभिलाषा से राजा नल ने उस विहारोपवन में प्रवेश किया। उपवन-रक्षक द्वारा प्रत्येक फल तथा फूल का परिचय लेते हुए वे वन की रमणीयता का आनन्द लेने लगे। क्रीडा-वापी के किनारे लहरियो के वादन से, पिक तथा भ्रमरो के गीतों से, मयूरो के नृत्य-लाघव से विरचित अदभुत सङ्गीत

नल का मनोविनोद कर रहा था। लता-रमणी का लास्य-कला-गुरु पुष्प-सौरभ का चोर, कुसुम-मकरन्द से सुवासित, जल मे सलील तैरने वाला, इस समस्त-ऋतु-सम्पन्न वन का पवन नल की सेवा कर रहा था। इस प्रकार प्रिय सौरभपूर्ण वन में घूमते हुए, कोकिलो द्वारा उपगीत तथा शुक-सारिकाओ से प्रशंसित नल बाहर से तो बड़े ही प्रसन्न हुए, परन्तु वैदर्भी-विरह के कारण भीतर से और भी बेचैन हुए।

नल ने उस वन मे एक विशाल तथा अत्यन्त रमणीय सरोबर देखा। सागर-शोभा-हारी उस क्रीड़ा-सरोवर के किनारे नल ने हंसियों के कलरव में मस्त समीप मे चरते हुए एक अद्भुत स्वर्णिम-हंस को देखा। अत्यन्त विनोदकारी उस पक्षी को देखकर प्रिया-विरह से विह्वल होते हुए भी नल कुछ क्षण के लिए अत्यन्त कुतूहल में पड़ गए।

यह नल-हस-सयोग विधि की इच्छा ही थी। उसी समय सुरत-क्लान्त उस पक्षी ने एक पैर पर खडे हो, कन्धे को तिरछा कर, पंखे मे सिर छिपा कर सरोवर के समीप ही निद्रित की मुद्रा धारण की। घोड़े से उतर कर नल ने स्वय कपट-पूर्वक, बलि को छलने वाले वामन का-सा लघु रूप बनाकर, नि.शब्द पद-गति से समीप जाकर हस को पकड लिया। हस अचानक अपने को नल के अधीन समझकर भय से बार-बार उडने का प्रयास करने लगा। फिर उड़ने से निराश हो करुण शब्द करता हुआ नल के हाथो को ही काटने लगा। उस समय सरोवर के सभी पक्षी भय से उडने लगे। राजा नल हस की बार-बार प्रशसा कर रहे थे। उस समय कर-पंजर में वन्द उन मानस-निवासी ने पहले राजा को फटकारा और अन्त मे अपनी करुणोत्पादक वाणी द्वारा राजा के हृदय को करुणार्द्र करना प्रारम्भ किया। विलाप करते-करते हस मूर्छित हो गया। इससे नल के भी करुण आसू उमड़ पडे। नल के आंसुओ से भीगकर हस पुनः जग गया। राजा ने यह कहते हुए कि "हस, जिसके लिए तुम पकड़े गए थे, वह तुम्हारा रूप देख लिया। अव तुम जहा चाहो जा सकते हो"—उसे छोड़ दिया। उसे मुक्त देखकर उसके उन बन्धुओं के, जो पहले शोक से रो रहे थे, अव आनन्द के आसू उमड़ पड़े।

प्रेमदूत हंस

नल से मुक्ति पाने पर हस को अवर्णनीय आनन्द मिला। उसने पहले तो अपने अव्यवस्थित पंखो को सुव्यवस्थित किया, फिर कृमि-कीटो को मारा और अन्त में फिर से नल के हाथ पर जा बैठा, मानो बहुत दिनो के लालन-पालन के कारण वह राजा से अत्यन्त विश्वस्त हो गया था। नल को अत्यन्त कुतूहल मे डालते हुए हंस

ने कहा—"राजन्, धर्मशास्त्रज्ञो ने राजा के लिए मृगया करना उचित कहा है। फिर भी आपने मुझे जो मुक्त कर दिया यह आपकी दया ही है। मैंने आपको जो कुछ अप्रिय कहा है उसका कुछ प्रिय करके प्रतिकार करना चाहता हूं। मैं जानता हू कि आप जगत्-प्रभु का मुझ पक्षी से उपकार ही क्या हो सकता है, तथापि प्रत्युपकार करने की अन्तः प्रेरणा मुझे छोडती ही नही है। मेरा कुछ निवेदन है उसे आप अवश्य सुनें। और कुछ नही तो पक्षी की बोली होने के ही नाते वह आनन्द तो देगा ही। विदर्भ-नरेश महाराज भीम ने दम-नामक ऋषि की कृपा से दमयन्ती नाम की एक त्रैलोक्य-सुन्दरी कन्या प्राप्त की। उसके समस्त अग अनुपम है। विभिन्न सरोवरों मे अवगाहन करने के निमित्त मैने अनेक देशो का भ्रमण किया और उसी प्रसंग मे उस सुन्दरी को देखा। उस समय मैंने सोचा कि आखिर ब्रह्मा ने इसके योग्य पति किसे निश्चित किया होगा। मेरी दृष्टि मे ससार के सारे युवक अयोग्य जचे। पर तुम्हारे इस परम सौन्दर्य ने आज मेरे उस पूर्व-सस्कार को पुन प्रबुद्ध कर दिया जिससे बहुत दिनो से देखी हुई भी वह सुहासिनी पुनः मेरे स्मृति-पथ पर आ गई। हे वीर, दमयन्ती के शृङ्गार-विलास तुम्ही को पाकर अलङ्कृत होंगे। अतः मैं दमयन्ती के सामने तुम्हारी ऐसी प्रशसा करूगा कि जिससे वह सुन्दरी तुम्हे अपने हृदय मे इस प्रकार बैठा ले कि फिर उसे स्वयं इन्द्र भी न डिगा सके।" नल अपने कर-कमल के कोमल स्पर्श से हंस को आनन्दित करते हुए और मधुर शब्दों मे उसकी प्रशसा करते हुए बोले—"हंस, त्रिभुवन-मोहिनी वह मुझे शतशः कर्णगोचर हुई है, पर तुम्हारे इस वर्णन से तो मानो मैंने उसे दृष्टिगोचर ही कर लिया" और फिर दमयन्ती-विरह वाली अपनी वेदना बताते हुए कहने लगे—"हंस, दु सह मानसी वेदना के अपार सागर में डूबने वाले मुझको तुम सहारा दो, जाओ मेरे अभीष्ट को पूरा करो। मित्र, तुम्हारा मार्ग मङ्गलमय हो। शीघ्र ही तुम यही फिर मिलो। पक्षिराज, कभी हमे भी याद कर लेना।"

नल से विदा लेकर हस ने कुण्डिनपुर की ओर प्रस्थान किया। रास्ते में उसे सभी शुभशकुन हुए। बड़े वेग से उड़ता हुआ वह शीघ्र ही कुण्डिनपुर पहुंच गया। उस समृद्धि-सम्पन्न नगरी में दमयन्ती के क्रीड़ा-वन ने हंस का चित्त आकर्षित कर लिया। उस उपवन में वृक्षों के आलवाल चन्द्रकान्त मणियों के बने थे जो इन्दुरश्मि के सम्पर्क से स्वयं जल से पूर्ण रहते। वहां हंस ने समान कान्तिवाली सखियों के समुदाय में सुशोभित राजपुत्री को देखा, मानो वह तारिकाओ की परिषद् मे चन्द्रलेखा हो।

हंस-दमयन्ती-संवाद 3

हंस अपने दोनों पंखों को समेटता हुआ दमयन्ती के समीप उतर पड़ा। दमयन्ती कुतूहल वश हंस को पकड़ने के लिए बढ़ी किन्तु वह फुदकता हुआ आगे

बढ़ता गया। उसके प्रयास को निष्फल होता देख सखियां ताली बजाकर हँस रही थीं और हंस खेल ही में आगे बढता हुआ कृशाङगी को ठगकर लताओ के पास तक खीच ले गया। अन्त में जब हर प्रकार से एकान्त देखा तो मनुष्य की बोली मे कहने लगा—"हे सुन्दरि, क्यो यह व्यर्थ का परिश्रम कर रही हो? मेरी आकाश में भी गति है और तुम केवल पृथ्वी पर ही चल सकती हो। सोचो तुम मुझे कैसे पकड़ सकती हो। हम हंस, विधि-वाहन-हंस के वशज है। यहा हम लोग ब्रह्मा की आज्ञा से महाराज नैषध का क्रीड़ा-सरोवर देखने आये थे। उनमें मै अकेला भूलोक देखने के कौतूहलवश इधर चला आया। मुझ दिव्य पक्षी को कोई भी बाध नही सकता। केवल महाराज नल के अपूर्व भाग्योदय से हम बंधे हुए है। देव-गण नल के पुण्य-कार्यो के वशीभूत हो उन्हें यही समस्त स्वर्भोग उपस्थित करते है। नल की रति-क्रीड़ा के समय हम सुमेरु गिरि से शीघ्र आकर अपने स्वर्गङ्गा-सीकर-सिञ्चित चामर-सदृश पंखों से उन्हें शीतल पवन का सुख देते है। महापुरुषो की गणना मे नल प्रथम स्थान के भागी है। देव लोक में भी उनके यश का गान होता है। हमे नल की कान्ति के सामने कामदेव तथा उनकी श्री के सामने इन्द्र भी तुच्छ लगते है। यदि समस्त त्रैलोक्य गिनने में लग जाय और उस त्रैलोक्य की आयु कभी समाप्त न हो और गणित शास्त्र में परार्द्ध से भी ऊपर सङख्यायें हों तब कही नल के समग्र गुण गिने जा सकते है। पर सुन्दरि, उस स्वर्ग-भोग को दूसरी रमणी केवल नल के आश्रित होने के कारण भोग रही है, और वह तुम्हारे लिए दुर्लभ बना है। जैसे वसन्त-समागम के बिना रसाल-वाटिका को भ्रमर-सौभाग्य नही मिलता है वैसे ही नल-परिणय के बिना तुम्हें हम लोगों के मधुर वचन दुर्लभ हैं। किन्तु विधि की इच्छा को कौन जानता है? सम्भव है तुम नल के ही हाथ में पडो। एक बार विधि-विमान वहन करते हुए मैंने उनसे नल की भावी वधू को जानने की इच्छा भी की थी। उस समय तुम्हारे ही नाम के-से कुछ शब्द मेरे कानो में पड़े थे। पर इस समय यह अप्रासङगिक चिन्ता छोड़े। सुन्दरि, मैंने तुम्हें बहुत थका दिया है, मैं उस अपराध का परिमार्जन करना चाहता हूं। बोलो, तुम्हारा क्या अभीष्ट साधू।" दमयन्ती ने हंस की प्रशंसा करते हुए श्लिष्ट शब्दों मे नल के प्रति अपने पाणिग्रहण की इच्छा को व्यञ्जित कर दिया। पर दमयन्ती के मुख से स्पष्ट शब्दो में कहलाने के लिए हस फिर बोला—"सुन्दरि, पिता की आज्ञा से अथवा स्वेच्छा से ही, यदि कही तुमने किसी दूसरे तरुण को वर लिया तो तुम्हारे लिए नल से याचना करने वाले मेरे प्रति उनका क्या विश्वास रह जायगा। अतः राजकुमारी, इसके अतिरिक्त तुम जो कुछ भी चाहो मैं सब करने को तैयार हूं।" अन्त मे अपने लज्जा के बन्धनों को ढीला करके दमयन्ती कहने लगी—"हंस, मेरा मन केवल नल के लिए लुब्ध है।

उसे अमूल्य चिन्तामणि को भी पाने की इच्छा नही है। मेरे चित्त में तो सम्पूर्ण त्रैलोक्य मे श्रेष्ठ अकेला वही कमल-मुख सबसे बड़ी निधि है। मैंने उन्हे लोगो से सुना, उन्मादवश उन्हे चारो ओर देखा तथा एकाग्र चित्त से उनका ध्यान किया। अब या तो मुझे उनकी प्राप्ति या मेरे प्राणो का नाश—दो में से एक होना है, और हस, वह तुम्हारे ही हाथ मे है। अतः पक्षिराज, कुछ भी विलम्ब किए बिना उचित अवसर देखकर, तुम राजा से इस कार्य की विज्ञापना करना।" राजकुमारी को इस प्रकार नल मे अतिशय अनुरक्त जान कर हंस हँसकर बोला—"राजपुत्रि, यदि यह सत्य है, तो अब इसमें मुझे कुछ भी कहना शेष नही रह गया है। क्योकि तुम्हें तथा उस राजा को परस्पर प्रेम मे तपाने वाले मदन ने ही यह योजना तैयार कर रखी है।" फिर उसने नल की विरह-दशा का विस्तृत वर्णन किया। इसी बीच दमयन्ती की सखियां उसे खोजती हुई वहा आ पहुंची। अतः हस उससे विदा ले कर नल-राजधानी की ओर चल पडा। और राजा को जहा छोड़ गया था उसी सरोवर के किनारे अशोक-वृक्ष के नीचे मदन-वेदना से चञ्चल उन्हे पाया। हंस ने जाकर सारी बात राजा से कह सुनायी। नल एक ही बात को बार-बार पूछते और सुन-सुन कर आनन्द-विह्वल हो रहे थे।

चन्द्रमदनोपालम्भ ४

उधर मदनज्वराक्रान्त दमयन्ती जैसे-जैसे प्रिय-कथा-रस-सरोवर में निमग्न होती थी वैसे ही वैसे उसका विरह-ताप और बढ़ता जाता था। उसके सुन्दर सुकोमल अङ्गो का सहज विलास लुप्त-सा हो गया। हृदय मदन-ताप से विदीर्ण हो गया था। नेत्र भीतर की ओर चले जा रहे थे। मुख सदा अश्रुपरिलुप्त रहता। लम्बी गरम आहे लेती। ताप-शान्ति के सारे उपचार व्यर्थ होते। मदनमथिता सुन्दरी खीझकर कभी चन्द्रमा की निन्दा तथा राहु की स्तुति करती, और कभी मदन को फटकारती थी। फिर उसने अपनी सखियो से समस्या-पूर्ति के रूप मे वार्तालाप करना प्रारम्भ कर दिया। उसी प्रसङ्ग मे उसे इतना विषाद हुआ कि वह मूर्च्छित हो गयी। उसे चेतना मे लाने के लिए सखियो में बड़ा कोलाहल मचा, जिसे सुनकर घबड़ाए हुए विदर्भराज स्वयं कन्या-भवन मे जा पहुंचे। अन्तःपुर में नियुक्त वैद्यों तथा अन्य अधिकारियों से पूछने पर उन्होने दमयन्ती की अस्वस्थता का कारण समझा तथा पुत्री को आश्वासन देते हुए उसके स्वयंवर का निश्चय किया।

स्वार्थी-देव ५

इधर विदर्भ-नरेश राजाओं को स्वयवर-महोत्सव के लिए आमन्त्रित करने लगे। उधर इन्द्र को देखने की इच्छा से पर्वत मुनि के साथ नारद स्वर्ग में जा पहुंचे।

कुशल-प्रश्न के पश्चात् देवर्षि ने दमयन्ती के रूप-गुण की प्रशंसा तथा उसके स्वयवर-महोत्सव की चर्चा देवराज से की। उन्होने यह भी बता दिया कि दमयन्ती किसी अज्ञातनामा युवक को हृदय से चाहती भी है। नारद के चले जाने पर इन्द्र को भी दमयन्ती-प्राप्ति की अभिलाषा बढी, और उन्होने भी स्वयंवर मे जाने का निश्चय किया। इसे जानकर स्वर्ग की सुन्दरियो मे बड़ा क्षोभ मचा। अन्त मे अग्नि, वरुण तथा यम को साथ लेकर इन्द्र भू-लोक की ओर चल पड़े। मार्ग मे उन्हे दमयन्ती-स्वयंवर मे जाते हुए राजा नल मिले। नल के रूप को देख कर सभी देवगण हृदय से हार गए तथा उनका मन दमयन्ती से निराश हो गया। अपने अनुयायियो की कर्त्तव्य-विमूढ़ मुद्रा देखकर वञ्चना-कुशल इन्द्र ने अपना तथा देवों का परिचय देते हुए छलने के उद्देश्य से नल से कहा—"हम राजन्, सभी लोग आपके पास याचक रूप मे आए है।" दानि-शिरोमणि राजा ने कहा—"देवेन्द्र, यह नर-बालक प्राणो तक से या इससे भी अधिक जो आपको अभीष्ट हो उसके द्वारा आपके चरणों की पूजा करने को प्रस्तुत है। आज्ञा हो, इस प्रकार की वह कौन सी वस्तु है?" इन्द्र ने प्रसन्न हो कपट के साथ कहा—"राजन्, हम दमयन्ती के पाणि-ग्रहण के अभि-लाषी है, अतः तुम इस कार्य मे हमारा दौत्य करो।" अब राजा नल ने इन्द्र का कपट जान लिया। अत. "आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः" के अनुसार उन्होंने उनकी याच्ञा अस्वीकृत कर दी, और कहा, "वैदर्भी ने तो मुझे पहले ही वरण करना स्वीकार कर लिया है। अब मुझे देखकर उसे केवल लज्जा ही होगी और आप लोगो को तो वह निश्चय ही न स्वीकार करेगी। तो कृपा कीजिए। मन में खेद न हो। यह दूत कार्य मेरे लिए अत्यन्त अयोग्य है।" किन्तु उन देवों के बहुत तरह से समझाने पर तथा उनकी चाटुकारितापूर्ण बातो से अन्त मे विवश होकर नल ने बलात् आरोपित उस दौत्य-भार को स्वीकार कर लिया। इस पर इन्द्र ने उन्हें इच्छानुसार अदृश्य होने का वरदान देकर विदा किया।

अन्तःपुर में अदृश्यरूप-दूत नल ६

उधर नल ने विदर्भ-राजधानी कुण्डिनपुरी की ओर अपना रथ बढ़ाया और इधर देवगण उनकी प्रतीक्षा में उसी स्थान पर पड़े रहे। वहा पहुचकर नल ने अदृश्य रूप मे नगर में प्रवेश किया। राजमहल मे भी जाते समय वे निःशङ्क थे। अन्तःपुर में पहुंच कर वे रमणियों के सविश्रम्भ खुले अङ्गों को देखकर व्रीडावनत हो जाते। अदृश्य-रूप होने के कारण कभी-कभी वे सुन्दरियोंके शरीर से सङ्घर्ष पा जाते थे। अन्त में दमयन्ती-विरह से स्वभावतया कृश नल इस पट्टभवन में घूमते हुए श्रान्त हो

गए। अतः प्रासाद की अट्टालिकाओ मे विश्राम लेने चल दिए। वहा उसी समय माता को प्रणाम कर दमयन्ती आ रही थी। नल से मार्ग मे उसका सयोग हो गया पर अपनी भ्रान्ति मे सदा स्वकल्पित दमयन्ती को ही देखते रहने के कारग नल उसे सत्य रूप में न जान सके। और दमयन्ती भी नल के अदृश्य होने के कारण उन्हे न देख सकी। सुन्दरी ने माता से प्रसाद रूप मे पाई हुई कुसुम-माला को उद्‌भ्रान्ति मे ही देखे हुए नल के गले मे डाल दिया, और सयोग से वह वास्तविक नल के कण्ठ में पड़ी। वहा वे दोनो बडी देर तक मोह-वश सत्य तथा मिथ्या आलिङ्गन का सुख लेते रहे। स्वभावतः धीर होने के कारण दमयन्ती को यह ध्यान बना रहा कि यहां नल कहां ? पर प्रिय-वियोग के कारण कभी-कभी भ्रान्ति भी हो जाती थी। इस प्रकार बोध और मोह लिए वह अपने निवास-गृह मे गयी। किन्तु नल भ्रान्तिवश उसे सामने स्थित जान वही चक्कर लगाते रहे, और बडी देर तक घूमने के पश्चात् किसी प्रकार वैदर्भी के गगनचुम्वी अभिराम भवन मे पहुंचे। वहां उन्होने सुन्दरियो की अनेक क्रीड़ाए देखी तथा सुन्दर वार्तालाप सुने। उस समय अग्नि, वरुण, यम की भेजी दूतियो को दमयन्ती फटकार रही थी। नल की टूटी आशा फिर बंधने लगी। अन्त मे इन्द्र की दूती ने इन्द्र-वरण का प्रस्ताव किया। नल निराश हृदय से सुनने लगे। दूती कह रही थी—"हे सुन्दरि, चौदह लोको मे स्वर्ग सर्वोपरि है। स्वर्ग मे भी अदिति-पुत्र देव सर्वश्रेष्ठ है, उन देवो मे भी महेन्द्र सब से महान है। सुन्दरि, ऐसे महेन्द्र भी जब अनुराग-वश तुम्हारे किङ्कर बनने की प्रार्थना करते है तो क्या इससे भी बडे महत्त्व का कोई पद होगा? तुम स्वयं विचारो मन्दाकिनी और नन्दन का-सा विहार, इन्द्र-सा पति, उपेन्द्र-सा देवर तथा लक्ष्मी-सी देवरानी—कितना बड़ा महत्त्व है।" दमयन्ती की सखिया भी इन्द्र-दूती की बातो का समर्थन कर रही थीं। किन्तु दमयन्ती ने देवेन्द्र की भेजी पारिजात की माला को सादर स्वीकार करते हुए सविनय उत्तर दिया। "हे दूति, देवराज के विषय मे कही हुई तुम्हारी सारी बातो को मैंने सुन लिया। किन्तु पातिव्रत धर्म के अत्यन्त प्रतिकूल होने के कारण ये मुझे दुस्सह हैं। क्योकि मै पहले से ही अपने को उस नर-रूप-धारी इन्द्र (नल) को मनसा समर्पित कर चुकी हूं—देव-रूप धारी इन्द्र को नहीं। अतः तुम्हें इन्द्र-चरणों की शपथ है यदि तुमने फिर यह बात मुझसे कही। मै इन्द्र के प्रति अपने इस घोर अपराध का प्रक्षालन अपने पातिव्रत-नियमो से हृदय में ही कर लूगी।" इन्द्र-दूती को कुछ कहने का अवसर ही न रहा। अतः वह वहा से उठ चली। अब नल के अधीर होते मन मे भी कुछ ढाढ़स बंधा। इन्द्र की कृपा से प्राप्त अन्तर्धान-शक्ति के कारण नल ने दमयन्ती के अपने प्रति अनुराग-वचनों को प्रत्यक्ष सुनने का सुन्दर अवसर पाया।

दमयन्ती-सौन्दर्य

वहां नल ने दमयन्ती के शिख से नख-पर्यन्त अनुपम सौन्दर्य को देखा। उसके प्रत्येक अग का उन्होने विस्तारपूर्वक वर्णन किया। नल ने अन्त मे सोचा—पहले तो ब्रह्मा ने ही सुन्दरी को लोकोत्तर वनाया, फिर यौवन ने इसे और ऊपर पहुचाया और अन्त मे मदन ने विलास-कला पढ़ाकर तो अवर्णनीय ही बना डाला। इस समय आनन्द-मग्न राजा ने सखियो से घिरी दमयन्ती के सम्मुख प्रत्यक्ष होना चाहा।

देव-सन्देश ८

अन्त पुर में नल-सदृश एक पुरुष को साक्षात् देख दमयन्ती को बड़ा आश्चर्य तथा आनन्द दोनो हुआ। दमयन्ती के अनुरागी नेत्र नल के प्रत्यङ्ग अद्भुत सौन्दर्य में निमग्न हो गए। उसकी सखियां अवाक् थी। अतः सुन्दरी नल का स्वागत करती हुई स्वयं बोली—"सुन्दर, आपने किस स्थान को शोभा-हीन किया है? आपके ये चरण कहां के लिए प्रस्थित है? आपके यहा आने का कारण मुझे अपना पुण्य ही समझ पडता है। क्या मै आपके नाम को जानने की अधिकारिणी हो सकती हू?" फिर दमयन्ती उन्हें द्वारपालको की दृष्टि वाध देने के कारण नल के समान सुन्दर कोई देवता ही समझ कर आतिथ्य-सम्बन्धी प्रिय वचनो के बहाने उनमें विद्यमान वस्तुत· अपने प्रिय नल की ही शोभा की प्रशसा करने लगी—"यदि आप मानव है तो यह पृथ्वी धन्य है, यदि अमरो मे कोई है तो वास्तव मे स्वर्ग सर्वश्रेष्ठ है, और यदि आपने नागवश को विभूषित किया है तो नीचे होते हुए भी पाताल-लोक किसके ऊपर नही है। मेरे विचार से इस संसार रूपी सागर में आपके प्रतिबिम्ब रूप एक नल ही है, क्योकि बिम्ब-प्रतिबिम्ब को छोड़कर विधाता की अत्यन्त सारूप्य रचना कभी देखी ही नही गयी।" नल ने उत्तर दिया—"हे सुन्दरि, स्वर्ग के प्रभुओ के सन्देशो को हृदय मे प्राणो के समान धारण किए हुए, उन्ही दिक्पालों की सभा से आया हुआ मुझे अपना ही एक अतिथि समझो। यदि तुमने मेरे दौत्य-कार्य को सफल बना दिया तो मानो मेरा बड़ा आतिथ्य किया। अब अधिक विलम्ब नही करना है। अतः मेरी बात सुनो—"तुम्हारे गुण इन्द्र, वरुण, अग्नि तथा यम इन चारो दिक्पालों को विमोहित किए हुए है। तुम्हारे यौवन के साथ ही इन्द्र का अनुराग भी तुममें परम दृढ हो गया है। वे तुम्हारे विरह से अत्यन्त पीड़ित रहते है। सुन्दरि, तुम्हारे विषय में मदन ने अग्नि को सन्तप्त कर के इस प्रकार विनीत कर दिया है कि वे स्वयं ताप का अनुभव करके अब फिर दूसरे को ताप न दे सकेंगे। प्रभु यम भी तुम्हारे ही कारण अपने धैर्य को मदनाग्नि में हवन कर चुके है। पश्चिम दिशा के स्वामी वरुण ने तो तुम्हारे प्रति अपने चित्त को उस समय भेजा जिस

मुहूर्त मे निकला पथिक फिर लौट कर नही आता। कल तुम्हारा स्वयंवर होगा यह समाचार पाकर वे दिगीश्वर स्वर्ग से चल पड़े, और समीप मे एक स्थान से उन्होने मुझे अपने सन्देशो के साथ तुम्हारे पास भेजा है।" फिर सब के सामूहिक सन्देशो को सुनाते हुए नल ने कहा—"हे सुन्दरि, तुम मेरे दूत कार्य को सफल करो और स्वयं निश्चय कर के किसी एक देव को वर लो। चाहे इन्द्र को आनन्द दो, या मदनाग्नि मे पड़े अग्निदेव को अपनी नूतन विलास-क्रीड़ाओ द्वारा उबारो, अथवा यम के ऊपर दया करो, और यदि यह सब नही तो वरुण को ही वर लो।"

विफलदौत्य ८

दमयन्ती ने दिक्पालो के सन्देश को अनसुना करके नल से उनका नाम तथा वंश फिर पूछा। इस पर नल ने उस जिज्ञासा को निष्प्रयोजन बताते हुए कहा—"हम दोनो के परस्पर व्यवहार के लिए युष्मद्, अस्मद् सर्वनामों का प्रयोग पर्याप्त है। अतः नाम जानने की कोई आवश्यकता नही। और जो दूत ही है उसके गोत्र को जानने से भी क्या लाभ ?" दमयन्ती के बहुत आग्रह करने पर भी नल ने अपना वंश केवल चन्द्रवंश बतलाया और कहा—"हे सुन्दरि, मेरा यहां विलम्ब करना देवों के लिए कष्टप्रद हो रहा है अतः मेरे दौत्य को सफल करो।" इस पर दमयन्ती ने सखी द्वारा कहलवाया कि "मै चिरकाल से अपने चित्त को नल को समर्पित कर चुकी हूं, अतः अब कोई अन्य विचार करते हुए भी डरती हूं। और मेरी यह दृढ प्रतिज्ञा भी सुन लीजिए कि यदि राजा नल ने मेरा पाणिग्रहण न किया तो आग मे जल कर या गला बाध कर अथवा पानी में डूब कर मै स्वयं अपनी आयु समाप्त कर दूंगी।" इस पर नल ने उसे समझाते हुए उत्तर दिया, "हे सुन्दरि, यदि तुम गला बांध कर मरी तो इन्द्र को मिलोगी, यदि आग में जल कर मरी तो अग्निदेव के हिस्से पड़ोगी, यदि जल में डूब कर प्राण दिया तो वरुण के ही पास पहुंचोगी, और यदि किसी भी अन्य उपाय से मरी तो यम के ही घर पहुंचोगी।" यह सुन कर दमयन्ती ने सखी द्वारा नल से उस दिन वहीं रहने के लिए प्रार्थना की, जिससे वह स्वयंवर में अपने प्रिय नल से इस दूत का परिचय करा दे, क्योंकि हंस ने नल का जो रूप चित्र मे खीचा था वह दूत से बहुत कुछ मिलता-जुलता था। और यह भी प्रार्थना की कि "हे दूत, दिगीश्वरो के लिए तुम मुझे किसी प्रकार पीड़ित न करो। देखो, मैं हाथ जोड़ रही हूं। कृपाकर अब आज ऐसी बातें न करो। किन्तु उसके वेदना भरे दीन वचनो से मर्माहत होकर भी नल अपने दूत-धर्म से विमुख न हुए और उसको पाने में देवो की पूर्ण समर्थता बताते हुए बोले, "हे सुन्दरि, मैंने तुमसे बड़े हित की बात कही है। तुम मोह त्यागकर स्वयं विचार कर लो। भला देवों के विघ्न करने के लिए उतारू होने

पर कौन मनुष्य हाथ मे धरी वस्तु भी पाने मे समर्थ होगा ?" नल की इन बातो से दमयन्ती को सचमुच विश्वास हो गया। अत्यन्त निराश हो वह उन्मुक्त कण्ठ से करुण विलाप करने लगी, और अन्त मे अपने प्रिय नल की याद करके कहने लगी, "हे नाथ, दमयन्ती तुम्हारे लिए मरी, क्या यह तुम्हारे कानों तक न पहुचेगा ? हे याचक-कल्पवृक्ष ! मेरी तुमसे यही अन्तिम याच्ञा है कि मेरे हृदय के विदीर्ण होने से निकलने वाले इन प्राणो के साथ तुम हृदय से न जाना।" दयमन्ती के इन करुण विलापो ने नल को विचलित कर दिया और वे अपने को प्रकट कर उसे आश्वासन देने लगे। किन्तु पुन. विवेक आने पर अपनी इस त्वरा के लिए बहुत पछताए और देवो के प्रति अपने को बड़ा अपराधी समझने लगे। उन्हे पश्चात्ताप होने लगा कि "मैने अपने को क्यो प्रकट कर दिया। मैने इन्द्रदेव का महान् कार्य नष्ट कर दिया। जिस दूत-मार्ग को हनूमान् आदि महापुरुषो ने अपने यश के द्वारा धवल किया था उसे मैने शत्रुओ के उपहास से धवल (लाञ्छित) कर दिया।" उसी समय वह स्वर्णिम हस वहा आ पहुंचा। उसने नल से कहा कि "निर्दय, यदि तुम इसे और निराश करोगे तो यह अपने प्राण ही दे देगी। तुम निरपराध हो। अतः तुम्हे पश्चात्ताप करने की आवश्यकता नही।" हस के चले जाने पर नल ने दमयन्ती से कहा, "हे सुन्दरि, ये देवगण तुम्हारी अभिलाषा करते है, तुम मुझे भी अपना दास बना सकती हो। विचार पूर्वक कार्य करना। देखना तुम्हे बाद में पश्चात्ताप न करना पड़े। न मुझे उन देवो से भय है और न अपनी मदनकृत दुर्बलता से अधीरता ही। यदि मेरे प्राण देने से भी तुम्हारा हित हो सकता है तो वह मुझे तुम्हारे प्रेम में अनृण करने के लिए ही होगा।" इसके पश्चात् एकान्त मे स्वयं दमयन्ती के कहने पर देवों के साथ राजसमाज में आने का वचन देकर नल दौत्य मे विफल होने के कारण लज्जा से नत-मस्तक हो चल दिए, और जा कर इन्द्रादि देवो से सारा वृत्तान्त यथार्थ रूप मे कह दिया।

स्वयंवर-समारोह ८

दमयन्ती के स्वयवर मे सभी देशों के राजकुमार आए। सत्कुलोत्पन्न वीर राजकुमारी को वरने आए, दुष्कुलोत्पन्न उसे बलात् हरण करने के लिए आए, कुछ स्वयंवर देखने आए और कुछ वहां आए हुओं की सेवा ही करने आए। देव, गन्धर्व, नाग, सभी वहां थे। कुण्डिनपुर में सब का यथोचित सत्कार किया गया। स्वयंवर में नल पहुंचे और कपट-नल-रूप-धारी इन्द्रादि चारों देव भी उपस्थित हुए। आकाश से ऋषि, मुनि तथा देवगण स्वयंवर की शोभा देखते हुए उसकी प्रशंसा कर रहे थे। उस समय नाना लोकों से आए उन युवको के चरित्र तथा गोत्र का वर्णन

मानव-शक्ति से परे जान कर "पुत्री को इनका परिचय कैसे कराया जाय", यह सोचकर राजा भीम बडे विषाद में पड़े। उन्होने एक चित्त से अपने कुलदेव भगवान् चक्रपाणि का स्मरण किया। राजा भीम के चिन्ता करते ही दयालु भगवान् ने मुस्कराते हुए सरस्वती से कहा, "हे देवि, नाना देशो से आए युवको के कुल, शील, बल को तुम जानती हो। तीनो लोको के विद्वानो से सुशोभित ऐसी सभा न कभी हुई और न फिर कभी होगी ही। अत: जाकर तुम इनका वर्णन राजकुमारी से करो।" भगवान् विष्णु की आज्ञा सादर ले कर सरस्वती स्वयंवर-सभा में आई, और अपना परिचय देती हुई राजा भीम से बोलीं, "राजन्, अब विषाद न करो, मै स्वय इन राजाओं का परिचय दूँगी।" राजा ने कुमारी दमयन्ती को सभा मे बुलाया । उस अनुपम सुन्दरी के रूप को देख कर समस्त स्वयंवर-समाज विमुग्ध हो रहा था।

राजपरिचय ८

सरस्वती दमयन्ती को सर्वप्रथम देव-समाज की ओर ले गई। फिर राक्षस, गन्धर्व, विद्याधर तथा यक्षों का परिचय दिया। किन्तु उसकी रुचि उनमे से किसी में न हुई। थोड़े मे वासुकि को निपटाया। अब मनुष्य-नरेशों के पास पहुंचीं। उनमें सर्वप्रथम पुष्कर-द्वीपाधिपति सवन का वर्णन किया। राजा सवन वीर था, विद्वत्समाज में अग्रगण्य था, रूप-श्रृङ्गार में रमणीय था और कलाविद् भी था, किन्तु दमयन्ती को उसमे एक बडा दोष यही मिला कि उसका प्यारा नाम 'नल' नही था। सरस्वती ने फिर शाकद्वीप के स्वामी हव्य का परिचय देना प्रारम्भ दिया। यद्यपि राजा हव्य का राज्य समृद्ध था, उसकी बाहुओ मे लक्ष्मी तथा मुख मे सरस्वती का वास था, पर उसमे एक ही बडी कमी दिखायी पडी कि भगवान् इन्द्र कभी उसके याचक नही बने थे। तब सरस्वती ने क्रौञ्च-द्वीप के अधिपति द्युतिमान् का परिचय दिया, पर वह भी दमयन्ती के हृदय को न रिझा सका। कुश-द्वीप के राजा ज्योतिष्मान् मे भी उसका अनुराग नही हुआ। शाल्मल-द्वीप के स्वामी वपुष्मान् की प्रशंसा सुनकर दमयन्ती को उपेक्षा-पूर्ण जँभुहाई आने लगी। सरस्वती प्लक्ष-द्वीप के नरेश मेधातिथि का वर्णन करने लगी, किन्तु दमयन्ती के लिए सब नीरस था। अन्त मे जम्बूद्वीप के राजाओ में सर्वप्रथम अवन्तिनाथ का वर्णन किया, किन्तु दमयन्ती ने उन्हें देखा तक नही। गौडेन्द्र की प्रशंसा सुन कर भी उसकी दृष्टि उन पर उपेक्षापूर्ण तथा भावशून्य ही रही। मथुराधिनाथ पृथु का गुण-वर्णन सुनते समय दमयन्ती दूसरी ओर देख रही थी। काशिराज की विशेषताएं उसे न लुभा सकी।

उसी समय कुछ और नरेश स्वयंवर समाज मे आए। उन नवागतों में सर्वप्रथम अयोध्याधिपति के पास पहुचकर सरस्वती ने उनका परिचय दिया, किन्तु दमयन्ती ने सिर हिलाकर अपनी असम्मति प्रकट कर दी। पाण्ड्येश्वर की प्रशंसा को दासी ने परिहास मे उड़ा दिया। महेन्द्राधिपति के लोकोत्तर गुणों पर आश्चर्य प्रकट करती हुई दमयन्ती ने सरस्वती को मौन धारण करने का सङ्केत किया। काञ्चीपुर-नरेश के वर्णन को सुन कर उसे हसी आ गयी। नेपाल-नरेश परन्तप की प्रशसा करते समय चेरी ने व्यङ्ग्यपूर्ण उपहास कर दिया। मलयाधिपति के वर्णन के समय सखी ने उपहास किया। मिथिलानरेश का यश सुन कर दूसरी सखी ने व्यङ्ग्य मारा। कामरूप-नरेश की प्रशंसा के समय ताम्बूलपात्र-वाहिनी ने सरस्वती को पान का बीडा देकर व्यङ्ग्य किया। उत्कल-नरेश के यशोगान के समय दमयन्ती ने नल के ध्यान मे आखे ही बन्द कर ली। बौद्धराज-कीकटाधिप की लम्बी प्रशसा सुन कर भी दमयन्ती को कोई आकर्षण नही हुआ।

पञ्चनली १०

अन्त मे शिविका-वाहक दमयन्ती को उस राजमण्डल से हटाकर नल-रूप धारण किए हुए पाच वीरो के पास ले गए। सरस्वती ने सर्वप्रथम स्वर्गाधिपति इन्द्र को लक्ष्य करके इस प्रकार वर्णन प्रारम्भ किया, जिससे इन्द्र का बोध तो हो, पर साथ ही उनका नल-रूप धारण करने का कपट भी प्रकाशित न हो। दमयन्ती कुछ निर्णय ही न कर सकी कि यह इन्द्र है या नल। तब अग्नि की ओर सङ्केत करते हुए सरस्वती ने कहना प्रारम्भ किया। यह वर्णन भी उसी प्रकार श्लेषमय था जिसे सुनकर दमयन्ती के मन मे द्वैध भाव हो गया—एक कहता यह नल है, दूसरा कहता यह अनल (नल नही अग्नि) है। दमयन्ती की उलझी चित्तवृत्ति को देख कर सरस्वती ने यमराज का वर्णन प्रारम्भ कर दिया। यम तथा नल में समान रूप से घटित होने वाली सरस्वती की वाग्-रचना ने अनेक नल को देख कर सशयापन्न दमयन्ती के चित्त मे जो शङ्का उत्पन्न हुई थी, उसे पुष्ट कर दिया। फिर वरुण की ओर सङ्केत करते हुए देवी ने उनका परिचय दिया। वह परिचय भी पूर्व की भांति सशयकारक ही रहा। उससे भी वरुण और नल दोनों का अर्थ निकलता था। अन्त मे उन्होंने वास्तविक नल का भी वर्णन इस ढंग से किया कि नल के साथ कभी इन्द्र का, कभी अग्नि का, कभी यम का, कभी वरुण का अर्थ निकलता था, और एक स्थल में तो पांचों का अर्थ एक साथ। दमयन्ती को बड़ी भ्रान्ति हुई। वह कुछ निर्णय नही कर पा रही थी। उसके मन में अनेक सङ्कल्प-विकल्प उठ रहे थे। बेचारी चकित थी।

नल-वरण

अतः विवश हो उसने नल-प्राप्ति के लिए देवताओ को प्रसन्न करना ही श्रेयस्कर समझा। स्वयंवर-मण्डप मे ही उनकी पूजा की, और ध्यान किया। देवगण प्रसन्न हो गए। उसके फलस्वरूप दमयन्ती को सरस्वतीकृत पाचों नलों के विषय का वर्णन अत्यन्त स्पष्ट हो गया। उसने पाचवे नल को वास्तविक नल समझा और उसी समय देवों ने भी कपट रूप त्याग कर अपना-अपना वास्तविक रूप धारण कर लिया। सुन्दरी ने देवो की अनुज्ञा लेकर सात्विक भावो के साथ दूर्वाङ्कुर से सुशोभित मधूकमाला नल के गले मे डाल दी। सुन्दरियों के मङ्गल-गान होने लगे, प्रसन्न देव-गण ने वर-वधू को पृथक्-पृथक् अनेक वरदान दिए और सरस्वती-सहित स्वर्गलोक को प्रस्थान किया। अन्य आए हुए नरेश दमयन्ती को न पाने के कारण क्षुब्ध तथा खिन्न थे। अत. सुन्दरी ने अपने पिता से प्रार्थना कर प्रत्येक को अपनी एक-एक सुन्दरी सखी दिलवाई। उधर नल स्वयवर-मण्डप से अपने निवास-स्थान को गए। इधर विदर्भ-नरेश पुत्री के विवाहोत्सव का समारम्भ करने लगे।

वरयात्रा

ज्योतिपियो से सुन्दर शुभमुहूर्त्त विचरवा कर राजा भीम कन्यादान का उपक्रम करने लगे। नगर की अद्भुत सजावट की गई। विभिन्न प्रकार के वाद्य बजने लगे। सौभाग्यवती स्त्रियो ने वधू दमयन्ती को मङ्गल-स्नान करवाया, फिर उसका विवाहोचित शिख-नख शृंङ्गार किया। अलङ्कृत होकर लज्जा के भार से दबी हुई दमयन्ती ने गुरुजनो, ब्राह्मणों तथा पतिव्रता स्त्रियों को प्रणाम किया। उधर नैपथ्य-कुशल सेवको ने महाराज नल का भी विवाहोचित शृङ्गार किया। फिर वे वर-यात्रा के लिए वार्ष्णेय नामक सारथि से युक्त रथ पर सानन्द सवार हुए। उस समय विदर्भपुर की अप्सरा-सदृश सुन्दरिया वर को देखने के लिए अलङ्कृत हो अपने-अपने घरो से निकल कर राजमार्ग पर सुशोभित हो रही थी। कौतुकातिशय के कारण उन्हे अपने देह-वस्त्र की भी कोई सुधबुध नही थी। वे हर्षोद्रेक में नल की प्रशसा कर रही थी।

विवाह-महोत्सव

महाराज नल अपने पुरोहित गौतम सहित रथ पर विदर्भेश्वर के महल की ओर बढ़े। मृगनयनिया चन्द्र-धवल चामर डुला रही थी। भीम-पुत्र कुमार दम ने आगे से जाकर बारात का स्वागत किया और नल को सादर ले चले। भीम ने अपने जामाता को गले से लगाया और पाणि-ग्रहण संस्कार यथाविधि सम्पन्न हुआ।

पाणिग्रहण के समय महाराज भीम ने जामाता को अद्‌भुत दिव्य उपहार दिए, उनमे से बहुत तो उन्हे देवो से प्राप्त हुए थे। विवाह की मुख्य क्रियाये नल करते थे और गौण क्रियाए पुरोहित ने की। इधर कुमार दम भी हास-परिहास के साथ बारातियों का सत्कार कर रहे थे। सुन्दरियो द्वारा उन्हे सुन्दर भोजन करवाते तथा उन्हे हर प्रकार के सुख की सामग्री प्रस्तुत रखते। तीन दिन तक वर-वधू एक साथ शास्त्र-विधि से पूर्ण सयम के साथ रहे। पाच छ: राते विदर्भराज के घर बिता कर नल वधू-सहित निषध-देश के लिए चले। महाराज भीम ने उन्हे अपने राज्य की सीमा तक पहुंचाया, फिर पुत्री को यह उपदेश देते हुए, दु.खी हृदय से रोते हुए विदा किया—"बेटी, अव तुम्हारा अपना पुण्य ही पिता है, तुम्हारी क्षमाशीलता ही तुम्हारी सारी विपत्ति को नष्ट करने वाली होगी, सन्तोष ही तुम्हारा धन होगा, महाराज नल ही तुम्हारे सर्वस्व होगे और बेटी ! अब से मै तुम्हारा कोई न रहा।" अपनी नगरी के समीप पहुचने पर राजा नल ने जिन मन्त्रियो पर राज्य का शासन-भार सौपा था, उन सबो ने कुतूहल से उत्कण्ठित हो नव-वधू-सहित नल का रास्ते मे स्वागत किया। पौराङ्गनाओ ने अट्टालिकाओ से लाज-वर्षा की। आकाश से देवगण यह सब देख रहे थे। इस प्रकार दमयन्ती-सहित नल ने विशेष रूप से निर्मित नूतन राज-प्रासाद मे प्रवेश किया।

कलि-प्रसङ्ग ९४

स्वर्ग जाते हुए देवो ने रास्ते मे मूर्तिमान् काम, क्रोध, लोभ, मोह के साथ कलि को ससैन्य आते देखा। मर्यादाहीन उमडे सागर के समान उस कलि-सेना के समीप आने पर किसी ने अत्यन्त कर्कश स्वर मे वैदिक आस्तिकवाद का खण्डन प्रारम्भ कर दिया, तथा बडे ओजस्वी तर्को के साथ चार्वाक मत का प्रतिपादन किया। उसके तर्को को सुनकर देवो को बडा क्रोध आया और इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण ने दृढ प्रत्यक्ष प्रमाणो के द्वारा ही वैदिक मत की सत्यता सिद्ध की। फिर देवो से दमयन्ती-स्वयंवर को निष्पन्न हुआ जान कलि को बड़ा क्रोध हुआ, क्योकि वह भी उसी स्वयवर मे जा रहा था। उसने देवो के सम्मुख नल के विषय मे प्रतिज्ञा की कि "मै नल से दमयन्ती तथा उसकी राज्यश्री दोनो छुडाकर ही मानूंगा।" इस पर देवो ने उसे बहुत फटकारा किन्तु यह जानकर कि कलि की नल को पीड़ा पहुंचाने की भावना दूर नही की जा सकती, उन्होने विशेष आग्रह करना उचित न समझा और अपने स्वर्ग का रास्ता लिया। इधर ईर्ष्या से अन्धा कलि द्वापर के साथ नल को कष्ट देने के लिए निषध देश पहुंचा। किन्तु उस धर्मशील राज्य में उसे खड़े होने का भी स्थान नहीं मिलता था। राजधानी में सर्वत्र धार्मिक विधियों को की

जाती हुई देख कर तथा पुरवासियों की धर्मानुप्राणित जीवन-चर्या देख कर वह नि.शरण हो बड़ा भयभीत हुआ। कही स्थित होने के लिए स्थान ढूढ़ता-भटकता रहा। अन्त मे नल की वाटिका मे कलि को उसे एक बहेड़े का पेड़ दिखायी दिया, जिसका धार्मिक कार्यों मे कोई उपयोग नही था। कहा जाता है उस वृक्ष का आश्रय लेकर कलि नल-दमयन्ती के किसी पाप आचरण की ताक में बहुत दिन तक वहा रहा। इधर निषध-राज नव-परिणीता वधू के साथ रमण में प्रवृत्त हुए।

सुरत-क्रीड़ा

दिन-रात दमयन्ती के साथ भोग का आनन्द लेते हुए भी आत्म-ज्ञानी नल को किसी पाप का लेश भी न छू जाता था, क्योकि जिनका अन्त.करण ज्ञान से निर्मल हो चुका है उनको कृत्रिम रूप से किए गए विपय-भोगो मे कोई आसक्ति ही नही होती। नल राज्य का भार मन्त्रियों को सौप कर सर्व-साधन-सम्पन्न राज-प्रासाद मे भगवान् मदन की आराधना करने लगे।

मधुर प्रभात

रात बीतने पर प्रभात होने को हुआ। नल प्रिया का परिरम्भण किए हुए निद्रा की गोद मे थे। वैतालिक लोग उन्हें जगाने के लिए श्रुतिमधुर पद सुनाने लगे और उषा, निशा, चन्द्र, तारे, चक्रवाक, भ्रमर, कमल, कुमुद, सूर्य आदि का वर्णन अद्भुत कल्पनाओं के साथ करने लगे। उषा-काल से लेकर दूरारूढ़ अवस्था तक सूर्य का अत्यन्त हृदयहारी क्रमिक वर्णन किया, जिसे सुनकर दमयन्ती ने इन्हें पारितोषिक-रूप मे अपने शरीर के अलङ्कार दिए। नल ने प्रभात-स्नान किया फिर यौतक (दहेज) में प्राप्त रथ पर चढ कर बाहर आए।

सखी-विनोद

इसके पश्चात् महाराज नल दमयन्ती से पूछ कर अपनी प्राभातिकी अग्नि-होत्रादि क्रियाओ को निपटा कर फिर प्रिया के पास आए। सखियो के सहित दमयन्ती के साथ हास-केलि का सुख लेने लगे। दमयन्ती ने प्रणय में मान किया, उसे भङ्ग करने के लिए नल ने साम, सखी से भेद, विनति आदि कई उपाय किए। सखी-प्रसङ्ग के द्वारा उनकी रतिक्रीड़ा के अनेक रहस्यो का उद्घाटन हुआ। उसी समय चारण-वनिता ने दोपहर-स्नान करने की सूचना दी। शिव-पूजा की वेला को समीप समझ कर वे स्नान के लिए प्रसन्न मुद्रा मे चल दिए।

देवार्चना १८

वैदर्भी-प्रासाद से नीचे उतर कर राजा नल ने समागत सामन्त नरेशों का उपहार स्वीकृत करते हुए तथा उन्हे प्रत्युपहार से सम्मानित करते हुए विदा किया। फिर विद्या सीखने के लिए आए हुए राजकुमारों को अस्त्र-शस्त्र का भी अभ्यास कराया। इसके अनन्तर शास्त्रीय विधि से स्नान किया। वस्त्र पहनकर मध्याह्न-सन्ध्योपासन करके पूजा-गृह मे गए। वहा सूर्यदेव की अर्चना के पश्चात् शङ्कर की सविधि-पूजा की। फिर पुरुष-सूक्त के अनुसार पुरुषोत्तम भगवान् की बारहों मूर्तियो की "ॐ नमो भगवते वासुदेवाय" इस द्वादशाक्षर मन्त्र का उच्चारण करते हुए वन्दना की। फिर विष्णु के अवतारो की स्तुति की। अनेक प्रकार की स्तुतियां करते हुए राजा नल भगवान् विष्णु के ध्यान मे सम्प्रज्ञात समाधि मे लीन हो गए। भावना मे विष्णु का साक्षात्कार करके भक्त्युद्रेक में उन्मत्त हो गाने तथा झूमने लगे। इस प्रकार विष्णु और शङ्कर की पूजा करके ब्राह्मणों को दक्षिणा देकर अन्त मे सिर झुकाए भोजनालय में गए। वहां सुस्वादु भोजन किया और अपने आनन्द-भवन मे गए। इधर दमयन्ती भी गौरी आदि देवताओ की पूजा कर पति के पश्चात् भोजन कर, पूर्ण अलङ्कृत हो उसी भवन में जाकर पति की गोद मे बैठ गई। सखियो ने आकर वीणा-गान सुनाया। अन्त मे सन्ध्या वेला होने पर राजा सुन्दरी को सखियो के साथ विनोद करने के लिए कह कर सायं-सन्ध्योपासन के लिए चले गए।

निशागमन १६

सन्ध्योपासन समाप्त कर महाराज नल सातवी अट्टालिका मे दमयन्ती के पास पुनः पहुंचे। स्वागत के लिए खड़ी प्रिया को गोद मे बैठा कर सन्ध्या का वर्णन करने लगे। मधुर कल्पनाओ के साथ सन्ध्या, तारो, अन्धकार तथा चन्द्रमा का वर्णन किया। दमयन्ती ने भी सस्नेह चन्द्रमा का वर्णन अनूठी कल्पना के साथ सुनाया, जिसे सुनकर नल आनन्द और आश्चर्य से क्षण भर स्तब्ध रह गए और प्रिया की उस वर्णन-शैली की भूरि-भूरि प्रशंसा की। अन्त मे स्वयं भी चन्द्र-वर्णन करते हुए बोले—"प्रिये, कई बार राहु के दांतों के नीचे पड़ने के कारण भगवान् शीतांशु के शरीर मे असङ्ख्य छिद्र बन गए है जिनसे किरणों के रूप में उनकी सुधा बहा करती है—तो तुम्हारी पूजा में मदन और रति के परिणय करते समय भगवान् चन्द्रदेव सहस्रधार कलश की भाति अमृत-वर्षा करते हुए हम लोगो को सुख दें।"

गान कर पवित्र करूँगा।" प्रथम सर्ग के अन्त मे उन्होने अपने सकल्प की सूचना भी दे दी है कि उनकी यह रचना शृङ्गार-रस की हो रही है।[१] आगे चल कर बीच मे फिर एक बार अपने काव्य को शृङ्गार-रस रूपी अमृत का सुधाकर (चन्द्रमा)[२] कहकर इस बात का स्मरण दिलाया है कि उनके नैषध का प्रधान रस शृङ्गार ही है। और काव्य के अन्त मे "यथा यूनस्तद्वत् परम-रमणीयापि रमणी" इत्यादि श्लोक से इस बात की स्पष्ट व्यञ्जना कर दी है कि नैषध की शृङ्गार-सूक्ति केवल सहृदयों को आनन्द देने वाली है—अरस पुरुषों के हाथ कुछ लगने का नही। अत. इस काव्य का आत्मा शृङ्गार-रस है। और नल-चरित पर यदि हम विचार करे तो हमे स्पष्ट ज्ञात होगा कि उसका पूर्वार्द्ध (अर्थात् दमयन्ती-विवाह तक) ही शृङ्गार रचना के लिए उपयुक्त कथानक बन सकता है। शेष उत्तरार्द्ध भाग में करुण ही अधिक है, जिसका चित्रण शृङ्गार के प्रतिकूल पड़ता।

जहा तक शृङ्गार-रस का सम्बन्ध है कवि ने उसके सयोग-वियोग दोनो पक्षों का साङ्गोपाङ्ग चित्रण नल के पूर्व जीवन में कर दिया है। द्यूत में हारने पर वनवास एव अज्ञातवास मे पुन. विप्रलम्भ आता है—उसका वर्णन पिष्टपेषण होने के कारण अत्यन्त अरोचक तथा काव्य-सौन्दर्य-हीन होगा। उसी प्रकार उनका दूसरे स्वयवर मे पुर्नमिलन संयोग-शृङ्गार का भी पिष्ट-पेषण ही होगा। नैषध के प्रधान रस का इस सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन करने पर कोई भी काव्य-मर्मज्ञ इस बात की कल्पना नही कर सकता कि श्रीहर्ष ने नैषध के कथानक में नल का उत्तरार्द्ध जीवन भी रक्खा होगा। इसके अतिरिक्त राजा नल के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास विवाह तक की ही कहानी में हो जाता है—शेष जीवन में भाग्य या दैवी विधानो का (चाहे वे कलिकृत हों या द्वापरकृत) अधिक प्राधान्य रहता है। स्वयं नल भाग्य के हाथ में क्रीडनक-मात्र रहते है। यदि हम उत्तरार्द्ध की घटनाओं पर विचार करें तो हमें यह भी मालूम पड़ता है कि उत्तरार्द्ध में नल की अपेक्षा दमयन्ती का चरित अधिक ज्योतिष्मान् है। उसके सतीत्व की दिव्य ज्योति के सामने विपद्ग्रस्त नल के चरित का कोई स्थान नही रह जाता। नलोपाख्यान के उत्तरार्द्ध में अथ से इति तक दमयन्ती-चरित ही प्रधान है। उसमें नल का चरित तो अपेक्षाकृत गौण ही है। अतः 'नल-चरित' या 'नैषध-चरित' नामक काव्य मे उस अंश की कोई उपयोगिता नहीं। श्रीहर्ष ने इस तत्त्व को ध्यान में रखकर ही 'नैषध' का कथानक केवल विवाह-पर्यन्त ही रखा। इससे यह भी नही सोचना चाहिए कि इसमें दमयन्ती-चरित की उपेक्षा

---

१. शृङ्गारभङ्ग्यामहाकाव्ये—इत्यादि—नै० १।१४५

२. शृङ्गारामृतशीतगौ—नै० ११।१३०

की गई है। दमयन्ती का चरित पूर्वार्द्ध मे भी अत्यन्त महत् अपितु उत्तरार्द्ध से भी महत्तर चित्रित हुआ है। किन्तु वह नल के व्यक्तित्व के विकास मे सहायक ही होता है बाधक नही। इसके अतिरिक्त संस्कृत-साहित्य मे चरित-काव्य-नामक कोई विभाग नही है। काव्य-कथानक या तो इतिहासोद्भव होना चाहिए, या किसी सज्जन (महा-पुरुष) के जीवन पर आश्रित।[1] इतिहास-प्रसिद्ध या लोक-प्रसिद्ध नायक के चरित का कोई भी अंश उसका चरित ही कहा जायगा। काव्य में उसका नाम 'चरितांश' नही रक्खेगे। पद्मगुप्त-कृत नवसाहसाङ्क-चरित मे उज्जयिनी-नरेश सिन्धुराज (नवसाहसाङ्क) द्वारा शशिप्रभा का लाभमात्र (अट्ठारह सर्गों मे) वर्णित है। सिन्धुराज का पूरा चरित नही कहा गया। किन्तु उसके चरित्र का सर्वाङ्गीण चित्र इतने मे ही हो जाता है। कवि को जितना अंश अभीष्ट होता है वह उतना ही लेता है—उसे पूरे इति-वृत्त का वर्णन करना नही रहता—वह इतिहास आदि से जाना जा सकता है।[2] नैषध के इतने ही कथानक में नल के चरित्र की सारी विशेषताएं पूर्ण प्रदर्शित हो जाती है। उत्तर जीवन मे नल दमयन्ती को वन मे अकेली छोड़ कर चले गए थे। किन्तु नैषध मे असत्य से डरने वाले नल ने दमयन्ती को वरदान दिया है कि "प्रिये, तुमने अपनी सखियो से अपने भय का एकमात्र कारण मेरा विरह बताया था—अतः मैं तुम्हे वचन देता हूं कि मै तुम्हे जीवन में कभी अलग न करूगा।" इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि श्रीहर्ष को उत्तर नल-चरित का वर्णन करना अभीष्ट नही था, क्योकि उसके वर्णन मे इस वरदान का कोई प्रयोजन नही रह जाता। इस श्लोक मे नल के लिए प्रयुक्त 'असत्यकातर' शब्द बडे महत्त्व का है। दमयन्ती को छोड़ने पर वे अपनी प्रतिज्ञा से गिर जाते और यह 'असत्यकातर' विशेषण व्यर्थ हो जाता।

श्री भट्टाचार्य महोदय ने नैषध की अपूर्णता के लिए दूसरा हेतु नैषध में स्थान-स्थान पर आया हुआ कलि-प्रसङ्ग बताया है। नल के भविष्य जीवन में कलि जो आपत्तियां लाने वाला है उसकी ओर कवि ने कई बार सङ्केत किया है। किन्तु जब कलि के कृत्यो का समय आने को होता है उसके पूर्व ही ग्रन्थ की समाप्ति हो जाती है। गम्भीरता से विचार करने पर यह तर्क भी निर्मूल लगता है। इसका प्रथम

---

१. इतिहासकथोद्भूतमितरद्वासदाश्रयम्। काव्यादर्श १।१५

२. स्फारे तादृशि वैरसेनिनगरे पुण्यैः प्रजानां घनं,
विघ्नं लब्धवतश्चिरादुपनति स्तस्मिन् किलाभूत् कलेः।
एतस्मिन् पुनरन्तरेन्तरमितानन्दः स भैमीनला,
वारादध्युं व्यषित स्मरः श्रुतिशिखाबन्दारुचूडं धनुः॥ नै० १७।२२१

समाधान तो यही है कि नल-कथा इतनी प्रसिद्ध है कि कही किसी भविष्य प्रसङ्ग का उल्लेख करके भी कवि इसके लिए बाध्य नही है कि उसे भी पूरा वर्णित करे। सप्तदश सर्ग मे कलि-प्रसङ्ग का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष ने अन्त में लिखा है कि "नल के उस विशाल नगर में प्रजा के धर्म-बाहुल्य के कारण चिरकाल तक विघ्नो से भटकते रहने पर कलि को उनके उद्यान में आश्रय मिला। कहते हैं, यहा वह बहुत समय तक रहा। और इसी बीच कामदेव ने अत्यन्त प्रसन्न हो नल-दमयन्ती की आराधना के लिए अपने धनुष की प्रत्यञ्चा भी चढाई।" इस एक श्लोक के द्वारा महाकवि ने कई प्रयोजन सिद्ध किए हैं। 'किल' शब्द का प्रयोग करके उन्होने कलि-प्रसङ्ग को यही समाप्त कर दिया—अर्थात् कलि का उस उपवन में टिकना या आगे का उसका कोई कार्य इतिहास-पुराण में अति प्रसिद्ध है, इस काव्य मे उसके कहने की कोई आवश्यकता नही रह जाती। इसके साथ ही उन्होने आगे वर्णित किए जाने वाले सम्भोग शृङ्गार का उपोद्घात भी इसी में कर दिया—जो कलि कथानक को यहा भुला देने का दूसरा कारण बनता है। कलि-प्रसङ्ग की अन्य उपयोगिता पर आगे के अध्याय में विशेष लिखा जायगा, अतः पुनरुक्तिभय से यहां इतना ही पर्याप्त है।

श्रीभट्टाचार्य ने अपने मत की पुष्टि मे तीसरा तर्क यह दिया है कि देवो ने स्वयंवर के अन्त में जो अनेक वरदान दिए वे नैषध-काव्य मे नल या दमयन्ती के उपयोग में कहा आते हैं? इनका उपयोग तो नल के उत्तर जीवन में होता है। सम्भवत. विद्वान् समालोचक ने नैषध का पूरा अध्ययन ही नही किया था। नल-दमयन्ती को जो वरदान देवों ने दिए थे उनका उपयोग श्रीहर्ष ने बडी कुशलता के साथ सम्भोग-शृङ्गार-वर्णन के समय उनकी रति-क्रीड़ाओ में किया है।[1] फिर सखियों के साथ परिहास-कथा मे भी उनका उपयोग हुआ है।[2] अत. वरदानो की उपयोगिता सिद्ध करने के लिए विद्यमान नैषध को अपूर्ण बता कर और सर्गो की कल्पना करना व्यर्थ है।

नैषध की स्वाभाविक पूर्णता का सब से बड़ा प्रमाण स्वयं उसके अन्तिम सर्ग का अन्तिम श्लोक है, जिसमे चन्द्र-वर्णन के प्रसङ्ग मे नल दमयन्ती से कहते है—"प्रिये, कई बार राहु के दातों के नीचे पडने के कारण भगवान् चन्द्रदेव के शरीर में असङ्ख्य छिद्र बन गए हैं जिनसे किरणों के रूप में अमृत बहा करता है—अब मदन-रति के परिणय का आनन्दाभिषेक (हमारे आलिङ्गन) करते समय भगवान् चन्द्रदेव एक

१. नै० १८—६८, ७९, ८७, ८८, ८९, ९२
२. नै० २०—१२५, १२७

सहस्रधार कलश की भाति अमृतवर्षा करते हुए हम लोगो को सुख एवं सन्तोष दे।" सम्भोग-शृङ्गार के प्रसङ्ग मे इसे पढने के पश्चात् अब आगे क्या कथानक है, इसके लिए न कोई जिज्ञासा होती है न कौतूहल और ऐसा स्पष्ट हो जाता है कि कवि को आगे कुछ कहना शेष नही है। 'सर्गान्ते भावि सर्गस्य कथायाः सूचन भवेत्' (सा० द० ६।३२१) के अनुसार पूर्ववर्ती सभी सर्गो के अन्त मे अग्रिम सर्ग की कथा का बीजारोपण हो जाता है किन्तु बाईसवे सर्ग का अन्त इस प्रकार किया जाता है कि यही ग्रन्थ की भी वास्तविक समाप्ति समझ पड़ती है। अतएव मङ्गलवाची 'श्री' शब्द का भी प्रयोग किया गया, बाइसवे सर्ग के अन्त में रक्खा गया यह मङ्गलार्थ 'श्री' शब्द नैषध की समाप्ति का ही द्योतक है।

नैषध की स्वाभाविक पूर्ति के सब से बड़े प्रमाण अन्त में लिखे हुए कवि-परिचयात्मक चारो श्लोक भी है, जो ग्रन्थ की समाप्ति पर ही लिखे जा सकते थे। उनमे से कुछ श्रीहर्ष ने अपने खण्डनखण्डखाद्य के भी अन्त में लिखे है। इन श्लोको को श्रीहर्ष की अवास्तविक रचना बताने के लिए भट्टाचार्य महोदय ने जितने प्रयत्न किए है वे सभी कल्पित और दृढ़मूल न होने के कारण नितान्त उपेक्षणीय एवं उपहासास्पद है।

---

१. स्वर्भानुप्रतिवारपारणमिलद्दन्तौघयन्त्रोद्भव,
श्वभ्रालीपतयालुदीधितिसुधासारस्तुषारद्युतिः।
पुष्पेष्वासनतत्प्रियापरिणयानन्दाभिषेकोत्सवे,
देवः प्राप्तसहस्रधारकलशश्रीरस्तुनस्तुष्टये॥ नै० २२-१४८

तृतीय अध्याय

कथानक का औचित्य

अक्षरादिरचनेव योज्यते यत्र वस्तुरचना पुरातनी।
नूतने स्फुरति काव्यवस्तुनि व्यक्तमेव खलु सा न दुष्यति[1] ॥

काव्य में ऐतिहासिक कथानक का महत्त्व

इतिहास अतीत की घटनाओं को यथासम्भव सत्यरूप में अङ्कित करता है। उसका उत्तरदायित्व केवल उन घटनाओं के प्रति होता है। वह अपने सत्यशुद्ध रूप में यथार्थ को लेकर चलता है। उसमे ऐसी घटनाओ का वर्णन होता है जो इसी लोक मे घटित हुई तथा उसमें ऐसे व्यक्तियों का चरित्र होता है जो इसी मानव समाज के अङ्ग थे। अन समाज उन ऐतिहानिक वृत्तों मे अपनी ही कहानी सत्यरूप में कही हुई पाता है—वे उसीके जीवन के प्रतिबिम्ब समझ पड़ते हैं। ऐतिहासिक व्यक्तियो की प्रसिद्धि तथा प्रियता का प्रधान कारण यही है कि वे मानव-समाज के एक अङ्ग होकर ही मनुष्य-स्वभावानुकूल कुछ ऐसे कार्य कर गए जो समाज के लिए वहुत कुछ पथप्रदर्शक का कार्य करते हैं। समाज का सनातन सत्य स्वरूप अतीत के दर्पण मे देखा जा सकता है। अत हम कह सकते हैं कि इतिहास समाज की बीती कहानी है और समाज इतिहास का प्रतिबिम्व। अतीत की स्मृति केवल सुखपूर्ण ही नही होती, वह अत्यन्त मर्मस्पर्शिनी भी होती है। इतिहास द्वारा जिन बातो को हम जानते हैं, जब हम भावना मे अपनी कल्पना के आधार पर उनका मूर्त रूप बनाते हैं तो वे और भी मार्मिक हो उठती हैं—हम उनमें लीन हो जाते हैं। सत्य और कल्पना के इस अद्भुत समन्वय की मनोहरता का अनुभव करके ही आचार्यो ने काव्य-कथानक के लिए इतिहासोद्भव वृत्त को प्रधानता दी। या किसी ऐसे सत्पुरुष का भी चरित्र काव्य-कथानक के लिए उपयुक्त बताया जो कल का ऐतिहासिक व्यक्ति होने वाला है।[2] नितान्त कल्पित कथानक को काव्य के लिए उपयोगी नही माना—विशेषत: महाकाव्य के लिए। क्योकि उसमे इस बात की बहुत अधिक सम्भावना

---

१. ध्वन्यालोक ४-११९

२. इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्—काव्यादर्श १–१५

रहती है कि कवि समाज के कल्पित आदर्शों से इधर-उधर बहक जाय और इस प्रकार काव्य के प्रमुख प्रयोजन अथवा प्रधान लक्ष्य (अर्थात कान्तासम्मिततया उपदेश-प्रदत्व) को ही खो बैठे।

इतिहासोद्भव वृत्त काव्य का कथानक बनकर नव्य, भव्य, विश्वसनीय एवं प्रभविष्णु हो जाता है। कथानक की ऐतिहासिकता लोगो मे काव्य के प्रति विश्वास उत्पन्न कराती है और इस प्रकार उसका रूप सजीव, स्वाभाविक एवं व्यावहारिक लगने लगता है। पाठक को इस बात का विश्वास हो जाता है, कि काव्यवर्णित यह सत्य इसी लोक का है जिसे इसी लोक के प्राणियो ने अपने इसी जीवन में प्राप्त किया है। ऐतिहासिक वृत्त एव पात्र साहित्य-सिद्ध आदर्शों को सजीवता से अनुप्राणित कर देते हैं, साहित्यिक कल्पनाओं मे यथार्थता ला देते है, तथा काव्यगत भावनाओं एवं विचारो को उडान के आकाश से सभाव्यता और प्रतीति-योग्यता के धरातल पर ला देते हैं। इतिहास-वर्णित चरित्रों से जनसाधारण का आत्मीय सम्बन्ध सस्कारतः जुड़ा रहता है, जिससे साधारणीकरण तथा तादात्म्य स्थापित करने मे बड़ी सुगमता होती है। काव्य में कल्पना का विशेष हाथ रहता ही है किन्तु उस कल्पना-निर्मित काव्यगत जीवन को लोकग्राह्यता अर्थात् व्यावहारिकता के स्तर पर लाने का श्रेय ऐतिहासिक कथानक को ही है। इसीलिए भारतवर्ष ही नहीं संसार के साहित्य मे ऐतिहासिक वृत्तों की ही प्रधानता रही है। काव्य मे ऐतिहासिक वृत्त रखने का एक और विशेष कारण है। उसमे व्यक्ति के चरित्र का प्राय. समग्र रूप दिखाया जाता है, जो अतीत के आश्रय से ही पूर्णरूपेण जाना जा सकता है। यदि केवल वर्तमान जीवन का आश्रय लिया जाय तो पूरे का चित्रण नही हो सकता। क्योंकि पता नही आगामी जीवन मे किस व्यक्ति के चरित्र में क्या परिवर्तन हो जाय। अत: जब तक जीवन की पूरी कथा न मालूम हो किसी एक अङ्ग या अंश में उसके सम्पूर्ण चरित्र का प्रतिनिधित्व या प्रतिबिम्ब नही दिखाया जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति मे गुण-दोष दोनो रहते हैं। न कोई नितान्त भला होता है और न कोई नितान्त बुरा ही। जिसमे अच्छाइयो की अधिक मात्रा होती है उसे अच्छा, जिसमें बुराइयो की अधिक मात्रा होती है उसे बुरा कहा जाता है। काव्य या महाकाव्य में किसी व्यक्ति की सारी कहानी नही कही जाती, अपितु उसके जीवन का जितना अश काव्य-रस-विशेष के लिए उपयोगी समझा जाता है कवि उतने मात्र का वर्णन करता है। अतएव आचार्य आनन्दवर्धन का मत है कि विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव की उचित योजना द्वारा सुन्दर (प्रसिद्ध ऐतिहासिक आदि) या कल्पित कथानक से युक्त प्रबन्ध ही रस का व्यञ्जक होता है। उसमें मनोनीत रस की प्रतिकूल घटनाओ का त्याग तथा अनुकूल घटनाओं की कल्पना भी की जा

सकती है।[1] और उतने ही मे वह अपने पात्रो के अभीष्ट एवं मनोनीत चरित्र का समग्र रूप से प्रदर्शन कर सका तो मानो उसने अविकल सफलता प्राप्त कर ली। पात्र का काव्य-वर्णित-मात्र-चरित्र उसके समग्र चरित्र का प्रतीक होना चाहिए, और यह तभी हो सकता है जब पात्रों का चरित्र पूर्ण स्वरूप मे विदित हो।

नल-कथा की प्राचीनता

नल-कथा अति प्राचीन काल से प्रसिद्ध रही है। रामायण एव महाभारत में उसका उल्लेख देखकर उसकी वैदिक-साहित्य में प्रसिद्धि का भी अनुमान लगाया जा सकता है। वाल्मीकि रामायण मे रावण के लिए सीता को डराने वाली राक्षसियो को सीता ने प्रत्युत्तर देते हुए कहा था—"दीन हो या राज्यहीन हो जो मेरा पति है वही मेरा गुरु है। उसमे मै उसी प्रकार अनुरक्त हू जैसे सूर्य मे सुवर्चला। भीम कुमारी दमयन्ती जैसे अपने पति नैषध (नल) मे अनुरक्त थी उसी प्रकार मै अपने पति इक्ष्वाकुवश-शिरोमणि राम मे अनुरक्त हूं।"[2] 'महाभारत' में तो नलकथा पूर्ण विस्तार के साथ कही गई है। "नैषधीय-चरित" का वही आधार ही है।

पुराणों मे भी इसका उल्लेख हुआ है। उनमे यद्यपि महाभारत की भांति विस्तृत रूप से वर्णित नही है, किन्तु उससे उसकी लोकख्याति का पता तो चल ही जाता है।

मत्स्यपुराण मे इक्ष्वाकु-वंश-वर्णन के प्रसंग में वीरसेन के पुत्र निषध देश के राजा नल का उल्लेख किया गया है।[3] स्कन्दपुराण मे नल का दो बार उल्लेख हुआ है। एक उस समय जब वन मे दमयन्ती को अकेली त्यागकर

---

१. विभावभावानुभाव संचार्यौचित्यचारुणः।
विधिः कथाशरीरस्यवृत्तस्योत्प्रेक्षितस्यवा॥
इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वा ननुगुणांस्थितिम्।
उत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयः॥ ध्वन्यालोक, ३-६६, ६७

२. दीनो वाराज्यहीनोवा योमेभर्तासमेगुरुः।
तं नित्यमनुरक्तास्मियथासूर्यंसुवर्चला॥
नैषधं दमयन्तीव भैमीपतिमनुव्रता।
तथाहमिक्ष्वाकुवरं रामं पतिमनुव्रता॥ वा० रा०, सु० का० २४-९, १३
(निर्णय सा० प्रे०)।

३. नलौ द्वावेव विख्यातौ वंशे कश्यपसम्भवे।
वीरसेनसुतस्तद्वन्नैषधश्चनराधिपः॥ म० पु०, अ० १२-५६

दुःखी नल घूमते हुए हाटकेश्वरक्षेत्र पहुंचे और वहां उन्होंने चर्ममुण्डा देवी की स्थापना की और उसी के समीप में शिवलिङ्ग की स्थापना की जो नलेश्वर नाम से विख्यात हुए।[1] दूसरे मे केवल नलेश्वर के प्रसङ्ग मे नामोल्लेख मात्र हुआ है। कथा विस्तार के साथ नही कही गयी है।[2] पहली बार भी प्रथम स्थल में नल का पूर्वार्द्ध जीवन केवल दो श्लोको में कह दिया गया है। "पुराने समय में वीरसेन के पुत्र नल नाम के राजा हुए। वे सब गुणो से युक्त तथा शत्रुओ का विनाश करने वाले थे। उनकी प्राणो से भी प्रिय भार्या दमयन्ती थी। वह विदर्भ राज की पुत्री थी।"[3] उत्तरार्द्ध का कुछ विस्तार से वर्णन हुआ है क्योकि वहां उसी से प्रयोजन था। लिङ्ग-पुराण में सूर्यवंशीय राजा ऋतुपर्ण का वर्णन करते हुए उनके मित्र वीरसेन के पुत्र निषधाधिपति नल का उल्लेख हुआ है।[4]

पैशाची भाषा में लिखित गुणाढ्य की बृहत्कथा में भी नलकथा अवश्य कही गई थी। यद्यपि दुर्भाग्य से बृहत्कथा इस समय प्राप्य नही है, किन्तु क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामञ्जरी में, सोमदेव भट्ट के कथा-सरित-सागर मे तथा जो गुणाढ्य की बृहत्कथा के संस्कृत रूपान्तर है, नल-कथा वर्णित देखकर हम सहज

---

१. स्कन्दपुराण--६--नागरखण्ड, अध्याय ५४, ५५

२. स्कन्द पुराण ७--प्रभासखण्ड, अध्याय ३४५

३. वीरसेनसुतः पूर्वं नलो नाम महीपतिः।
आसीत्सर्वगुणोपेतः सर्वशत्रुक्षयावहः॥
भार्यातस्याभवत्साध्वीप्राणेभ्योऽपिगरीयसी।
दमयन्तीति विख्याता विदर्भाधिपतेः सुता॥ स्कं० पु०, खंड ६, अध्याय ५४--३, ४

४. पुत्रोऽयुतायुषो धीमान् ऋतुपर्णो महायशाः।
दिव्याक्षहृदयज्ञो वै राजा नलसखो बली॥
नलौद्वावेव विख्यातौ पुराणेषु दृढव्रतौ।
वीरसेनसुतश्चान्यो यश्चेक्ष्वाकुकुलोद्भवः॥ अध्याय ६६, श्लोक २३-२५

इनके अतिरिक्त अन्य पुराणों में भी नल नाम का उल्लेख हुआ है। कहीं नैषध नल का, कहीं सूर्यवंशीय नल का और कहीं किसी अन्य नल का। उनमें निषधराज-नल की कथा का यद्यपि कोई सङ्केत नहीं किन्तु नल नाम की प्राचीनता तो सिद्ध ही हो जाती है।

कूर्मपुराण में सूर्यवंशीय 'नल' का उल्लेख हुआ है--

अतिथिस्तु कुशाज्जज्ञे निषधस्तत्सुतोऽभवत्।
नलश्च निषधस्यासीत् नभास्तस्मादजायत॥ अध्याय २१

में उक्त निर्णय पर पहुचते है। क्षेमेन्द्र ने बृहत्कथामञ्जरी में नलकथा अत्यन्त संक्षेप मे कही है।[१] प्रारम्भ से विवाह तक की कथा केवल चौदह श्लोकों मे कही गई है[२] और उसमें नल द्वारा देवदौत्य का कही प्रसङ्ग ही नहीं आया है। सोमदेव ने (१०७० ई०) कथासरित्सागर मे नलकथा पर्याप्त विस्तार के साथ सम्पूर्ण कही है।[३] किन्तु पूर्वार्द्ध भाग में ही कथासरित्सागर-गत नलकथा महाभारत से बहुत भिन्न हो जाती है। इसमे हस नगरसरोवर के किनारे दमयन्ती के चङ्गुल मे फंसता है[४] और नलप्राप्ति का प्रलोभन दे कर उससे मुक्ति प्राप्त करता है तत्पश्चात् नल के पास जाता है। दमयन्ती-स्वयंवर में भी वायु को मिला कर पाच देवता आते है चार नही[५] और स्वयवर के पूर्व ही नल के दौत्य से प्रसन्न होकर उन्हे अनेकों वर देते है।[६] स्वयंवर मे पंचनली के स्थान पर षण्नली

अग्निपुराण में भी सूर्यवंशीय 'नल' का उल्लेख हुआ है—

"अतिथिस्तु कुशाज्जज्ञे निषधस्तस्य चात्मजः।
निषधात्तु नलो जज्ञे"—इत्यादि। अध्याय २७३, श्लोक ३६

भागवतपुराण में यदु के पुत्रों में एक 'नल' भी गिनाए गए हैं—

यदोः सहस्रजित् क्रोष्टा नलो रिपुरिति श्रुतः—९।२३।२०

मार्कण्डेय पुराण में नाभाग-चरित के वर्णन में एक प्रासङ्गिक उपाख्यान आ गया है जिसमें राजा धूम्राश्व के पुत्र 'नल' का वर्णन हुआ है जो राजा सुदेव का मित्र था और स्वभाव से अत्यन्त दुष्ट था। उसने च्यवन के प्रमति की भार्या का बलात् अपहरण करना चाहा जिस पर प्रमति ने शाप दे दिया और 'नल' भस्म हो गया। शिवपुराण, ज्ञानसंहिता—अध्याय ६२ में भी नल का उल्लेख हुआ है।

देवी भागवत में वीरसेन (स्कन्ध ३, अ० १४, १५ एवं स्कं० ५, अ० १७) तथा दमयन्ती (स्कं० ६, अध्याय २६) नामों का उलेख हुआ है।

१. बृ० क० मं० लम्बक १५—श्लोक ३३१ से ३७१ तक

२. बृ० क० म० लम्बक १५—श्लोक ३३१ से ३४४

३. कथासरित्सागर, लम्बक ९, अलङ्कारवती, तरङ्ग ६, श्लो० २३७ से ४२४ तक। (नि० सा० प्रे० १९३०)

४. बबन्धक्रीडया बाला युक्तिक्षिप्तोत्तरीयका। क० स० सा० ९।६।२४२

५. तेषां च बलभिद्वायुयमाग्निवरुणास्ततः।
संमन्त्र्य दमयन्त्युक्त्वानलस्यैवान्तिकं ययुः॥ क० स० सा० ९।६।२६०

६. तुष्टास्तस्मैददुर्वरान् क० स० सा० ९।६।२६१

का वर्णन हुआ है और सभा मे दमयन्ती को राज-परिचय देने वाले उसके भ्राता ही रहते है।[1]

दशम शताब्दी के प्रारम्भ मे त्रिविक्रम भट्ट ने नलचरित्र को लेकर 'नलचम्पू' अथवा 'दमयन्ती-कथा' की रचना की, जिसके केवल सात उच्छ्वास प्राप्त है। इसमे कवि ने अपनी कल्पना को इतना प्राधान्य दिया है कि कथावस्तु भी प्रायः कल्पित-सी लगने लगती है—पुराण वा महाभारत के कथानक से कही कोई लगाव ही नही समझ पड़ता। कथानक भी नल-दौत्य तक ही है। नवम शताब्दी के उत्तरार्द्ध या दशम के पूर्वार्द्ध मे क्षेमीश्वर ने नल-कथा पर नैषधानन्द नामक सात अङ्कों का एक नाटक लिखा।

नैषधकथानक का आधार महाभारत

नैषध के पूर्व नल-कथा पर सस्कृत मे अन्य ग्रन्थ भी लिखे गए होगे, किन्तु वे अभी तक प्रकाश मे नही आए है। श्रीहर्ष के पश्चात् भी नल-विषयक अनेक काव्य-नाटक लिखे गए, जिन पर विचार करना यहां अप्रासङ्गिक होगा। नैषध मे नल-विषयक जितना कथानक रक्खा गया है, उसका विवेचन करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि इसका आधार महाभारत ही है। महाभारत-वर्णित कथानक को यहाँ लिखना उचित न होगा। नल-विवाह तक वह प्रायः नैषध मे वर्णित कथानक के समान ही है, जिसका पूर्व अध्याय मे विस्तार के साथ वर्णन दिया जा चुका है। अब विचार करना है कि श्रीहर्ष ने महाभारत के उस कथानक मे कहा क्या परिवर्तन किया है, और किस प्रयोजन से। क्योकि इसी बात की सफलता मे कवि की प्रबन्ध-कुशलता तथा उसके काव्य की मौलिकता मापी जाती है।

ऐतिहासिक कथानक में परिवर्तन की स्वतन्त्रता

नैषध एक प्रबन्ध-काव्य है। प्रबन्ध-काव्य में जीवन का सरस चित्रण होता है। उसमे जितनी घटनाओ के वर्णन होते है वे सभी परस्पर स्वाभाविक क्रम से गुम्फित रहते है। उसमे ऐसे प्रसङ्गो का समावेश होना चाहिए जो हृदय को स्पर्श करने वाले हों, जिनसे हृदय में नाना भावों का रसात्मक अनुभव हो। इतिवृत्तमात्र के निर्वाह से रसानुभव नही कराया जा सकता, यह पहले ही कहा जा चुका है। इसलिए घटना-चक्र के अन्तर्गत ऐसी वस्तुओं और व्यापारों का प्रतिबिम्बवत् चित्रण होना चाहिए जो श्रोता के हृदय में रसात्मक तरङ्ग उठाने मे समर्थ हों। अतः कवि को कही

---

१. अथैत्य दमयन्ती सा भ्रात्रास्वेनैकशो नृपान्। आवेद्यमानान्—
क० स० सा० ९।६।२७०

तो घटना का सङ्कोच करना पड़ता है और कही विस्तार,[1] और कही नितान्त नूतन घटना की उद्भावना करनी पड़ती है। पर नूतन उद्भावना के समय कवि को इस बात के प्रति अत्यन्त सावधान रहना पड़ता है कि वह नूतन कल्पना काव्यगतरस-सङ्गति के साथ इतिहासगत मुख्य वस्तु-तत्त्व से भिन्न किसी प्रकार न लगे, अपितु उसी का एक विस्तृत रूप प्रतीत हो।[2] काव्यगतरस की व्यञ्जना काव्य-कथानक द्वारा भी होती है। अतः कवि ऐसी कथावस्तु को लेता है जो उसके काव्यरस के लिए अनुकूल हो, और उसमें भी वह अनुपयोगी अंश को छोड़ता चलता है, साथ ही अभीष्ट रस के लिए उपयोगी अंश की कल्पना भी कर लेता है।[3]

नल-कथा को ही अपने काव्य की कथावस्तु बनाने में श्रीहर्ष का कुछ विशेष उद्देश्य था। उन्हे प्रधान रस, शृङ्गार रखना था।[4] अतः उन्होने नल चरित्र का पूर्व भाग कथानक रूप मे लिया। राम, कृष्ण, युधिष्ठिर या किसी अन्य दिव्य पुरुष के चरित-वर्णन मे शृङ्गार-रस का उतना पूर्ण परिपाक न हो पाता, और होता भी तो वह अनुचित होता। आनन्दवर्धन ने कुमारसम्भव मे देवीसम्भोग वर्णन के लिए महाकवि (कालिदास) को क्षमा नही किया।[5] और यदि श्रीहर्ष किसी समसामयिक

---

१. यदीतिहासादिषु रसवतीषु कथासु विविधासु सतीष्वपि यत्तत्रविभावाद्यौचित्यवत् कथाशरीरं तदेवग्राह्यम्, नेतरत्। ध्व०, तृतीय उद्योत पृ० २१७, (चौ० सं० सि० १९३७)

२. वृत्तादपि कथाशरीरादुत्प्रेक्षितेविशेषतः प्रयत्नवता भवितव्यम्। तत्र ह्यनवधानात् कवेरव्युत्पत्तिसम्भावनामहती भवति। कविनाप्रबन्धमुपनिबन्ध्नतासर्वात्मना रसपरतन्त्रेण भवितव्यम्। तत्रेतिवृत्ते यदि रसाननुगुणां स्थिर्ति पश्येत्, तां भङ्क्त्वापि स्वतन्त्रतया रसानुगुणं कथान्तरमुत्पादयेत्। ध्व० पृ० २१८, २१९

३. विभावभावानुभावसंचार्यौचित्यचारुणः।
विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्यवा॥
इतिवृत्तिवशायातां त्यक्त्वाननुगुणांस्थितिम्।
उत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयः॥ ध्व० ३—६६, ६७

४. शृङ्गारभङ्ग्यामहाकाव्ये। नै० १-१४५, शृङ्गारामृतशीतगौ— नै० ११-१३० इत्यादि।

५. तथाहि—महाकवीनामप्युत्तमदेवताविषयप्रसिद्धसम्भोगशृङ्गारनिबन्धनाद्यनौचित्यं शक्तितिरस्कृतं ग्राम्यत्वेन न प्रतिभासते यथा—कुमार-सम्भवे देवीसम्भोगवर्णनम्। इत्यादि। ध्व० तृतीय उद्योत, पृ० १९१

राजा का वर्णन करते तो वह चाटुकारिता ही होती, तथा उसे इतनी लोक-प्रसिद्धि भी न मिलती। अतः उन्होने एक ऐसे व्यक्ति का जीवन-चरित्र अपनाया जो सर्वथा एक नर था, जिसके मानवीय गुण देवो में भी स्पर्धा उत्पन्न करते थे, तथा जिसके नरत्व के सामने देवत्व भी याचक बना था।

इसके अतिरिक्त श्रीहर्ष के पूर्व नल-कथानक पर किसी ने ऐसा कोई महाकाव्य लिखा ही नही था जो साहित्य में आदृत हुआ हो। श्रीहर्ष को नलचरित सर्वथा अछूता मिला और उन्होने इस पर लेखनी चलाने का अच्छा अवसर समझा। 'कवियों द्वारा न देखे हुए मार्ग का पथिक'[1] तथा 'अतिशय नूतन रचना'[2] आदि उक्तियों से उनका यह भी एक अभिप्राय व्यक्त होता है, अस्तु।

पूर्वराग से प्रारम्भ

नैषध का प्रारम्भ युवा नल-दमयन्ती के पूर्व-राग से होता है। महाभारत मे नल-दमयन्ती ने एक दूसरे की प्रशसा लोगों से सुनी और उनका परस्पर अनुराग बढा।[3] किन्तु नैषध मे नल और दमयन्ती के यौवनागम के पश्चात् 'आदौ वाच्यः स्त्रिया रागः' के अनुसार दमयन्ती के हृदय में नल के प्रति अनुराग पहले जगता है, और वह भी दूतो, द्विजो, बन्दियो तथा चारणो के मुख से बहुश. सुनते रहने के कारण। नल के हृदय मे दमयन्ती के प्रति अनुराग बाद में तब उत्पन्न होता है जब उन्होने लोगो से उसके गुणो को सुना। अनुराग होने पर नल-दमयन्ती की प्रेम-दशाओं का वर्णन यहां अत्यन्त सक्षेप मे किया गया है। नल की इस समय की अवस्था का वर्णन श्रीहर्ष ने आगे चल कर हंस द्वारा दमयन्ती के सम्मुख करवाया है[4] वहा उससे विशेष प्रयोजन सिद्ध होता है। इसे कह कर हंस दमयन्ती के हृदय में नल के प्रति अङ्कुरित प्रेम को और अधिक दृढ़ करता है। यहा उसका वर्णन अपेक्षित न होता। हा, दमयन्ती की विरहावस्था का तो बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। सम्पूर्ण चतुर्थ सर्ग दमयन्ती के विरह की ही राम-कहानी है। इस पर यथास्थान विचार करेंगे।

---

१. कविकुलादृष्टाध्वपान्थे—नै० ८, १०९
२. काव्येतिनव्येकृतौ—नै० २१–१६३
३. तस्याः समीपे तु नलं प्रशशंसुः कुतूहलात्। नैषधस्य समीपे तु दमयन्तीं पुनः पुनः। तयोरदृष्टकामो भूच्छृण्वतोः सततं गुणान्। अन्योन्यं प्रति कौन्तेय स व्यवर्धत-हृच्छयः॥　　महा०, वन० प०, ५३-१६, १७
४. नै० ३—श्लोक १०० से ११६ तक।

था। राजा का हृदय उपवन विहार से और भी भारी हो रहा था। इस समय नल की प्रिया-विरहावस्था चल रही है। विप्रलम्भ की खिन्नता मे करुण का अवसाद (आलम्बन के भेद के साथ) और भी गम्भीरतर हो जाता है। प्रिय के वियोग से (चाहे वह पूर्वरागकृत ही क्यों न हो) जो दु ख होता है, उसमे कभी-कभी दया या करुणा का भी कुछ अश मिला रहता है। नैषध मे करुणाभाव की यह योजना उपयुक्त अवसर पर की गई है। इकलौते पुत्र की मृत्यु पर वृद्धा जननी की दशा, पति की मृत्यु पर नवप्रसूता तपस्विनी पत्नी की दशा, एव माता-पिता दोनो की मृत्यु पर नवजात अनाथ शिशुओ की दशा का ध्यान कर किस सहृदय का मन करुणार्द्र न हो जायगा? और एक पक्षी का जीवन तो वैसे ही कृपाश्रय होता है, फिर उसकी करुण कहानी कितनी हृदय-द्रावक होगी? मनुष्य के हृदय की यही विशेषता है कि उसमे केवल मनुष्य ही नही अपितु समस्त जड़ चेतन विश्व के लिए भावपूर्ण स्थान रहता है। चराचर मे कही भी प्रसन्नता देखकर यदि उसका मन आनन्द-मग्न हो उठता है, तो कही भी वेदना देखकर उसका भावुक हृदय रो भी उठता है। दु खी प्राणी जितना ही असहाय और असमर्थ होगा उतनी ही अधिक उसके प्रति हमारी करुणा होगी—इसे सहृदयो को बताने की आवश्यकता नही। संस्कृत-काव्य-साहित्य मे करुण-रस का चित्रण प्रायः शृङ्गार के प्रसङ्ग मे पति या पत्नी की मृत्यु पर करुण-विलाप के रूप मे हुआ है। रघुवश मे इन्दुमती-मृत्यु पर अजविलाप तथा कुमारसम्भव मे मदन-मृत्यु पर रति-विलाप उतने हृदयस्पर्शी नही हो पाए। क्योकि एक तो इन्दुमती तथा मदन की मृत्यु मे दिव्य शक्तियों का हाथ है तथा वह मृत्यु उनके पूर्वकृत अपराध का दण्ड है, इससे वे उतनी दुखद नही लगती। फिर वियुक्त मिथुन का भविष्य उतना अन्धकारमय नही दिखायी पडता। अश्व-घोष के बुद्ध-चरित्र मे भी कुमार सिद्धार्थ के गृहत्याग कर चले जाने पर यशोधरा तथा शुद्धोदन के विलाप में करुणा का चित्रण हुआ है। किन्तु वहां यह आशा भी हो सकती है कि कौन जाने कुमार कभी वापस ही आ जाय। अतएव वनो में उनका अन्वेषण भी कराया जाता है। अतएव यहा भी करुण नही के बराबर ही है।[1] किन्तु नैषध के इस करुण-चित्रण का स्वरूप ही भिन्न है।

नल के मन में हंस द्वारा दमयन्ती के सौन्दर्य की प्रतिष्ठापना

द्वितीय सर्ग मे हस ने नल से दमयन्ती के रूप की बड़ी प्रशंसा की। उसका नख-शिख-वर्णन किया। प्रायः सभी उपमान सुन्दरी के अङ्गों से हीन बताए गए।

---

१. अश्वघोषकृत बुद्धचरित, अष्टम सर्ग।

इस स्थान पर हंस द्वारा दमयन्ती-रूप-वर्णन का विशेष प्रयोजन है। नल के हृदय में दमयन्ती के रूप की प्रतिष्ठा करनी थी, उनके मन को सौन्दर्य-लुब्ध बनाना था। अतः यह आवश्यक था कि हस उसे नख से शिख तक अद्भुत सौन्दर्यमयी बताता। नैषध मे दमयन्ती के रूप का कई बार शिख-नख-वर्णन हुआ है। कभी-कभी वह नीरस आवृत्तिमात्र जान पड़ता है। कुछ विद्वानो ने इसे भी नैषध-काव्य का एक दोष माना है। वर्णन-शैली मे कवि की कल्पना का इतना प्राधान्य है कि अलङ्कारो की जगमगाहट में रूपमाधुरी विलुप्त हो जाती है। किन्तु रूपवर्णन के प्रत्येक प्रसङ्ग का पृथक् प्रयोजन है, और पृथक् शैली है। यहा का प्रयोजन दिखा दिया गया है। इसी प्रकार अन्य प्रसङ्गों को भी यथास्थान दिखाया जायगा। इसे आवृत्ति-दोष नही मानना चाहिए। इसी प्रकार कुमार-सम्भव मे पार्वती का रूप-वर्णन (प्रथम, तृतीय तथा सप्तम सर्गो मे) कई बार हुआ है। परन्तु उन स्थलो में न कही पुनरुक्ति है न कही नवीनता की कमी। वास्तव में एक ही वस्तु का वर्णन अवस्था, देश, काल आदि के भेद से भिन्न प्रतीत होता है और इस भिन्न-प्रतीति मे ही सौन्दर्य रहता है।[1]

हंस द्वारा दमयन्ती के सम्मुख अपनी महत्ता का परिचय

सम्पूर्ण तृतीय सर्ग हंस-दमयन्ती के सवाद से भरा हुआ है। कथानक बीज-रूप से महाभारत ही का है, परन्तु श्रीहर्ष की कल्पना ने उसे अत्यन्त स्वाभाविक तथा अभिनव रूप मे प्रस्तुत किया है। सर्वप्रथम तो हंस दमयन्ती को दूर एकान्त में ले जाता है, जहा सखियां शीघ्र विघ्न करने नही पहुंच सकती, क्योकि बाते बहुत और बहुत रहस्य की करनी थीं। वार्तालाप का प्रारम्भ कितने स्वाभाविक और कलापूर्ण ढंग से किया जाता है। थोडी झिडकी के साथ सुन्दरी के मन मे गुदगुदी-सी पैदा करता हुआ हंस कहता है—"मेरी आकाश मे भी गति है और तुम केवल पृथ्वी पर ही चल सकती हो—फिर सोचो तुम मुझे कैसे पकड सकती हो? सुन्दरि, मदन-मित्र यौवन आया पर तुम्हारा शैशव अब भी नही गया।"[2] यहां एक बात और ध्यान देने योग्य है कि हस जिस रूप मे नल से बातें (द्वितीय सर्ग में) करता है उसी रूप मे दमयन्ती से नही। नल के सामने तो वह उपकृत की भांति कृतज्ञता से दबा दिखाई पडता है। कहता है—"जगत्पति आपका मुझ पतङ्ग (पक्षी) द्वारा उपकार

---

१. अवस्था-देश-कालादि-विशेषैरपि जायते।
आनन्त्यमेव वाच्यस्य शुद्धस्यापिस्वभावतः॥ ध्व० ४–१११

२. धार्यः कथंकारमहं भवत्या वियद्विहारी वसुधैकगत्या।
अहो शिशुत्वं तव खंडितं न स्मरस्य सख्या वयसाप्यनेन॥ नै० ३-१५

ही क्या हो सकता है।"[१] अपने को किस दीनता के साथ पतङ्ग और राजा को जगत्पति कहता है। इन पतङ्ग और जगत्पति शब्दो में कितनी उत्कृष्ट ध्वनि है ? किन्तु दमयन्ती के मन मे वैलक्ष्य एवं विस्मय उत्पन्न करता हुआ हस सर्वप्रथम अपनी महत्ता का परिचय देता है। "हम कमलासन विधि के वाहन हसवंश के सहायक पक्षी है। हम ऐसों के चाटुप्रिय वचनो का रसामृत स्वर्ग-निवासियो से इतर लोगों के लिए सुलभ नही।[२]" महाभारत मे तो हंस ने दमयन्ती से कहा है—"दमयन्ति ! निषध देश मे नल नामक एक राजा है।" इत्यादि।[३] किन्तु यहा दमयन्ती के सामने नल-प्रसङ्ग की अवतारणा अत्यन्त स्वाभाविक ढग से की गई है। हंस कहता है "विधि की आज्ञा से हम स्वर्णिम-हंस नैषधीय क्रीडा-सरोवर का आनन्द लेने आए हुए थे। मै भू-लोक देखने के लिए भी उत्सुक था, अत. अकेला ही इधर आ निकला।[४] मुझ दिव्य पक्षी को बांधने में पाश आदि कोई उपकरण समर्थ नही हो सकते। हां, स्वर्ग-सुलभ भोगों वाला केवल नल का भाग्य ही मुझे बांधने में समर्थ हो सकता है।"[५] एक ऐसे दिव्य पक्षी के मुख से, जो विधि-वाहन पदक अधिकारी हो, किसी ऐसे राजा की प्रशंसा, जिसका चरित्र पूर्वश्रुत भी हो, एक मुग्धा को क्यों न आकर्षित करेगी ? हसने नल के रूप तथा ऐश्वर्य का गान किया। प्रथम सर्ग मे नल के रूप तथा गुण का वैसा वर्णन नहीं किया गया था। उसे इस अवसर के लिए छोड दिया गया था। यहां उससे एक प्रयोजन विशेष सिद्ध होता है, वह है दमयन्ती के मन को नल की ओर आकर्षित करना। वार्तालाप का क्रम अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से चलता है।[६] हस दमयन्ती को सर्वथा नल के योग्य बताता है। महाभारत में हंस ने कही अपने को दिव्य पक्षी नही बताया है। किन्तु यहां दमयन्ती के सम्मुख वह केवल दिव्य ही होने का दावा नहीं करता, अपितु साक्षात् विधि से अपना सामीप्य भी

---

१. पतङ्गेन मया जगत्पतेरुपकृत्यै तदकिं प्रभूयते॥ नै० २-१३

२. सहस्रपत्रासनपत्रहंसवंशस्य पत्राणि पतत्रिणः स्मः।
अस्मादृशां चाटुरसामृतानि स्वर्लोकलोकेतरदुर्लभानि॥ नै० ३-१६

३. मानुषींगिरं कृत्वा दमयन्तीमथाब्रवीत्।
दमयन्ति नलोनाम निषधेषु महीपतिः॥ म० भा०, व० प० ५३-२६, २७

४. धातुर्नियोगादिह नैषधीयं लीलासरः सेवितुमागतेषु।
हेमेषु हंसेष्वहमेक एव भ्रमामि भूलोकविलोकनोत्कः॥ नै० ३-१८

५. बन्धाय दिव्ये न तिरश्चि कश्चित् पाशादिरासादितपौरुषः स्यात्।
एकं विना मादृशि तन्नरस्य स्वर्भोगभाग्यं विरलोदयस्य॥ नै० ३-२०

६. नै० ३—२० से ५१

स्थापित करता है। इस विधि-सम्बन्ध के बल पर उसे अपने प्रयोजन की सिद्धि में बड़ी सुगमता पड़ती है। वह दमयन्ती से यह भी कह सकता है कि नल दमयन्ती का संयोग विधाता को भी अभीष्ट है। क्योकि "एक वार विधि-विमान-वहन करते हुए मैंने ब्रह्मा से नल के योग्य वधू को जानने की जिज्ञासा की थी। उस समय तुम्हारे (दमयन्ती) नाम के-से कुछ अक्षर मेरे कानो मे पड़े थे।"[1] और आगे चल कर हंस अपने को दमयन्ती के सारे अभीष्टो के साधने में पूर्ण समर्थ भी बताता है।[2] अतः नल को दमयन्ती से मिलाने मे भी वह हर प्रकार से क्षम ही है। फिर नल से उसका परिचय (सामीप्य) भी इतना प्रगाढ है कि उनके आनन्द-विलास के समय वह अपने मन्दाकिनी-सीकर-शीतल पंखो से उन्हे शीतल पवन का सुख देता है।[3] अन्त मे जब उसे नल के प्रति दमयन्ती के दृढ़ अनुराग पर पूर्ण विश्वास हो जाता है,[4] तव कही नल के अनुराग को प्रकाशित करता है।[5] और तभी दमयन्ती के प्रति नल का प्रेम कितना दृढ हो चुका है इस रहस्य को खोलता है।[6] जिसकी प्राप्ति के लिए प्रेमी का हृदय अहर्निश तडफड़ा रहा है, यदि कही यह ज्ञात हो जाय कि वह प्रिय भी उसके लिए उसी प्रकार बेचैन है, तो प्रेमी के प्रेम की क्या दशा होगी ? हंस अपने वार्तालाप-कौशल से नल-दमयन्ती दोनो के पूर्वराग को मञ्जिष्ठा-राग की दशा तक पहुंचा देता है। हस के चल देने पर श्रीहर्ष ने दमयन्ती की जो एक झांकी दी है उसी से उसकी समस्त मनोदशा का विवरण मिल जाता है। "दमयन्ती की आँखें नल के प्रिय सुहृत् हंस के पीछे जा रही थी, पर वाष्पवारि उनके लिए अवधि (सीमा) रूप हो गया। अतः समीप उड़ता हुआ भी हंस दमयन्ती की

---

१. विधिंवधूसृष्टिमपृच्छमेव तद्यानयुग्योनलकेलियोग्याम्।
त्वन्नामवर्णाइव कर्णपीता मयास्य संक्रीडति चक्रिचक्रे॥ नै० ३—५०

२. पर्यङ्कतापन्नसरस्वदङ्कां लङ्कापुरीमप्यभिलाषि चित्तम्।
कुत्रापि चेद्वस्तुनि ते प्रयाति तदप्यवे हिस्वशये शयालु॥ नै० ३–६६

३. सुवर्णशैलादवतीर्यतूर्णं स्वर्वाहिनीवारिकणावकीर्णैः।
तं वीजयामः स्मरकेलिकाले पक्षैर्नृपं चामरबद्धसख्यैः॥ नै० ३–२२

४. नै० ३—७५-९६

५. इदं यदि क्ष्मापतिपुत्रि तत्त्वं पश्यामितन्नस्वविधेयमस्मिन्।
त्वामुच्चकैस्तापयता नृपं च पञ्चेषुणैवाजनियोजने यम्॥ नै० ३–१००

६. नै० ३—१००-११५

आंखों से ओझल हो गया। किन्तु इसकी चित्तवृत्ति से तो दूर होकर भी ओझल न हुआ।"[१]

काव्य में स्त्रियों की ही विरह-दशा का अधिक वर्णन

पूरे चतुर्थ सर्ग मे दमयन्ती की विरहावस्था का वर्णन है। महाभारत मे भी हंस के चले जाने पर दमयन्ती की विरहदशा का कुछ विस्तार के साथ वर्णन किया गया है।[२] श्रीहर्ष ने उसके आधार पर एक सौ बाईस श्लोको का एक पूरा सर्ग ही रच डाला। महाभारत में यह विवरण न होता तो भी श्रीहर्ष दमयन्ती की विरह-दशा का इतने विस्तार के साथ वर्णन अवश्य करते। साहित्य मे विरह की असह्य वेदना स्त्रियो के ही मत्थे अधिक मढ़ी जाती है। नायक के दिन-दिन क्षीण होने, विरह-ताप में भस्म होने आदि के वर्णन मे कवियो का जी उतना अधिक नही लगता है। बात यह है कि स्त्रियों की श्रृङगार-चेष्टा के वर्णन मे पुरुषो को जो आनन्द आता है, वह पुरुषों की दशा वर्णन करने मे नही, तथापि नायक की दशा की एकान्त उपेक्षा भी नही की गई है। कालिदास ने दुष्यन्त के ही मुख से चन्द्र और मदन दोनों को कामिजनों के साथ धोखेबाजी करने का उपालम्भ दिलाया है—मदन को तो कुसुम-बाणो को वज्र-सा कठिन करने के लिए तथा चन्द्रमा को शीतल किरणों से अग्नि बरसाने के लिए[३]।

प्रेम की विकलता

"प्रेम ही एक ऐसा भाव है जिसकी व्यञ्जना हसकर भी की जाती है और रोकर

---

१. तस्या दृशौ नृपतिबन्धुमनुव्रजन्त्यास्तंबाष्पवारि न चिरादवधीबभूव।
पार्श्वेपिविप्रचकृषे यदनेन दृष्टेरारादपि व्यवदधे न तु चित्तवृत्तेः॥
नै० ३-१३१

२. दमयन्तीतुतच्छ्रुत्वा वचो हंसस्य भारत। ततः प्रभृतिन स्वस्था नलं प्रति बभूव स॥
ततश्चिन्तापरा दीना विवर्णवदना कृशा। बभूव दमयन्ती तु निःश्वासपरमातदा॥
ऊर्ध्वदृष्टिर्ध्यानपराबभूवोन्मत्तदर्शना। पाण्डुवर्णक्षणेवाथहृच्छयाविष्टचेतना॥
न शाय्यासनभोगेषु रतिं विन्दति कर्हिचित्।
न नक्तं न दिवाशेते हाहेति रुदती पुनः॥ महा० व० प० ५४—१-४

३. भगवन् कुसुमायुधत्वयाचन्द्रमसा चविश्वसनीयाभ्यामतिसंधीयते कामिजनसार्थः।
कुतः तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दोर्द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु।
विसृजतिहिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखैस्त्वमपि कुसुमबाणान् वज्रसारी करोषि॥
शा० अंक—३-३

भी, जिसके व्यञ्जक दीर्घनिश्वास और अश्रु भी होते हैं तथा हर्ष-पुलक और उछल-कूद भी। इसके विस्तृत शासन के भीतर आनन्दात्मक और दुःखात्मक दोनो प्रकार के मनोविकार आ जाते है।"[1] "एक ओर तो प्रिय के आनन्द का मेल हो जाने से प्रेमी संसार की नाना वस्तुओ मे कई गुने अधिक आनन्द का अनुभव करने लगता है, दूसरी ओर प्रिय के अभाव मे उन्ही वस्तुओ मे उसके लिए आनन्द बहुत कम या कुछ भी नही रह जाता है। वियोग की दशा मे तो वे वस्तुएं उलटा दुःख देने लगती है। होते-होते यहां तक होता है कि प्रेमी के लिए प्रिय के आनन्द से अलग आनन्द रह ही नही जाता। प्रिय के आनन्द में ही वह अपना आनन्द ढूंढा करता है। दो हृदयो की यह अभिन्नता अखिल जीवन की एकता के अनुभव-पथ का द्वार है। प्रेम का यह रहस्यपूर्ण महत्त्व है।"[2] चन्द्र, मदन दोनो इसी प्रकार के उद्दीपन है, जो आलम्बन के रहने पर आनन्दप्रद तथा न रहने पर क्लेशप्रद होते है। प्रथम सर्ग मे दमयन्ती के हृदय मे नल के प्रति अनुराग अङ्कुरित होता है। तृतीय मे उस अनुरागजन्य विकलता का कुछ विस्तार के साथ प्रदर्शन होता है, जैसे—दमयन्ती स्वयं हंस से कहती है—"मैंने उन्हे लोगो से सुना, उन्मादवश उन्हें चारो ओर देखा तथा एकाग्रचित्त से उनका ध्यान किया। अब या तो उनकी मुझे प्राप्ति या मेरे प्राणो का नाश, दो में से एक होना है—और हंस वह तुम्हारे ही हाथ है।"[3] इत्यादि। फिर चतुर्थ मे उस वेदना का पूरा चित्रण होता है। पूर्वराग-जन्य विकलता प्राय. दस प्रकार की होती है जिसे आचार्यों ने क्रमशः परिलक्षित होने वाली काम-दशाए कहा है।[4] चतुर्थ सर्ग मे प्रायः सभी अवस्थाओं का चित्रण हुआ है। अन्त मे सखियो के साथ "अर्द्ध-समस्या" रूप में किया गया वार्तालाप यद्यपि कुछ अस्वाभाविक-सा प्रतीत होता है, किन्तु वह 'प्रलाप' का ही एक रूप कहा जायगा। और इसी वार्तालाप की मृतिकल्पदशा मे दमयन्ती को अपने हृदय मे अनल भाव[5] (नल का

---

१. रामचन्द्र शुक्ल कृत 'चिन्तामणि' पृ० ९६।

२. चिन्तामणि, पृ० ८८।

३. श्रुतः स दृष्टश्च हरित्सु मोहाद्ध्यातः स नीरन्ध्रितबुद्धिधारम्।
ममाद्य तत्प्राप्तिरसुव्ययो वा हस्ते तवास्ते द्वयमेकशेषः॥ नै० ३-८२

४. दशावस्थःसतत्रादावभिलाषोऽथचिन्तनम्।
स्मृतिर्गुणकथोद्वेगप्रलापोन्मादसंज्वराः॥
जडता मरणं चेति दुःखस्थं यथोत्तरम्। द० रू० ४—५१, ५२

५. स्फुटति हारमणौमदनोष्मणा हृदयमप्यनलंकृतमद्य ते।
सखि हतास्मि तदा यदि हृद्यपि प्रियतमः स मम व्यवधापितः॥ नै० ४-१०९

अभाव) जानकर मूर्च्छा भी होती है, जो[1] अत्यन्त स्वाभाविक समझ पडती है। उसी के कारण उत्पन्न कोलाहल को सुनकर राजा भीम भी अन्त पुर मे आ जाते है, और कन्या की अवस्था को देखकर स्वयवर-समारोह के लिए शीघ्रता करते हैं। महाभारत मे भी सखियो से सूचना पाकर राजा को स्वयवर की चिता होती है—किन्तु नैषध में उसकी दशा की सूचना अन्त.पुर का अधिकारी (मन्त्रि-प्रवर) और वैद्य (अगदङ्कार) देते है, और राजा स्वय कन्या की दशा प्रत्यक्ष देखते है।[2] अतः स्वयंवर के लिए और अधिक शीघ्रता होती है।[3]

नल का अदृश्य रूप से अन्तःपुर में प्रवेश

पाचवे सर्ग का कथानक नल-इन्द्र-संवाद आदि प्रायः महाभारत का ही जैसा है, किन्तु छठा सर्ग सम्पूर्ण रूप से श्रीहर्ष की नूतन कल्पना है। नैषध-कथानक मे इस सर्ग का सब से अधिक महत्त्व है। अन्तःपुर मे अदृश्य रूप से प्रवेश करते समय नल की मानसिक अवस्था का चित्रण कितना स्वाभाविक हुआ है—"नल के हृदय में द्वार पर शस्त्र-सन्नद्ध रक्षको के प्रति अवज्ञा हुई। (चोर की भाति) छिप कर चल रहा हूं।" यह सोचकर लज्जा आई। "दमयन्ती को देखूगा। अतः कुछ सन्तोष हुआ। पर अपने को दूत सोचकर दु ख हो या[4]।"—भाव शबलता का यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है। और फिर "कौन है?" [Who comes there ?]इस प्रकार किसी अन्य को रोकते हुए दौवारिको का उद्-घोष सुनकर वह राजसिंह ग्रीवाभङ्गी के साथ आश्चर्यस्तिमित नेत्रो से पीछे लङ्घित द्वार की ओर फिर कर देख लेता था।[5] फिर अन्त.पुर का निभृतचित्रण किया गया, जिससे कथानक मे अत्यन्त सजीवता आ गयी है, और ऐसे अन्तःपुर में अदृश्यरूप में पहुंचकर भी नल के मन में जो किसी प्रकार विकार नही होता, वही नलचरित्र की उदात्तता का सब से बडा प्रमाण होता है। अन्तःपुर के विस्तृत विवरण का यही मुख्य प्रयोजन है, जिसमें प्रवन्ध-कल्पना की उत्कृष्ट कला निहित है। विकार-हेतु

---

१. इदमुदीर्य तदैव मुमूर्छ सा मनसि मूर्च्छितमन्मथपावका। नै० ४–११०

२. द्रुतविगमितविप्रयोगचिह्नामपि तनयां नृपतिः पदप्रणभ्राम्।
अकलयदसमाशुगाधिमग्नाम्... नै० ४–११८

३. कतिपयदिवसैर्वयस्यया वः स्वयमभिलष्य वरिष्यते वरीयान्। नै० ४–१२१

४. हेलां दधौ रक्षिजनैऽस्त्रसज्जै लीनश्चरामीतिहृदा ललज्जे।
द्रक्ष्यामि भैमीमितिसंतुतोष दूतंविचिन्त्यस्वमसौशुशोच॥ नै० ६–१०

५. अयं क इत्यन्यनिवारकाणां गिराविभुर्द्वारि विभुज्य कण्ठम्।
दृशं ददौ विस्मयनिस्तरङ्गां स लङ्घितायामपि राजसिंहः॥ नै० ६–१२

के उपस्थित होने पर भी जिसके मन मे कोई विकार नही होता, वही धीर है।[1] रावण के अन्त पुर मे रात्रि के समय सीता को खोजते हुए हनुमान् को भी विलास-रत सुन्दरिया दिखायी पड़ी थी। किन्तु उनके मन मे विकार नही हुआ था[2]। अन्त.पुर की सुन्दरियों की विश्वस्त चेष्टाओ को देखकर नल की मनोदशा के कुछ चित्र उद्धृत किए जाते है—कही अन्त.पुर मे किसी रमणी की आलिङ्गनार्थ खुली जाघों को देखकर नल ने आखे वन्द कर ली, जिससे उधर से आती हुई अलक्षित रमणी से टकरा गए। राजा चौक पडे।[3] उस समय अन्त.पुर की तरुणियो के सविभ्रम नृत्य, गीत आदि गुणो से सम्पन्न अपना विस्तृत जाल फैलाकर भी मदन नल के सुन्दर श्याम नयन-हरिणो को बाधने मे समर्थ न हुआ।[4] और कही नल ने केश-बन्धन से व्यस्त किसी तरुणी के बाहुमूल को देखकर आखे कुछ झुका ली, फिर अनुलेपन करती हुई उसी सुन्दरी के स्तनों को देख कर आँखे और नीची कर ली, और अन्त मे नीवी-बन्धन ढीला करने वाली उसी की नाभि को देखकर ऊपर से क्रमश. नीचे आती हुई आँखों को एकदम वन्द कर लिया।[5] इसी

---

१. विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः। कु० सं० १–५९

२. निरीक्षमाणश्चततस्ताः स्त्रियः स महाकपिः।
जगाम महतीं शंङ्कां धर्मसाध्वसशंङ्कितः॥
परदारावरोधस्य प्रसुप्तस्य निरीक्षणम्।
इदं खलुममात्यर्थं धर्मलोपं करिष्यति॥
न हि मे परदाराणां दृष्टिर्विषयवर्तिनी।
अयं चात्रमया दृष्टः परदारपरिग्रहः॥
कामं दृष्टा मया सर्वा विश्वास्ता रावणस्त्रियः।
न तु मे मनसः किंचिद्वैकृत्यमुपपद्यते॥
मनोहि हेतुः सर्वेषामिन्द्रियाणां प्रवर्तने।
शुभाशुभास्ववस्थासु तच्च मे सुव्यवस्थितम्॥
वा० रा० सु० का० ११–३९, से ४३

३. अन्तःपुरान्तः स विलोक्य बालां कांचित् समालब्धुमसंवृतोरुम्।
निमीलिताक्षः परया भ्रमान्त्या संघट्टमासाद्य चमच्चकार॥ नै० ६–१३

४. अन्तःपुरे विस्तृतवागुरोऽपि बालावलीनां वलितैर्गुणौघैः।
न कालसारं हरिणं तदक्षिद्वयं प्रभुर्बद्धमभून्मनोभूः॥ नै० ६–१९

५. दोर्मूलमालोक्य कचंरुरुत्सो स्ततः कुचौ तावनुलेपयन्त्याः।
नाभी मथैषश्लथवाससोऽनुमिमील दिक्षुक्रमकृष्टचक्षुः॥ नै० ६–२०

प्रकार आँखे बन्द करने पर यह संघर्ष (टक्कर) तथा आँखे खोलने पर या इन्द्रिय-संयम-दोष दोनों प्रकार से नल की कदर्थना हो रही थी। अत नल उन्हे कटाक्षों से देखते हुए जाने लगे। किन्तु कटाक्ष-विलोकन मे अनुराग का भाव निहित रहता है, यह सोचकर वे अत्यन्त लज्जित हो रहे थे। सत्पुरुषो को अन्य की अपेक्षा स्वयं अपने से अधिक लज्जा होती है।[१] यहा तक कि कोई सुन्दरी वेग के साथ उधर से निकली। नल से उसका संघट्टन हो गया। राजा के आभूषण-हीरक की कोटि (नोक) मे सुन्दरी का दुकूल उलझ गया, जिससे उसके वेग से आगे बढ़ने पर, उसका नितम्ब दिगम्बर हो गया। नल को अपने इस पाप का बड़ा पश्चात्ताप हुआ।[२]

अन्तःपुर में नल-दमयन्ती के वास्तविक मिलन का उद्देश्य

वही घमते हुए भ्रान्तिवश उद्विग्न नल और दमयन्ती का वास्तविक सयोग हो जाता है। इस प्रकार उन्माद मे आलिङ्गन आदि सत्य मिलन करा कर श्रीहर्ष ने कई प्रयोजन सिद्ध किए है। प्रथम तो उनकी विरहजन्य उन्माद अवस्था की पराकाष्ठा का सुन्दर चित्रण हो जाता है, दूसरे दमयन्ती द्वारा भ्रान्ति मे डाली गयी माला का सत्य नल के गले में पडने से दमयन्ती नल की परिणीतप्राया पत्नी हो जाती है, जिसके बल पर सरस्वती चौदहवे सर्ग मे देवों से कह सकती हैं—"ब्रह्मा ने दमयन्ती का स्वयंवर तो पहले ही कर दिया है, और नल से इसका आलिङ्गन भी हो चुका है। तो अब क्या शेष बचा, जिसको न होने देने के लिए आप लोगो का प्रयास चल रहा है?"[३] और इस प्रकार दमयन्ती न कन्या रही न नल के लिए परकीया। अतः सातवें सर्ग में उसका विस्तृत नख-शिख वर्णन भी कर सके—अन्यथा नल के चरित्र मे परदारावलोकन बड़ा भारी कलङ्क होता।

दमयन्ती का देवदूतियों को उत्तर

छठें सर्ग के अन्त में देवों द्वारा भेजी गई दूतियों के साथ दमयन्ती के वार्तालाप की भी कल्पना की गई है। स्वाभाविकता के साथ (क्योंकि दूती द्वारा नायिका को मिलाने का प्रयत्न स्वाभाविक ही होता है) इससे जो सब से बडा प्रयोजन सिद्ध

---

१. निमीलमस्पष्टविलोकनाभ्यां कदर्थितस्ताः कलयन्कटाक्षैः।
स रागदर्शीव भृशंललज्जे स्वतः सतांह्रीः परतोऽपि गुर्वी॥　　नै० ६–२२

२. संघट्टयन्त्या स्तरसात्मभूषाहीराङ्कुरप्रोतदुकूलहारी।
दिशा नितम्बं परिधाप्य तस्यास्तत्पापसन्तापमवाप भूपः॥　　नै० ६–२८

३. भैम्यास्रजः सञ्जनयापथि प्राक्स्वयंवरं सञ्जनयाम्बभूव।
सम्भोगमालिङ्गनयास्य वेधाः शेषं तु कं हन्तुमियद्यतध्वे॥　　नै० १४–४४

होता है वह यह कि नल को इस प्रकार प्रच्छन्न रूप मे अपन प्रनि दमयन्ती के दृढ़ अनुराग का सच्चा प्रमाण प्रत्यक्ष देखने को मिल जाता है। इन्द्रदूती को दमयन्ती ने जिस प्रकार उत्तर दिया[1] उससे बढ़कर उसके सतीत्व एवं नल-प्रेम की पराकाष्ठा का कोई अन्य प्रदर्शन हो ही नही सकता था। चतुर दूती (दूत नही) पूर्णयुक्ति के साथ समझाए, सखिया समर्थन करे—स्वर्गसाम्राज्य का प्रलोभन हो, फिर भी जो न डिगे वही तो सच्चा प्रेम है।[2] उस समय यह सव सुनते हुए नल के मन मे जो प्रतिक्रिया हो रही थी श्रीहर्ष उसे भी ताड़ रहे थे। "मुझे न तो दमयन्ती मिली और न मैंने दूत-कार्य ही किया इस प्रकार नल अत्यन्त चिन्ता मे मग्न थे। उस समय उनका हृदय-कमल जो छिन्न-भिन्न न हुआ वह इसलिए कि वे दमयन्ती के मुखचन्द्र को देख रहे थे।"[3] और इस प्रकार न्द्रदूती को फिर से कुछ कह का अवसर ही न रहा। अत. वह वहां से उठ चली। तब नल के चञ्चल हृदय मे फिर से प्राण आया, जैसे नशा से मतवाले पुरुष मे नशा उतरने पर चेतना आती है।[4] सर्ग के अन्त मे स्वयं श्रीहर्ष ने भी इस सारी कल्पना का प्रयोजन कह दिया है—"निषधराज ने दिक्पाल इन्द्र की कृपा से प्राप्त इस प्रकार की अदृश्य शक्ति के कारण अपने ही कर्णपुटो से अपने प्रति दमयन्ती के उन अनुराग-वचनो से सजात आनन्दामृत का छककर पान किया।"[5]

सप्तम सर्ग में दमयन्ती के रूप-वर्णन का उद्देश्य तथा वैशिष्ट्य

सप्तम सर्ग में दमयन्ती का शिख-नख वर्णन है।[6] समालोचकों ने इस सर्ग के प्रति वड़ा आक्षेप किया है। श्री सुशीलकुमार दे महोदय ने लिखा है कि "श्रीहर्ष यह प्रदर्शित करने के लिए सावधान रहते हैं कि शुष्कशास्त्रीयज्ञान के कारण वे

---

१. नै० ६—९१-१००।
२. नै० ६—७७-८५।
३. मैमीं न दूत्यं च न किंचिदापमितिस्वयं भावयतोनलस्य।
आलोकमात्राद्यदि तन्मुखेन्दोरभून्नभिन्नं हृदयारविन्दम्॥ नै० ६–८९
४. इत्थं पुनर्वागवकाशनाशान्महेन्द्रदूत्यामपयातवत्याम्।
विवेश लोलं हृदयं नलस्य जीवः पुनः क्षीबमिवप्रबोधः॥ नै० ६–१११
५. श्रवणपुटयुगेनस्वेन साधूपनीतं दिगधिपकृपयाप्तादीदृशः संविधानात्।
अलभत मधुबालारागवागुत्थमित्थं निषधजनपदेन्द्रः पातुमानन्दसान्द्रम्॥
नै० ६–११२
६. इति स चिकुरादारभ्यनखावधिवर्णयन। नै० ७–१०९

शृङ्गारविलासों के सूक्ष्म विवेचन मे किसी प्रकार असमर्थ नही है। उदाहरणार्थ, सौ से अधिक श्लोको का समस्त सप्तम सर्ग—जो 'चिकुर' से लेकर 'नखावधि' दमयन्ती के सौन्दर्य का सूक्ष्म एवं वासना-जन्य विवरण मात्र है—कथानक की गति को एकदम अवरुद्ध कर देता है, उसमे भी शिष्टाभिरुचि-हीनता का सबसे वडा द्योतक यह है कि यह समग्र वर्णन स्वयं नल द्वारा किया जाता है, जो उसे अदृश्य दूरी से ही देखते है। कवि शृङ्गार (विलास) वर्णन के अवसर को कभी नही छोड़ता है। कुछ श्लोकों की व्यक्त सरसता श्रीहर्ष के कामशास्त्र संबन्धी ज्ञान का उदाहरण हो सकती है, किन्तु भाषा के अनेकार्थात्मक वैशिष्ट्य के होते हुए भी तमाम श्लोक अनेक स्थलों पर अत्यन्त असुन्दर है।"[१] दमयन्ती नल के प्रेम का एकमात्र आलम्बन थी—वह नल की 'प्राणायिता' थी।[२] दमयन्ती के प्रति नल का प्रेम कैसा था इसे हंस के वर्णन द्वारा जाना जा सकता है। स्वयं नल उसे अपने जीवित एवं ऐश्वर्य से कही अधिक गरीयसी समझते थे।[३] उसके हित-सम्पादन मे अपने प्राणो को भी दे सकते थे।[४] दमयन्ती को पाने पर उससे मिलने, बाते करने, देखने आदि के विषय में चिरकाल से नल के हृदय मे तरह-तरह के मनोरथों की परम्परा बना करती थी।[५] दमयन्ती के जिस त्रैलोक्य-सुन्दर रूप को लोगों से बहुशः सुना था, फिर जिसे हंस ने उनके हृदय में साङ्गोपाङ्ग चित्रित ही कर दिया था, उसके प्रत्यङ्ग सौन्दर्य को देखने की नल के हृदय में कितनी उत्कण्ठा होगी इसे शब्दों द्वारा नही कहा जा सकता। नल की आखे तो दमयन्ती के प्रत्यङ्ग रूप-माधुर्य को पी जाना चाहती होंगी। नल के नेत्रो के लिए तो दमयन्ती का प्रत्येक अङ्ग आनन्दामृत का सागर ही था, जिसमे वे सदा डूबे ही रहना चाहते थे।[६] उस आनन्द मे वे सब कुछ भूल चुके थे। श्रीहर्ष ने नल के उस क्षण के आनन्दोद्रेक की समता ब्रह्मानन्द से की है।[७] फिर वे किसी

---

१. डा० दे का 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास', प्रथम भाग, पृ० ३२८-कलकत्ता यूनिवर्सिटी, १९४७।
२. नै० ३—१०५।
३. जीवितादपि धनादपिगुर्वी। नै० ५–८२
४. हितं यदि स्यान्मदसुव्ययेन ते तदा तव प्रेमणि शुद्धिलब्धये। नै० ९–१३५
५. अथप्रियासादनशीलनादौ मनोरथः पल्लवितश्चिरं यः॥ नै० ७–१
६. प्रतिप्रतीकं प्रथमं प्रियायामथान्तरानन्दसुधासमुद्रे।
ततः प्रमोदाश्रुपरम्परायांममज्जतुस्तस्यदृशौनृपस्य॥ नै० ७–२
७. ब्रह्माद्वयस्यान्वभवत्प्रमोदं रोमाग्रएवाग्रनिरीक्षितेऽस्याः।
यथौचितीत्थंतदशेषदृष्टावथस्मराद्वैत मुदं तयासौ॥ नै० ७– ३

अङ्ग को अनदेखा कैसे छोड़ सकते थे। सम्पूर्ण सप्तमसर्ग दमयन्ती के प्रत्यङ्ग के प्रति नल की भावनाओ का समग्र चित्रण मात्र है।[1] नल अकेले थे—बिलकुल अकेले। उन्हें कोई देख भी नही सकता था। दमयन्ती उनकी अपनी थी—हंस ने ऐसा ही कहा था। दमयन्ती ने स्वयं माला पहनाई थी। अभी आज निशान्त के समय स्वप्न मे भी तो संयोग हुआ था।[2] इन्द्रदूती के सामने भी यही देखा था। अत उन्हें सुन्दरी के प्रत्येक अङ्ग के भर पेट वर्णन का तथा उसे अपनी प्रिया कहने का अधिकार था। द्वितीय सर्ग मे हस के मुख से जो रूप-वर्णन हुआ है वह इतना विस्तृत नही है, क्योकि उससे अधिक रूप-निरीक्षण का वह अधिकारी नही था। दशम सर्ग में स्वयंवर-सभा मे दमयन्ती के अवतरित होने पर उसके आभूपणोद्दीपित रूप का वर्णन राजाओं ने किया है—किन्तु उस समय राजाओ के नेत्र सुन्दरी के अलकारो की ही चकाचौंध मे पड गये। यह अवसरोचित ही था। विभूपित हुए विना वह आ ही कैसे सकती थी? वहा भी राजाओ ने उसके सौन्दर्य को जिस रूप मे ग्रहण किया उसका अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण हुआ है (इस पर विशेष यथासमय लिखा जायगा)। राजाओं को इससे अधिक रूप देखने का न अवकाश था न अधिकार ही। अतः जहां कहीं दमयन्ती के रूपवर्णन का प्रसङ्ग आया है वहा हमे यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि वह वर्णन किसके द्वारा किस प्रसङ्ग मे किया गया है। दमयन्ती का रूप अत्यन्त रमणीय था, 'और जो प्रतिक्षण नवीन प्रतीत हो, सुन्दरता का वही स्वरूप है',[3] के अनुसार जो ही रमणीय रूप को देखता है वही कुछ न कुछ प्रशसा में कह ही देता है, क्योंकि यदि अद्भुत गुण को देखकर मौन ही रहा जाय (उसकी प्रशसा न की जाय) तो वाणी पाना ही व्यर्थ है।[4] अतएव नैपध मे रूप का वर्णन कई बार हुआ भी है। मदनोद्दीपन का हेतु शृङ्गार रस माना गया है।[5] अतः नैषध के शृङ्गार की आलम्बन-भूत वैदर्भी का वर्णन जितना ही सुन्दर होगा वह रस के परिपाक मे उतना ही अधिक उपयोगी होगा। इस दीर्घ वर्णन मे कथानक की गति अवरुद्ध अवश्य हो जाती है, किन्तु नल उस चिरवाञ्छित रूप को सामने पाकर कैसे भर-आँख न देखते? फिर काव्य में तो कथानक से अधिक भावचित्रण का महत्त्व होता है, यह रूप-प्रशसा नल का हर्ष भाव ही तो है। इस सर्ग के विस्तार

---

१. नै० ७–९

२. सम्भुज्यमानाद्यमयानिशान्ते स्वप्नेनुभूतामधुराधरेयम्॥ नै:० ७–४२ ४।

३. क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः। शिशुपालवध ४।१७

४. वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं गुणाद्भुते वस्तुनि मौनिता चेत्॥ नै० ८।३२

५. शृङ्गंहि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः॥ सा० द० ३।१८३

का एक मुख्य हेतु यह भी है कि इनना अदभुत रूप तथा गुण, जिसे अपनी आँखो से देखकर नल का मन आश्चर्य सागर मे गोता लगा रहा था, नल को अपने कर्तव्य पथ से विमुख न कर सका। बल्कि वे तुरन्त प्रत्यक्ष हो कर अत्यन्त अनासक्त भाव से देवों के लिए दमयन्ती को हर प्रकार से समझाने लगते है। यह भाव-विरोध भी इस सर्ग के विस्तार का एक प्रयोजन है। नल-चरित्र की महत्ता ही इस सर्ग की ध्वनि है। श्रीहर्ष अनेक शास्त्रो के पारङ्गत विद्वान् थे, किन्तु इससे उनकी सहृदयता मे किसी प्रकार बट्टा नही लगने पाया है, अपितु शास्त्र-समृद्ध-बुद्धि का योग पाने से हृदय की सच्ची अनुभूतियां और भी निखर उठी है, तथा उनका विवरण और अधिक परिष्कृत एव सुसंगत हो जाता है। और फिर, उस युग की धारा ही ऐसी थी कि काव्य मे कवि का शास्त्र-ज्ञान अवश्य झलक पड़ना चाहिए। अत हमे उनकी शास्त्रज्ञता से चिढना उचित नही। अवश्य इन शिख-नख वर्णन मे बहुत कुछ परम्परा का निर्वाह भी है। आचार्यो ने वर्ण्य-विषय की सूची देते समय देवी (रानी) का वर्णन करने के लिए कुछ मुख्य वस्तुओ की अनुक्रमणिका मे वेणी, धम्मिल्ल (केश), सीमन्त, भाल, श्रवण, नासिका, कपोल, अधर, नेत्र, भ्रू, कटाक्ष, दशन, उक्ति (वचन), कण्ठ, बाहु, कर, उरोज, नाभि, मध्य, त्रिवली, रोमालि, नितम्ब, जङ्घा, ऊरु, गतिक्रम और नख गिनाए है।[1] इसके साथ ही श्रीहर्ष की कल्पना-प्रवणता ने भी बहुत दखल दिया है।

महाभारत में दूतरूप नल का दमयन्ती से संवाद

इसके पश्चात् अष्टम सर्ग में नल-दमयन्ती के सवाद का प्रसङ्ग आता है। महाभारत मे नल अन्तःपुर में पहुचकर दमयन्ती के "हे सुन्दर! मेरे मदन को दीप्त करने वाले तुम कौन हो? हे निष्पाप! तुम देवता की तरह यहा आए हो। मैं तुम्हारा परिचय जानना चाहती हूँ।"[2] इत्यादि प्रश्न करने पर एक ग्रामीण-सुलभ सरलता के साथ बिना कुछ सोचे-समझे अपना नाम-ग्राम सब बता देते हैं। "हे कल्याणि, मै नल हूँ और यहां देवदूत के रूप मे आया हूँ। इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम

---

१. **वेणीधम्मिल्लसीमन्तभालश्रवणनासिकाः।**
कपोलाधरनेत्र भ्रूकटाक्षदशनोक्तयः॥
कण्ठबाहुकरोरोजनाभ्योमध्यंवलित्रयम् ।
रोमालिश्रोणिजङ्घोरुगतिक्रमनखाःक्रमात्॥ का० क० ल० वृ० १।५।५८, ५९

२. **कस्त्वं सर्वानवद्याङ्ग मम हृच्छयवर्द्धन।**
प्राप्तोऽस्यमरवद्वीर ज्ञातुमिच्छामितेऽनघ॥ म० भा० व० प० अ० ५५।२०

इन चारों देवताओ को तुम्हारी प्राप्ति की इच्छा है।"[1] जब अपना प्रिय ही आंखों के सामने है तो किसी अन्य के प्रति अनुराग की चर्चा ही कितनी बेतुकी लगेगी। "प्रीतम-छवि नयनन बसी, परछवि कहा समाय"—और यदि कही स्वयं प्रिय ही दूसरे के लिए उसे रिझाने लगे तो या तो वह उसमें स्वयं उपहासास्पद होगा, या फिर अन्य किसी भारी अनर्थ की सम्भावना होगी। दमयन्ती ने देवविषयक नल के प्रस्ताव को सुनकर कह ही दिया कि यह सब पचड़ा छोड़ो। "राजन्! मुझसे प्रणय (स्नेह) करो। मैं तुम्हारे लिए क्या करूँ?"[2] इत्यादि। नल को वहा प्रणय करने से केवल एक ही चीज रोक रही थी। वह था देवताओ का भय। एक अत्यन्त कार्य-भीरु की भाँति वे कहते है, "देवताओ का अप्रिय करने वाला मनुष्य मृत्यु को प्राप्त करता है। अत हे सुन्दरि, तुम देवताओं को वरो, और मुझे बचाओ।"[3] देवो को वरने से सुख-भोग मिलेगा और न वरने से दण्ड की शङ्का है। यही दो बातें है जो नल की बुद्धि मे दमयन्ती को रिझाने के लिए पर्याप्त है। दमयन्ती के अधिक आग्रह करने पर उन्हे स्वार्थ-परार्थ का सघर्ष धर्म-सङ्कट मे डालने लगता है। पर यदि धर्म भी बच जाय और स्वार्थ भी सिद्ध हो जाय तो वैसा करने के लिए वे सहर्ष तैयार है। अत. मूढ़ की भाति दमयन्ती से ही कोई रास्ता निकालने के लिए विनती करते है। "यदि यह धर्म और स्वार्थ दोनों सिद्ध हो जाय तो शुभे! मै अपने स्वार्थ को साधने के लिए तैयार हू।[4]"

दमयन्ती द्वारा अन्तःपुर में सर्वप्रथम नल का आतिथ्य तथा रूप-प्रशंसन

श्रीहर्ष ने इस कथाश को जिस परिवर्तन, सकोच एव विस्तार के साथ नैषध में रक्खा है, उससे उनकी काव्य-प्रबंध-पटुता का उत्कृष्ट परिचय मिलता है। इस प्रसङ्ग में नल और दमयन्ती दोनो के चरित्र दीप्तिमान् होते हैं। नल-चरित्र का तो सर्वोत्कृष्ट रूप यही है। घर आए अतिथि का सर्वप्रथम शब्दो द्वारा ही सही, कुछ आतिथ्य अवश्य होना चाहिए। अपना मुखचद्र

---

१. नलं मां विद्धि कल्याणि देवदूतमिहागतम्।
देवास्त्वां प्राप्तुमिच्छन्ति शक्रोग्निर्वरुणो यमः॥ म०भा०व०प० अ० ५५।२२

२. प्रणयस्व यथाश्रद्धं राजन् किं करवाणि ते। म० भा० व० प०, अ० ६१।१

३. विप्रियं ह्याचरन् मर्त्यो देवानां मृत्युमृच्छति।
त्राहिमामनवद्याङ्गि वरयस्व सुरोत्तमान्॥ म० भा० व० प०, अ० ५६।७

४. एषधर्मोयदि स्वार्थो ममापि भविता ततः।
एवं स्वार्थं करिष्यामि तथा भद्रे विधीयताम्॥ म० भा० व० प०, अ० ५६।१७

नीचा किए हुए विस्मित दमयन्ती सर्वप्रथम आगन्तुक का स्वागत करती है।[1] फिर वह द्वारपालों की दृष्टि बांध देने के कारण उन्हें नल के समान सुन्दर कोई देवता ही समझ कर आतिथ्य सम्वन्धी प्रिय वचनो के बहाने आगन्तुक में विद्यमान वस्तुत. अपने प्रिय नल के ही सौन्दर्य की प्रशसा करती है।[2] अभी तक नल के रूप का सुन्दर भावुक चित्रण कही नही हुआ था—हंस ने दमयन्ती के सम्मुख केवल उनके ऐश्वर्य तथा अन्य गुणों को ही गाया था। नल-सौन्दर्य का वास्तविक अनुशीलन वस्तुतः अभी तक हुआ न था। उसे इसी अवसर के लिए रख छोड़ा गया था। प्रेयसी से अधिक सानुराग प्रेमी के रूप को किसकी आखे देखेगी?[3] नल-रूप की यही सार्थकता थी कि उसका वर्णन दमयन्ती करती। किन्तु इसके साथ ही दमयन्ती-चरित्र की रक्षा के लिए भी श्रीहर्ष प्रयत्नशील रहते हैं। नल-कान्ति वाले दूत में भी दमयन्ती अनुराग करेगी ही, तो ऐसा न हो कि उसे कलङ्क लगे, मानों यही सोचकर विधि ने दमयन्ती के प्रति नल का कपट रूप धारण कर इन्द्र को स्वय दूत न होने दिया।[4] दमयन्ती-चरित्र की रक्षा के लिए श्री हर्ष की यह उक्ति वड़ी श्लाध्य है। दमयन्ती के विचार से संसार-रूपी सागर मे दूत के प्रतिबिम्ब-रूप एक नल ही है, क्योंकि विम्व-प्रतिविम्ब को छोड़कर विधाता की अत्यन्त सारूप्य-रचना कभी देखी ही न गई।[5] वह वस्तुतः नल की प्रशंसा कर रही थी, दूत की नही।[6]

नल का अपने को गुप्त रखने का प्रयोजन

नल अपने वास्तविक रूप का परिचय नही देते। दमयन्ती की वाणी रूप-वीणा से उपगीत हो कर भी वे मदन-वश नही होते। विवेक की धारा से अनेक प्रकार से पवित्र हुए महापुरुषों के अन्त.करण को मदन कभी मलिन नही कर सकता।[7]

---

१. नै० ८—२०।२३

२. भूयोऽपि बाला नलसुन्दरं तं मत्वामरं रक्षिजनाक्षिबन्धात्।
आतिथ्यचाटून्यपदिश्यतत्स्थां श्रियंप्रियस्यास्तुतवस्तुतः सा॥ नै० ८–३१

३. लैलीरा बचश्मे मजनूबायददीद–(फ़ारसी कहावत)।

४. दूते नलश्रीभृतिभाविभावा कलङ्किनीयं जनिमेति नूनम्।
न संव्यधान्नैषधकायमायं विधिः स्वयन्दूतिमिमां प्रतीन्द्रम्॥ नै० ८–१६

५. संसारसिन्धावनुबिम्बमत्र जागर्ति जाने तव वैरसेनिः।
बिम्बानुबिम्बो हि विहाय धातुर्न जातु स्रष्टातिसरूप दृष्टिः॥ नै० ८–४६

६. श्रियंप्रियस्यास्तुतवस्तुतः सा॥ नै० ८–३१

७. विवेकधाराशतधौतमन्तः सतां न कामः कलुषीकरोति। नै० ८–५४

सुन्दरी के उदार आतिथ्य से सत्कृत होकर भी वे स्नेह का कोई लगाव ही नही लगाते। वड़ी रुखाई के साथ कहते हैं—"वस करो, सपर्या हो चुकी। बैठो, आसन क्यों छोड़ दिया। सुन्दरि, यदि तुमने मेरे दौत्य-कार्य को सफल कर दिया तो वही मेरा वडा आतिथ्य होगा।[1]" अन्त मे नाम जानने के लिए दमयन्ती के अत्यधिक आग्रह करने पर यहाँ तक कहते है कि "मेरे नाम में कितने अक्षर है, और किस क्रम से है, तुम्हे यह सब जानने की आवश्यकता नही। हम दोनों के प्रत्यक्ष वार्तालाप में तो युष्मद् (तुम) अस्मद् (मै) द्वारा ही काम चल जायगा।[2]" "और यह शिष्टाचार परम्परा है कि सत्पुरुष अपना नाम नही लेते। अतः मैं भी अपना नाम नही वताना चाहता, क्योंकि लोग आचार-हीन पुरुष को बुरा कहते है।[3]" श्री हर्ष ने नल की ओर से नाम गुप्त रखने का इतना प्रयत्न क्यों किया? बात यह है कि नल को यह भली भाँति विदित था कि वैदर्भी ने पहले ही उन्हे वर निश्चय कर लिया है, और अब उन्हें देवदूत के रूप मे देखकर उसे केवल लज्जा ही होगी। देवों को तो वह निश्चय ही स्वीकार न करेगी।[4] अतः हृदय से देव-कार्य को सिद्ध करने की भावना के कारण उन्होंने अपने वास्तविक रूप का परिचय न देना ही श्रेयस्कर समझा। अपना नाम बता देते तो न दमयन्ती देव-सन्देश ही सुनती और न ये ही इतनी दृढता एवं रुखाई के साथ उसकी चित्त-वृत्ति को परिवर्तित करने का प्रयत्न कर सकते। महाभारत की नल-कथा में यही तो हुआ। नैषध मे आत्मपरिचय न देकर नल ने अपने हृदय की निष्कपटता, सत्यशीलता, उदारता तथा कर्तव्य-परायणता आदि उदात्त-वृत्तियों का परिचय दिया है। पुण्यश्लोक की महत्ता का यह एक परिचय था।

देव सन्देश का प्रारम्भ दमयन्ती के प्रेम में होनेवाली देवों की कदर्थना से किया जाता है

फिर देव-सन्देश का प्रारम्भ, देव-वरण का प्रस्ताव, भय या प्रलोभन से नही होता है अपितु कौमार अवस्था से ही किस प्रकार दमयन्ती के गुणगण इन्द्र,

---

१. विरम्यतां भूतवती सपर्या निविश्यतामासनमुज्झितं किम्।
या दूतता नः फलिनाविधेया सैवातिथेयी पृथुरुद्भवित्री॥ नै० ८–५६

२. वृथा कथेयं मयि वर्णपद्धतिः कयानुपूर्व्यासमकेतिकेतिच।
क्षमे समक्षव्यवहारमावयोः पदेविधातुं खलु युष्मदस्मदी॥ नै० ९–९

३. महाजनाचारपरम्परेदृशी स्वनामनामावदते न साधवः।
अतोऽभिधातुं न तदुत्सहेपुनर्जनः किलाचारमुचं विगायति॥ नै० ९–१३

४. कुण्डिनेन्द्रसुतया किलपूर्वं मां वरीतुमुररीकृतमास्ते।
व्रीडमेष्यति परं मयि दृष्टे स्वीकरिष्यति न सा खलु युष्मान्॥ नै०५–११४

वरुण, अग्नि, यम चारो दिक्पालों को विमोहित किए हुए है, तथा उसके यौवनागम के साथ किस प्रकार मदन ने उनको अधीर करना प्रारम्भ किया है एवं इस समय वे किस प्रकार उसके विरह मे व्यथित तथा विह्वल है, इत्यादि विषय के हृदयस्पर्शी चित्रण से होता है।[१] दमयन्ती के प्रेम मे वे केवल अधीर ही नही है अपितु सारी दुर्दशा भोग रहे है। देवों की दशा वस्तुतः दयनीय हो गई है।[२] "किसी के हृदय मे अपने प्रति अनुराग उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक होता है कि प्रेमी पहले अपने अनुराग को व्यक्त करे। प्रेमासक्त व्यक्ति इस बात के लिए आतुर रहता है कि प्रिय को उसके प्रेम की सूचना मिल जाय। किसी के हृदय में अपने प्रति प्रेम उत्पन्न करने के लिए रूप, गुण, ऐश्वर्य आदि न जाने कितनी विशिष्टताएं अपेक्षित होती है, और इतने पर भी प्रिय के हृदय मे अपने प्रति प्रेम उत्पन्न होगा ही इसका निश्चय नही रहता। अत. उसके हृदय को द्रवित करने के लिए करुणा का आश्रय लिया जाता है। दया का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। दया मनुष्य-मात्र का धर्म है, और प्राणि-मात्र उसके अधिकारी है। दया यह देखने नही जाती कि दुखी या पीडित कौन और कैसा है। इसी से प्रेमी कभी तो यह चेष्टा करता दिखाई पड़ता है कि वह प्रिय को अच्छा लगे, और कभी ऐसे उपायों का अवलम्बन करता है जिनसे प्रिय के हृदय मे उसके प्रति दया उत्पन्न हो। दया उत्पन्न करके वह प्रिय के अन्तस् में प्रेम की भूमिका बाधना चाहता है। वह समझता है कि दया उत्पन्न होगी तो धीरे-धीरे प्रेम भी उत्पन्न हो ही जायगा। वह इसीलिए वियोग की दारुण वेदना प्रिय के कानों तक पहुँचाता ही रहता है।[३]" अतएव विप्रलम्भ-वर्णन मे करुणा अधिक रहती है। नैषध मे यह भली भाँति देखने को मिलता है। नल देवों की विरह-जन्य कदर्थना को ही सर्व प्रथम दमयन्ती के सम्मुख रखते है—स्वर्ग का समग्र सुखभोग सुधा, सुराङ्गना, तथा अमरत्व आदि सब कुछ उनके लिए तुच्छ है। दमयन्ती के विरह मे दिक्पाल अत्यन्त दयनीय हो रहे है।

अन्त में भय द्वारा रिझाने का प्रयत्न

किन्तु इतने पर भी दमयन्ती का हृदय नही पिघलता। वह अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा भी सुनाती है कि यदि राजा नल मेरा पाणिग्रहण नही करते तो अग्नि, जल, या

---

१. कौमारमारभ्य गणाः गुणानां हरन्ति ते दिक्षु धृताधिपत्यान्।
सुराधिराज्यं सलिलाधिपं च हुताशनं चार्यमनन्दनं च॥ नै० ८–५८

२. नै० ८–६१, ८३, ९१, १०६

३. चि० म०, पृष्ठ ९२, ९३

रज्जु द्वारा अपनी आयु का अन्त कर दूगी।[1] अब नल ने जान लिया कि यहाँ प्रम या करुणा का अभिनय काम नही देगा, अत: दूसरा उपाय निकाला। इसके चिर मनोनीत प्रिय नल की ही तुच्छता इसके सामने रखकर इसका मन उनसे वितृष्ण किया जाय। कहाँ देवराज इन्द्र और कहाँ एक नर-डिम्भ नल। दमयन्ती को फटकारते है—इन्द्र को त्यागकर नल की अभिलाषा करने वाली तुम अपने को पण्डिता कहती हुई लज्जित नही होती हो।[2] इत्यादि। और फिर ऐसा भय दिखाते है जिससे कि मरकर भी छुटकारा नही। यदि नल के विना गला बाँधकर मरी तो आकाशचारियों के स्वामी इन्द्र को,[3] आग में जलकर मरी तो स्वयं अग्नि-देव को,[4] जल मे डूबकर मरी तो वरुण देव को[5] और किसी अन्य उपाय से मरी तो साक्षात् यमराज को ही प्राप्त होवोगी।[6] भय दिखा कर फिर से देववरण की प्रशंसा करते है।[7] भयभीत मन कही शरण न पाकर बुरे को भी अच्छा मान लेता है—इस मानसिक क्रिया की सूक्ष्मता को श्रीहर्ष ने भली भाँति परखा है। भय दिखाकर भी फुसलाया जाता है। किन्तु दमयन्ती अपने दृढ पातिव्रत्य (नलानुराग) से नही डिगती, और हारकर कहती है—"दूत दिगीश्वरो के लिए तुम मुझे किसी प्रकार पीड़ित न करो। मै हाथ जोड रही हूँ। कृपा करके अब ऐसी बाते न करो। इन आखों के आसुओ का ख्याल करो।[8]"

---

१. अपिद्रढीयः शृणु में प्रतिश्रुतिं स पीडयेत् पाणिमिमं न चेन्नृपः।
हुताशनोद्बन्धनवारिकरितां निजायुषस्तत् करवै स्ववैरिताम्॥ नै० ९–३५

२. हरिं परित्यज्य नलाभिलाषुका न लज्जसे वा विदुषिब्रुवा कथम्। नै० ९।४३

३. यदिस्वमुद्बन्धुमना विना नलं भवेर्भवन्तीं हरिरन्तरिक्षगाम्।
दिविस्थितानां प्रथितः पतिस्ततो हरिष्यति न्याय्यमुपेक्षते हि कः॥ नै० ९।४६

४. निवेक्ष्यसे यद्यनले नलोज्झिता सुरे तदास्मिन्महती दया कृता।
चिरादनेनार्थनयापि दुर्लभं स्वयं त्वयैवाङ्ग यदङ्गमर्प्यते॥ नै० ९।४७

५. जितं जितं तत्खलु पाशपाणिना विना नलं वारि यदि प्रवेक्ष्यसि।
तदात्वदाख्यान्बहिरप्यसूनसौ पयःप्रतिर्वेक्षसि वक्ष्यतेतराम्॥ नै० ९।४८

६. करिष्यसे यद्यत एव दूषणादुपायमन्यं विदुषी स्वमृत्यवे।
प्रियातिथिः स्वेन गृहागताकथं न धर्मराजं चरितार्थयिष्यसि॥ नै० ९।४९

७. नै० ९।५०-५९

८. दिगीश्वरार्थं न कथंचन त्वया कदर्थनीयास्मि कृतोयमञ्जलिः।
प्रसद्यतां नाद्यनिगाद्यमीदृशं दृशौ दयेबाष्परयास्पदेभृशम्॥ नै० ९।६९

पर उसके वेदना भरे दीन वचनो से मर्माहत होकर भी नल अपने दूतधर्म से विमुख नही होते। देवो के सामर्थ्य को इस रूप मे बताते हैं कि यदि वे चाहें तो दमयन्ती को वही स्वर्ग मे बैठे-बैठे अपनी कर सकते है, क्योकि उनके पास ऐसे अभिलाषा-पूरक साधन हैं। इन्द्र के कल्पवृक्ष, अग्नि के सार्वकामिक यज्ञ, यम के अगस्त्य मुनि तथा वरुण की कामधेनु उनकी इच्छाओं को पूर्ण करने मे सब प्रकार से समर्थ हैं। देवगण चाहे तो पदे-पदे ऐसे विघ्न उपस्थित कर सकते है कि नल दमयन्ती का विवाह-संयोग सदा असम्भव बना रहे। अत. अन्त मे दृढतापूर्वक उसकी बुद्धि को हिलाते हुए कहते है, "दमयन्ति, मैंने तुमसे यह बड़े हित की बात कही है। तुम मोह त्यागकर स्वय विचार कर लो। भला देवों के विघ्न करने के लिए उतारू होने पर कौन मनुष्य हाथ मे धरी वस्तु भी पाने में समर्थ हो सकता है।[1]" यह ऐसा तीर था जिसकी चोट अबला किसी तरह नही सह सकती थी। "उस समय वह प्रिय की प्राप्ति के विघात का निश्चय जानकर सोन्माद रोती हुई, सहन शक्ति खोकर, घबडा कर, निरानन्द हो, बुद्धिहीन होकर अत्यत्त करुण विलाप करने लगी।[2]" अत्यन्त निराशा मे करुण विलाप के अतिरिक्त कोई अवलम्ब ही नही। हृदय-सागर आखों के ही रास्ते बहा करता है। दमयन्ती का इस बार का विलाप अत्यन्त करुणापूर्ण था।[3] "नाथ, दमयन्ती तुम्हारे लिए मरी, क्या यह बात तुम्हारे कानो तक न पहुँचेगी, यद्यपि इस समय अनुग्रह नही करते तो क्या उस समय भी तुम्हे दया का लेश न होगा?[4] हे याचक कल्पवृक्ष, मेरी तुमसे यही याचना है कि मेरे विदीर्ण होने वाले इस हृदय से निकलने वाले प्राणों के साथ तुम न जाना।[5]" करुणा के तीरों से हृदय मे दया का स्रोत बहाकर इन दीन वचनों ने दूत के विरह की मन्मथ वेदना को दबाने के सारे प्रयत्न व्यर्थ कर दिये। विरही उद्भ्रान्त हो गया। इससे अधिक उपयुक्त कोई दूसरा अवसर ही न था कि जब नल

---

१. इदं महत्तेऽभिहितं हितं मया विहाय मोहं दमयन्ति चिन्तय।
सुरेषु विघ्नैकपरेषु को नरः करस्थमप्यर्थमवाप्तुमीश्वरः॥ नै० ९।८३

२. अथोद्भ्रमन्ती रुदती गतक्षमा ससंभ्रमा लुप्तरतिः स्खलन्मतिः।
व्यधात्प्रियप्राप्ति-विघातनिश्चयान्मृदूनि दूना परिदेवितानि सा। नै० ९।८७

३. नै० ९।८८–१००।

४. कथावशेषं तव सा कृतेगतेत्युपैष्यति श्रोत्रपथं कथं न ते
दयाणुना मां समनुग्रहीष्यसे तदापि तावद्यदि नाथ नाधुना। नै० ९।९९

५. ममादरीदं विदरीतुमान्तरं तदर्थि-कल्पद्रुमकिञ्चिदर्थये।
भिदां हृदि द्वारमवाप्य मां स मे हतासुभिः प्राणसमः समंगमः॥ नै० ९।१००

अपना वास्तविक परिचय देते। परिचय भी, स्वेच्छा से नही विवश होकर देना पड़ता है।

जब तक उनकी चेतना पर उनका अधिकार था उनसे ऐसी गलती कदापि नही हो सकती थी। नल की इस विवशता मे ही उनके चरित्र की महत्ता है। नल की यह दुर्बलता ही उन्हे महान् बनाती है। इसी नाते वे मानव-समाज के अङ्ग लगते हैं। अन्यथा वे भी देव-कोटि मे गिने जाते। महापुरुषो के चरित को कोई दुर्बलता ही उन्हे मनुष्यता के धरातल पर स्थित रखती है। साधारण पुरुष उनकी वह त्रुटि देखकर ही उनमे अपनापन पाता है। सोचता है, वे भी हमी में से थे। सीता के विरह मे आर्त्त तथा स्वार्थवश बालि का वध करने के कारण ही राम मानव लगते है। उनकी ये दुर्बलताएं ही उन्हे मर्यादा-पुरुषोत्तम बनाती हैं, अन्यथा वे साक्षात् विष्णु ही रहते। अतः राम की इन दुर्बलताओं को छिपाने का प्रयत्न करना उचित नही। वे दुर्बलताएं ही राम को महान् बनाती हैं। पुनः प्रबोध होने पर नल को अपनी इस त्वरा के लिए बडी ग्लानि होती है। उन्हे देवों से भय नही है, किन्तु उनके द्वारा दौत्य-धर्म मे जो कलङ्क लगा है उसका ही पश्चात्ताप है। पर उनका हृदय शुद्ध है तथा देवों के कार्य में उनका प्रयत्न निष्कपट रहा है, अत. इस त्रुटि के लिए न उन्हें लोकापवाद की परवाह है, न देवों से कोई भय। देवेच्छा ही ऐसी थी जिसने उनकी चेतना को लुप्त कर दिया। विधि-विधान के प्रतिकूल भला कौन जा सकता है ? उन्हें इसकी चिन्ता नही कि स्वार्थ भी सिद्ध हो जाय और धर्म भी बना रहे— उन्हें चिन्ता इस बात की है कि दौत्य कार्य मे विफल होने पर कही मेरी कीर्ति मे धब्बा न लगे।

अन्तःपुर में नल-दमयन्ती को हंस का प्रत्यक्ष दर्शन

इसी समय श्रीहर्ष ने हंस के प्रत्यक्ष होने की कल्पना की है, क्योकि यदि कहीं नल अपनी कर्तव्य-परायणता के पीछे ग्लानि ही करते रह जाते तो दमयन्ती की निराशा इतनी सघन हो सकती थी कि बहुत सम्भव था कि उसके प्राण-पखेरू ही उड़ जाते।[1] ऐसे संकट के समय दिव्य हंस के दर्शन से दोनों के प्राण बचे। अन्त में नल के सम्मुख सखी ने दमयन्ती की विरह-दशा का जो चित्र खींचा उससे नल की चलती बार जो प्रेम-भावना जागरित हुई थी वह और भी बढ़ती ही रही।

स्वयंवर वर्णन के विस्तार का प्रयोजन

और फिर शीघ्र ही स्वयंवर का अवसर आता है। नैषध के पाँच सर्गो (१०–१४) में इसका दृश्य वर्णित है। महाभारत में रंगमण्डप का तथा स्वयंवर में आए

१. नयादयैनामतिमानिराशतामसून् विहातेयमतःपरंपरम्। नै० ९–१२८

राजाओ का अतिसंक्षिप्त वर्णन है।[1] किन्तु नैषध मे इसका बड़ा विस्तार किया गया है जिसके लिए उसके ऊपर भारी आक्षेप हुए हैं। महाभारत की पूर्वोक्त कतिपय पंक्तियो मे निर्दिष्ट स्वयंवर वर्णन नैषध में पहुँचकर पाॅच-सौ से अधिक छन्दों का महाकाय रूप धारण कर लेता है। साथ ही विशेषता यह कि प्रत्येक पद्य अभिनव मनोरम कल्पनाओ से सम्पन्न है। श्रीहर्ष की प्रतिभा कही हुई बात को दुहराना जानती ही नही। महाभारतीय नलकथा का जितना अंश श्रीहर्ष को अपने काव्य में रखना अभीष्ट था वह नल का विवाह एव वैवाहिक सुख-भोग तक सीमित है। प्रेम और विवाह, जीवन की दो ऐसी घटनाएं हैं जिनमे हृदय की रागात्मक वृत्तियाॅ सबसे अधिक रमती हैं। मनुष्य की प्रबल सुखेच्छा ने कल्पना का अवलम्ब लेकर स्वर्ग सुख की रचना की है। चतुर्वर्ग मे सुख का ही नाम 'काम' है। 'अर्थ' उस सुख का साधन है तथा धर्म परिष्कारक।[2] भोग-भूमि काम ही है—और—'को भोगो रमणी बिना' के अनुसार सासारिक सुख-भोग का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक स्त्री ही है। अतएव प्रेम और विवाह का जीवन मे इतना महत्त्व है। विवाह के पूर्व का पूरा जीवन-भाग एक प्रकार से विवाह के आयोजन का समय होता है और विवाह के पश्चात् का जीवन वैवाहिक सुखो के भोग का। गृहस्थ जीवन मे सबसे

---

१. अथ काले शुभे प्राप्ते तिथौपुण्येक्षणेतथा।
आजुहावमहीपालान् भीमो राजा स्वयंवरे।
तच्छ्रुत्वा पृथिवीपालाः सर्वेहृच्छयपीड़िताः।
त्वरिताःसमुपाजग्मु र्दमयन्तीमभीप्सवः।
कनकस्तम्भरुचिरं तोरणेन विराजितम्।
विविशुस्ते नृपारङ्गं महासिंह इवाचलम्।
तत्रासनेषु विविधेष्वासीनाः पृथिवीक्षितः।
सुरभिस्रग्धराः सर्वे प्रमृष्टमणिकुण्डलाः।
तां राजसमितिं पुण्यां नागैर्भोगवतीमिव।
सम्पूर्णां पुरुषव्याघ्रैर्व्याघ्रैर्गिरिगुहामिव।
तत्र स्म पीना दृश्यन्ते बाहवः परिघोपमाः।
आकारवर्णसुश्लक्ष्णाः पञ्चशीर्षा इवोरगाः।
सुकेशान्तानि चारुणि सुनासाक्षिभ्रुवाणि च।
मुखानि राज्ञां शोभन्ते नक्षत्राणि यथा दिवि।
म० भा०, व० प०, अ० ५७ श्लो० १–७

२. धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ—गीता ७–११

अधिक प्रसन्नता का समय होता है विवाह। शृंगार-रसात्मक काव्यों की अधिकता का यही कारण है। उनमे भी स्वयवर और विवाह का प्रसंग प्रायः आता है। इसमें चित्रित मनुष्य के ऐहिक जीवन के सुख सर्वसाधारण को अतिसुखेन हृदयगम्य हो जाते हैं। वे सब को अपने ही विषय मे कहे से लगते हैं। फिर अपना सुख किसे न प्रिय लगेगा? रघुवंश ऐसे महाकाव्य मे जिसमे अनेक राजाओ का समस्त जीवन-चरित वर्णन करना था, कालिदास इन्दुमती के स्वयवर तथा विवाह के विस्तृत वर्णन का प्रलोभन न रोक सके। एक पूरा सर्ग स्वयवर मे लगा दिया और एक पूरा विवाह में। स्वयवर का समय ही ऐसा होता है कि उसका वर्णन करने मे कवि-कल्पना को स्वतन्त्र विचरने का कुछ अवसर भी मिलता है। नैषध मे एक ही राजा का चरित वर्णन करना था और वह भी केवल विवाह पर्यन्त। वर्णन का विस्तार श्रीहर्ष की अपनी कल्पना है, विस्तार भी सप्रयोजन तथा सजीव हुआ है। स्वयंवर मे आने वाले भी तो कई प्रकार के रहे होंगे—सद्वंशोत्पन्न योग्य वीर तो राजकुमारी को वरने के लिए आए, अयोग्य वीर उसे बलात् अपहरण करने आए, कुछ स्वयंवर देखने आए, दूसरे वहां आए हुए की सेवा ही करने आए। इस प्रकार सारी दिशाएं सूनी होकर केवल दिशामात्र ही रह गई।[1] आते समय रास्तों का भी थोड़ा चित्र दिखाया गया।[2] इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण इन चार दिक्पालों के अतिरिक्त अन्य ६ दिक्पाल स्वयंवर मे क्यो नही आए, इस शङ्का का समाधान श्रीहर्ष की तीक्ष्ण प्रतिभा ने कर ही दिया।[3] महाभारत मे दमयन्ती को राज-पंक्ति में अकस्मात् पांच पुरुष एक स्वरूप के दिखाई पड़ते है—पाचों नल—रूप।[4] और दमयन्ती की प्रार्थना पर चार अपने वास्तविक रूप मे हो जाते हैं, जिससे सत्य नल का स्पष्ट पृथक् भान होने लगता है। श्रीहर्ष ने बड़ी सहृदयता के साथ उनके नल-रूप धारण करने का हेतु बताया है कि कदाचित् नल के भ्रम से ही दमयन्ती हमें स्वीकार कर ले।[5] फिर नल-साम्य पाने के लिए उन्होंने जो कुछ प्रयत्न किया

---

१. योग्यैर्व्रजद्भिर्नृपजां वरीतुं वीरैरनर्हैः प्रसभेनहर्तुम्।
द्रष्टुं परैस्तात्परिकर्तुमन्यैः स्वमात्रशेषाः ककुभो बभूवुः॥ नै० १०।३

२. नै० १०।५-९

३. नै० १०।११-१६

४. ततः संकीर्त्यमानेषुराज्ञांनामसु भारत। ददर्श भैमीपुरुषान्पञ्चतुल्याकृतीनिह॥
म० भा० व० प० ५७।१०

५. नलभ्रमेणापि भजेतभैमीकदाचिदस्मानितिशेषिताशाः।
अभून्महेन्द्रादिचतुष्टयी सा चतुर्नली काचिदलीकरूपा॥ नै० १०।१८

उसका भी वर्णन किया है।[१] राजमण्डित रङ्गभूमि मे जिस समय नल पहुंचे होंगे उस समय उसकी शोभा कितनी अधिक बढ गई होगी, तथा नल को देखकर राज-समाज मे किस प्रकार ईर्ष्या, प्रशंसा, पराजय आदि भावो का भाव-संकर हुआ होगा, तथा उन्होंने किस प्रकार की बाते आपस में की होगी, श्रीहर्ष ने इसे सुन्दरता-पूर्वक परखा है।[२] समागत राज-समाज का यथोचित आतिथ्य करना भी श्रीहर्ष नही भूले है।[३] त्रिभुवन-सुन्दर वीरो से सुशोभित उस समाज के वर्णन का प्रलोभन भी महाकवि न रोक सके। स्वय वाल्मीकि, बृहस्पति तथा शुक्राचार्य से उसका वर्णन करवाया है।[४]

राज-परिचय के लिए सरस्वती की कल्पना

स्वयंवर-वर्णन मे श्रीहर्ष की सरस्वती-विषयिणी कल्पना सव से अधिक कलापूर्ण एवं सफल है। नाना लोको से आए हुए उन नवयुवकों के गोत्र तथा चरित्र का वर्णन मानव-शक्ति से परे था। उसे न कोई सुनन्दा कर सकती थी न राजकुमारी का भाई ही। केवल श्रीहर्ष की सरस्वती कर सकती थी। राजा भीम का अपने कुलदेव भगवान् चक्रपाणि को सचिन्त स्मरण करना, विष्णु का प्रसन्न होकर सरस्वती को यह कहते हुए भेजना कि—तीनों लोकों के पण्डितों से मण्डित ऐसी सभा न कभी हुई न फिर कभी होगी ही, तुम यहा राजाओं के गुण-वर्णन के बहाने अपनी वाग्रचना पण्डितों को सुनाओ[५] इत्यादि विषय श्रीहर्ष ने स्वयं कल्पित किया है। श्रीहर्ष सस्कृत-साहित्य-रचना के उस युग मे हुए थे जब कविता केवल भाव तथा रस से पूर्ण एक लोकोत्तर आनन्द की ही वस्तु नही रह गयी थी, अपितु कवि की विभिन्न शास्त्रज्ञता के प्रदर्शन की रङ्गभूमि बन गयी थी। दर्शन, आयुर्वेद, पशु-विज्ञान, संगीत, कामशास्त्र, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि सभी विभागों में अधिक उन्नति होने के कारण तात्कालिक कवि को सबसे अभिज्ञ होना पड़ता था, तथा अपनी काव्य रचना मे वह यत्नपूर्वक अपनी अभिज्ञता का प्रदर्शन करता था। श्रीहर्ष से कुछ शताब्दी पूर्व ही भारतवर्ष ज्ञान-विकास में अपनी चरम सीमा पर

---

१. नै० १०।१९–२२
२. नै० १०।३८-४८
३. नै० १०।२७-२८
४. नै० १०।५७-६५
५. **जगत्रयीपण्डितमण्डितैषासभा न भूता न च भाविनी च।**
राज्ञां गुणज्ञापनकैतवेन संख्यावतः श्रावय वाङ्मुखानि॥ नै० १०।७२

पहुंच चुका था। अतः अपनी दिव्य प्रतिभा के साथ श्रीहर्ष ने भी नैषध-रचना के पूर्व अपने को हर प्रकार की अपेक्षित अभिज्ञता से पूर्णतया सम्पन्न कर लिया था। नैषध को वे हर प्रकार से समृद्ध काव्य बनाना चाहते थे। यद्यपि नैषध मे शास्त्रीय पाण्डित्य-प्रदर्शन उनका उद्देश्य नही था, क्योंकि उसके लिए तो उन्होंने 'खण्डन' जैसे महाग्रन्थ की रचना पृथक् रूप में की ही थी, परन्तु अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन वे अवश्य करना चाहते थे, साथ ही प्रबन्ध औचित्य मे कही अव्यवस्था भी नही करना चाहते थे—अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करने के लिए बलात् कोई असङ्गत प्रसङ्ग नही लाना चाहते थे। अब स्वयंवर में उन्हे इसका अच्छा अवसर मिला। उस युग की काव्यधारा प्रशस्ति रूप की भी थी। उन शताब्दियों की रचनाओं (काव्यों, लेखों, दानपत्रों आदि) को देखने से पता चलता है कि कविगण आश्रयदाताओं का यशोगान अद्भुत् कल्पनाओं के साथ किया करते थे। राजप्रशस्ति एक काव्यधारा ही बन गयी थी। श्रीहर्ष को स्वयंवर प्रसङ्ग मे उस प्रकार की काव्यरचना मे भी अपनी सर्वोत्कृष्टता दिखाने का अवसर मिल गया। वह (दमयन्ती-स्वयंवर) सभा श्रीहर्ष के कल्पना-नेत्रों को प्रत्यक्ष-सी थी—उन्होने स्वयं श्लेष रूप से कहा है—क्या किन्नरों ने सानन्द उसका सेवन नही किया? अथवा क्या महर्षियो ने उसे हर्ष (१—आनन्द, २—कवि श्रीहर्ष) के साथ न देखा?[१] स्वयंवर मे राज-परिचय के लिए आने वाली सरस्वती श्रीहर्ष की अपनी ही सरस्वती है। उन्होने उसके स्वरूप का जो रूपक बांधा है,[२] उसके द्वारा अपने अधीत ज्ञान का परिचय दिया है। अब जब स्वयं सरस्वती ही वर्णन कर रही है तो किसी भी प्रकार की दुरूह कल्पना सम्भव हो सकती है, शैली कितनी भी उत्कृष्ट एवं कितनी भी वक्र हो सकती है। भावों के उन्मुक्त आकाश मे कल्पना की मनोरम राजहंसी पर श्रीहर्ष की सरस्वती विचरने लगी।

दमयन्ती का स्वयंवर सभा में प्रवेश

राज-समाज मे दमयन्ती ने जिस समय प्रवेश किया उस समय श्रीहर्ष ने उसके युव-जन-मोहन रूप का अद्भुत चित्र खीचा है।[३] विभाव के प्रत्यक्ष होने पर आश्रय (राजाओं) में क्या अनुभाव आदि होते हैं इसे भी कवि की आंखों ने भली-भांति देख लिया।[४] स्वयंवर-प्राङ्गण में आई हुई सुन्दरी को देखकर सानुराग विह्वल हो

---

१. सा किन्नरैः किं न रसादसेवि नादर्शिहर्षेण महर्षिणावा? नै० १०।५६

२. नै० १०।७४-८८

३. नै० १०।९३-१०७

४. नै० १०।१०८-११२

राजाओं ने गद्गद् स्वर में उसके रूप की जो प्रशंसा की वह उनके अनुभावों का ही प्रदर्शन था। यह सौन्दर्य-प्रशंसा अत्यन्त अवसरोचित हुई है। यदि यहाँ इसका सन्निवेश न होता तो उस समय के राज्य-समाज की हृदय-हीनता तो व्यक्त ही होती, साथ ही श्रीहर्ष की सरसता में भी बड़ा बट्टा लग जाता। लोगों की उत्कण्ठा का एक चित्र निम्नाङ्कित पद मे किस प्रकार सजीव अङ्कित है—

"इयमियमधिरथ्यंयातिनेपथ्यमंजुर्विशतिविशतिवेदीमुर्वशी सेयमुर्व्याः[१]। इयम् इयम् तथा विशति विशति के द्वित्व में कितना कुतूहल है इसे भुक्त-भोगी ही जान सकता है।

राज-परिचय

श्रीहर्ष ने बडे तर्कपूर्ण औचित्य के साथ दमयन्ती को देव, राक्षस, गन्धर्व, विद्याधर तथा यक्ष के पास से हटाया।[२] थोडे मे वासुकी आदि को निपटाया। फिर मनुष्य-नरेशों के पास पहुंचा कर सर्वप्रथम अन्य द्वीपों के स्वामियों का वर्णन किया। पुराणोक्त ढंग से पुष्कर, शाक, क्रौञ्च, कुश, शाल्मल तथा प्लक्ष द्वीपों के वर्णन कर चुकने के पश्चात् जम्बूद्वीप के राजाओं का वर्णन प्रारम्भ किया। अवन्ति, गौड़, मथुरा तथा काशी के नरेशो का वर्णन एकादश मे करते है। इसके पश्चात् कुछ नए नरेश और आते है, जिनका वर्णन द्वादश मे किया जाता है। उनके विलम्बसे आने की कल्पना श्रीहर्ष की है जिससे कथानक मे रोचकता आ जाती है। यदि वे भी स्वयंवर मे पहले से ही उपस्थित होते तो उनका भी वैसा ही वर्णन पढकर जी ऊबने लगता। किन्तु उन्हे नवागत समझ कर कुछ कुतूहल होता है—वे कौन थे और कैसे थे? स्वयंवर मे जो नरेश पहले आ चुके थे वे तो हताश होकर लम्बी आहें भर रहे थे, क्योकि दमयन्ती उन्हें छोड़ कर आगे बढ चुकी थी, किन्तु जो नए आए, उन्हे यह आशा थी कि इन पूर्वागतों को नही चुना तो दमयन्ती हमी में से किसी को अवश्य वरेगी। अत. उनके हृदय में आनन्द का सागर उमड़ रहा था।[३] राज-वर्णन में प्राय: वही परम्परारूढ—प्रताप, विजय, शत्रु की दुर्दशा आदि का वर्णन सब के लिए हुआ।[४] राज-परिचय मे उन राजाओं के पराक्रम का विशेष गान किया गया

---

१. नै० १०।१३७

२. नै० ११।११, १३, १४

३. ततःस भैम्यावपृत्ते वृतं नृपैर्विनिःश्वसद्भिः सदसि स्वयंवरः।
चिरागतैस्तर्कितताद्विरागितैः स्फुरद्भिरानन्दमहार्णवैर्नवैः॥ नै० १२।२

४. प्रयाणरणखड्गादिशस्त्राण्यरिपराजयः।
अरिनाशोऽरिशैलादिवासोऽरिपुरशून्यता॥ काव्यकल्पतावृत्ति १।५, ४८

है। नैषध ही नही प्राचीन संस्कृत काव्यों मे प्रायः सर्वत्र शृङ्गार के साथ युद्ध-वीर का अधिक समन्वय हुआ है। वहां कभी वीर शृङ्गार के और कभी शृङ्गार वीर के पोषक के रूप मे आता है। वीर चार प्रकार के माने गए हैं—दान-वीर, दया-वीर, युद्ध-वीर तथा धर्म-वीर। इनमे औरों के प्रति तो श्रद्धा आदि पूज्य भाव जगते हैं, किन्तु युद्ध-वीर के प्रति एक और भाव भी जगता है जिसे प्रेम कहते हैं। विशेषतया युवतियो के हृदय को युद्ध-वीर सभी वीरो से अधिक आकर्षित करता है। वास्तव मे युद्ध-क्षेत्र जीवन की सब से विकट कर्म-भूमि है। वीरत्व का सौन्दर्य जितना यहा देखा जा सकता है उतना अन्यत्र कही नही। यश तथा दानशीलता का भी वर्णन किसी-किसी के सम्बन्ध मे हुआ है, किन्तु सारे वर्णन की विशेषता यह है कि प्रत्येक नितान्त नूतन तथा हृदय-ग्राह्य हुआ है। उदाहरणार्थ—कलिङ्गाधिपति के प्रताप वर्णन के प्रसङ्ग में सरस्वती कहती है, इनके भय से अपनी प्रिया को वन में छोडकर शत्रु-नरेश के प्राण बचा कर भाग जाने पर जब वनवासी कोल भील स्त्रियां उस सुन्दरी से पूछती है कि तुम्हारे देश में क्या विचित्रता है ? तो वह पति विरह-विधुरा उत्तर देती है, हमारे देश में चन्द्रमा की किरणे शीतल होती है, तुम्हारे यहा की तरह उष्ण नही।[1] अन्तिम वाक्य मे विरह का कितना मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है। इसके भोलेपन की आह को श्रीहर्ष ही पहचान सके। पण्डितराज जगन्नाथ के उत्तमोत्तम काव्य का यह उत्कृष्टतम स्वरूप है।

चेटी या दासी द्वारा उपहास का प्रयोजन

बीच-बीच मे किसी सखी चेटी या दासी द्वारा किया गया व्यङ्ग्य उपहास बड़ा ही समयोचित तथा अनूठा हुआ है। एक नरेश को छोडकर दूसरे के पास जाने का इससे बढकर अन्य कोई बहाना या प्रसङ्ग नही था। नरेशों का वर्णन किसी भौगोलिक क्रम से नही हुआ है। हो भी नही सकता था। स्वयंवर में जो जैसे आए वैसे बैठते गए। कोई क्रम तो रहा न होगा। सम्पूर्ण द्वादश सर्ग श्रीहर्ष की सहृदयता-पूर्ण काव्य-प्रतिभा का परिचायक है।

पांच नलों के परिचय में श्लेष का आश्रय

अब दमयन्ती के सम्मुख नल-रूप-धारी पांच व्यक्तियों के परिचय देने का समय आता है। कठिन समस्या है ! महाभारत में दमयन्ती को तुल्य आकृति के

---

१. इतस्त्रसद्विद्रुतभूभुदुज्झिता प्रियाथ दृष्टा वनमानवीजनैः।
शशंसपृष्टाद्भुतमात्मदेशजं शशित्विषः शीतलशीलतां किल॥ नै० १२।२६

पांच पुरुष दिखायी पडते हैं।[१] दमयन्ती उनमे से जिस किसी को देखती है उसे ही नल समझती है।[२] वहा परिचय देने वाला कौन था, और उसने उन पाँचो का परिचय किस प्रकार दिया––इसका कोई उल्लेख नही है। पर नैषध मे तो परिचय का भार श्रीहर्ष ने सरस्वती के ऊपर डाला है। विशेपतया इन पाचों नलों का परिचय तो सरस्वती के सिवा अन्य कोई दे भी नही सकता था। पहले तो चार-चार श्लोको मे इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण का पृथक्-पृथक् वर्णन होता है। फिर चार श्लोको द्वारा नल का वर्णन किया जाता है। साथ ही इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण का भी एक-एक मे क्रमशः श्लिप्ट वर्णन रहता है। एक श्लोक मे तो चारों देवों तथा नल इन पांचों का वर्णन होता है।

श्रीहर्ष ने परिस्थिति को बड़ी निपुणता के साथ संभाला है। इस श्लेष-रचना द्वारा उन्होंने कई उद्देश्य सिद्ध किए हैं। प्रथम तो अपनी काव्य-रचना की प्रौढता सिद्ध की हे। चतुर्दश सर्ग मे उन्होंने स्वय कहा है—इन बातो मे श्लेष (गुण) का होना सरस्वती की कवित्व-शक्ति का सहज प्रकाश (स्फुरण) है।[३] दूसरे, सरस्वती की प्रतिष्ठा की रक्षा की है, क्योकि यदि वे वास्तविक वर्णन करती तो देवो का भंडाफोड हो जाता, और इस प्रकार वे देवों का क्रोध-भाजन बनती। तीसरे, श्लेष के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नही था जिससे उन पाचों का ऐसा वर्णन किया जाता। स्व० श्री कीथ महोदय का कहना है कि "दमयन्ती चाहे सस्कृत जानती भी रही हो, पर देवी की बात को व्याख्या के बिना नही समझ सकती थी,[४]" तथा श्री सुशीलकुमार दे महोदय का कहना है कि "बेचारी दमयन्ती के लिए इससे एक बड़ी भ्रान्तिकारक परिस्थिति उपस्थित होती थी, क्योंकि टीका के बिना ये श्लोक सम्भवतः उसे बोधगम्य नहीं हो सकते थे।"[५] इन दोनों उदाहरणो से ऐसा प्रतीत होता है मनों दोनों विद्वानों ने दमयन्ती के गुण-वर्णनों को प्रायः विस्मृत कर दिया है। इन आलोचकों को हंस से बाते करते समय के ये दो दमयन्ती के वाक्य—

१—"का नाम वाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषकथयेदलज्जा।"[६]

---

१. ददर्श भैमी पुरुषान् पञ्चतुल्याकृतीनिह। म० भा० व० प०, ५७-१०

२. यं यं हि ददृशे तेषां तं तं मेने नलं नृपम्। म० भा०, व० प०, ५७-११

३. श्लिष्यन्ति वाचो यदमूरमुष्याः कवित्वशक्तेः खलु ते विलासाः। नै० १४।१६

४. कीथ—संस्कृतसाहित्य का इतिहास, पृ० १४१

५. दे—संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३२८

६. नै० ३।५९

हे द्विज (पक्षी) कौन निर्लज्ज बाला (स्त्री) राजा से (नल से) पाणिग्रहण की अभिलाषा (शब्दों द्वारा) कहेगी ?

हे द्विजराज (पक्षिराज) कौन निर्लज्ज वाला (स्त्री) (अपने) पाणिग्रहण की अभिलाषा (शब्दो द्वारा) कहेगी ?

कौन निर्लज्ज बाला (स्त्री) द्विजराज (चन्द्रमा) को हाथ से पकड़ने की अभिलाषा कहेगी ?

तथा २—"चेतोनलंकामयतेमदीय नान्यत्रकुत्रापि च साभिलाषम्"[1]

मेरा चित्त नल को चाहता है अन्यत्र कही भी उसकी अभिलाषा नही है।

मेरा चित्त न लंका की ओर जाता है, न तो कही अन्यत्र ही उसकी अभिलाषा है। जिनमें श्लेष की अद्भुत मनोरम छटा है—संभवत. विस्मृत हो गए। इन्ही श्लिष्ट वाक्यों से प्रभावित होकर हंस ने दमयन्ती को 'श्लेष-कवि' की उपाधि दी थी।[2] श्रीहर्ष की वैदर्भी पूर्ण विदुषी थी। स्वयं नल के शब्दों में—दमयन्ती के अधरोष्ठों पर अपने अवान्तर भेदों सहित कितनी विद्याए नाचती रहती हैं, मानों इसे कुतूहली ब्रह्मा ने श्रम के विना ही अधरोष्ठ की इन रेखाओं द्वारा गिना है।[3] और सुन्दरी के दो कानों ने अठारहों विद्याओ के दो (समान) भागो मे बांट कर जो आधी-आधी (नौ-नौ) धारण की हैं, क्या यह कानों मे बनी गहरी रेखा वाला ९ की संख्या का सूचक अंक उसी आधे की एक नई (अपूर्व) अर्थात् आश्रय रूप संख्या तो नही है ?[4] तथा विधाता ने दमयन्ती के कण्ठ मे कवित्व, सङ्गीत, प्रिय-वचन तथा सत्य इन चारों को स्थापित किया है, और तीन रेखाओ के वहाने उन्होंने उन चारो के निवास की सीमा विभक्त कर दी है।[5] देव-सन्देश कहते समय नल ने दमयन्ती को कई बार 'विदुषी' कहा है।[6] तो इतने स्थलों में सूचित विविध वैदुष्य के होते हुए भी क्या उसे उन श्लिष्ट श्लोकों का विविध अर्थ

---

१. नै० ३।६७

२. आश्लेषि न श्लेषकवेर्भवत्याः श्लोकद्वयार्थः सुधिया मया किम्। नै० ३।६९

३. विद्याविदर्भेन्द्रसुताधरोष्ठे नृत्यन्तिकत्यन्तरभेदभाजः।
इतीवरेखाभिरपश्रमस्ताः संख्यातवान् कौतुकवान् विधाता॥ नै० ७।४१

४. अस्या यदष्टादश संविभज्य विद्याः श्रुती दधतुरर्धमर्धम्।
कर्णान्तरूत्कीर्णगभीररेखः किं तस्य संख्यैव नवा नवाङ्कः॥ नै० ७।६३

५. कवित्वगानप्रियवादसत्यान्यस्या विधाता व्यधिताधिकण्ठम्।
रेखात्रयन्यासमिषादमीषां वासाय सोयं विबभाज सीमाः॥ नै० ७।६७

६. विदुषिब्रुवा—नै० ९।४३, विदुषी नै० ९।४९

समझने के लिए आजकल के पल्लव-ग्राही विद्वानों की भांति किसी टीकाकार की सहायता लेने की अपेक्षा थी? ऐसा तर्क कैसे सङ्गत हो सकता है? यदि उसकी समझ मे वह श्लिष्ट वर्णन न आया होता तो वह कैसे कहती, "अज्ञानवश मैं इस प्रकार की व्यर्थ शङ्का क्यों करूं, क्योंकि निश्चय ही यह ऐसा (अनेक नलों की प्रतीति रूप) इन्द्र आदि देवों का छल (माया) ही है। देवी सरस्वती ने भी तो इसी प्रकार का वर्णन किया है, जिससे कि उन दिक्पालों का भी बोध हो जाता है।"[१] अतः इस श्लिष्ट रचना के विषय मे ऐसी दुराशङ्का करनी उचित नही। और फिर, श्लिष्ट रचना की गूढता का प्रयोजन भी तो यही था कि जिससे व्याकुल होकर दमयन्ती देवशरण मे जाय। श्रीहर्ष का यह विश्वास है कि देव-कृपा के बिना किसी प्रकार का सुख या शान्ति नही मिल सकती। यदि उसकी गूढता उसे स्वयं स्पष्ट हो जाती तो देवकृपा की क्या आवश्यकता रह जाती। वह अपने आप नल की पहिचान कर लेती। कवि को यही अभीष्ट समझ पड़ता है कि वे श्लिष्टार्थ अत्यन्त स्पष्ट रूप में तब तक उसकी समझ में न आए जब तक उस पर देवो का अनुग्रह न हो जाय। उस समय (देवानुग्रह से पूर्व) सम्भवतः टीकाकार द्वारा भी वह उससे अधिक न समझ पाती। बुद्धि सुधारने का कार्य देवकृपा ही कर सकती है।[२] उस समय सन्देह एव भ्रान्ति से विकल दमयन्ती की मानसिक दशा का अत्यन्त वास्तविक तथा स्वाभाविक चित्रण हुआ है, "लोगों को कभी-कभी एक ही चन्द्रमा दो समझ पड़ता है किन्तु इस भ्रान्ति का कारण है आँख के कोने पर अगुली रखना इत्यादि। इसी प्रकार किसी के प्रतिबिम्ब को दिखायी पड़ने का कारण है उसका दर्पण के समीप पहुंचना, किन्तु इन नलों मे एक ही के पांच भेद होने की मेरी भ्रान्ति में कोई भी कारण नही समझ पड़ रहा है।[३] अथवा क्या मेरा खिलाड़ी प्रिय नल स्वयं इतने रूप बनाकर मुझसे परिहास तो नही कर रहा है? क्योंकि विज्ञानवेत्ता होने के कारण अश्व-हृदयज्ञान की भांति क्या उनमे कई रूप धारण करने की विद्या न होगी?[४]

---

१. मुग्धा दधामि कथमित्थमथापशङ्कां सङ्क्रन्दनादिकपटः स्फुटमीदृशोऽयम्।
देव्यानयैवरचिता हि तथा तथैषां गाथा यथा दिगधिपानपि ताः स्पृशन्ति॥
नै० १३।४६

२. देवा हि नान्यद्वितरन्तिकिन्तु प्रसद्य ते साधुधियंददन्ते।　　नै० १९।९

३. अस्ति द्विचन्द्रमतिरस्ति जनस्य तत्र भ्रान्तौ दृगन्तचिपिटीकरणादिरादिः।
स्वच्छोपसर्पणमपि प्रतिमाभिमाने भेदभ्रमे पुनरमीषु न मे निमित्तम्। नै० १३-४२

४. किंवातनोतिमयिनैषधएवकायव्यूहंविहायपरिहासमसौ विलासी।
विज्ञानवैभवभृतःकिमु तस्य विद्या सा विद्यते न तुरगाशयवेदितेव। नै० १३-४३

अथवा इनमें क्या एक नल हैं, दूसरे पुरूरवा हैं, तीसरे कामदेव हैं, तथा शेष दो अश्विनीकुमार हैं। पाचों का रूप सौन्दर्य की पराकाष्ठा होने के कारण एक ही-सा है, क्योकि पराकाष्ठा (चरम सीमा) तो एक ही होती है। सम्भव है मै इसी कारण सब को नल समझ बैठी हूं।[1] पहले विरह-विकल होने पर मेरे प्राणेश नल मुझे सब जगह दिखायी पडने लगते थे। क्या मेरी वही दशा फिर आ गई है, जिसके कारण मैं इतने असत्य नलों को देख रही हू।[2] मेरी बुद्धि को भ्रान्त करनेवाले इन पाचों के मध्य मे मेरे प्राणेश के मानवीय चिह्न तो अवश्य प्रकाशित होने चाहिए। किन्तु हाय, ये देवगण धूलि न छूना, पलक न गिराना आदि अपने देव-चिह्नों को क्यों नही धारण किए हुए है?[3] तो क्या मै देवों से नल के लिए प्रार्थना करूं? किन्तु यह व्यर्थ है, क्योंकि नल-प्राप्ति के लिए प्रतिदिन उन देवों की पूजा करने पर भी कोई फल न हुआ। संभवत: मदन के बाणों ने उनके हृदय के करुणा-वरुणालय को सुखा दिया है, और अब यह सूखे गर्त के समान कठोर तथा सूना हो गया है।"[4] अथवा मैं देवी सरस्वती के ही हाथ में वर माला देकर कह दूं कि इनमें जो निषधेश्वर हों उन्ही के गले में इसे डाल दो। परन्तु इस प्रकार तो देवी इन देवो की शत्रु बन जायँगी। तृण रूप अपने लिए मै रत्न-तुल्य अपने सुहृद् को नष्ट करूँ।[5] अथवा, इनमे जो वास्तविक नल हों वह मेरी इस वरमाला को स्वीकार करे। इस प्रकार कह कर इस माला को वास्तविक नल को पहना दू। किन्तु लज्जा त्याग कर लोगों के सुनते हुए इसे कैसे करूं,

---

१. एको नलः किमयमन्यतमः किमैलःकामो परःऽकिमुकिमु द्वयमाश्विनेयौ।
किं रूपधेयभरसीमतयासमेषु तेष्वेवनेह नलमोहमहं वहे वा॥ नै० १३।४४

२. पूर्वंमया विरहनिःसहयापि दृष्टः सोऽयं प्रियस्तत इतो निषधाधिराजः।
भूयः किमागतवती मम सा दशेयं पश्यामियद्विलसितेन नलानलीकान्॥
नै० १३।४५

३. एतन्मदीयमतिवञ्चकपञ्चकस्थे नाथेकथं नु मनुजस्य चकास्तु चिह्नम्।
लक्ष्माणि तानि किममी न वहन्ति हन्त बहिर्मुखा धुतरजस्तनुतामुखानि॥
नै० १३।४७

४. याचे नलं किममरानथवा तदर्थं नित्यार्चनादपि ममाफलितैरलं तैः।
कन्दर्प-शोषण-शिलीमुख-पात-पीत-कारुण्य-नीरनिधिगह्वरघोरचित्तैः॥
नै० १३।४८

५. देव्याः करे वरणमाल्यमथार्पयेवा योवैंरसेनिरिहतत्रनिवेशयेति।
सैषा मयामखभुजांद्विषती कृता स्यात् स्वस्मै तृणाय तु विहन्मि न बन्धुरत्नम्॥
नै० १३।५२

यह तो भारी उपहास होगा।"[1] जब अपनी बुद्धि तथा विवेक-शक्ति का किसी प्रकार कोई वल नही चलता उस समय कर्तव्य-विमूढ़ मन की आतुरता अत्यन्त बढती जाती है, और आतुर मन देवशरण में ही सुख की आशा करता है। अतः दमयन्ती के मानसिक विकल्पों का प्रदर्शन अवसरोचित होने के साथ ही आवश्यक भी है।

दमयन्ती पर देवों की कृपा

महाभारत के अनुसार, आतुर दमयन्ती मन से देवों की शरण मे जाती है और उन्हे नमस्कार करके नल के प्रति अपने दृढ अनुराग के बल पर देवो से अपने रूप को प्रकट करने के लिए प्रार्थना करती है, जिससे वह पुण्य-श्लोक राजा नल को पहचान सके।[2] किन्तु नैषध मे देवगण दमयन्ती की भक्ति से प्रसन्न होकर उसकी वुद्धि को सुधारते है, जिससे सरस्वती के श्लेषमय वर्णन का अर्थ उसे अत्यन्त विशद हो जाता है। देवता प्रसन्न होने पर कुछ देते नही केवल बुद्धि सुधारते हैं।[3] अब उसने निश्चित रूप से पाचवे नल को निषधेश्वर समझ लिया। देवों के भी लक्षण उसे साफ दिखाई पड़ने लगे। अब तक देव-कृत भ्रम ही उसे सता रहा था। श्रीहर्ष ने देवों के प्रति अपार आस्था व्यक्त की है।

दमयन्ती की ओर से सरस्वती का देवों को प्रसन्न करना

वर-माला डालने के पूर्व सरस्वती के व्यंग्योपहास भी बड़े अवसरोचित कल्पित किए गए है। देवी सरस्वती दमयन्ती के उस अभिप्राय को जानकर भी न जानती-सी बोली—"सुन्दरि! अपनी लज्जा रूपी जवनिका से तुम अपने भावों को मुझे भी नहीं जानने देती हो।"[4] "तुमने नल के विषय मे तो" 'न' कह दिया है, अतः किसी दूसरे का नाम बताओ।" "अथवा नल को केवल 'न' मात्र कहा है आगे का "ल" भी कह डालो।" सरस्वती के इस प्रकार कहने पर लज्जा तथा मदन की

---

१. यः स्यादमीषुपरमार्थनलः स मालामङ्गीकरोतु वरणाय ममेति चैनाम्।
तं प्रापयामि यदि तत्तुविसृज्य लज्जां कुर्वे कथं जगति शृण्वति ही विडम्बः॥
नै० १३।५३

२. महा० भा०, व० प०, ५७।१६-२१

३. प्रसादमासाद्य सुरैः कृतं सा सस्मार सारस्वत-सूक्ति-सृष्टैः।
देवाहि नान्यद्वितरन्ति किन्तु प्रसद्य ते साधुधियं ददन्ते॥ नै० १४।९

४. अजानतीवेदमवोचदेनामाकूतमस्यास्तदवेत्य देवी।
भावस्त्रपोर्मिप्रतिसीरया ते न दीयते लक्षयितुं ममापि॥ नै० १४।३१

द्वन्द्व-भूमि दमयन्ती ने केवल आँखों से नल की ओर सङ्केत कर दिया।[१] मुग्धा वधू की चुटकी लेने मे सखियों को आनन्द आता ही है—इस समय सरस्वती देवी भी अन्य स्त्रियों की भाति सचमुच वामा (वक्रा) ही बनी थी।[२]

अन्त मे सुन्दर तर्क के साथ उन्होंने देवों को दमयन्ती के प्रति सन्तुष्ट कर दिया। दमयन्ती को देवों के सम्मुख ले जाकर कहा—"यदि दमयन्ती आप सब को वर लेती तो इसका सतीत्व नष्ट होता, यदि किसी एक को वरती तो दूसरे का अपमान होता। अत हे दिक्पालो, आप सब के अंशरूप उस राजा को ही यह वर रही है।"[३]

दमयन्ती को सरस्वती के वरदान

वरमाला डालने के बाद के दमयन्ती तथा नल के सात्त्विक भावों को भी श्रीहर्ष ने ताड़ लिया। रोमाच, स्तम्भ, स्वेद, कम्प आदि का सुन्दर चित्रण किया है।[४] फिर देवों का नल-रूप त्याग कर अपने वास्तविक रूप धारण करने का चित्र खीचा है। "मिथ्या नल के रूप को त्यागने वाले इन्द्र के गुप्त सहस्रों नेत्र मानो दमयन्ती के सात्त्विक भाव की शोभा देखने के लिए होड़ के साथ प्रकट हो गए।[५] अग्निदेव का शरीर ऊची लपटो से युक्त हो गया। मानो कामजनित अपने अविवेक रूप अन्धकार को शान्त करने की इच्छा से उन्होंने दीप जलाया हो।[६] यमराज ने अपना वास्तविक शरीर धारण किया—वे लोहदण्ड हाथ मे लिए हुए, लाल नेत्रों के कारण भयावह, अन्धकार फैलाते हुए-से थे। मानो उस समय राजाओं के हृदय मे बैठने के लिए क्रोध साक्षात् मूर्ति धारण करके वहीं आ गया हो।[७] उस समय भगवान् वरुण अपने

---

१. त्वत्तः श्रुतं नेति नले मयातः परं वदस्वेत्युदिताय देव्या।
ह्रीमन्मथद्वैरथरङ्गभूमी भैमी दृशा भाषितनैषधाभूत्॥ नै० १४।३६

२. वामेति नामैव बभाज सार्धं पुरन्ध्रिसाधारण-संविभागम्॥ नै० १४।३३

३. युष्मान् वृणीते न बहून् सतीयं शेषावमानाच्च भवत्सु नैकम्।
तद्वःसमेतान् नृपमेनमंशान् वरीतुमन्विष्यति लोकपालाः॥ नै० १४।४३

४. नै० १४, ५३-५९

५. माया नलत्वं त्यजतो निलीनैः पूर्वैरहंपूर्विकया मघोनः।
भीमोद्भवासात्त्विकभाव-शोभादिदृक्षयेवाविरभावि नेत्रैः॥ नै० १४।६१

६. स्वकामसम्मोहमहान्धकार-निर्वापमिच्छन्निव दीपिकाभिः।
उद्गत्वरीभिश्छुरितं वितेने निजं वपुर्वायुसखःशिखाभिः॥ नै० १४।६३

७. तमःकिरं कायमधत्त कालः।
तत्कालमन्तःकरणं नृपाणामध्यासितं कोप इवोपनम्रः॥ नै० १४।६५

जल-तत्त्व-प्रधान शरीर को धारण किए हुए सुशोभित हो रहे थे। हाथों में अपना प्रसिद्ध शस्त्र पाश, धारण किए हुए थे। मानों उसी पाश से उन्होंने अपने मन को दमयन्ती से वाध रक्खा था, किन्तु अव दमयन्ती के नल के पास चली जाने से उन्होंने अपने मन को भी उससे मुक्त कर दिया है, और पाश फिर उनके हाथ मे आ गया है।[१] सभा मे इससे एक प्रकार का अच्छा कौतुक देखने को हो गया।[२] महाभारत में इसका कोई उल्लेख नही—देवों के वरदान देने मात्र का उल्लेख किया गया है। यहा देवों का वरदान प्राय. महाभारत जैसा ही है। सरस्वती का वरदान तो उसी प्रकार कवि-कल्पित है जैसे स्वय सरस्वती। जब सरस्वती भी आई और दमयन्ती से प्रसन्न थी, तो उन्हे भी कुछ न कुछ वरदान देना ही चाहिए। अतः कथानक में इसका सन्निवेश अत्यन्त उचित ही है। वस्तुतः तो वह श्रीहर्ष को दिए हुए सरस्वती के वरदानों का ही उल्लेख है। सरस्वती उन्हे चिन्तामणि मन्त्र की सिद्धि का वरदान देती है, तथा जैसे नल को वैदर्भी मिलती है, वैसे नल-चरित रचने वाले कवि को वैदर्भी रीति के इष्ट होने का वरदान देती है।[३] और अन्त मे कहती है कि आप के चरित का गान करने वाले मेरी कृपा के पात्र कवि के मुख से आपके विषय मे निकले श्लोक लोगों को अतिशय आनन्ददायी होंगे। इस प्रकार पृथ्वी तल पर आप भगवान् विष्णु की भाति लोगो के कलि-पाप-हारी पुण्यकीर्ति होगे।"[४]

दमयन्ती का प्रत्येक नरेश को एक एक सुन्दरी दिलवाना

स्वयंवर समाप्त होने पर दमयन्ती ने प्रत्येक नरेश को पिता से प्रार्थना करके

---

१. तस्यां मनोबन्धविमोचनस्य कृतस्य तत्कालमिव प्रचेताः।
पाशं दधानः करबद्धवासंविभुर्बभावाप्यमवाप्य देहम्॥ नै० १४।६७

२. विलोकके नायकमेलकेऽस्मिन् रूपान्यताकौतुकदर्शिभिस्तैः।
बाधा बतेन्द्रादिभिरिन्द्रजाल-विद्याविदां वृत्तिवधाद् व्यधायि॥ नै० १४।७०

३. गुणानामास्थानीं नृपतिलकनारीतिविदितां
रसस्फीतामन्तस्तवचतवबृत्तेचकवितुः ।
भवित्री वैदर्भीमधिकमधिकण्ठं रचयितुम्
परीरम्भक्रीड़ाचरणशरणामन्वहमहम् । नै० १४९१

४. भवद्वत्तस्तोतुर्मदुपहितकण्ठस्य कवितु
र्मुखात्पुण्यैः श्लोकैस्त्वयिघनमुदेयं जनमुदे।
ततः पुण्यश्लोकःक्षितिभुवन लोकस्यभविता,
भवानाख्यातः सन्कलिकलुषहारीहरिरिव॥ नै० १४।९२

एक-एक स्वसमान सुन्दरी सखी दिलवाई।[1] यह श्रीहर्ष की अपनी उद्भावना है। इसके कारण जैसा "राज-वैशस" इन्दुमती-स्वयवर के पश्चात् हुआ था तथा जो प्राय. स्वयवरों मे हुआ करता था, वह यहां न हो पाया और इस प्रकार दमयन्ती-चरित्र की महत्ता भी प्रमाणित हो गई।[2]

विवाह तथा अन्य उपक्रम

इसके पश्चात् पन्द्रहवे से बाईसवे सर्ग तक का कथानक श्रीहर्ष की सारी अपनी कल्पना है। महाभारत मे विवाह तथा वैवाहिक आनन्द का अत्यन्त संक्षेप मे वर्णन किया गया है।[3] किन्तु नैषध मे उन अवसरों की सूक्ष्मतम घटनाओं को भी हृदयग्राही ढंग से चित्रित किया गया है। विवाह का समारम्भ, नगर की सजावट, विभिन्न वाद्यो का मधुर रव, वर-वधू का विवाहोचित शृङ्गार, वर-यात्रा, पौराङ्गनाओ की वर देखने की उत्सुकता मे देह-वसन की सुध भूलना आदि ऐसे प्रसङ्ग है जिनकी श्रीहर्ष-ऐसा सहृदय तथा सूक्ष्मदर्शी कवि कभी उपेक्षा नही कर सकता था। सम्पूर्ण पञ्चदश सर्ग इन चित्रो की वीथी-जैसा प्रतीत होता है। इसके पश्चात् विवाहोत्सव का साङ्गोपाङ्ग चित्रण होता है। इससे कथानक मे कोई प्रगति नही आती है। वर-यात्रा, वर-स्वागत, विवाह-विधिया, यौतक मे दी गई वस्तुए, बरातियो का भोज तथा उपहास, पुत्री की विदाई आदि सारा विवरण इतना विस्तृत एव विशद दिया गया है कि लगता है मानों श्रीहर्ष स्वय भी उस बारात मे सम्मिलित हुए थे। कवि अपने समय के समाज को एकदम नही भुला सकता। प्राचीन की कल्पना वह वर्तमान के आधार पर करता है। नल-विवाह मे श्रीहर्ष ने अपने समय के समाज का चित्रण किया है। वर्णन मे नीरसता कही नही आने पाई है।

बरातियों का व्यङ्ग्योपहास

बरातियों के उपहास में अश्लीलता भी आ गई है। इसे कुछ पाश्चात्य तथा कुछ भारतीय विद्वानों ने अत्यन्त अनुचित बताया है। डा० सु० कु० दे ने दमयन्ती के भाई कुमार दम द्वारा बरातियों के भोजन कराने के प्रसङ्ग का उल्लेख करते हुए कहा है कि "वाक्पटुता के नाम पर अश्लील वचन-भङ्गियों को भी रखने में श्रीहर्ष ने कोई हिचकिचाहट नही दिखाई। अतः यदि कोई पाश्चात्य समालोचक अर्वाचीन

---

१. तातेनाभ्यर्थ्य योग्याः समपदि निजसखीर्दापयामासतेभ्यः॥ नै० १४।९७

२. भूभृद्भिर्लम्भितासौकरुणरसनदीमूर्तिमद्दैवतात्वम्॥ नै० १४।९७.

३. म० भा०, व० प०, ५७।४१, ४२, ४३, ४५।

मापदण्ड से नैषध की आलोचना करते हुए उसे भद्दी रुचि तथा भद्दी शैली की सब प्रकार से पूर्ण रचना कहे तो इसमे कोई आश्चर्य नही।"[1] आलोचना कटु होते हुए भी बहुत कुछ सत्य है। किन्तु हमे यह नही भूलना चाहिए कि बरात एक राजा की है, जिसमे विलासियों, चेटों, विटो तथा विदूषकों आदि का ही साम्राज्य रहता है। अवसर भी भोजन का है, जब उपहास अपनी चरम-सीमा पर रहता है, और परोसने वाली वाराङ्गनाएं है, जिनसे जन-साधारण को हर समय विनोद करने का पूर्णाधिकार है। अब मजाक रुके तो कैसे? वर-पक्ष का प्रत्येक मनुष्य कन्या-पक्ष वाले पुरुषों तक से ऐसा नाता जोड़ता है, जिससे उसे परिहास-विनोद करने का पूर्ण अधिकार हो—फिर स्त्रियो से कैसे न जोड़ेगा? और जब वे वाराङ्गनाएं हो तो क्या कहना! आज भी बरातों मे उपहास का वही रूप देखा जा सकता है। भोजन के समय स्त्रियों की प्रिय सरस गालियां आज भी वैसी ही सुनी जा सकती है। यदि कही नल या दमयन्ती ने इसमे भाग लिया होता तो वह अवश्य मर्यादाहीन हो जाता और सब प्रकार से निन्द्य होता। श्रीहर्ष अपने समाज को चित्रित करने का प्रलोभन न रोक सके। यहां एक बात और ध्यान देने की है कि अश्लीलार्थ वाले पद प्रायः सभी श्लिष्ट ही है। उनका एक अर्थ तो अत्यन्त साधारण होता है, जिसमे कोई परिहास नही, और दूसरे मे गूढ परिहास भरा रहता है। साहित्य-शास्त्र के आचार्यो ने अश्लील दोष का विवेचन करते समय सुरतारम्भ गोष्ठी आदि में उसे निर्दोष बताया है, तथा काम-शास्त्र के आचार्यो का मत लेकर ऐसे अवसर पर अश्लीलार्थ वाले पदों को श्लिष्टार्थ रूप मे रखने की सलाह दी है। भारतीय साहित्या-लोचना के इस सिद्धान्त को ही श्रीहर्ष ने भलीभाति निभाया है। तथापि इसके विना भी काम चल सकता था। नैषध की प्रवन्ध-कल्पना मे इसका कोई विशेष महत्त्व नही है।

स्वर्ग लौटते समय देवों का देर तक आकाश में बना रहना

चतुर्दश सर्ग के अनुसार नल-दमयन्ती को वरदान देकर देवगण सरस्वती-सहित स्वर्ग को चल दिए थे।[2] किन्तु षोडश सर्ग के अन्त में पता चलता है कि वे अभी आकाश में ही मंडरा रहे थे। वहां से नल-दमयन्ती का विवाह, उनका एक रथ पर जाना, परस्पर कुछ चकित कटाक्षों से एक दूसरे को देखना आदि सकौतूहल

---

१. दे०—संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३२८।

२. इत्थं वितीर्य वरमम्बरमाश्रयत्सु तेषु क्षणात्। नै० १४।९५

देख रहे थे, और अब हर्षोत्फुल्ल हो स्वर्ग जाने की सोचने लगे।[1] देवों को इतनी देर तक आकाश मे बाध रखने का श्रीहर्ष का कोई उद्देश्य-विशेष था। काव्य-प्रवन्ध मे उसकी आवश्यकता थी, कलि प्रसङ्ग लाना था। यदि देवगण आँखो से ओझल हो जाते तो इस प्रसङ्ग को लाने का अवसर न मिलता, जिससे श्रीहर्ष के कई प्रयोजन सिद्ध न होते। कलि का देवों के साथ जो शास्त्रार्थ प्रवृत्त होता है वह इस प्रसङ्ग का प्रधान उद्देश्य समझ पडता है।

श्रीहर्ष के समय भारतीय दार्शनिक विचारधारा

श्रीहर्ष दार्शनिक थे। उनके समय मे दार्शनिक विचारों मे बडी उथल-पुथल थी। अनीश्वरवादी बौद्ध सम्प्रदाय पूर्ण विकृतावस्था को पहुंच चुका था। कापालिक शैव तथा कालामुख सम्प्रदायों की जीवन-भयङ्करता भी दृष्टिगोचर होती थी। कापालिकों की भोगासक्ति तथा जघन्य-चर्या प्रायः वही हो गई थीं जो बौद्ध-भिक्षुओं तथा क्षपणको की थी। शाक्तों का कौलिक सम्प्रदाय भी पूजा के समय पञ्च-मकार का सेवन किया करता था। एक ओर वेदान्त, न्याय, योग आदि सम्प्रदाय ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध कर रहे थे, तो दूसरी ओर साख्य सम्प्रदाय निरीश्वर-वाद के प्रचार मे लगा हुआ था। पूर्व-मीमांसक यदि कर्मकाण्ड का प्रतिपादन कर रहे थे, तो वेदान्ती ज्ञान द्वारा ही मोक्ष-प्राप्ति सिद्ध कर रहे थे। इन सब के साथ ही नास्तिक एवं प्रत्यक्ष-प्रधान चार्वाक सम्प्रदाय अक्षुण्ण बना था। बौद्धों ने इसे नष्ट करने का यद्यपि बड़ा प्रयत्न किया था, और श्री शङ्कराचार्य ने इसको निर्मूल-सा ही कर दिया था, किन्तु "जब तक जीवन है सुख से जिये, ऋण करके घी पिये। (चिता पर) जल जाने के बाद इस शरीर का फिर आना कहाँ से।"[2] वाला नारा अब भी उतने ही जोर से सुनाई पड़ता था। आस्तिक-दर्शन के निष्ठावान् विद्वान् होने के नाते श्रीहर्ष ने कलि-प्रसङ्ग लाने को नास्तिकवाद के खण्डन का समुचित अवसर समझा। चार्वाक मत केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को मानता है और बौद्धमत प्रत्यक्ष तथा अनुमान, दो को। दोनों ही वेद (शब्द प्रमाण) को प्रमाण नही मानते। वेद तथा वेद के अनुयायी शास्त्रों पर नास्तिक मतों का बड़ा कटु कटाक्ष रहा करता है। प्रत्यक्ष

---

१. इति परिणयमित्थंयानमेकत्रयाने दरचकितकटाक्ष-प्रेक्षणं चानयोस्तत्।
दिविदिविषदधीशाः कौतुकेनावलोक्य प्रणिदधुरिवगन्तुं नाकमानन्दसान्द्राः॥
नै० १६।१३०

२. यावज्जीवं सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

और अनुमान के सहारे शब्द-प्रमाण की खिल्ली उडाना ही नास्तिकों की तर्क-शैली रहती आई है। सर्व-साधारण के अनुभव-गोचर होने के कारण प्रत्यक्ष पर आधारित सिद्धान्त बड़े आपातरमणीय तथा ग्राह्य लगते है। वितण्डावाद मे अत्यन्त प्रवीण खण्डनखण्ड-खाद्य ऐसे ग्रन्थ के रचयिता श्रीहर्ष ने नास्तिको की इस चाल को भलीभाति जान लिया था। अनुभव-जन्य प्रत्यक्ष और अनुमान के महारे ही उन्होने वेद तथा शास्त्रो की प्रामाणिकता सिद्ध की।

चार्वाक के सन्देह तथा उनकी निवृत्ति

चार्वाक की सर्वप्रथम विचिकित्सा यज्ञफल के प्रति होती है[१] "जैसे पत्थर का पानी मे तैरना कभी सत्य नही उसी प्रकार यज्ञ-फल के प्रति वेदो का वचन सत्य नही।' उसके विचार से केवल दो ही महापुरुष ऐसे हुए जिन्होने उचित मत का प्रतिपादन किया। एक बोधिसत्त्व[२] दूसरे जीव[३] (बृहस्पति)। वेद-शास्त्र तथा यज्ञ-फल मे अविश्वास, आत्मा, मूर्तिपूजा, परलोक, देव, गो, ब्राह्मण, तीर्थ, वंश-विशुद्धि इत्यादि मे पूर्ण अनास्था तथा स्वच्छन्दता एवं कामाचारिता का समर्थन नास्तिक-तर्क के प्रधान विषय है। आस्तिक मत का प्रतिनिधित्व करते हुए देवो ने पृथक्-पृथक् सारे नास्तिक तर्को का खण्डन किया। "वेद ने पाप-परीक्षा के लिए जल, अग्नि, तुला आदि जिन दिव्य विधानो का निर्देश किया है उनको उसी प्रकार घटित होते हुए देखकर भी नास्तिक-बुद्धि बनी है।[४] सब प्रकार से स्वस्थ पति-पत्नी के संयोग होने पर भी जो गर्भ नही रहता उसका कारण पूर्व जन्म के कर्म के सिवा और क्या सोचा जा सकता है?[५] पुत्र-प्राप्ति के लिए पुत्रेष्टि, शत्रुमारण के लिए श्येनयाग, वृष्टि के लिए कारीरी (इष्टि) तथा इसी

---

१. ग्रावोन्मज्जनवद् यज्ञफलेऽपिश्रुतिसत्यता—नै० १७।३७

२. केनापि बोधिसत्त्वेन जातं सत्त्वेन हेतुना।
यद्वेदमर्मभेदाय जगदे जगदस्थिरम्॥ नै० १७।३८

३. अग्निहोत्रं त्रयीतन्त्रं त्रिदण्डं भस्मपुण्ड्रकम्।
प्रज्ञापौरुष-निःस्वानां जीवो जल्पति जीविका॥ नै० १७।३९

४. जलानलपरीक्षादौ संवादो वेदवेदिते।
गलहस्तितनास्तिक्यां धिग्धियंकुरुतेऽनते॥ नै० १७।८८

५. सत्येव पतियोगादौ गर्भादेरधुवोदयात्।
आक्षिप्तं नास्तिकाः कर्म न किं मर्म भिनत्तिवः॥ नै० १७।८९

द्वारा प्रस्तुत किए गए सभी पूर्वपक्षों का उत्तर न देख कर, 'श्रीहर्ष को भी वे मान्य थे' ऐसा न समझना चाहिए। उनका उत्तर श्रीहर्ष ने अभिधा-द्वारा नही तो व्यञ्जना द्वारा दे दिया है। उनकी 'धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तय'[1] यह गर्वोक्ति पूर्ण सत्य सिद्ध होती है। इस कलि-प्रसङ्ग के बहाने उन्होंने प्रचलित इन्द्रिय-भोग-वाद की अपार्थता भी सिद्ध कर दी है।

नल राज्य की सुव्यवस्था

देवों से विवाद करने के पश्चात् नल के प्रति द्वेष से अन्धा कलि द्वापर को साथ मे लेकर नल की राजधानी मे पहुँचता है। वहाँ खडे होने के लिए भी उसे रत्ती भर जगह नही मिलती। उसके भटकने के ही वर्णन मे श्रीहर्ष ने साठ श्लोक रच डाले हैं। ऊपर से देखने मे उनका यह विषय-विस्तार बड़ा सदोष प्रतीत होता है, किन्तु थोड़ा-सा ध्यान देने पर इसका प्रयोजन तथा महत्त्व स्पष्ट होने लगता है, जो इस प्रबन्ध-काव्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अभी तक जहाँ कही नल का वर्णन हुआ है (प्रथम, तृतीय, तथा त्रयोदश मे) वहाँ उनके सुन्दर रूप, प्रताप, शत्रु-विजय तथा दानशीलता आदि गुणो की ही प्रशंसा गायी गई है। एक आदर्श प्रजापालक नरेश के रूप मे उसका कही चित्रण नही हुआ है। अत. नल के साम्राज्य मे प्रजा की सुख-समृद्धि किस प्रकार की थी, लोगों की क्या दिनचर्य्या थी, समाज की सङ्घटना किस आदर्श पर थी, वर्णाश्रम धर्म का कहाँ तक पालन होता था, वैदिक यज्ञादि विधियो का अनुष्ठान किस प्रकार होता था, तप स्वाध्याय में प्रजा किस प्रकार रत थी, इत्यादि विषय दिखाने के लिए ही उन्होंने इस प्रसङ्ग को अत्यन्त उचित अवसर समझा। यदि स्वयं कवि ने राजा की प्रशंसा के रूप में यह वर्णन किया होता तो यह उतना रोचक न लगता, किन्तु प्रत्येक वर्णन एक व्यक्ति विशेष (कलि) की अपेक्षा से किया गया है। अत. यह जानने की उत्कण्ठा बनी रहती है कि अमुक व्यवस्था का उस व्यक्ति पर क्या प्रभाव पड़ा, तथा उसका इस वर्णन से क्या संबंध हुआ? नल के राज्य में विभिन्न यज्ञादि अनुष्ठानों के चित्र कलि की परेशानी की पृष्ठभूमि पर अङ्कित किए गए हैं। अतः वे रोचक ही लगते हैं, न कि उद्वेजक। नल-राज्य की वही कल्पना है जो एक आदर्श रूप भारतीय वैदिक धर्मानुयायी राजा की हो सकती है। वह राज्य राजन्वान् था। नास्तिक धर्म उस राज्य मे नाम को भी नही था। कलि वहाँ किसी जैनमत के अनुयायी की खोज मे था और पाया ब्रह्मचारी का अजिन। चाहता था बौद्ध क्षपणक

---

१. नै० २२।१५३

और पाया राजसूय यज्ञ के पासे मे दाव पर रक्खा हुआ धन (अक्ष-पण) जो वेदविहित था।[१]

सत्रहवे सर्ग की कल्पना का एक और विशेष उद्देश्य है। पुण्यश्लोक सत्यसन्ध नल का विरोध करने के कारण इन्द्रादि देवों के प्रति पाठकों के मन में जो एक दुर्भावना बन जाती है उसे दूर करने के लिए श्रीहर्ष ने एक प्रख्यात महापापी की चर्चा कर दी। कलि तथा उसके सारे सहयोगी जनसाधारण के घृणा के पात्र है। उसके कुत्सित रूप एवं नल के प्रति उसके अकारण वैर आदि का प्रसङ्ग उपस्थित करके श्रीहर्ष बड़ी कुशलता के साथ नल के प्रति देवों के कुकृत्य एवं प्रतिनायकत्व को भुलावा देते हैं। इस पर विशेष विवेचन चरित्राङ्कन के प्रसङ्ग मे किया जायगा।

नैषध में 'काम' पुरुषार्थ

अट्ठारहवे से बाईसवे सर्ग तक नल की दैनिक जीवन-चर्या के ही विभिन्न पहलुओ का सरस चित्रण हुआ है। इन पाच सर्गो मे कथानक नही के बराबर है। अट्ठारहवे मे सम्भोग शृङ्गार का बड़े विस्तार के साथ निरूपण किया गया है। काव्यों मे किसी एक रस की प्रधानता के साथ किसी एक पुरुषार्थ की भी प्रधानता होनी चाहिए। अन्य पुरुषार्थो की भी उपेक्षा नही की जा सकती, क्योंकि केवल एक मे आसक्त व्यक्ति को जघन्य[२] कहा गया है। सफल जीवन वही है जिसमें धर्म, अर्थ और काम तीनों का ठीक सामञ्जस्य रक्खा जाय। अर्थ केवल साधन है। अर्थ से सम्पन्न तथा धर्म से अनुप्राणित काम प्रायः काव्यों का प्रधान पुरुषार्थ रहा है। कुछ शान्त रस-प्रधान काव्यों मे मोक्ष पुरुषार्थ भी प्रधान रूप से व्यक्त किया गया है, जैसे महाभारत में।[२] नैषध में वैसे तो काम पुरुषार्थ की ही प्रधानता है किन्तु

---

१. अपश्यञ्जिनमन्विष्यन्नजिनं ब्रह्मचारिणाम्।
क्षपणर्थीसदीक्षस्य सचाक्षपणमैक्षत॥ नै० १७।१८९

श्रीहर्ष ने यहां व्यञ्जना (उत्तमकाव्य) द्वारा नल का उत्तम नरेश के रूप में चित्रण तो किया ही है, साथ ही अपनी कर्मकाण्ड आदि की विशेषज्ञता का भी पूर्ण परिचय दे दिया है। अतः प्रबन्धकल्पना के विचार से सप्तदश सर्ग अनावश्यक नहीं कहा जा सकता।

२. महाभारतेऽपिशास्त्रकाव्यरूपच्छायान्वियिनि, वृष्णिपाण्डवविरसावसान-वैमनस्यदायिनीं समाप्तिमुपनिबध्नता महामुनिना वैराग्यजननतात्पर्यं प्राधा

अन्य तीनों का भी उचित स्थान है। अट्ठारहवे सर्ग के प्रारम्भ में श्रीहर्ष ने काम-पुरुषार्थ के वर्णन की सूचना दे दी है। "इस प्रकार ललना-ललाम प्रिया दमयन्ती को पाकर राजा नल काम-समुद्र पार जाने के लिए नौका के समान उस प्रिया से रमण करने मे प्रवृत्त हुए।[१]" पर यह काम आसक्ति-रहित जीवन की एक चर्या के रूप मे आया है। "दिनरात दमयन्ती के साथ भोग का आनन्द लेते हुए भी आत्मज्ञानी नल को पाप का लेश भी न छू गया। जिनका अन्त.करण ज्ञान से निर्मल हो चुका है उनको कृत्रिम रूप से किए गए विषय-भोगों में कोई आसक्ति नही होती।[२]" काम-वर्णन के पूर्व कवि ने नल का राजवैभव दिखाया है,[३] जिनमे उनकी अर्थपुरुषार्थ-सम्पन्नता दिखाई गई है। तथापि श्रीहर्ष नल दमयन्ती के इस काम-केलि के वर्णन को अपनी सर्वथा मौलिक रचना कहते हुए प्रतीत से होते हैं।[४] विलासोचित प्रासाद का वर्णन काम-शास्त्र के अनुसार हुआ है।[५] इसी कामक्रीडा के समय देव-वरदानो का भी प्रयोग हुआ है।[६]

प्रभात-वर्णन

उन्नीसवे सर्ग मे महाकाव्यों की प्रचलित परम्परा के अनुसार प्रभात-वर्णन

न्येन स्वप्रबन्धस्य दर्शयता मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः शान्तोरसश्च मुख्यतया विवक्षाविषयत्वेन सूचितः। ततश्चशान्तो रसो रसान्तरैः मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः पुरुषार्थान्तरैस्तदुपसर्जनत्वेनानुगम्यमानोऽङ्गित्वेन विवक्षाविषय इति महाभारततात्पर्यं सुव्यक्तमेवावभासते—ध्वन्यालोक, चतुर्थ उद्योत।

१. सोयमित्यमथभीमनन्दिनीं दारसारमधिगम्य नैषधः।
तांतृतीयपुरुषार्थवारिधेः पारलम्भनतरीमरीरमत्॥ नै० १८।१

२. आत्मवित् सह तयादिवानिशं भोगभागपि न पापमापसः।
आहृताहिविषयैकतानता ज्ञानधौतमनसं न लिम्पति॥ नै० १८।२

३. नै० १८।३-२७

४. तत्र सौत्रसुरभूधरे ययोराविरासुरयकामकेलयः।
ये महाकविभिरप्यवीक्षिताः पांसुलाभिरपि ये न शिक्षिताः॥ नै० १८।२९

५. कामसूत्र अ० १८ पृ० २१० नि० सा० प्रे० प्रकाशन।

६. नै० १८।६८।८८

किया गया है। उष काल से प्रारम्भ कर दूरारूढ सूर्य तक का क्रमिक वर्णन किया गया है। इसका विशेष विवेचन उचित प्रसङ्ग मे करेंगे।

प्रणयमान तथा अन्य जीवनचर्या

वीसवे सर्ग मे दमयन्ती का प्रणयकृतमान है।[१] उसे भङ्ग करने के लिए नल साम, सखियों मे भेद, नति आदि कई उपाय करते है।[२] यह सम्भोग-शृङ्गार का एक रूप ही है। सखी का प्रसङ्ग लाकर श्रीहर्ष ने कामशास्त्र के गुह्य रहस्यों के उद्घाटन का अवसर ढूढ लिया है। राजा ने सखियों के सम्मुख दमयन्ती से अपनी वास्तविकता का परिचय देते हुए जो कहा है[३] उस पर शकुन्तला के पंचम अङ्क का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है, जहाँ शकुन्तला ने राजा दुष्यन्त के दरबार मे अपने प्रेम की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए एकान्त में घटित अतीत की घटनाओं का उल्लेख किया है। यहाँ एक बात और ध्यान देने की है कि इस रहस्योद्घाटन के प्रसङ्ग मे नल के न केवल शृङ्गारमय जीवन की चर्या ज्ञात होती है, अपितु नल के साधारण जीवन की भी थोड़ी झाँकी मिल जाती है।[४] श्रीहर्ष यहाँ कामशास्त्र को कैसे भुला सकते थे? उनके नल स्मरशास्त्रविद् थे।[५] और उन्होंने दमयन्ती को भी कामशास्त्र पढा ही दिया था।[६] इसी सर्ग मे उन्होने नल की प्रभात से मध्याह्न तक की दिनचर्या का भी लेखा दिया है। उन्हे काव्य में नैषध-चरित-वर्णन करना जो था।

अर्थ तथा मोक्ष पुरुषार्थ

अर्थ और मोक्ष पुरुषार्थो का विस्तृत चित्रण इक्कीसवे सर्ग मे मिलता है। अधीन नरेशो से अपार धनराशि कर-रूप मे नल को मिलती है। साथ ही दान

---

१. तत्र प्रणयमानः स्यात् कोपावसितयोर्द्वयोः॥ द० रू० ४।५८

२. यथोत्तरं गुरुःषड्भिरुपायैस्तामुपाचरेत्।
साम्ना भेदेन दानेन नत्युपेक्षारसान्तरे॥ द० रू० ४।६१

३. नै० २०।७३।९६

४. नै० २०।७६, ८१, ८५, ९०, ९१, ९६ इत्यादि।

५. स्मरशास्त्रविदासेयं नवोढा नस्त्वया सखी।
कथं संभुज्यते बाला कथमस्मासु भाषताम्॥ नै० २०।३९

६. स्मरशास्त्रमधीयाना शिक्षितासि मयेव यम्।
अगोपि सोपि कृत्वा किं दाम्पत्यव्यत्ययस्त्वया॥ नै० २०।६४

में उसका त्याग किए जाने से नलचरित्र और भी महान् चित्रित हो उठता है। फिर मध्याह्न-स्नान, देवार्चना, भोजन आदि दिनचर्या होती है। नल के जीवन मे मोक्षपुरुषार्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान दिखाने के लिए ही इस सर्ग की कल्पना की गयी है। देवार्चना का प्रसङ्ग इसी प्रयोजन से उपस्थित किया गया है। श्रीहर्ष एक आस्तिक और भक्त कवि थे। इक्कीसवे सर्ग मे उच्चकोटि का स्तुति-काव्य बना है। भक्ति देव-विषयक रति ही है। नल को श्रीहर्ष ने एक ऐसा नायक चित्रित किया है, जिसके जीवन में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारो पुरुषार्थो की समुचित साधना हुई है। उसे चतुर्वर्ग के फल प्राप्त थे। मध्याह्न भोजन के पश्चात् प्रिया के साथ बैठकर शुक-पिक-प्रलाप का आनन्द लेना कामसूत्र-वर्णित चर्या के अनुसार है।[1]

सन्ध्या एवं चन्द्रवर्णन

बाईसवें सर्ग की रचना काव्य-परम्परा के आधार पर की गई है। सन्ध्या, प्रदोष, ध्वान्त, रजनी, इन्दु, आदि का यथावसर वर्णन कभी-कभी काव्य-सौन्दर्य के लिए आवश्यक भी होता है। चद्रोपालम्भ के समय चन्द्रमा का हृदयहारी रूप नही वर्णित था। एक विरहिणी की दृष्टि मे चन्द्रमा प्रिय हो ही कैसे सकता है। किन्तु प्रिय प्रेयसी के सयुक्त होने पर तो शृङ्गार रस का चन्द्रिकानाथ से वढकर दूसरा उद्दीपक हो ही नही सकता। वह इतना प्रिय लगता है कि उसे देखकर प्रेमी हृदय आनन्द-विह्वल हो नाच उठते है। उस समय की कही हुई उक्तियाँ आनन्दमग्न हृदयतत्री की झङ्कार ही होती है। राज-सुख के साथ प्रासाद, अन्य वैभव सुख, एकान्त मधुमय रजनी, सुधासिक्त चन्द्रिका, स्वस्थ यौवन, त्रिभुवन सुन्दर स्वरूप तथा नव-परिणय, इनके अतिरिक्त सम्भोग-शृङ्गार की व्यजना के लिए और क्या सामग्री चाहिए? नल की दिन की चर्या मे श्रीहर्ष ने बडे कौशल के साथ उनके जीवन-चरित की अन्य चर्या का भी आभास दिया है। किन्तु उनकी रात्रि चर्या के इस अंश से उन्होंने नैषध के अङ्गी (शृङ्गार)-रस के संयोगपक्ष की सुन्दर ध्वनि दी है। दिन की चर्या द्वारा काव्य की समाप्ति करने पर वह सरसता न रहती जो नायक-नायिका द्वारा रात्रि मे एकान्त मे चन्द्रवर्णन करते-करते समाप्ति करने पर। यहाँ समाप्ति करने पर काव्य की प्रबन्ध-ध्वनि क्या है, यह सहृदयों से छिप नही सकता।

---

१. **भोजनानन्तरशुकसारिकाप्रलापनव्यापाराः—का० सू० अ० ४, पृ० ४८ नि० सा० प्रेस।**

चतुर्थ अध्याय

आदान

पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव

पूर्वदृष्टा अपिह्यर्थाः काव्ये रस-परिग्रहात्।
सव नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः॥ (आनन्दवर्धन)

काव्य में उपजीव्य-उपजीवक-भाव

आचार्य दण्डी ने सहज प्रतिभा, विविध शास्त्र-नैपुण्य तथा सतत अभ्यास को काव्य-सम्पत्ति का कारण माना है।[1] अन्य आचार्यो ने इन्ही तीनों को दूसरे शब्दो मे शक्ति, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास कहा है।[2] शक्ति का ही दूसरा नाम प्रतिभा है, जो कवित्व का बीज कही जाती है और सस्कार रूप से कवि-हृदय मे विद्यमान रहती है। शक्ति जन्मजात है, इसे उत्पन्न नही किया जा सकता, हाँ, व्युत्पत्ति और अभ्यास द्वारा परिष्कृत अवश्य किया जा सकता है। व्युत्पत्ति बहुज्ञता को कहते है।[3] लोकशास्त्र तथा काव्य के पर्यवेक्षण द्वारा व्युत्पत्ति अर्जित की जाती है।[4] व्युत्पन्न प्रतिभावान् कवि ही कवि है। उसी की कविता उत्तम काव्य बनती है।[5] व्युत्पत्ति के साधन लोक, शास्त्र, काव्य आदि से ही कवि को काव्य की प्रेरणा प्राप्त होती है। कहीं कोई मार्मिक वस्तु पढकर या जानकर कवि की संस्कार रूप मे विद्यमान कवित्व-चेतना उद्बुद्ध हो उठती है। उस समय उसके व्युत्पत्ति-समृद्ध भावुक हृदय से भाषा के परिधान में जो स्वर निकलता है, वही सच्ची

---

१. नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः॥ काव्यादर्श १।१०३

२. काव्यमीमांसा, प्रथम अधिकरण, अ० ४, ५ तथा काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास।

३. बहुज्ञता व्युत्पत्तिः—काव्यमीमांसा १-५

४. काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास।

५. प्रतिभाव्युत्पत्तिमांश्च कविः कविरित्युच्यते—का० मी० १।५

कविता है। एक ही वस्तु का वर्णन पूर्वगामी अनेक कवियो द्वारा किया हुआ होता है। कुछ तो केवल अनुकरण के ढग पर पहले जैसा ही वर्णन करते है, किन्तु कुछ के मर्म को वह वस्तु किसी नितान्त नूतनरूप मे स्पर्श करती है, अत उनके द्वारा उसका वर्णन अभिनव ही होता है। इसी प्रकार निरवधिकाल तक कवि-समुदाय उस वस्तु-विशेष का वर्णन करता चलता है फिर भी वह सदा नूतन प्रतीत होता है। अतएव कहा है:—"सहस्रो वाचस्पतियों द्वारा सहस्रों प्रयत्न करने पर भी प्रकृति का अन्त नही मिल सकता।"[1] अपने काव्य मे केवल किसी पुरातन कवि द्वारा वर्णित विषय-शैली को अपनाने के कारण हम किसी कवि को उत्कृष्ट कवि की कोटि से नही हटा सकते। काव्य की उत्तमता की परीक्षा करते समय हमे उसके मार्मिक पक्ष को प्राथमिकता देनी चाहिए। यदि कवि के भावुक हृदय ने वस्तु-विशेष के मार्मिक पक्ष को वस्तुत. ग्रहण किया है तथा उसके काव्य मे उसकी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है तो हमे निश्चय कर लेना चाहिए कि कवि की कृति नितान्त अभिनव एवं उच्चकोटि की है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किन्ही दो भिन्न काव्यों मे कुछ स्थलो मे समान-पद, समान वाक्य, समान अर्थ तथा समान शैली तक देखने को मिलती है। यहाँ यह आवश्यक नही कि एक ने दूसरे का अनुकरण ही किया हो। बात यह है कि किसी विषय के प्रति कभी-कभी एक ही प्रकार के भाव दो या कई कवियों मे स्फुरित होते है, और उन कवियो मे देश-काल आदि का बहुत बडा व्यवधान भी रहता है। लोकश्रुति भी है कि महापुरुषों के विचार प्राय समान ही होते है।[2] चिन्तनप्रणाली की यह एकता मनुष्य-जाति मे स्वभाव-सिद्ध है। अपनी काव्य-रचना की प्रारम्भिक अवस्था में कवि पूर्ववर्ती कवियों की कृतियो का अध्ययन करता ही है। बाद मे ज्ञात या अज्ञात रूप से उसकी अपनी रचना मे उनका प्रभाव कुछ न कुछ अवश्य दिखायी पड़ता है। इस प्रकार के उपजीव्य-उपजीवक-भाव को हम बुरा कह भी नही सकते।

श्रीहर्षकालीन संस्कृतसाहित्य की दशा

संयोग से श्रीहर्ष का जीवन-काल उस शताब्दी मे पडता है, जिसके पूर्व ही सस्कृतवाङ्मय अपनी उन्नति की चरम अवस्था को पहुँच चुका था। "कला विज्ञान आदि संस्कृतवाङ्मय के प्रत्येक विभाग में नूतन सर्जना प्राय. दशम शताब्दी तक

१. वाचस्पति-सहस्राणां सहस्रैरपियत्नतः।
निबद्धापिक्षयं नेति प्रकृतिर्जगतामिव। काव्यमीमांसा से उद्धृत

२. संवादास्तु भवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसाम्। काव्यमीमांसा से उद्धृत

समाप्त हो चुकी थी। इसके पश्चात् तो उन्ही पूर्व कृतियो की टीका तथा उचित एवं सूक्ष्म समालोचना का समय आता है। इससे ज्ञान-प्रसार तथा बौद्धिक क्रियाओ का विस्तार अवश्य हुआ, किन्तु अपनी बारीकियो के कारण वह सर्वोपयोगी नही था।"[1] साहित्य रचना मे सहज वास्तविकता का अभाव स्पष्ट दिखाई पडने लगा था। काव्य-प्रतिभा का नूतन स्फुरण विलुप्त हो गया। उस काल की काव्य-रचना पूर्वकालीन कवियों की अनुकृतिमात्र रह गई। इधर यद्यपि यदा-कदाचित् विशिष्ट-प्रतिभा-सम्पन्न कृति का दर्शन अवश्य हो जाता है, किन्तु साधारणतया इस दीर्घ-युग की रचनाओ का एक-सा ही स्वरूप रहा। इस समय काव्य-कला की सूक्ष्मता तथा शास्त्रीय पाण्डित्य का ही प्रदर्शन होता है। कविता श्रम-साध्य बन गई। उसमें सहज एव अभिव्यजनापूर्ण प्रतिभा का नाम भी न रहा। इस अवातर काल में यद्यपि सहज प्रतिभा की कमी नही थी, किन्तु पाण्डित्य प्रदर्शन की भावना से वह इस प्रकार आच्छन्न रही कि श्रेष्ठतम-काव्य-कलाभ्यासी को भी कवि नही अपितु एक सफल पद्यनिर्माता कहा जा सकता है, जो काव्य रचना की सारी युक्तियों को सीखकर उसका प्रदर्शन कर सकता था।"[2] अतएव राजशेखर ने रचना-कवि, शब्द-कवि, अर्थ कवि, अलङ्कार-कवि, उक्ति-कवि आदि काव्य-कवि के आठ प्रकार बताए हैं।"[3] इस समय काव्य-धारा मे परिवर्तन करने की क्षमता तो दूर रही पूर्ववर्ती काव्यकला का अनुकरण तथा संयोजन भी ठीक से न हो पाया। जिसमे कभी चेतना-दायिनी शक्ति थी वही अब निश्चेष्ट प्रेरणाहीन यन्त्रबद्ध-सी हो गयी थी। यह प्रगति नही निश्चित ही अवनति थी, जिसमे काव्य-प्रतिभा परम्परारूढ प्रतिपाद्यविषय तथा पद्धति द्वारा नियंत्रित होकर निष्प्राण हो गई थी। महाकाव्यों की रचना मे हमें इस रूढि का पालन विशेष रूप से मिलता है। इस युग मे महाकाव्यों की रचना का स्वरूप कालिदास के आदर्श पर नही होता था, अपितु उनके कुछ परवर्ती कवियो के आदर्श पर, जिनमें भट्टि तथा माघ सबसे अधिक प्रभविष्णु समझ पडते हैं। यद्यपि कालिदास की कविता की प्रशंसा इस युग के आचार्य तथा कवियों ने मुक्तकण्ठ से की है, तथापि ये उनकी कृतियो को अपने काव्य-निर्माण का आदर्श मान कर नही चले। इसका सबसे प्रधान कारण यही था कि इन पश्चात्-कालीन कवियो ने कवि-कुल-गुरु की कविता की आत्मा

---

१. दे०—संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ३१०

२. दे०—संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ३०४

३. काव्यकविः पुनरष्टधा। तद्यथा रचनाकविः, शब्दकविः, अर्थकविः, अलङ्कार कविः, उक्तिकविः, रसकविः, मार्गकविः, शास्त्रार्थकविरिति—का० मी०, अ० ५

को ही न पहचान पाया। भारवि की काव्य-प्रतिभा उनके स्पर्धालु अनुयायी माघ ने ही आच्छादित कर ली। कुमारदास ने कालिदास की शैली को अपनाया अवश्य, किन्तु वैसी प्रतिभा न होने के कारण उसका भविष्य मे कोई प्रभाव न पड़ा। अत. इस पाण्डित्य-प्रदर्शन के युग मे भट्टि और माघ ही आदर्श माने गए। क्योकि इनके आदर्श पर चलकर सहज काव्य-प्रतिभा न रहने पर भी कविगण उस कमी को अपने शास्त्र-ज्ञान तथा अलङ्कार-ज्ञान आदि के प्रदर्शन द्वारा पूरी करने का अवसर पाते थे। फलत उन्ही पुराने विषयो पर पुराने ढंग से छंद रचे जाने लगे। अब शब्दों, छंदो तथा अलङ्कारों की कलाबाजी मे ही सारी नवीनता प्रतिबद्ध हो गयी। स्वयं माघ में सहज काव्य-प्रतिभा अवश्य थी, किन्तु उनकी कविता मे उस प्रतिभा से अधिक कृत्रिमता है, और उसका यह कृत्रिमाश ही उत्तरकालीन काव्यो का आदर्श बन गया। उनके बहुत से अनुयायियो मे उस प्रकार की प्रतिभा का गध भी नही मिलता। बाद के चित्र-काव्यो तथा द्वयाश्रय-काव्यो में भी माघ के प्रभाव की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है[1]। शृङ्गार रस की (मुक्तक) रचनाओं मे भावो को व्यक्त करने की कुछ वैयक्तिक स्वतन्त्रता अवश्य रहती है। किन्तु वात्स्यायन के "कामसूत्रो" तथा कोक के "रतिरहस्य" के आत्यन्तिक प्रभाव के कारण उनमे भी विभिन्न सूक्ष्मताओ का प्रदर्शन ही प्रधान विषय बन गया। सार्वजनीन अनुभूतियों पर विशेष ध्यान न दिया गया। इसके अतिरिक्त "अमरु-शतक" भर्तृहरि-कृत "शृङ्गार शतक" की पद्धति से इधर उधर कोई जा भी नही सकता था। हाल की गाथा-सप्तशती का भी शृङ्गार काव्यो (विशेषतया प्रकृति-काव्यो) पर पर्याप्त प्रभाव रहा। यहाँ तक कि स्तोत्र-काव्यो मे भी, जहाँ कवि की वाणी स्वतन्त्र भावोद्गार का क्षेत्र पा सकती थी, उसी रूढ विषय, भाव तथा शैली का अनुकरण होने लगा। नीति तथा विनोद (हास्य) की काव्य-रचनाओ में भी वही अनुकरण-प्रवृत्ति बनी रही[2]। अनेक रीति-ग्रन्थों द्वारा आचार्यो ने कविता को नियमसूत्रों में इस प्रकार यन्त्रित कर दिया था कि उसे मुक्त करने का साहस ही किसी कवि में नही हो सकता था, अपितु उन नियमों का जितना अधिक पालन उनकी कविता मे हो पाता था, वे अपने को उतना ही सफल समझते थे। अलङ्कार, छन्द, व्याकरण तथा कोष के भी अनेक ग्रन्थ बने। कभी कभी तो शिक्षा देने के लिए उनके नियमों के आधारपर काव्य लिखे गए। जिनका प्रधान उद्देश्य काव्य-रचना नही, अपितु अलङ्कार, छंद आदि का ज्ञान कराना था।

---

१. दे०—संस्कृत साहित्य का इतिहास—प्र० भा० पृ० ३०४-५

२. दे०—संस्कृत साहित्य का इतिहास—प्र० भा० पृ० ३०६

ऐसी परिस्थिति मे शुद्धकाव्य-सौन्दर्य कैसे दिखलाई पड सकता था। फलत. मौलिकता तथा स्वतन्त्र उद्भावना का प्रायः ह्रास होने लगा। इसके अतिरिक्त काव्य-लक्षण मे जो वर्ण्य विषय परिगणित किए हो, उनको किसी न किसी प्रकार लाने का प्रयत्न तथा उनके वर्णन मे अपनी कलाचातुरी दिखाने के श्रम आदि की ओर अधिक ध्यान होने के कारण प्रवन्ध-कल्पना का सौष्ठव कही दिखायी ही नहीं पडता। इस अवान्तर काल मे काव्य-ग्रन्थ तो अनेक बने पर उच्चकोटि की साहित्य-सर्जना नही के बराबर ही रही। दर्शन, आयुर्वेद, पशु-विज्ञान, संगीत, कामशास्त्र, राजनीति, अर्थशास्त्र, आदि विभागों मे अधिक उन्नति होने के कारण, तात्कालिक कवि इन सभी मे अभिज्ञ होकर अपनी रचना द्वारा यत्नपूर्वक अपनी अभिज्ञता का विज्ञापन करता। वर्ण्य विषय पुराना ही रहता, अत. कविगण अन्य वाह्य आडम्बरो द्वारा उनमे नूतनता लाने का प्रयत्न करते। उन्हे विचित्र छन्दों, अद्भुत अलङ्कारो, प्रहेलिकाओं, शास्त्रीय विषयो तथा संध्या, सूर्येन्दु,[१] रजनी आदि के सविस्तार वर्णन का ही आश्रय लेना पड़ता। वे उन्ही मे अपनी कला-कुशलता दिखलाते।

प्रचलित काव्य-धारा में उत्तम काव्य का स्थान

साहित्य के क्षेत्रों मे क्रमिक विकास का कोई सिद्धान्त लागू नही हो सकता। ऐसा देखा गया है कि किसी एक प्रकार की काव्यधारा के युग मे कभी-कभी कोई ऐसा भी अपूर्व-प्रतिभा-सम्पन्न कवि हो जाता है जिसकी कृतियाँ उस युग से बहुत आगे तथा लोकोत्तर होती हैं। तात्कालिक काव्य-प्रणाली के विवेचन में उन कृतियो का अन्तर्भाव किया ही नही जा सकता। फिर भी उस युग की अधिकाश रचनाओ में कुछ बातों का साम्य देखकर हम उसे उस प्रकार की रचना-प्रणाली का 'युग' कहने लगते है[२]। श्रीहर्ष ने यद्यपि अपने नैषध को अतिनव्य कृति कहा है[३]। इसे ऐसे काव्य-मार्ग का पथिक बताया है जिसे अन्य कवियों ने देखा तक नही है[४]। इसे सदा अभिनव रचना से सम्पन्न बताया है[५]। तथापि पूर्ववर्ती महाकाव्यों

---

१. दे०—संस्कृत साहित्य का इतिहास, अध्याय ६

२. वही—अध्याय ६

३. नव्ये महाकाव्ये—नै० ५-१३८, काव्येतिनव्ये कृतो नै० २१।१६३

४. कविकुलादृष्टाध्वपान्थेमहाकाव्ये नै० ८।१०९—अन्याक्षुण्णरसप्रमेयभणितौ नै० २०।१२८।१८२

५. एकामत्यजतोनवार्थघटनाम्—नै० १९।६७

के प्रभाव की कुछ न कुछ झलक इतस्तत: मिल ही जाती है। हो सकता है यह साम्य यादृच्छिक ही हो किन्तु उन कृतियो की पुरातनता से यह भी अनुमान सम्भव है कि नैषध-रचना के पूर्व श्रीहर्ष ने उनका अध्ययन अवश्य किया होगा।

कालिदास

कालिदास की विशेषता

कालिदास को "कविकुलगुरु" की उपाधि अत्यन्त उचित दी गयी है। अपनी अपूर्व काव्यकला के कारण तो उनका गुरुत्व है ही, किन्तु कालक्रम से भी वे काव्य-मार्ग के सर्वप्रथम प्रदर्शक ठहरते है। वाल्मीकि तथा व्यास को हम ऋषि-कोटि मे रखते है। उन्हे प्रतिपाद्य विषय का अधिक ध्यान था, वर्णन शैली की कोई चिन्ता नही। अतः उनकी रचनाओ का आदर इतिहास के रूप मे ही अधिक है। यद्यपि आदि-कवि की रचना का लालित्य, भावो का निरूपण, रसो का परिपाक, छन्दों का प्रवाह तथा भाषा का प्रसाद, आदि सभी अद्वितीय है, और सस्कृत साहित्य के प्रायः सभी कवियों ने जहाँ कही उनका नाम लिया है, वहाँ पूर्ण श्रद्धा एवं कृतज्ञता के साथ किन्तु उनकी भी रचना मे घटनाओ के विवरण का ही प्राधान्य है। उत्कृष्ट रचना करते हुए भी आदि-कवि रचना की सुन्दरता के लिए कही भी यत्नशील नही जान पड़ते। फिर भी उनकी रचना मे अत्यन्त स्वाभाविकता एवं अद्भुत सुषमा है। सम्भवत इन्ही सबसे प्रभावित होकर भवभूति ने कहा था:—"आदि ऋषियो की वाणी के पीछे अर्थ स्वयं दौड़ता है[1]।" रामायण में काव्य के भावपक्ष का ही पूर्ण प्रसार है। कलापक्ष पर उतना अधिक आग्रह नही। भाव और कला दोनों का पूर्ण तथा मनोरम समन्वय हमें सर्वप्रथम कालिदास की कृति मे मिलता है। अश्वघोष की भी रचना उच्च कोटि की हुई है। बौद्ध-मतानुयायी कवियों मे तो अश्वघोष अत्यन्त प्रिय थे। और कुछ ने तो अपनी रचनाओं में अश्वघोष की शैली को इस प्रकार अपनाया कि कुछ समय के पश्चात् ये रचनाएं अश्वघोष की ही कही जाने लगी। और फलतः उन कवियो की कोई पृथक् सत्ता ही न रही सभी अश्वघोष बन बैठे।"[2] किन्तु बौद्धमतावलम्बी तथा अत्यन्त सरल शैली के प्रवर्तक होने के कारण परवर्ती सस्कृत-कवियों ने उनको अपना रचनादर्श न माना। फिर श्रीहर्ष तथा अश्वघोष में तो कालकृत व्यवधान भी अत्यन्त दीर्घ पड़ जाता है। तथा तबतक संस्कृत काव्य-रचना-प्रणाली में अनेक धाराएं बही।

---

१. ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोनुधावति—उत्तररामचरित।

२. दे०—संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ७९।

नैषध पर अश्वघोष का विशेष रूप से कोई ऋण नही। अत: सर्वप्रथम कालिदास की ही रचना है जिससे श्रीहर्ष का पर्याप्त मात्रा मे प्रभावित होना सिद्ध होता है। वास्तव मे तो कालिदास के ही प्रबन्ध नैषध की प्रबन्ध-कल्पना के आदर्श रहे है। रघुवश तथा कुमार-सम्भव दोनों ही से श्रीहर्ष ने अपनी प्रबन्ध-रचना की प्रेरणा पाई है। किन्तु नैषध पर कुमार-सम्भव की अपेक्षा रघुवश का प्रभाव कम है अत. सूची-कटाह न्याय से यहाँ पहले रघुवश का ही प्रभाव-विचार प्रस्तुत किया जाता है।

— ख —

भाव-साम्य

रघुवंश

इन्दुमती-स्वयंवर

जैसा पूर्वगत अध्याय मे कहा जा चुका है रघुवश मे कालिदास को अनेक नरेशो का चरित वर्णन करना था, फिर भी उन्होंने इन्दुमती स्वयवर मे एक पूरा सर्ग लगाया, जो काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से अत्युत्तम रचना मानी जाती है। नैषध मे दमयन्ती-स्वयवर प्राय: पाँच सर्गों (१० से १४७ तक) मे वर्णित है। यहाँ केवल एक नरेश के चरित का वर्णन करना था, अत: विस्तार स्वाभाविक ही हुआ है। स्वयवर का उल्लेख महाभारत मे भी हुआ है, किन्तु उसका विस्तृत चित्रण नैषध में ही देखने को मिलता है। श्रीहर्ष ने रघुवंश मे विदर्भकुमारी इन्दुमती के स्वयवर को देखा था, अत: अपनी विदर्भकुमारी दमयन्ती के स्वयंवर की व्यवस्था में उन्हे बडी सरलता हुई। रघुवश की स्वयंवर-सभा से नैषध की स्वयंवर-सभा में महान् अन्तर अवश्य रहा, क्योंकि उसमे केवल नरलोक-पाल आए थे और इसमें जग-त्रयी-पण्डित आए थे। कालिदास ने राजपरिचय का भार पुवंत्प्रगल्भा सुनन्दा को दिया, और उसने बड़ी सफलता के साथ उसे निभाया। किन्तु दमयन्ती-स्वयवर की सभा मे वह कार्य किसी मानवी के बूते का नही था। अत: श्रीहर्ष को साक्षात् सरस्वती का आवाहन करना पडा। संस्कृत-साहित्य में स्वयंवर का प्रसङ्ग अनेक काव्यों मे आया है, और कवियों ने बड़े आकर्षक ढंग से उसका चित्रण किया है। हरिचन्द्रकृत धर्मशर्माभ्युदय मे भी स्वयंवर का मनोरम चित्रण हुआ है।[1]

---

१. ध० श० अ० १७वां सर्ग, नि० सा० प्रे० काव्यमाला ११।

किन्तु वह भी इन्दुमती स्वयंवर का अनुकरण ही है। यद्यपि धर्मशर्माभ्युदय का प्रभाव कई प्रकार से नैषध पर अधिक दृष्टिगोचर होता है जिसका विवेचन आगे चल- कर इसी अध्याय मे किया जायगा किन्तु यहाँ कालिदास की रचना का कितना अनुसरण हुआ है, यह देखना है।

इन्दुमती के स्वयवर-सभा मे प्रवेश करने पर राजाओ की प्रणय-सूचक विविध शृङ्गार-चेष्टाओ (अनुभावों) का रघुवंश मे अत्यन्त स्वाभाविक एव हृद्य-चित्रण हुआ है।[१] कोई राजा अपने लीला-कमल की नाल अपने दोनों हाथो से पकडकर बड़ी तेजी से घुमा रहा था।[२] कोई राजा अपने सुन्दर मुख को कुछ तिरछा करके कन्धे से खिसकी हुई भुजवन्द के रत्न मे फसी हुई माला को यथास्थान कर रहा था।[३] कोई अपनी पैर की अंगुली से हेमपीठ पर कुछ यो ही लिख-सा रहा था और सम्भ्रम नेत्रो से उसे देख रहा था।[४] कोई अपनी बायी भुजा की टेक देकर अपने मित्र से सविलास वार्त्तालाप कर रहा था।[५] कोई राजा अपने रेखाध्वज आदि से चिह्नित अपने कर-कमल मे पाशो को सविलास उछाल रहा था।[६] कोई अपने सुव्यवस्थित किरीट को भी विभ्रम के साथ कुछ हटाकर पुन यथास्थान रख रहा था[७]। नैषध मे उसी प्रकार से स्वयंवर-सभा मे दमयन्ती को देखकर "वहाँ कोई ऐसा राजा नही था, दमयन्ती के शरीर सौन्दर्य को देखने से उत्पन्न आश्चर्य वाले जिसके अङ्ग रोमाञ्च से पुलकित हो उल्लसित न हुए हों।"[८] दमयन्ती को

---

१. रघु० ६।१३-१९

२. कश्चित्कराभ्यामुपगूढनालमालोलपत्राभिहतद्विरेफम्।
रजोभिरन्तःपरिवेषबन्धि लीलारविन्दं भ्रमयाञ्चकार॥ रघु० ६।१३।

३. विस्रस्तमंसादपरो विलासी रत्नानुविद्धाङ्गद-कोटिलग्नम्।
प्रालम्बमुत्कृष्य यथावकाशं निनाय साचीकृत-चारु-वक्त्रः॥ रघु० ६।१४।

४. आकुञ्चिताग्राङ्गुलिनाततोऽन्यः किंचित्-समावर्जित-नेत्रशोभः।
तिर्यग्विसंसर्पिनखप्रभेण पादेन हेमं विलिलेख पीठम्॥ रघु० ६।१५

५. निवेश्य वामं भुजमासनार्धं तत्सन्निवेशादधिकोन्नतांसः।
कश्चिद्विवृत्तत्रिकभिन्नहारः सुहृत्समाभाषण-तत्परोऽभूत्॥ रघु० ६।१६

६. कुशेशयाताम्रतले न कश्चित्करेण रेखाध्वजलाञ्छनेन।
रत्नाङ्गुलीयप्रभयानुविद्धानुदीरयामास सलीलमक्षान्॥ रघु० ६।१८

७. कश्चिद्यथाभागमवस्थितेऽपि स्वसन्निवेशाद्व्यतिलंघिनीव।
बज्रांशुगर्भांगुलिरन्ध्रमेकं व्यापारयामास करं किरीटे॥ रघु० ६।१९

८. आसीदसौ तत्र न कोऽपि भूपस्तन्मूर्तिरूपोद्भवदद्भुतस्य।
उल्लेसुरङ्गानिमुदान यस्य विनिद्ररोमाङ्कुरदन्तुराणि॥ नै० १०।१०९

देखकर किस पुरुष ने अपने हाथ के अंगूठे के अग्रभाग तथा मध्यमा अगुली के मध्य भाग को मिलाकर उसके नीचे तर्जनी अगुली को न फोड़ा[१]। उस समाज मे खञ्जन-नयनी को देखकर किस राजा ने वार-वार सिर हिलाते हुए अपनी भौंहो को न चलाया।[२] वहाँ विधाता की वह कन्या-रूप अद्भुत सृष्टि सैकडों नेत्रों का एक लक्ष्य बनी थी। नरेन्द्रगण उसमे अपने अन्त.करण से लीन हो गए थे। आसनों पर केवल उनके शरीर स्थित थे।[३] इधर दमयन्ती के स्वयंवर मे उसे देखकर वे युवक उस सुन्दरी मे न केवल आखो तथा हृदय से ही निमग्न हुए थे, अपितु उसके निर्मल अङ्ग-रूप चित्रभित्तियो मे तथा उसके आभूपण-रत्नो मे प्रतिबिम्बित अपने शरीर के बहाने समस्त शरीर से निमग्न हो गए थे।[४] इन्दुमती को एक राजा के पास से दूसरे के पास जाने का कालिदास ने मनोरम चित्रण किया है। सुनन्दा राजकुमारी को दूसरे राजकुमार के पास उसी प्रकार ले गई जैसे मानसरोवर मे वायु के झोंके से उठी तरङ्ग-परम्परा राजहसी को एक कमल से दूसरे कमल के पास ले जाती है।[५] नैषध मे दमयन्ती का भी ऐसा ही चित्रण है, जिस प्रकार नूतन मेघ हस पङ्क्ति को समस्त जलाशयो से मानसरोवर की ओर ले जाते हैं, उसी प्रकार शिविका-वाहक अरुणवस्त्र-सदृश रमणीय अधर-चरणो वाली दमयन्ती को देवसमाज से सर्पराज वासुकि के पास ले गए।[६] तथा जिस प्रकार देवगण सेवक की भाँति सुधाशु-कला को भगवान् शंकर के मस्तक पर ले गए थे, उसी प्रकार

---

१. अङ्गुष्ठमूर्ध्ना विनिपीडिताग्रा मध्येन भागेन च मध्यमायाः।
आस्फोटि भैमीमवलोक्य तत्र न तर्जनी केन जनेन नाम॥ नै० १०।११०

२. अस्मिन्समाजे मनुजेश्वराणां तां खञ्जनाक्षीमवलोक्य केन।
पुनः पुनर्लोलितमौलिना न भुवोरुदक्षेपितरांद्वयी वा॥ नै० १०।१११

३. तस्मिन्विधानातिशये विधातुः, कन्यामयेनेत्रशतैकलक्ष्ये।
निपेतुरन्तः करणैर्नरेन्द्राः देहैःस्थिता केवलमासनेषु॥ रघु० ६।११

४. तन्निर्मलावयवभित्तिषु तद्विभूषारत्नेषु च प्रतिफलन्निज-देहदम्भात्।
दृष्ट्यापरं न हृदयेन न केवलं तैः सर्वात्मनैव सुतनौ युवभिर्ममज्जे ॥ नै० ११।२

५. तां सैव वेत्रग्रहणेनियुक्ता राजान्तरं राजसुतां निनाय।
समीरणोत्थेव तरङ्गलेखा पद्मान्तरं मानसराजहंसीम्॥ रघु० ६।२६

६. जन्यास्ततः फणभृतामधिपः सुरौघान्माञ्जिष्ठमञ्जिमवगाहिपदोष्ठ-लक्ष्मीम्।
तां मानसं निखिल-वारिचयान्नवीना हंसावलीमिव घना गमयाम्बभूवुः॥
नै० ११।१५

शिविकावाहक दमयन्ती को द्युतिमान्, के पास से एक अन्य राजा के पास ले गए।[1]

श्रीहर्ष ने भाव तथा शब्दावली में भेद अवश्य रक्खा है, किन्तु शैली इस बात को स्पष्ट प्रमाणित करती है कि यहाँ रघुवश का अनुकरण किया गया है। सुनन्दा द्वारा कलिङ्गनाथ की प्रशंसा से प्रलोभित की जाने पर भी सुन्दरी इन्दुमती उससे उसी प्रकार विमुख हुई जैसे नीति (पौरुष) द्वारा अर्जित भी लक्ष्मी, भाग्य प्रतिकूल होने के कारण, विमुख हो जाती है।[2] उसी प्रकार "क्रौञ्चद्वीपाधिपति" राजा द्युतिमान् असंख्य गुणों से परिपूर्ण था, पर वह दमयन्ती के हृदय को न रिझा सका। जब भाग्य ही कार्य मे बाधक हो जाता है, तो फिर कोई प्रयत्न, कोई पौरुष साधक नही हो सकते।[3] शूरसेनाधिपति सुषेण के वर्णन-प्रसङ्ग मे सुनन्दा कहती है— "जलक्रीड़ा के समय जिसके अन्तःपुर की सुन्दरियों के स्तन-चन्दन के धुलने से ऐसा प्रतीत होता है मानों मथुरा में ही यमुना के साथ गङ्गा का संगम हो गया है!"[4] उधर मथुराधिनाथ का परिचय देती हुई सरस्वती दमयन्ती से कहती है— दमयन्ती, मथुरा की ललनायें जब यमुना मे जलक्रीड़ा के समय अपना कस्तूरी आदि का लेप धोती है, तब तुम देखोगी कि यमुना इतनी श्याम हो जाती है, मानों पृथ्वी की रोम-राजि हो, वही पृथ्वी की नाभि के समान ही वह कालियनाग कुण्ड भी तो है।[5] वहाँ चन्दन के सयोग से यमुना मे गङ्गा का संङ्गम सा जान पड़ता है, वहाँ कस्तूरी आदि के संयोग से वह इतनी अधिक श्याम हो जाती है कि मानों पृथ्वी

---

१. ते निन्यिरे नृपतिमन्यमिमाममुष्मादंसावतंस-शिविकांसभृतः पुमांसः।
रत्नाकरादिव तुषारमयूखलेखां लेखानुजीविपुरुषा गिरिशोत्तमाङ्गम्॥
नै० ११।५६

२. प्रलोभिताऽप्याकृति-लोभनीया विदर्भराजावरजा तमेवम्।
तस्मादपावर्तत दूरकृष्टा नीत्येव लक्ष्मीः प्रतिकूलदैवात्॥ रघु० ६।५८

३. तस्मिन्गुणैरपि भृते गणनादरिद्रैस्तन्वी न सा हृदयबन्धमवापभूपे।
दैवेनिरुन्धति निबन्धनतां वहन्ति हन्त प्रयासपरुषाणि न पौरुषाणि।
नै० ११।५५

४. यस्यावरोधस्तनचन्दनानां प्रक्षालनाद्वारिविहारकाले।
कलिन्दकन्या मथुरांगतापि गंगोर्मिसंसक्तजलेव भाति॥ रघु० ६।४८

५. श्यामीकृता मृगमदैरिव माथुरीणां धौतैः कलिन्दतनयामधिमध्यदेशम्।
तत्राप्तकालियमहाह्रदनाभिशोभां रोमावलीमिवविलोकयितासिभूमेः॥
नै० ११।१०६

की रोम पंक्ति हो। भ्रम उभयत्र है, कहीं चन्दन के कारण कहीं कस्तूरी के कारण। सुषेण के ही वर्णन प्रसङ्ग के अन्त में सुनन्दा इन्दुमती से प्रस्ताव करती है कि "हे सुन्दरि, इस युवक को अपना भर्ता स्वीकार कर कुबेर के चैत्ररथ के समान सुन्दर वृन्दावन में कोमल प्रवाल तथा पुष्पों की शय्या पर यौवन-श्री का आनन्द लो,"[1] तथा "वर्षाऋतु में गोवर्द्धन की रम्य कन्दराओं में शैलेयपुष्पों की सुगन्धि से सुवासित तथा वर्षा-सीकरों से सिक्त शिलाओं पर बैठकर मयूरों का नृत्य देखो।"[2]

इधर मथुराधिनाथ के लिए सरस्वती दमयन्ती को सलाह देती है कि—"सुन्दरि, वृन्दावन में महाराज पृथु के साथ निर्भय वन-विहार का आनन्द लो। समीप में ही गोवर्धन पर्वत पर रहने वाले मयूरों के कारण सापों का वहा कोई भय नहीं रह गया है। सुगन्धित पुष्पों से वृन्दावन अत्यन्त रमणीय हो रहा है।"[3] अन्त में अज के पास पहुंचने पर इन्दुमती के उदय होने वाले सात्त्विक भावों को जिस प्रकार सुनन्दा की सूक्ष्म दृष्टि ने ताड़ लिया था उसी प्रकार दमयन्ती के सात्त्विकोदय को देवी सरस्वती ने पहिचान लिया। इन्दुमती के अनुराग-भाव को देख कर सुनन्दा ने परिहास के साथ कहा "आर्ये, अब अन्यत्र चलें!" इस पर वधू ने असूया के साथ उसे कुटिल भौहों से देखा।[4] और यहां "सरस्वती जब हँसकर दयमन्ती का हाथ पकड़े उसे महेन्द्र की ओर ले चली, उस समय दमयन्ती ने चौंककर अपने हाथ को उसी प्रकार खीच लिया जैसे कोई भ्रमवश सांप के ऊपर रक्खे हाथ को खीचता है।"[5] उपहास का अवसर तथा उद्देश्य उभयत्र समान ही है।

इन्दुमती द्वारा अज के वरे जाने पर जिस प्रकार अन्य नरेश वैदर्भी के प्रति अपने मनोरथ के विफल हो जाने से अज-इन्दुमती के रूप और वेश की निन्दा करते

---

१. सम्भाव्य भर्तारममुं युवानं मृदुप्रवालोत्तरपुष्पशय्ये।
बृन्दावने चैत्ररथादनूने निर्विश्यतां सुन्दरि यौवनश्रीः॥ रघु० ६।५०

२. अध्यास्य चाम्भःपृषतोक्षितानि शैलेयगन्धीनि शिलातलानि।
कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यं कान्तासु गोवर्धनकन्दरासु॥ रघु० ६।५१

३. गोवर्धनाचलकलापिचयप्रचारनिर्वासिताहिनि घने सुरभिप्रसूने।
तस्मिन्ननेन सह निर्विश निर्विशङ्कं वृन्दावने वनविहारकुतूहलानि॥
नै० ११।१०७

४. तथागतायां परिहासपूर्वं सख्यां सखीं वेत्रभृदावभाषे।
आर्ये व्रजामोऽन्यतइत्यथैनां वधूरसूयाकुटिलं ददर्श॥ रघु० ६।८३

५. विहस्यहस्तेऽथविकृष्यदेवीनेतुं प्रयाताभिमहेन्द्रमेताम्।
भ्रमादियं दत्तमिवाहिदेहे ततश्चमत्कृत्य करं चकर्ष॥ नै० १५।३४

थे।[1] उसी प्रकार नल के वरे जाने पर दूसरे राजाओ के बन्दीजन मात्सर्योद्गार कर रहे थे "देखो तो सभा मे स्त्री को लिए हुए इसे लज्जा भी नही आती।" "हा, पर, जो अत्यन्त सुन्दर होते है वे जीवन में सुखी नही रहते"[2] इत्यादि। नैषध में भाव स्थान-स्थान पर रघुवश से ही लिए गए जान पड़ते है। उदाहरणार्थ, वन से लौटने पर जिस समय राम ने राजेन्द्र-वेश में अयोध्या मे प्रवेश किया था उस समय उनके ऊपर नगर के सौधो से ललनायें लाज-वर्षा कर रही थी।[3] उसी प्रकार नवोद्वाह करके लौटने पर वधू-सहित नल के ऊपर कुमारियों ने लाज-वर्षा करते हुए तथा जय-कार से उनका अभिनन्दन करते हुए उन्हें नमस्कार किया।[4] उस समय, जैसे सीता को देखकर साकेत की सुन्दरियों ने प्रासादवातायन से प्रणाम किया था[5], वैसे ही "नैषध-राजधानी की सुन्दरियों ने उत्सुकता के साथ प्रासादों की चन्द्रशालाओ से नववधू दमयन्ती को देखा। उस समय पुरललनाओ के मुखचन्द्र से युक्त होकर नगर के महलो की अट्टालिकाओं का "चन्द्रशाला" नाम सार्थक हो गया था।[6] नैषध के नल-दमयन्ती के संयोग-शृङ्गार-वर्णन मे भी कही-कही रघुवंश के उन्नीसवें सर्ग की आभा मिल जाती है। यद्यपि उसकी कल्पना का आधार विशेष रूप से कुमारसम्भव का अष्टम सर्ग तथा कामशास्त्र है, किन्तु इतने कथानक मे कही-कहीं अग्निवर्ण की रतिक्रीडा से भी साम्य मिल जाता है। राज्य-भार सचिवो को सौंप कर जैसे अग्निवर्ण यौवन-सुख भोगने में प्रवृत्त हुआ था[7], उसी भाति नल भी राज्य-

---

१. भोज्यांप्रति व्यर्थमनोरथत्वात् रूपेषुवेषेषुच साभ्यसूयाः॥ रघु० ७।२

२. त्रपास्य नस्यात् सदसिस्त्रियान्वयात् कुतोतिरूपः सुखभाजनं जनः॥ नै० १५।३

३. विवेशसौधोद्गत-लाजवर्षामुत्तोरणामन्वयराजधानीम्॥ रघु० १४।१

४. अथपथिपथिलाजैरात्मनो बाहुबल्लीमुकुलकुलसकुल्यैःपूजयन्त्यो जयेति।
क्षितिपतिमुपनेमुस्तं दधाना जनानाममृतजलमृणालीसौकुमार्यं कुमार्यः॥ नै० १६।१२६

५. श्वश्रूजनानुष्ठितचारुवेषां कर्णीरथस्थां रघुवीरपत्नीम्।
प्रासादवातायनदृश्यबन्धैः साकेतनार्योऽञ्जलिभिः प्रणेमुः॥ रघु० १४।१३

६. अभिनवदमयन्तीकान्तिजालावलोकप्रवणपुरपुरन्ध्रीवक्त्रचन्द्रान्वयेन।
निखिलनगरसौधाट्टावलीचन्द्रशालाः क्षणमिवनिजसंज्ञांसान्वयामन्वभूवन्॥ नै० १६।१२७

७. सन्निवेष्यसचिवेष्वतः परंस्त्रीविधेयनवयौवनोऽभवत्॥ रघु० १९।४

कार्य मन्त्रियो पर छोड़ कर प्रिया के साथ मदन-सुख मे प्रवृत्त हुए।[1] अग्निवर्ण के रतिसुखोचित प्रासाद की समृद्धि का संकेत कालिदास ने एक श्लोक मे किया है—"प्रियाविलास मे रत अग्निवर्ण के मृदग आदि वाद्यों की ध्वनि से पूर्ण प्रासादो मे उत्तरोत्तर अधिकाधिक समृद्धिमान् उत्सव मनाए जाते थे।[2] सम्भवत. इसी संकेत पर श्रीहर्ष ने अपने पुराण तथा कामशास्त्र के ज्ञान के सहारे नल के सौध का विस्तृत वर्णन किया है।[3] श्रीहर्ष ने वर्णन-शैली की प्रेरणा-मात्र रघुवश से ली है। इसका यह तात्पर्य कदापि नही कि नल के विषय-भोग का वही आदर्श था जो अग्निवर्ण का रहा। अग्निवर्ण तो एक क्षण भी इन्द्रिय-सुख के विना रह ही नही सकता था, और इसीलिए वह दिनरात भवन के भीतर पड़ा रहता और उत्कण्ठित प्रजा की भी कोई चिन्ता न करता।[4] किन्तु दमयन्ती के साथ दिनरात भोग भोगते हुए भी आत्मज्ञानी नल को कोई पाप का लेश नही छू जाता था, क्योकि जिनका अन्तःकरण ज्ञान से निर्मल हो चुका है उनको कृत्रिम रूप से किए गए भोगो में कोई आसक्ति ही नही होती,[5] यहा श्रीहर्ष ने गीता के इस सिद्धान्त का सन्निवेश किया है।:—

रागद्वेषवियुक्तैस्तुविषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्माप्रसादमधिगच्छति॥ गीता—२।६४

इसके अतिरिक्त रघुवंश का एक और प्रसङ्ग है जिसने नैषध को प्रभावित किया है। वह है पञ्चमसर्ग का प्रभात-वर्णन।

कुमारसम्भव

नैषध पर रघुवंश की अपेक्षा कुमारसम्भव का प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है। दमयन्ती के शिख-नख रूपवर्णन की प्रेरणा, जिसमे श्रीहर्ष ने एक पूरा सर्ग (सप्तम) लगाया है, कुमारसम्भव के पार्वती-रूप-वर्णन (प्रथम सर्ग) से मिली है।

---

१. न्यस्य मन्त्रिषु सराज्यमादरादारराध मदनंप्रियासखः॥ नै० १८।३

२. कामिनीसहचरस्य कामिनस्तस्यवेश्मसु मृदङ्गनादिषु।
ऋद्धिमन्तमधिकर्द्धिरुत्तरः पूर्वमुत्सवमपोहदुत्सवः॥ रघु० १९।५

३. नै० १८।३-२८ श्लोक

४. इन्द्रियार्थपरिशून्यमक्षमः सोढुमेकमपि सक्षणान्तरम्।
अन्तरेव विहरन् दिवानिशं न व्यपैक्षत समुत्सुकाः प्रजाः॥ रघु० १९।६

५. आत्मवित्सह तया दिवानिशं भोगभागपि न पापमाप सः।
आहृताहि विषयैकतानता ज्ञानधौतमनसं न लिम्पति॥ नै० १८।२

कालिदास ने पार्वती के कुछ विशेष अङ्गों का ही सौन्दर्य चित्रित किया, किन्तु श्रीहर्ष की आंखें दमयन्ती के प्रत्यवयव पर गईं, जहां नल को आनन्द-सुधाब्धि लहराता मिला, और जहा अवगाहन करके उनमे प्रमोदाश्रु की झड़ी लग गयी।[१] कवि ने नल मुख से दमयन्ती के प्रत्यङ्ग का वर्णन किया और भरपेट किया। पार्वती के चकित विलोचन की उपमा प्रवातकम्पित इन्दीवर से देते हुए कालिदास ने सन्देह किया है कि इस प्रकार का चञ्चल विलोकन क्या पार्वती ने मृगाङ्गनाओं से लिया है, अथवा मृगाङ्गनाओ ने पार्वती से?[२] दमयन्ती की नेत्र-कान्ति को देख कर श्रीहर्ष को भी सन्देह होता है, कि क्या हरिणियों ने दमयन्ती से दोनो नेत्रों की कान्ति ऋणरूप में ली थी, क्योकि सुन्दरी ने उन भयभीत मृगियों से वह सम्पूर्ण कान्ति कई गुनी कर के बलात् वसूल की है?[३]" कालिदास के विचार से पार्वती की बाहुएँ शिरीष-पुष्प से भी अधिक सुकुमार थी।[४] श्रीहर्ष को दमयन्ती के अशेष अङ्ग ही शिरीषाधिक कोमल लगे।[५] पार्वती की मुखश्री को पद्म का सौरभ तथा चन्द्र का सौन्दर्य दोनो मिले थे।[६] उसी प्रकार, दिन मे सूर्य के भय से चन्द्रमा ने तथा रात्रि मे चन्द्रमा के भय से कमल ने अपनी कान्ति दमयन्ती के मुखमण्डल में स्थापित कर दी थी।[७]

पार्वती के ऊरुओं के लिए, कर्कश होने के कारण करिशुण्ड, तथा नितान्त शैत्य के कारण कदली-स्तम्भ, कभी उपमान हो ही नही सकते।[८] दमयन्ती की भी जंघाओं से कदली की समता तभी की जा सकती है, जब वह (कदली) अपने शिरोभाग को

---

१. प्रतिप्रतीकं प्रथमं प्रियायामथान्तरानन्दसुधासमुद्रे।
ततः प्रमोदाश्रुपरम्परायां ममज्जतुस्तस्य दृशौ नृपस्य॥ नै० ७।२

२. प्रवाततनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या।
तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततोगृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः॥ कु० १।४६

३. ऋणीकृता किं हरिणीभिरासीदस्याःसकाशान्नयनद्वयश्रीः।
भूयोगुणेयं सकलाबलाद्यत्ताभ्योऽनयाऽलभ्यत बिभ्यतीभ्यः॥ नै० ७।३३

४. शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यौ बाहू तदीयाविति मे वितर्कः॥ कु० १।४१

५. शिरीषपुष्पादपिकोमलाया वेधा विधायाङ्गमशेषमस्याः॥ नै० ७।४७

६. चन्द्रं गता पद्मगुणान्नभुङ्क्तेपद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम्।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोलाद्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः॥ कु० १।४३

७. दिवारजन्यो रविसोमभीते चन्द्राम्बुजे निक्षिपतः स्वलक्ष्मीम्।
आस्ये यदास्याः न तदा तयोः श्रीरेकश्रियेदं तु कदा न कान्तम्॥ नै० ७।५५

८. नागेन्द्रहस्ता स्त्वचि कर्कशत्वादेकान्तशैत्यात्कदलीविशेषाः।
लब्ध्वाऽपि लोके परिणाहि रूपं जातास्तदूर्वोरुपमानबाह्याः॥ कु० १।३६

नीचे करके तपों द्वारा नि.सार ऊपरी वल्कल को त्याग दे तथा अपनी प्रबल जड़ता (शैत्य एवं मौर्ख्य) को दूर कर दे।[१] सुन्दरी के जघन-स्तम्भों के समक्ष करिशुण्ड तो (अपने काठिन्य आदि गुणो के कारण) पराजित है ही। तभी तो गज उन शुण्डादण्डों को लपेटने के बहाने छिपाता फिरता है।[२] पार्वती के स्मित का चित्रण करते हुए कालिदास ने अतिशयोक्ति के सहारे एक अद्भुत उपमान की कल्पना की है। "यदि श्वेत पुष्पों की पक्ति अरुण कोपलो ार लगाई जाय, अथवा मोती के दाने विद्रुमपक्ति के ऊपर रक्खे जायं, तो उनकी जो कान्ति होगी वही पार्वती के रक्त ओठों के चारो ओर फैली विशद स्मित-प्रभा का अनुकरण कर सकती है।[३]" श्रीहर्ष ने ठीक उसी शैली पर दमयन्ती के मुख के लिए नए उपमान की उद्भावना की है, "यदि पूर्णिमा के चन्द्रमा की रक्तबन्धूक तथा नील कमल से अर्चना की जाय, तथा चम्पा की कलिका पूजा में उनके ऊपर चढाई जाय, उस समय उस रम्य पुष्पो से समर्चित पूर्णचन्द्र की जो शोभा होगी उसे भी अपने अरुणाभ अधरोष्ठो, नीलाभ नयनों तथा गौराभ मन.शिला के तिलक से दीप्तिमान् दमयन्ती का मुख-मण्डल अत्यन्त कान्तिहीन कर रहा था।[४]" कालिदास ने शिव-पूजा के लिए आती हुई यौवन-सौन्दर्यविनत पार्वती का चित्रण अत्यन्त भावुक शब्दों द्वारा किया है।[५] उसी के आधार पर श्रीहर्ष ने भी स्वयंवर में प्रवेश करते समय दमयन्ती का अत्यन्त मनोहारी सौन्दर्य चित्रित किया है[६]। इसके कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जाते है—

"पार्वती पद्मरागमणि की कान्तिवाले अशोकपुष्प, स्वर्णकान्तिवाले कर्णिकार, तथा मुक्ताकान्ति वाले सिन्धुवार आदि वसन्तकालीन पुष्पो का ही आभूषण पहने

---

१. विधाय मूर्द्धानमवश्चरं चेन्मुञ्चेत्तपोभिः स्वमसारभावम्।
जाड्यंच नाञ्चेत्कदलीबलीयस्तदायदिस्यादिदमूरुचारुः।। नै० ७।९४

२. उरुप्रकाण्डद्वितयेन तन्व्याः करः पराजीयतवारणीयः।
युक्तंह्रिया कुण्डलनच्छलेनगोपायति स्वं मुखपुष्करं सः।। नै० ७।९५

३. पुष्पं प्रवालोपिहितं यदिस्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततो नु कुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचःस्मितस्य।। कु० १।४४

४. विधायबन्धूकपयोजपूजने कृतां विधोर्गन्धफलीबलिश्रियम्।
निनिन्दलब्धाधरलोचनार्चनं मनः शिलाचित्रकमेत्यतन्मुखम।। नै० १५।२८

५. कु० सं० ३।५२-५६

६. नै० १०।९२-१०८

हुए थी।[१]" "सहर्ष-मदन-द्वारा व्याप्त सब अङ्गो वाली, सूक्ष्म अंगुलियो सहित (अथवा नूतन पल्लव तुल्य अतिरक्त) पाणिवाली सखियो से संयुक्त, उन राजाओं द्वारा अभिलषित दमयन्ती ऐसी प्रतीत हो रही थी मानो सुगन्धित पुष्पो और मलयानिल से सुरभित तथा बालशाखाओ के किसलयो मे लीन भ्रमरपङिक्त से सुशोभित और कल्पवृक्षो तक की चाही हुई वसन्त-लक्ष्मी हो।[२]" "सुगंधित नि श्वास के लोभी, विम्वाधर के समीप उडने वाले, भ्रमर को भयचकित दृष्टि वाली सुन्दरी बार-बार अपने लीलारविन्द से निवारित कर रही थी।[३]" "दमयन्ती के अङ्गराग-परिमल से आकृष्ट मधुकर सानन्द आकर उसके कर्णोत्पल पर मंडराता हुआ ऐसा प्रतीत होता था मानों मदन-दूत एकान्त मे उसके कानो मे कुछ कहता है।[४]" इस श्लोक मे शाकुन्तल के "रहस्याख्यायीवस्वनसिमृदुकर्णान्तिक चर." (शा० १।२०) का भी भाव लिया गया समझ पडता है। "सुन्दरी नितम्ब से बार बार खिसकने वाली बकुलपुष्पो की बनी माला की काञ्ची को यथास्थान व्यवस्थित कर रही थी, वह माला ऐसी प्रतीत होती थी मानों उचित स्थान को जानने वाले कामदेव ने अपने धनुष की द्वितीय प्रत्यञ्चा वहा धरोहर रक्खी है।"[५] सुन्दरी फूल के बाणो से नल को जीतने मे असमर्थ जान कर मदन को अपने आभूषण-रत्नो की किरणों से निर्मित इन्द्र-धनुष सा सौप रही थी।[६]

कामदेव ने शंकर को अपने वश मे करने का उस समय को उचित अवसर समझा, जब पार्वती उनके नेत्रों के सम्मुख हो। अत जव पार्वती ने शिव के चरणो मे फूल चढ़ाकर प्रणाम किया, उसी समय कामदेव ने, अपने बाण चलाने का ठीक अवसर

---

१. अशोकनिर्भर्त्सितपद्मराग माकृष्टहेमद्युति कर्णिकारम्।
मुक्ताकलापीकृतसिन्धुवारं बसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती॥ कु० ३।५३

२. समोदपुष्पाशुगवासिताङ्गी किशोरशारवाग्रशयालिमालाम्।
वसन्तलक्ष्मीमिव राजभिस्तैः कल्पद्रुमैरप्यभिलष्यमाणाम्॥ नै० १०।९६

३. सुगन्धिनिश्वासविवृद्धतृष्णं बिम्बाधरासन्नचरं द्विरेफम्।
प्रतिक्षणं संभ्रमलोलदृष्टिर्लीलारविन्देन निवारयन्ती॥ कु० ३।५६

४. विलेपनामोदमुदागतेन तत्कर्णपूरोत्पलसर्पिणा च।
रतीशदूतेन मधुव्रतेन कर्णेरहः किंचिदिवोच्यमानाम्॥ नै० १०।९५

५. स्रस्तांनितम्बादवरोपयन्ती पुनः पुनः केसरदामकाञ्चीम्।
न्यासीकृतांस्थानविदा स्मरेण द्वितीयमौर्वीमिवकार्मुकस्य॥ कु० ३।५६

६. स्मरं प्रसूनेन शरासनेन जेतारमश्रद्धतीं नलस्य।
तस्मै स्वभूषादृशदंशुशिल्पं बलद्विषः कार्मुकमर्पयन्तीम्॥ नै० १०।९९

समझ कर, अग्नि मे कूदने वाले पतङ्ग की तरह, उमा की उपस्थिति मे ही शिव की ओर बाण का निशाना लगाकर अपने धनुष की प्रत्यञ्चा को बारबार खीचा।[1] नल को जीतने के लिए मदन को वही क्षण उचित समझ पड़ा जब दमयन्ती के लोकोत्तर रूप तथा गुण को उन्हों(नल)ने लोगो से सुना—जब दमयन्ती उनके कल्पना-नेत्रो के सम्मुख हो। उस समय कामदेव ने, जो नल से सौन्दर्य मे पराजित होने के कारण ईर्ष्या-कलुष हो रहा था, अवसर पाकर अपनी मूर्तिमयी अमोघ शक्ति के समान उस सुन्दरी द्वारा निषधराज को जीतना चाहा।[2] नैषध मे इस प्रसङ्ग में मदन की चर्चा न करके नल का दमयन्ती-लुब्ध होना ही कहने से भी कोई त्रुटि न होती, किन्तु इस अवसर पर मदन द्वारा नल को जीतने की बात कहने से कुमारसम्भव का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

कुमारसम्भव के पञ्चम सर्ग की शैली पर नैषध का नवम सर्ग एवं सप्तम पर पञ्चदश और अष्टम सर्ग की शैली पर नैषध के १८, १९, २०, २१, २२—पाच सर्गो की रचना समझ पड़ती है। नल-दमयन्ती-संवाद का कथानक महाभारत से लिया गया है किन्तु उसके वर्णन-शैली का आधार कुमारसम्भव का शिवपार्वती-संवाद (पञ्चम सर्ग) ही है। जैसे शंकर ने जटिल तपस्वी का रूप धारण कर पार्वती के तपोवन में प्रवेश किया था, तथा बीच मे कही भी अपना परिचय नही दिया, उसी प्रकार नल भी अपने नामरूप का परिचय नही देते। (महाभारत मे तो पहुंचते ही वे 'नलं मा विद्धि कल्याणि देवदूतामिहागतम्' इत्यादि सभी कुछ बता देते है) शिव अपने वार्त्तालाप का प्रस्ताव "क्रियानुष्ठान के लिए कुश और इन्धन सुलभ तो है? जल तुम्हारे स्नान के योग्य तो है?"[3] इत्यादि कुशल-प्रश्न के साथ करते है। क्योंकि यही उचित क्रम है। नैषध मे नल भी "सुन्दरि! तुम्हारे अङ्ग स्वस्थ तो हैं, चित्त प्रसन्न तो है?"[4] इत्यादि कुशल-जिज्ञासा के साथ देव-संदेश का प्रस्ताव करते है। शिव के विचार से यदि पार्वती पति-प्राप्ति के लिए तप कर रही है तो व्यर्थ है, क्योंकि रत्न किसी को खोजता नही स्वयं खोजा जाता है।[5] उसी प्रकार दूत

---

१. कामस्तुबाणावसरं प्रतीक्ष्य पतङ्गवद्वह्निमुखं विविक्षुः।
उमासमक्षं हरबद्धलक्ष्यः शरासनज्यां मुहुराममर्श॥ कु० ३।६४

२. तमेव लब्धावसरं ततः स्मरः शरीरशोभाजयजातमत्सरः।
अमोघशक्त्या निजयेव मूर्त्या तया विनिर्जेतुमियेष नैषधम्॥ नै० १।४३

३. अपिक्रियार्थं सुलभं समित्कुशं जलान्यपि स्नान-विधिक्षमाणि ते॥ कु० ५।३३

४. कल्याणि कल्यानि तवाङ्गकानि कच्चित्तमां चित्तमनाविलं ते॥ नै० ८।५७

५. अथौपयन्तारमलं समाधिना न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्॥ कु० ५।४५

नल भी दमयन्ती द्वारा इन्द्र की उपेक्षा देखकर कहते है—"वे देवाधिप अपना मन तुम्हारी ओर लगाएं और तुम उनसे विमुख रहो ! महान् आश्चर्य है। कहां तो पद्मादि निधियां स्वयं निर्धन के पास आएं और कहा निर्धन अपनी फटकार के किवाड़ देकर उन्हे बाहर निकाल दे।"[१] ब्रह्मचारि-वेष में प्रच्छन्न शिव की बातो से "क्रुद्ध पार्वती ने वहा से अन्यत्र जाने के लिए पैर उठाया ही था कि मुस्कराते हुए शंकर ने अपना प्रत्यक्ष रूप धारण कर लिया, जिसे देख कर पार्वती में कम्प, स्वेद आदि सात्विक भावो का उदय हो आया, तथा उठाया हुआ पैर उठा ही रह गया। वे न जा सकी, न लौट सकी।"[२] उसी प्रकार मध्याह्न मे नल को मदनवश देखकर दमयन्ती देहली से बाहर सखियो की ओर चल पड़ी, किन्तु प्रिय को प्रतिकूल करके आई थी अतः हृदय मे दुखी हो रही थी। पर अब प्रिय को प्रसन्न किए बिना सखियो के पास नही जा सकती थी, और लज्जा के कारण फिर प्रिय के पास भी नही आ सकती थी।[३] शिव के द्वारा तप का उद्देश्य पूछने पर पार्वती शालीनता के कारण स्वय कुछ उत्तर नही दे सकती और अपनी पार्श्ववर्तिनी सखी को इसके लिए नेत्र-संकेत करती हैं। सखी ने देवी का संकेत पाकर शिव को पार्वती के अनुराग का हृदयस्पर्शी विवरण दिया। ब्रह्मचारी के इस प्रकार वास्तविक बात कहने पर पार्वती अपने मन की बात न कह सकीं और उन्होने समीपस्थ सखी की ओर अञ्जन-रहित नेत्रों से देखा।[४] फिर सखी ने ब्रह्मचारी से कहा—महात्मन् यदि आपको कुतूहल है तो सुनिए, जिस कारण मेरी सखी ने अपने कमल-कोमल शरीर को तपस्या का साधन बनाया है।[५]

नैषध मे नल-दमयन्ती-वार्तालाप प्राय. दो सर्गों (८-९) में हुआ है, अत तीन वार ऐसे प्रसङ्ग आए जब लज्जावश दमयन्ती की वाणी मौन हो जाती है और उसे अपनी सखी का सहारा लेना पडता है। प्रथम प्रसङ्ग तब आता है जब आगन्तुक

---

१. अहोमनस्वामनुतेऽपि तन्वतेऽत्वमप्यमीभ्योविमुखीतिकौतुकम्।
क्व वानिधिर्निर्धनमेति किं च तं वाक्कवाटं घटयन्निरस्यति।। नै० ९।३९

२. शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ। कु० ५।८५

३. प्रियस्याप्रियमारभ्यतमन्तर्दूनयानया।
शेके शालीनयाऽलिभ्यो न गन्तुं न निवर्तितुम्।। नै० २०।१५७

४. इतिप्रविश्याभिहिता द्विजन्मना मनोगतं सा न शशाक शंसितुम्।
अथो वयस्यां परिपार्श्ववर्तिनीं विवर्तितानञ्जननेत्रमैक्षत।। कु० ५।५१

५. सखी तदीया तमुवाच वर्णिनं निबोध साधो तव चेत्कुतूहलम्।
यदर्थमम्भोजमिवोष्णवारणं कृतं तपः साधनमेतयावपुः।। कु० ५।५२

देवदूत से देवो के सन्देश को फिर न कहने का आग्रह करती हुई दमयन्ती उसे अपने नलानुराग का परिचय देना चाहती है। उस समय इतना कहते ही नतमुख हो दमयन्ती के द्वारा कान मे लगकर कही जाने पर सखी बोली—"हे दूत, इसने लज्जा वश मेरे हृदय में प्रवृष्ट होकर जो कहा है उसे मेरे मुख के मार्ग से निकलते हुए सुनो।"[1] फिर दूत के रूप मे हंस द्वारा चित्रित अपने प्रिय के रूप का साम्य देखकर उसे अगले दिन होने वाले स्वयवर तक वही रुकने का आग्रह सखी द्वारा करती है।[2] वैदर्भी से प्रेरित होकर एक सखी ने कहा—"मेरी सखी दृढ़मौन-व्रत धारण करने वाली अपनी एक जिह्वा से लज्जा देवी की आराधना कर रही है तथा अपनी दूसरी रसना रूप मेरे द्वारा आप से यह कह रही है इत्यादि।[3] और अन्त मे जब भावोद्रेकवश नल ने अपने नाम-रूप को प्रकट कर दिया तथा वैदर्भी प्रियके सम्मुख लाज के भार से अत्यन्त दवी जा रही थी (क्योकि उसने अभी कुछ क्षणपूर्वक निर्लज्जा की भाँति नल से ही मुह खोलकर बाते की है) और जब एकान्त में भी दमयन्ती सखी के कानो मे प्रिय को उत्तर न दे सकी, तब सखी ने ही हंसकर नल से कहा—"इस समय आपकी प्रिया ने मौन धारण कर लिया है।[4] फिर नल के विरह (पूर्वराग) मे दमयन्ती की विभिन्न व्यथाओ का वैसा ही चित्रण करती है जैसा पार्वती की सखी ने जटिल-वेश-प्रच्छन्न शिव के सम्मुख किया था। अपने नेत्रों के अश्रुप्रवाहों को स्वय-निर्मित चित्र मे अङ्कित तुम्हारे चरणों का अतिथि बताती हुई दमयन्ती, मदन की जो रहस्य-गाथा गाती थी उसे सुनो इत्यादि।"[5] और अन्त में जब शिव-निन्दा सुनकर अत्यन्त क्षुब्ध हो पार्वती अन्यत्र चल पड़ी उस समय जिस प्रकार भावद्रवित हो भगवान् शकर अपने को प्रकट करने और "हे सुन्दरि, आज से मै तपस्या द्वारा खरीदा हुआ तुम्हारा दास हूँ"[6] ऐसा कहने के लिए विवश

---

१. **अदो निगद्यैव नतास्यया तयाश्रुतोलगित्वाभिहितालिरालपत्।**
प्रविश्य यन्मे हृदयं ह्रियाहतद्विनिर्यदाकर्णयमन्मुखाध्वना॥ नै० ९।३०

२. नै० ९।६४-६६

३. **तमालिरूचेऽथविदर्भजेरिता प्रगाढ़मौनव्रतयैकया सखी।**
त्रपां समाराधयतीयमन्यया भवन्तमाहस्वरसज्ञया मया॥ नै० ९।६४

४. **यदापवर्यापि न दातुमुत्तरं शशाक सख्याः श्रवसिप्रियस्यसा।**
विहस्य सख्येवतमब्रवीत्तदाह्रियाऽधुनामौनधना भवत्प्रिया॥ नै० ९।१४२

५. **पदातिथेयांल्लिखितस्यतेस्वयं वितन्वती लोचननिर्झरानियम्।**
जगाद यां सैव मुखान्ममत्वया प्रसूनबाणोपनिषन्निशम्यताम्॥ नै० ९।१४३

६. **अद्यप्रभृत्यवनतांगि तवास्मि दासः क्रीतस्तमोभिरिति।** कु० ५।८६

हुए उसी प्रकार प्रिय-प्राप्ति के विघात का निश्चय जानकर सोन्माद रोती हुई, सहनशक्ति खोकर, घबडाकर, निरानन्द हो तथा बुद्धिहीन होकर अत्यन्त दु खित दमयन्ती के करुण विलापो[१] को सुनकर नल-हृदय मे दबा रक्खी हुई विरह-वेदना उद्बुद् हो उस सयोगावस्था मे भी नल को पुन. क्षण भर के लिए उद्भ्रान्त कर देती है। जिससे वे "अयि प्रिये ! तुम किसके कारण रो रही हो ? अपने मुख को क्यो आँसुओं से विलिप्त कर रही हो ? क्या अपने कटाक्ष-विलास से तुमने अपने सामने नत इस नल को नही देखा।"[२] इन शब्दो से प्रारम्भ कर "चन्द्रमा की किरणो के लिए रात्रि की भाँति इस नल की तू ही प्राणाधार है"[३] यहाँतक कह डालते है। और दमयन्ती की विवाह-विधि तो अथ से इति तक पार्वती के विवाह के अनुसार सम्पन्न की गयी। दोनो विवाहों मे पाणिग्रहण सस्कार ज्योति शास्त्र सम्मत उत्तम मुहूर्त मे किया गया। "शुक्ल पक्ष मे जामित्र (लग्न के सप्तम स्थान) के गुण (शुद्धि) से युक्त तिथि मे भाई बन्धुओं के साथ हिमवान् ने कन्या के विवाह-संस्कार का अनुष्ठान किया।"[४] नैषध मे भी राजा भीम ने बाहर आकर ज्योतिषियो की सभा की, जिसमे उन लोगों ने राजा से शुक्र, गुरु आदि ग्रहों के उदय-अस्त दोषो से निर्मुक्त तथा जामित्र आदि सम्पूर्ण गुणों से संयुक्त मुहूर्त बताया। अतः राजा ने उसी मुहूर्त में कन्या-दान करने का उपक्रम किया।[५] विवाहो मे कुछ स्त्री-समयोचित क्रियाएँ होती ही है। वे जिस प्रकार ओषधिप्रस्थ मे की गई उसी प्रकार कुण्डिनपुर मे भी। "घर घर मे स्त्रियाँ विवाह की तैयारी मे लगी थी। और इस प्रकार हिमवान् का पुर तथा अन्त पुर दोनों एक कुल के समान लगते थे।"[६] कुण्डिनपुर मे राजा भीम भी ललनाचार के लिए आदेश देते हुए कहते है, "सुन्दरियो, तुम लोग विवाहोचित अपनी ललनाचार की क्रियाएं करो और हम भी वैदिक तथा शास्त्रीय विधियाँ

---

१. नै० ९।८८-१००

२. अयिप्रिये, कस्यकृते विलप्यते विलिप्यते हा मुखमश्रुबिन्दुभिः।
पुरस्त्वयालोकि नमन्नयं न किं तिरश्चलल्लोचनलीलयानलः॥ नै० ९।१०३

३. निशेव चान्द्रस्य करोत्करस्य यन्मम त्वमेवासि नलस्य जीवितम्॥ नै० ९।१२०

४. अथौषधीनामधिपस्य वृद्धौ तिथौ च जामित्रगुणान्वितायाम्।
समेतबन्धुर्हिमवान् सुतायाविवाहदीक्षाविधिमन्वतिष्ठत्॥ कु० ७।१

५. निरीय भूपेन निरीक्षितानना शशंस मौहूर्तिकसंसदंशकम्।
गुणैररीणैरुदयास्तनिस्तुषं तदा स दातुं तनयां प्रचक्रमे॥ नै० १५।८

६. वैवाहिकैः कौतुकसंविधानैर्गृहे गृहे व्यग्रपुरन्ध्रिवर्गम्।
आसीत्पुरं सानुमतोऽनुरागादन्तः पुरं चैककुलोपमेयम्॥ कु० ७।२

कर रहे हैं।"[1] उस अवसर पर दोनों नगर अपनी सजावट से स्वर्ग की भ्रान्ति उत्पन्न कर रहे थे। "हिमवान् नगर के राजमार्गो पर मन्दार-पुष्प बिखेरे गए थे, भवनोपर पट्टवस्त्र-निर्मित (रेशमी) पताकाए फहरा रही थी, तथा स्वर्णिम तोरणो की कान्ति फैल रही थी। इस प्रकार वह पुर ऐसा प्रतीत हो रहा था मानों स्वर्ग ही दूसरे स्थान पर आकर बस गया हो।"[2] और इधर, कुण्डिनपुरवासी प्रजा-लोग अलङ्कारो से सुशोभित थे, सारे भवन सुन्दर चित्रो से दीप्तिमान् हो रहे थे, उस नगर की भूमि मणि-जटित हो रही थी। इस प्रकार अब तक स्वर्ग उपमान था, भूलोक उपमेय था, पर अब भूलोक ही उपमान बन रहा था।[3]

विवाह के पूर्व पार्वती तथा दमयन्ती दोनो के मङ्गल-स्नान प्रायः एक ही प्रकार के होते है। हिमालयपुर की सुन्दरियो ने मोतियों की रचना से युक्त चतुष्क (चार खम्भो वाले) गृह मे मरकत की शिला पर बैठाकर, स्वर्णमय कुम्भ के जल से बाजे-गाजे के साथ पार्वती को स्नान कराया।"[4]

और कुण्डिनपुर मे भी "इसके पश्चात् सौभाग्यवती स्त्रियो ने सर्वतोभद्र आदि की रचना से सुसज्जित वेदी पर कुल-परम्परा के अनुसार स्वर्णकलशो के जल से राजकुमारी को स्नान कराया।"[5] स्नान के पश्चात् जैसे "मङ्गलस्नान से विशुद्ध-शरीर पति के पास जाने योग्य वस्त्र पहने हुए पार्वती वर्षा के अनन्तर प्रफुल्लकाश-युक्त पृथ्वी के समान शोभित हुई"[6] उसी प्रकार "अभी स्नान करने के कारण आर्द्र तथा श्वेत वस्त्र धारण करने के कारण शुभ्र-कान्ति दमयन्ती वर्षा और

---

१. सृजन्तु पाणिग्रहमङ्गलोचिता मृगीदृशः स्त्रीसमयस्पृशः क्रियाः।
श्रुतिस्मृतीनां तु वयं विदध्महे विधीनीति स्माह च निर्ययौ चसः॥ नै० १५।७

२. सन्तानकाकीर्णमहापथंतच्चीनांशुकैः कल्पितकेतुमालम्।
भासोज्वलत्काञ्चनतोरणानां स्थानान्तरं स्वर्गइवावभासे॥ कु० ७।३

३. विभूषणैः कञ्चुकिताः बभुः प्रजाः विचित्रचित्रैः स्नपितत्विषो गृहाः।
बभूव तस्मिन्मणिकुट्टिमैः पुरे वपुः स्वमुर्व्यापरिवर्तितोपमम्॥ नै० १५।१५

४. विन्यस्तवैदूर्यशिलातलेऽस्मिन्नाबद्धमुक्ताफलभक्तिचित्रे।
आवर्जिताष्टापदकुम्भतोयैः सतूर्यमेनां स्नपयाम्बभूवुः॥ कु० ७।१०

५. उदस्य कुम्भीरथशातकुम्भजाश्चतुष्कचारुत्विषि वेदिकोदरे।
यथाकुलाचारमथावनीन्द्रजां पुरन्ध्रिवर्गः स्नपयाम्बभूव ताम्॥ नै० १५।१९

६. सा मङ्गलस्नानविशुद्धगात्री गृहीतपत्युद्गमनीयवस्त्रा।
निर्वृत्तपर्जन्यजलाभिषेका प्रफुल्लकाशा वसुधेवरेजे॥ कु० ७।११

शरद दोनों की मनोरम सन्धि- वेला के समान सुशोभित थी।"[१] दमयन्ती का अलङ्कार-प्रसाधन भी प्रायः उसी प्रकार हुआ है जैसे पार्वती का। "पतिव्रताएँ पार्वती को पकड कर उस स्थान से मणिमय चार खम्भों वाले वितान-युक्त कौतुक वेदी के आसन पर ले गयी।[२] वहा पार्वती को पूर्व-मुख बैठाकर स्त्रियो के नेत्र क्षण भर उसके सहज-सौन्दर्य से आकृष्ट हो गए।[३]"

इधर कुण्डिनपुर मे "समस्त कलाओं मे चिरकाल से अभ्यास करने के कारण अत्यन्त कुशल सखियों ने दमयन्ती को पवित्र वेदी पर ले जाकर क्षण भर मे उसके प्रत्येक अङ्ग का शृङ्गार किया।[४] और अलङ्कारो से विभूषित दमयन्ती की वही शोभा हुई जो पार्वती की हुई थी। "जैसे फूलों के विकसित होने से लता, एक एक करके दिखायी पड़ने वाले तारों से रात्रि तथा किनारे पर एक एक कर के बैठने वाले विहङ्गों से नदी सुशोभित होती है, उसी प्रकार क्रमशः आभूषणों को धारण करने से पार्वती सुशोभित हो रही थी।"[५] इधर "जैसे स्वयं पावन गङ्गा प्रयाग आदि तीर्थों के कारण और अधिक पावन हो गई है, जैसे सहज-राग (स्नेह) के पात्र (पुत्र-आदि) अपने गुणों के कारण और अधिक प्रिय हो जाते हैं तथा जैसे नीति पूर्व-संचित पुण्यों के कारण अधिक सफल होती है, उसी प्रकार दमयन्ती की वह परम शोभा उन आभूषणों से अतिशय बढ गयी थी।"[६] "पार्वती का कण्ठ स्तनो से बन्धुर (उन्नत) था, तथा मुक्तामाल स्तन-कंठ पर वर्तुलाकार पड़ी थी। अङ्ग तथा भूषण इस प्रकार परस्पर अन्योन्य-शोभा-विधायक थे।[७] इसी प्रकार "दमयन्ती के

---

१. असौमुहुर्जातजलाभिषेचना क्रमाद्दुकूलेनसितांशुनोज्ज्वला।
द्वयस्यवर्षाशरदां तदातनीसनाभितां साधु बबन्ध सन्ध्यया॥ नै० १५।२१

२. तस्मात्प्रदेशाच्चवितानवन्तं युक्तं मणिस्तम्भचतुष्टयेन।
पतिव्रताभिः परिगृह्यनिन्ये क्लृप्तासनं कौतुकवेदिमध्यम्॥ कु० ७।१२

३. तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य तन्वींक्षणं व्यलम्बन्त पुरो निषण्णाः।
भूतार्थशोभाह्रियमाणनेत्राः प्रसाधने सन्निहितेऽपि नार्यः॥ कु० ७।१३

४. अवापितायाः शुचिवेदिकान्तरं कलासु तस्याः सकलासु पण्डिताः।
क्षणेन सख्याश्चिरशिक्षणैः स्फुटं प्रतिप्रतीकं प्रतिकर्मनिर्ममुः॥ नै० १५।२६

५. सा सम्भवद्भिः कुसुमैर्लतेव ज्योतिर्भिरुद्यद्भिरिव त्रियामा।
सरिद्विहङ्गैरिव लीयमानैरामुच्यमानाभरणा चकासे॥ कु० ७।२१

६. विशेषतीर्थैरिवजह्नुनन्दिनी गुणैरिवाजानिकरागभूमिता।
जगामभाग्यैरिव नीतिरुज्वलैर्विभूषणैस्तत्सुषमा महार्घताम्॥ नै० १५।५४

७. कण्ठस्य तस्याः स्तनबन्धुरस्य मुक्ताकलापस्य च निस्तलस्य।
अन्योन्यशोभा जननाद् बभूव साधारणो भूषणभूष्यभावः॥ कु० १।४२

अङ्ग स्वय अति रमणीय थे। तथा परस्पर एक अङ्ग का सौन्दर्य दूसरे अङ्ग को सुन्दर बना रहा था। अत वे आभूषण, जिन्हे अल (व्यर्थ) करण (पहिनना) कहा जाता है, उन अङ्गो का क्या सौन्दर्य बढा सकते थे।"[1] और अन्त मे जैसे "पार्वती से कार्यकुशल माता ने पूजित देवों को प्रणाम करवा कर क्रम से पतिव्रताओ का चरण स्पर्श करवाया"[2] उसी प्रकार "अलङकृत होकर लज्जा के भार से दबी हुई दमयन्ती ने गुरुजनो (माता-पिता), ब्राह्मणों और पतिव्रता स्त्रियों के चरणों मे प्रणाम तथा उनके आशीर्वाद प्राप्त किए। प्रसन्न देवों ने उसे जो वरदान दिए थे वे आशीर्वाद भी उन्ही के समान सत्य तथा सफल थे।"[3] इसके तुरन्त पश्चात् शिव और नल का भी विवाहोचित शृङ्गार समान ही हुआ । कुमार-सम्भव मे "उसी समय ब्राह्मी आदि मातृकाओं ने कैलाश पर्वत पर शिव का पाणिग्रहण के अनुरूप संस्कार किया।"[4] नैषध में इधर उसी प्रकार शृङ्गार-रचना मे कुशल सेवको ने उस समय अपने प्रभु महाराज नल का भी विवाहोचित शृङ्गार किया।[5] शिव ने अपने अलङ्कृत स्वरूप का प्रतिबिम्ब आसन्न-गणोपनीत खड्ग मे देखा था,[6] और नल ने अलङ्कारस्थ मणियो मे ही देख लिया।[7]

ईशान-सन्दर्शन की लालसा के वश होने वाली हिमालयपुर की सुन्दरियों की चेष्टाओ का कालिदास ने अति-मनोरम चित्रण किया है। "कोई सुन्दरी हाथ मे

---

१. स्वयं तवङ्गेषु गतेषुचारुतां परस्परेणैव विभूषितेषु।
किमूचिरेऽलङ्करणानि तानितद् वृथैव तेषां करणं बभूव यत्॥ नै० १५।४८

२. तार्मचितभ्यः कुलदेवताभ्यः कुलप्रतिष्ठां प्रणमय्य माता।
अकारयत् कारवितव्यदक्षा क्रमेण पादग्रहणं सतीनाम्॥ कु० ७।२७

३. अमोघभावेन सनाभितांगताः प्रसन्नगीर्वाणवराक्षरस्रजाम्।
ततः प्रणम्राधिजगाम सा ह्रिया गुरुर्गुरुब्रह्मपतिव्रताशिषः॥ नै० १५।५६

४. तावद्भवस्यापि कुबेरशैले तत्पूर्वपाणिग्रहणानुरुपम्।
प्रसाधनं मातृभिरादृताभिर्न्यस्तं पुरस्तात् पुरशासनस्य॥ कु० ७।३०

५. तथैव तत्कालमथानुजीविभिः प्रसाधनासञ्जनशिल्पपारगैः।
निजस्यपाणिग्रहणक्षणोचिता कृतानलस्यापि विभोर्विभूषणा॥ नै० १५।५७

६. आत्मानमासन्नगणोपनीते खड्गे निषक्त-प्रतिमंददर्श॥ कु० ७।३६

७. घने समस्तापयमावलम्बिनां विभूषणानां मणिमण्डलेनलः।
स्वरूपरेखामवलोक्य निष्फलीचकारसेवाचणदर्पणार्पणाम्॥ नै० १५।७०

केश पकडे,[१] कोई पैर मे गीला महावर लगाए,[२] कोई दाहिनी आँख मे आँजन एवं बाई मे बिना आजन लगाए हाथ मे अञ्जन-शलाका लिए,[३] कोई वेग से चलने में छूटी हुई नीवी की गाठ हाथ मे पकडे हुए,[४] कोई सत्वर उठने के कारण रत्नों के गिर जाने से सूत्रमात्र-शेष रसना (करनी) धारण किए हुए खिडकी तक आई।[५] इसी के आधार पर श्रीहर्ष ने भी विदर्भपुर की अप्सरा-तुल्य ललनाओ का नल को देखने के लिए घरघर से समुत्सुक एवं समलंकृत हो राजमार्ग को सुशोभित करना चित्रित किया है।[६] कुण्डिनपुर की सुन्दरियों की चेष्टाएं भी उनकी नल रूप मे तन्मयता का प्रमाण रही थी। उनको भी उस समय किसी अन्य बात की सुध-बुध नहीं रह गई थी। एक-दो चित्र पर्याप्त होंगे—"कोई सुन्दरी नल को देखने मे इतनी तल्लीन थी कि पवन के झोके से आधे खुले अपने स्तनो को भी न जान सकी, और इस प्रकार नल की विवाह-यात्रा के लिए आगे खडी होकर मानों मङ्गल-कलश का उपहार दिखा रही थी।"[७] किसी सुन्दरी ने नल के देखने मे एकाग्रनेत्र होने के कारण हाथ मे लिए हुए पान को खाने के बदले मुख मे अपना लीला कमल ही डाल लिया। मानो उसे यह क्रोध था कि मेरे मुखरूपी राजा के होते हुए यह कमल राजा क्यो बन रहा है?"[८] उन सुन्दरियो की आपस मे बाते भी प्राय. उसी ढंग की

---

१. आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः।
बद्धुं न संभावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः॥ कु० ७।५७

२. प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद्द्रवरागमेव।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान॥ कु० ७।५८

३. विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन संभाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा।
तथैव वातायनसन्निकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती॥ कु० ७:५९

४. जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम्।
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वासः॥ कु० ७।६०

५. अर्धाचिता सत्वरमुत्थितायाः पदे पदे दुर्निमिते गलन्ती।
कस्याश्चिदासीद्रसना तदानीमंगुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा॥ कु० ७।६१

६. विदर्भनाम्नस्त्रिदिवस्य वीक्षितुं रसोदयादप्सरसस्तमुज्ज्वलम्।
गृहाद्गृहादेत्य धृतप्रसाधना व्यराजयन् राजपथानथाधिकम्॥ नै० १५।७३

७. अजानती कापि विलोकनोत्सुका समीरधूतार्धमपिस्तनांशुकम्।
कुचेन तस्मै चलतेऽकरोत्पुरः पुराङ्गनामङ्गलकुम्भसम्भृतिम्॥ नै० १५।७४

८. करस्थताम्बूलजिघत्सुरेकिका विलोकनैकाग्रविलोचनोत्पला।
मुखे निचिक्षेप मुखद्विराजता-रुषेव लीलाकमलं विलासिनी॥ नै० १५।७७

हो रही थी जैसी ओषधिप्रस्थ की रमणियों की शकर को देख कर हुई थी—जैसे "अत्यंत कोमल पार्वती ने ऐसे वर के लिए जो इतनी घोर तपस्या की वह उचित ही थी। इनकी तो जो दासी भी बन पाए वह अपने को कृतार्थ समझेगी, फिर इनकी गोद में बैठने वाली के सौभाग्य को क्या कहना"[1]। उसी प्रकार यहाँ "इस सुन्दर युवक की प्राप्ति के लिए दमयन्ती ने जो देवराज इन्द्र की भी याचना को ठुकरा दिया यह उस गुण-ग्राहिणी ने उचित ही किया।"[2]

विवाह-सस्कार की विधियो का वर्णन भी कुमारसम्भव के ही ढग का हुआ है'। जो कही कुछ मतभेद है उसके कई कारण हैं। एक तो कवि अन्धानुकरण नही कर सकता, दूसरे कालिदास और श्रीहर्ष मे कालकृत व्यवधान भी तो अति दीर्घ है। इस बीच न जाने कितने सामाजिक परिवर्तन हुए होंगे। फिर, संकोच-विस्तार भी कवि अपने अपने ढग का करते है। फिर भी कुछ विशेष विधियों का तो उभयत्र समान ही उल्लेख हुआ है—जैसे लाजमोक्ष (लाजाहोम), अग्निपरिक्रमा, ध्रुवदर्शन, पाणिग्रहण आदि। उदाहरणार्थ, ध्रुवदर्शन के विषय मे "सुन्दर सनातन पति ने पार्वती को ध्रुवदर्शन के लिए प्रेरित किया"[3]। तथा "इसके बाद भौहें उठाकर देखते हुए नल ने ध्रुव की ओर सकेत कर के दमयन्ती को देखने को कहा।"[4]

कुमारसम्भव का अष्टम सर्ग—जैसा पहले कहा जा चुका है—नैषध के अन्तिम पाच सर्गों की रचना-शैली का आदर्श एवं आधार है। इस एक सर्ग में कालिदास ने शिव-पार्वती की रतिक्रीड़ा, सूर्यास्तमय, सन्ध्या, अन्धकार, चन्द्रोदय, चन्द्र तथा चन्द्रिका आदि का वर्णन कर दिया है। कालिदास अपनी कल्पना-प्रौढता को दिखाने के लिए कही प्रयत्न नहीं करते। उनकी अप्रस्तुत-योजना में प्रस्तुत का रूप-सौन्दर्य और भी निखर उठता है। किसी वस्तु के वर्णन मे उनकी कल्पना वहीं तक अपना प्रसार दिखाती है जहा तक उसे हृदय का सहयोग प्राप्त होता है। अतएव उनके भाव अत्यन्त हृदयस्पर्शी लगते हैं तथा उनकी शैली अत्यन्त मनोरम। वे एक बात को अनेक ढग से नही कहते। (गङ्गा-यमुना सङ्गम—वर्णन के अतिरिक्त उन्होंने कहीं एक बात को दो ढग से नही कही है) उन्हें न अपनी काव्य-शक्ति दिखाने की

---

१. स्थाने तपो दुश्चरमेतदर्थमपर्णया पेलवयापितप्तम्।
यादास्यमप्यस्यलभेतनारी सा स्यात्कृतार्था किमुताङ्कशय्याम्॥ कु० ६।७५

२. अर्थी सर्वसुपर्वणां पतिरसावेतस्ययूनः कृते,
पर्यन्याजिविदर्भराजसुतया युक्तं विशेषज्ञया॥ नै० १५।८४

३. ध्रुवेण भर्त्राध्रुवदर्शनायप्रयुज्यमाना प्रियदर्शनेन। कु० ७।८५

४. ध्रुवावलोकाय तदुन्मुखभ्रुवा निर्दिश्यपत्यामिदधे विदर्भजा। नै० १६।३८

अपेक्षा थी न पाण्डित्य-प्रदर्शन की लालसा। उनकी एक उक्ति वस्तु का सुन्दरतम स्वरूप सहृदयों के हृदय-तल तक पहुंचने के लिए पर्याप्त थी। इन्ही कारणो से वे संक्षेप मे बहुत कह डालते थे। श्रीहर्ष के समय तक कविता करने के आदर्श तथा उद्देश्य मे बहुत परिवर्तन हो चुके थे। काव्य मे कल्पना-प्रौढता एव शास्त्रज्ञता की झलक दिखाने के लिए कवि की वाणी छटपटाने लगती थी। एक वस्तु का वर्णन अनेक ढंग से किया जाता, और हर बार कोई न कोई नई बात कहने का प्रयत्न होता। नैपध के अन्तिम पाच सर्गो की रचना की यही प्रवृत्ति मूल कारण है।

श्रीहर्ष ने दो स्थानो पर शिव-विवाह का स्पप्ट उल्लेख किया है, जिससे यह और भी प्रमाणित हो जाता है कि नैषध मे इन प्रसङ्गो का वर्णन करते समय कुमार-सम्भव का कथानक पूर्णतया उनके ध्यान मे था। प्रथम उल्लेख नल-दमयन्ती की रति-क्रीड़ा के समय हुआ है—"गौरी के समान सुन्दरी प्रिया स्वयं भी पंखा चलाना आदि यदि कुछ करना चाहती तो सकेतज्ञ नल उसकी झिझक हटाने के लिए उसी कार्य के लिए दमयन्ती से स्वय भी कहते। पर मुग्धा अधिक लज्जित हो जाती और अपनी भी इच्छा को दबाकर स्वामी की आज्ञा का उल्लङ्घन कर देती।"[१] और दूसरा सन्ध्या-वर्णन के प्रसङ्ग मे "पार्वती-विवाह के अवसर पर पुष्प-सिन्दूरिका के समय शिव ने इसी सन्ध्यारुण पश्चिम-दिग्भाग को वस्त्र के रूप मे धारण किया था —दिगम्बर जो ठहरे[२]— तथा सती और पार्वती के विवाहो मे पुष्पसिन्दूरिका के समय शिव ने क्रम से प्रभारुणा प्राची तथा सन्ध्यारुणा प्रतीची दिशाओ को अपना अम्बर बनाया था।[३]

कालिदास ने शिव-पार्वती-विवाह के पश्चात् रतिक्रीड़ा के प्रसङ्ग मे उद्दीपन रूप मे सन्ध्या, रजनी, चन्द्रिका आदि का वर्णन किया है। ठीक इसी भांति श्रीहर्ष ने भी नल-दमयन्ती के विवाह के पश्चात् उनकी रति-क्रीड़ा के प्रसङ्ग मे ही प्रकृति के इन मनोरम क्षणों का चित्रण किया है। रतिक्रीड़ा-वर्णन मे श्रीहर्ष ने साधारण अनुभूति के साथ कामशास्त्र का भी अधिक आश्रय लिया है। अतः नैषध के वर्णन मे विस्तार हो गया है। फिर श्रीहर्ष की कल्पना का भी पूर्ण हस्तक्षेप हुआ है।

---

१. **आत्मनापिहरदारसुन्दरी यत्किमप्यभिललाष चेष्टितुम।**
स्वामिना यदि तदर्थमर्थिता मुद्रितस्तदनयातदुद्यमः॥ नै० १८।३७

२. **सन्ध्यासरागः ककुमोविभागः शिवाविवाहेविभुनायमेव।**
दिग्वाससा पूर्वमवैमि पुष्पसिन्दूरिकापर्वणि पर्यधायि। नै० २२।१०

३. **सतीमुमामुद्वहताच पुष्पसिन्दूरिकार्थं वसने सुनेत्रे।**
दिशो द्विसंघीमभिरागशोभे दिग्वाससो किमलम्भिषाताम्॥ नै० २२।११

तथापि दोनों काव्यों के वर्णन मे कही-कही समता आ ही गयी है। सब से बडी समता तो कुमारसभव के अप्टम तथा नैषध के अप्टादश सर्गो मे प्रयुक्त छन्दों की ही है, और समान भाव वाले श्लोको का इतना बाहुल्य है कि हम उसे आकस्मिक किसी प्रकार नही कह सकते, अपितु श्रीहर्ष द्वारा कुमारसम्भव से लिया हुआ ही मानते हैं।[1]

---

१. प्रथम समागम के समय जिस प्रकार मुग्धा पार्वती कुछ पूछने पर उत्तर नहीं देती, वस्त्र छूने पर बाहर चली जाना चाहती है, शय्या पर मुंह फेर कर लेटती, किन्तु फिर भी शिव के लिए वह प्रतिवर्द्धक थी।

व्याहृता प्रतिवचो न संदधेगन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका।
सेवते स्म शयनं पराङमुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः॥ कु० ८।२

उसी प्रकार मुग्धा दमयन्ती पहिले तो 'क्या होगा' इस भय के मारे पति के शयन-कक्ष में ही नहीं आती थी, फिर किसी प्रकार सखियों द्वारा पहुंचाई गयी तो शय्या पर ही नहीं बैठती थी, फिर नल ने किसी प्रकार बैठाया तो साथ में लेटती ही नहीं थी और जब किसी प्रकार प्रिय ने साथ में लिटाया तो सामने मुंह ही नहीं करती थी। पाटी पकड़े मुंह दूसरी ओर किए ही पड़ी रही।

वेश्मपत्युरविशन्नसाध्वसाद्वेशितापिशयनं न साऽभजत्।
भाजिताऽपि सविधंनसास्वपत् स्वापिताऽपि न च समुखाभवत्॥
नै० १८।३५

फिर जैसे नाभि-स्थान पर पड़े शंकर के हाथ को पार्वती ने (सात्विकोदय में) कांपते हुए रोका, किंतु तब तक नीवी-बन्धन स्वयं ढीला हो गया,

नाभिदेशनिहितः सकम्पया शङ्करस्य रुरुधे तया करः।
तद्दुकूलमथ चाभवत्स्वयं दूरमुच्छ्वसितनीविबन्धनम्॥ कु० ८।४

वैसे ही सुन्दरी निद्रा में मग्न पड़ी है, प्रिय ने यही समय उचित समझा और हाथ नीवी पर पहुंचाया। पर नीवी के स्पर्श मात्र से उसमें इतना सात्त्विक भाव उदय हुआ कि हाथ कांपने लगा। उस कम्पन से प्रिया जाग उठी और बेचारा हाथ उस स्थान से हटा दिया गया।

नीविसीम्निनिहितं स निद्रया सुभ्रुवो निशि निषिद्धसंविदः।
कम्पितं शयमपास यन्नयं बोलनैर्जनितबोधयाऽनया॥ नै० १८।४६

सूर्यास्त के पश्चात् सायतनविधि करने के लिए जिस प्रकार शिव शिवा से

तथा—

न स्थली न जलधिर्नकाननं नाद्रिभूर्नविषयो न विष्टपम्।
क्रीडिता न सह यत्र तेन सा साविधैव न यया ययान वा॥ नै० १८।८४

(न कोई ऐसा सुन्दर स्थान बचा, न कोई ऐसा सागर छूटा, न कोई ऐसा वन या पर्वत-प्रदेश रहा, न कोई ऐसा रम्य देश बचा और न ऐसी कोई विधि बची जहां और जैसे दमयन्ती नें प्रिय के साथ रमण न किया हो। सब जगह और सब प्रकार से रमण किया)—कुमारसम्भव के अष्टम सर्ग के बाईस से अट्ठाइसवें श्लोकों के आधार पर बना समझ पड़ता है, जिनमें सुमेरु, मन्दर, कैलाश, मलय, नदी, नन्दन तथा गन्धमादन पर शिव-पार्वती के विहार-सुख का वर्णन किया गया है।

रति-क्रीड़ा के समय पार्वती तथा दमयन्ती की व्रीड़ा-मुद्राएं तथा चेष्टाएं एक ही ढंग की देखनें को मिलती है—जैसे, वस्त्र हटानें पर पार्वती अपनें दोनों हाथों से शंकर के दोनों नेत्र बन्द कर देतीं, किन्तु उनका ललाटस्थ तृतीय नेत्र सब देखता ही रहता, मुग्धा का सारा प्रयत्न व्यर्थ जाता।

शूलिनः करतलद्वयेन सा संनिरुद्धनयनेंहृतांशुका।
तस्य पश्यतिललाटलोचनें मोघयत्नविधुरा रहस्यभूत्॥ कु० ८।७।

वैसे ही, "'प्रिया खड़ी है' प्रिय नें उसका वस्त्र खींचा, सुन्दरी अपनें खुले अङ्गों को संभालती हुई झुक जाती है और मुंह से दीपक बुझा देती है, पर मुकुट-मणि से चारों ओर प्रकाश बना ही है—सुन्दरी बड़े आश्चर्य और परेशानी में पड़ती है।"

नम्रयांशुकविकर्षिणिप्रिये वक्त्रवातहत-दीप्तदीपया।
भर्तृमौलिमणिदीपितास्तथा विस्मयेंनककुभो निभालिताः॥नै० १८।८५

मेघदूत के वक्ष्यमाण श्लोकों से तो नैषध के इस पूर्वोक्त श्लोक का भाव-साम्य और भी अधिक है—

नीवी-बन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र बिम्बाधराणां।
क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु॥
अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपान्।
ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः॥ उत्तरमेघ ५

अनुज्ञा लेकर जाते हैं—"प्रियवादिनि ! तो तुम मुझे उपस्थित नियमों को पूरा करने

"जहां रति-राग में शिथिल नीवी-बन्धन पर प्रिय के हाथ पड़ने पर लज्जा विमूढ़ सुन्दरियां रत्न-दीपकों को धूल फेंक कर बुझाने का विफल प्रयत्न करती हैं।"

फिर धीरे-धीरे झिझक दूर होने पर पार्वती तथा दमयन्ती दोनों का प्रायः एक ही प्रकार का चित्र अङ्कित दिखाई पड़ता है। जैसे, "पार्वती प्रिय का गाढ़ आलिङ्गन करतीं, चुम्बन के समय मुंह न हटातीं तथा मेखला पर पड़े प्रिय के हाथ को धीरे-धीरे रोकतीं।"

सस्वजेप्रियमुरोनिपीडनं प्रार्थितं मुखमेनन नाहरत्।
मेखलाप्रणयलोलतां गतं हस्तमस्यशिथिलं रुरोधसा॥ कु० ८।१४

उसी प्रकार, "प्रिया ने प्रिय के चुम्बन करते समय जो अपना मुंह न हटाया उससे पति का हृदय अमृत से तृप्त हो गया, और स्तन आदि से जो हाथ न हटाया उससे क्या संतोष नहीं मिला?"

चुम्बितं न मुखमाचकर्षयत्पत्युरन्तरमृतं ववर्षतत्।
सा नुनोद न भुजं तदर्पितं तेन तस्य किमभून्नतर्पितम्॥ नै० १८।७०

तथा "प्रथम सम्भोग के समय दमयन्ती ने नीवी पर पड़े हाथों को बल से रोका था, फिर बाद में शिथिल हाथों से रोकती और धीरे-धीरे यह दशा आ गयी कि प्रिय के नीवी खोलते समय केवल शब्दों से 'न न' कर देती।"

नीविसीम्निनिविडं पुरारुणत्पाणिनाऽथशिथिलेन तत्करम्।
साक्रमेण न न नेतिवादिनीविघ्नमाचरदमुष्य केवलम्॥ नै० १८।७८

रति-क्रीड़ा में दन्तक्षत की वेदना उभयत्र प्रायः एकसमान है। जैसे शंकर द्वारा चुम्बन में अधरों को काटने पर वेदना-वश हाथ हिलाती हुई पार्वती उनके चन्द्रकला की शीतलता से उस अधर-वेदना को शान्त करती।

दष्टमुक्तमधरोष्ठमम्बिका वेदनाविधुतहस्तपल्लवा।
शीतलेन निरवापयत्क्षणं मौलिचन्द्रशकेलन शूलिनः॥ कु० ८।१८

उसी प्रकार "सुख-वेला में भगवान् कामदेव की आज्ञाओं की पूर्ति के सुख में अधर में किए गए प्रिय के दन्तक्षत की वेदना का सुन्दरी को कोई अनुभव ही नहीं हुआ था, पर अब उस पीड़ा का अनुभव होने लगा, बड़े धीरे से उंगलियों

के लिए अनुज्ञा दो। तब तक परिहास-कुशल सखिया तुम्हारा मनोविनोद करेगी।"[१] उसी प्रकार नल भी प्राभातिक एव सान्ध्य विधियों के अनुष्ठान के लिए दमयन्ती से अनुज्ञा लेते है—प्रिय ने समीप आकर कहा "सुन्दरि! यदि तुम्हारे चित्त मे कोई खिन्नता न हो, क्योकि उस समय तुम्हारा आलिङ्गन न हो सकेगा—तो मै अग्निहोत्र आदि शेष दैनिक विधिया भी पूरी कर आऊं"[२] तथा "तो प्रिये, कुछ देर तुम सखियो के साथ आनन्द से आख-मिचौनी खेलो।" इस प्रकार नल दमयन्ती के चित्त मे सखियो के साथ क्रीडा करने की उत्सुकता उत्पन्न कर स्वय सायं-सन्ध्या की "उपासना के लिए बाहर चले आए।"[३] "शिव के क्षण-वियोग से भी खिन्ना एवं उन्मना होकर जिस प्रकार ओठो को विचकाकर पति की उपेक्षा करती हुई पार्वती अपने समीपस्थ सखी विजया से कुछ यों ही बाते करने लगी।"[४] उसी प्रकार "अपमानित-सी होकर दमयन्ती नल के पास से अपनी कमलमुखी सखी के पास गयी, जैसे दिनमे सुषमा कुमुदों के क्षेत्र से निकल कर कमल वनों में चली जाती है।"[५] फिर सन्ध्या-विधि समाप्त कर जैसे शिव ने पार्वती के मान को भङ्ग करने के लिए अनुनय किया, "हे अकारण कोप करने वाली, अपना क्रोध छोडो, मैं सध्यावश चला गया था, और किसी कारण से नही। क्या तुम चक्रवाक के समान वृत्तिवाले

से उस क्षत को छुआ 'सी' कर उठी।"

सूननायकनिदेशविभ्रमैरप्रतीतचरवेदनोदयम्।
दन्तदंशमधरेऽधिकामुका सास्पृशन्मृदु चमच्चकार च॥ नै० १८।१२९

१. तन्मुहूर्तमनुमन्तुमर्हसिप्रस्तुताय नियमाय मामपि।
त्वांविनोदनिपुणः सखीजनो वल्गुवादिनि विनोदयिष्यति॥ कु० ८।४८

२. प्रेयसावादि सा तन्वि त्वदालिङ्गनविघ्नकृत्।
समाप्यतां विधिः शेषः क्लेशश्चेतसि चेन्नते॥ नै० २०।६

३. तदानन्दायत्वत्परिहसतिकन्दायभवती,
निजालीनां लीनां स्थितिमिह मुहूर्तंमृगयताम्।
इतिव्याजात्कृत्वालिषुचलितचित्तां सहचरीं,
स्वयंसोयंसायंतनविधिविधित्सुर्बहिरभूत्॥ नै० २१।१६२

४. निर्विभुज्यदशनच्छदंततो वाचिभर्तुरवधीरणापरा।
शैलराजतनया समीपगामाललापविजयामहेतुकम्॥ कु० ८।४९

५. सावज्ञेवाथ सा राज्ञः सखींपद्ममुखीमगात्।
लक्ष्मीः कुमुदकेदारादारादम्भोजिनीमिव॥ नै० २०।१९

मुझको अपना सहधर्मचारी नही जानतीं ?"[1] उसी प्रकार प्राभातिक विधिसमाप्त कर नल ने दमयन्ती से मान त्यागने के लिए अनुनय किया। नल ने प्रिया से कहा "प्रिये ! तुम्हारा यह कोप उचित नही, क्योंकि जिस तप के प्रसाद से मै तुम्हे पा सका, तुम्ही बताओ, मै उस तप का आदर न करू ? पूजा करने न जाऊं ?"[2] कभी-कभी पार्वती अपनी सखियो से बात करती रहती और शिव पीछे से छिपकर सारी बाते सुन लेते।[3] नल भी देव-वरदान से गुप्तरूप में दमयन्ती की सखियों के साथ की गयी बाते सुनते और फिर हंसते हुए प्रकट हो जाते।[4]

अभिज्ञान शाकुन्तल

यद्यपि नैषध एक पद्यात्मक श्रव्य-काव्य है अतः पूर्ववर्ती श्रव्यकाव्यो की शैली का ही प्रभाव इस पर पडना चाहिए। किन्तु, रस एवं कही-कही कथाश की समानता होने के कारण, कई पूर्ववर्ती दृश्य एव गद्यकाव्यगत अंशो के समानार्थक भी श्लोक नैषध मे मिलते है। यहा कालिदास-कृत ग्रन्थो के विवेचन के प्रसङ्ग मे उनके शाकुन्तल का भी प्रभाव देख लेना उचित ही होगा। इस दृष्टि से अन्य कवि-ग्रन्थो का विवेचन यथावसर करेंगे। शाकुन्तल का प्रधान रस शृङ्गार है। शृङ्गार के सयोग तथा विप्रलम्भ दोनो पक्षो का चारुतम निरूपण इसमे हुआ है। नैषध का भी शृङ्गार रस ही (अपने दोनो पक्षों के साथ) आत्मा है। इस नाते शाकुन्तल की संयोग-वियोग दशा की कुछ उक्तियों के भाव दूसरे शब्दों मे हमे नैषध मे देखने को मिल ही जाते है। इसे हम सभवत. शाकुन्तल का नैषध पर कोई प्रभाव नही भी कह सकते, क्योकि जो भी सहृदय कवि जहा कही भी शृङ्गार के संयोग-वियोग की बात कहेगा वहा उस प्रकार की उक्ति का होना स्वाभाविक है। किन्तु उनके साम्याधिक्य को देखकर हठात् मुह से निकल पडता है कि शाकुन्तल के भी इन स्थलो से श्रीहर्ष ने अवश्य भाव-ग्रहण किया होगा। उदाहरणार्थ कुछ स्थल उद्धृत किए जाते है—मित्र विदूषक से शकुन्तला के अनुच्छिष्ट लोकोत्तर रूप का वर्णन

---

१. मुञ्चकोपमनिमित्तकोपने सन्ध्ययाप्रणमितोऽस्मिनान्यया।
किं न वेत्सिसहधर्मचारिणं चक्रवाकसमवृत्तिमात्मनः॥ कु० ८।५१

२. सावादिसुतनुस्तेन कोपस्तेनायमौचिती।
त्वां प्रापंयत्प्रसादेन प्रिये तन्नाद्रियते तपः॥ नै० २०।१४

३. त्वं मयाप्रियसखीसमागता श्रोष्यतेव वचनानिपृष्ठतः॥ कु० ८।५९

४. तांमिथोऽभिदधतींसखीं प्रियस्यात्मनश्च स निशावचेष्टितम्।
पार्श्वगःसुखरात्पिधां दधत् दृश्यतां श्रुतकथो हसन्गतः॥ नै० १८।६८

करते हुए दुष्यन्त अन्त मे कहते हैं—"पता नही विधाता किसको इसका भोक्ता बनाकर समुपस्थित करेगे?"[१] इसी प्रकार स्वर्ग-सुन्दरियो से भी चारुतर रूप को देखकर हंस के मन मे विकल्प उठता है "तव मैंने सोचा कि आखिर ब्रह्मा ने इस त्रैलोक्य-सुन्दरी के लिए किसे पति निश्चित किया है?"[२]

शकुन्तला-प्रेम में विकल दुष्यन्त चन्द्र और मदन दोनों को उपालम्भ देते हैं—"मदन! तुम्हारे फूल के बाण और चन्द्र! तुम्हारी शीतल किरणे ये दोनों हम-ऐसे व्यक्तियो के लिए असत्य ही हैं, क्योकि चन्द्र अपनी शीतल किरणों से अग्नि बरसाता है और तुम (मदन) अपने फूल के बाणों को वज्र के समान कर लिए हो।"[३] दमयन्ती के पूर्व-राग से जनित वेदना से आकुल नल हंस से अपनी अधीरता बतलाते हुए कुछ इसी प्रकार कहते है—"क्यों हंस, यह चन्द्रमा जो प्रत्येक महीने मे (अमावस्या के दिन) सूर्य के साथ मिलता है, तो क्या सूर्य से मेरे धैर्य को हरने वाली तीक्ष्ण किरणें लेकर मुझी को जलाने आता है?"[४] "मदन-बाण यदि फूल के हैं तो निश्चित ही वे विष-लता से उत्पन्न होने वाले फूलो के हैं, क्योकि इन वाणों ने मेरे हृदय को विमूर्च्छित तथा अत्यन्त तृप्त कर दिया है।"[५]

इस प्रकार शाकुन्तल एव नैषध मे संयोगावस्था की कई उक्तियों मे भाव-साम्य दृष्टिगोचर होता है। किन्तु वे इतने साधारण अनुभव की हैं कि यहा अनुकृत रूप मे उनका विवेचन-विस्तार उचित नही समझ पडता है।

भारवि

भारवि के किरातार्जुनीय का कथानक तथा रस दोनो नैषध से भिन्न पड़ते हैं। नैषध में किरात के भावो तक की झलक नही मिलती। किरात-नैषध का भावसाम्य

---

१. न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः॥ शा० २।१०

२. कतमस्तु विधातुराशयेपतिरस्या वसतीत्यचिन्तयम्॥ नै० २।४१

३. तवकुसुमशरत्वंशीतरश्मित्वमिन्दो
द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखैः
स्त्वमपि कुसुमबाणान् वज्रसारी करोषि॥ शा० ३।३

४. प्रतिमासमसौनिशापतिः खग! सङ्गच्छति यद्दिनाधिपम्।
किमुतीव्रतरैस्ततःकरैर्ममदाहाय स धैर्यतस्करैः॥ नै० २।५८

५. कुसुमानि यदि स्मरेषवो न तु वज्रं विषवल्लिजानितत्।
हृदयं यदमूमुहन्नमूर्ममयच्चातितरामतीतपन्॥ नै० २।५९

लगा। अतः नैषध मे भी कही कही माघ की झलक का मिल जाना कोई आश्चर्य नही। वैसे तो माघ मे मुख्य रस वीर है तथा उसका कथानक घटना-प्रधान है—नैषध से उसकी इन दोनो विषयो (अशों) मे विभिन्नता है। किन्तु कुछ प्रसङ्गो मे माघ नैषध के साथ दृष्टिगोचर होता है। माघ के पूर्व इन प्रसङ्गो का ऐसा वर्णन किसी अन्य कवि ने प्रस्तुत नही किया है, अत. नैषध के इन स्थलो मे माघ का ही. प्रभाव समझ पडता है।

द्वारका-वर्णन करते हुए माघ ने उसमे समुद्र-प्रतिबिम्बित स्वर्गपुरी की उत्प्रेक्षा की है। "वह द्वारकापुरी दर्पण-तल की भाति स्वच्छ समुद्र के जल मे मानों स्वर्ग की छाया-सी दिखाई पड़ रही थी।"[1] कुण्डिनपुर के वर्णन में श्रीहर्ष ने भी इसी प्रकार की उत्प्रेक्षा की है। "वह पुरी किसी जलाशय मे प्रतिबिम्बित सुरनगरी के समान सुशोभित हो रही थी। उसके चारों ओर जलपूर्ण परिखा उस जलाशय के उस भाग के समान थी, जो प्रतिबिम्ब के बाहर बढा हुआ हो।"[2] "चादनी रातो मे चन्द्रिका-धवल स्फटिक-विनिर्मित अट्टालिकाओं पर चढी हुई द्वारका की सुन्दरिया भी देवाङ्गनाओ की भाति सुशोभित होती है।"[3] "इसी प्रकार कुण्डनपुर की भो सुन्दरी गगनचुम्बी सौध-शिखर से अपने प्राणेश्वर के क्रीडागृह मे जाती हुई साक्षात् अप्सरा ही प्रतीत होती है।"[4] "द्वारकापुरी मे चन्द्रकान्त-मणि की बनी अट्टालिकाये जो इतनी ऊंची है कि मेघ उनके अधोभाग मे रहते हैं, रात्रि मे चन्द्रकिरणों के सम्पर्क से जल-धाराएं बहाया करती है।"[5] कुण्डिनपुर मे भी भवन की उच्च अट्टालिकाओं की चन्द्रकान्त मणियों से प्रति-चन्द्रोदय के समय इतना जलस्राव होता है कि आकाश गङ्गा (चन्द्रोदय के समय अपने पति सागर की भाति बढकर) अपने

---

१. अदृश्यतादर्शतलामलेषुच्छायेव या स्वर्जलधेर्जलेषु। मा० ३।३५

२. विललास जलाशयोदरे क्वचन द्यौरनुबिम्बितेव या।
परिखाकपटस्फुटस्फुरत् प्रतिबिम्बानवलम्बिताम्बुनि।। नै० ७९

३. स्फुरत्तुषारांशुमरीचिजालैर्विनिह्नुता स्फाटिक सौधपङ्क्तीः।
आरुह्यनार्यः क्षणदासुयत्र नभोगता देव्य इव व्यराजन्।। मा० ३।४३

४. स्वप्राणेश्वरनर्महर्म्यकटकातिथ्यग्रहायोत्सुकं-
पाथोदं निजकेलिसौधशिखरादारुह्यत्कामिनी।
साक्षादप्सरसो विमानकलितव्योमानएवाभवद्-
यत्र प्रापनिमेषमन्तरसायान्ती रसादध्वनि।। नै० २।१०४

५. कान्तेन्दुकान्तोत्पलकुट्टिमेषु प्रतिक्षपं हर्म्यतलेषु यत्र।
उच्चैरधः पातिपयोमुचोऽपि समूहमूहुः पयसां प्रणाल्यः।। मा० ३।४४

पातिव्रत धर्म को नही छोड़ती–(स्वय भी पति सहधर्मचारिणी वनती है[1])। यादव-रमणियो का शरीर-सौन्दर्य वर्णन करते समय माघ ने एकावली अलङ्कार का सुन्दर प्रदर्शन किया है। "उन यादव-रमणियों के शरीर को सुन्दरता ने अलंङ्कृत किया, उस सुन्दरता को यौवन के आगम ने, उस यौवन के आगम को कामदेव के विलास ने और उस कामविलास को प्रिय-संगम के हर्ष ने अलङ्कृत किया।"[2] श्रीहर्ष ने भी दमयन्ती की चारुता के वर्णन मे एक स्थान पर ऐसे ही भाव व्यक्त किए है। "पहिले तो ब्रह्मा ने ही इसे लोकोत्तर बनाया, फिर यौवन ने इसे और ऊपर पहुंचाया और अन्त में मदन ने विभ्रम-कलाओं को पढ़ाकर तो अवर्णनीय ही बना डाला।"[3] "राजसूय समाप्त होने पर महाराज युधिष्ठिर के पूछने पर कि समागत राजमण्डल मे प्रथम अर्घ्य किसे दिया जाय, पितामह भीष्म ने "भूमि-देवो तथा नरदेवों मे सर्वश्रेष्ठ गुणशाली असुर-विनाशक भगवान् श्रीकृष्ण को ही प्रथम पूजा का एकमात्र अधिकारी बताया।"[4] और भगवान् श्रीकृष्ण का प्रायः २७ श्लोकों मे स्तुतिपरक ऐश्वर्य गान किया। उसी प्रसङ्ग मे विष्णु के कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, (अमृत वितरण-कालिक) मोहिनी, दत्तात्रेय, परशुराम, राम तथा कृष्ण अवतारो की महिमा भी सुनाई। नैषध मे भी राजा नल मध्याह्न अर्चना के प्रसङ्ग मे विष्णु के मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध तथा कल्कि इन दस प्रधान अवतारों की स्तुति गाते है, साथ ही दत्तात्रेय अवतार की भी स्तुति करते हैं। इस स्तुति-प्रसग को नल की दिनचर्या में इतने विस्तार के साथ रखने मे श्रीहर्ष बहुत कुछ माघ से प्रभावित समझ पड़ते है। माघ परम-वैष्णव कवि थे। भारवि का अन्धानुकरण करते समय भी उन्होंने अपने काव्य का नायक श्रीकृष्ण को ही रक्खा, शिव को नही। अपनी काव्य-रचना का उद्देश्य ही उन्होंने "लक्ष्मीपति का चरित-कीर्तन मात्र बताया है।"[5] उनका भक्त-हृदय

---

१. यदगारघटाट्टकुट्टिमश्रवदिन्दूपलतुन्दिलापया।
मुमुचे न पतिव्रतौचिती प्रतिचन्द्रोदयमभ्रगङ्गया॥ नै० २।८९

२. चारुतावपुरभूषयदासां तामनूननवयौवनयोगः।
तंपुनर्मकरकेतनलक्ष्मीस्तां मदो दयितसंगमभूषः॥ मा० १०।३३

३. सृष्टातिविश्वा विधिनैव तावत्तस्यापि नीतोपरियौवनेन।
वैदग्ध्यमध्याप्य मनोभुवेयमवापिता वाक्यथपारमेव॥ नै० ७।१०८

४ अत्र चैष सकलेऽपि भाति मांप्रत्यशेष गुणबन्धुरर्हति।
भूमिदेवनरदेवसङ्गमे पूर्वदेवरिपुरर्हणां हरिः॥ मा० १४।५८

५. लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्तनमात्रचारु। मा० २०।८४।

कृष्ण-स्तुति गाए बिना वेचैन-सा हो रहा था। वे मानो कोई ऐसा अवसर खोज रहे थे जब भर पेट कृष्ण की भगवत्ता का गान करते। अव तक तो वे प्रवन्ध-निर्वाह मे लगे-से थे। अतः चतुर्दश सर्ग से भीष्म-मुखेन उन्होने वडे सयत शब्दो मे कृष्ण के पूर्व अवतारो का स्मरण कर लिया। इससे अधिक के लिए प्रबन्ध मे अवकाश ही नही था। यद्यपि इस प्रसग मे भी माघ को किरात मे अर्जुन-कृत शिव स्तुति से (किरात १८ सर्ग) प्रेरणा अवश्य मिली, किन्तु इससे यहा उनकी मौलिकता का विघात किसी प्रकार नही होता।

श्रीहर्ष तो भक्त ही नहीं समाधि-सिद्ध योगी भी थे।[1] नैषध के एकविंश सर्ग की योजना का भी उनका एकमात्र देवस्तुति गान ही उद्देश्य समझ पड़ता है। अपूर्व प्रतिभा एवं लोकोत्तर कल्पना के साथ श्रीहर्ष ने इस स्तुति-पाठ के लिए ऐसा प्रसंग चुना जिसमे वे अवाधगति से अपने भावोद्रेक को जितना चाहते थे और जैसा चाहते थे, उतना और वैसा व्यक्त कर सके। पर इन्हे प्रेरणा माघ-काव्य से ही प्राप्त हुई।

श्रीहर्ष को माघ से जो सव से अधिक महत्वपूर्ण प्रेरणा मिली थी वह थी श्लिष्टार्थ-रचना-पद्धति की, जिसके लिए नैषघ का त्रयोदश सर्ग तथा सप्तदश सर्ग (श्लोक १५४ से १५७ तक) प्रसिद्ध है। श्लेष अलकार संस्कृत कवियों को प्राचीन काल से प्रिय रहा। गद्यकाव्य रचयिता सुबन्धु, बाण, दण्डी आदि ने श्लेष रचना का अदभुत कौतुक दिखाया है। भारवि ने भी उसका पर्याप्ति प्रयोग किया। पर माघ ने तो उसे प्रसंगो मे अविच्छिन्न रूप से कई श्लोको मे प्रदर्शित किया, दूसरे शब्दों मे उन्होने दो प्रसंग श्लेष-प्रौढि-प्रदर्शन के लिए ही कल्पित किए। कृष्ण-पूजन से क्रुद्ध हो शिशुपाल ने कृष्ण के प्रति जो अनर्गल दुर्वाद किए उनमें इतनी भर्त्सना तथा कटुता थी कि महाभारत[2] का वह अंश एक भावुक हृदय को कभी प्रिय न लगता और माघ ऐसे कृष्णभक्त के लिए वह कैसे सह्य था। अतः इन्होंने श्लेष का सहारा लेकर उन श्लोकों मे[3] द्वितीय अर्थ की सम्भावना रख छोड़ी। यद्यपि प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ उन श्लोको को प्रक्षिप्त मानते है अतएव उन्होने उन पर टीका भी नही की, किन्तु मल्लिनाथ से भी बहुत प्राचीन प्रसिद्ध टीकाकार वल्लभदेव ने अपनी माघ की टीका में उन श्लोकों की यथास्थान समुचित टीका की है। "पण्डित दुर्गाप्रसाद वल्लभदेव का समय ईसा की दशम शताब्दी का पूर्वार्द्ध मानते है—वल्लभदेव ने कालिदास के मेघदूत की टीका मे जिन ग्रन्थो का उल्लेख किया है

---

१. यः साक्षात्कुरुते समाधिषुपरं ब्रह्म प्रमोदार्णवम्। नैं० २२।१५३

२. महाभारत, सभापर्व अ० ४१

३. माघ सर्ग १५ के श्लोक ३८ और ३९ के मध्य में पठित १ से ३४ पद्य।

वे सब ९०० ई० से पूर्व के ही ठहरते हैं अतः पण्डित दुर्गाप्रसाद द्वारा निर्धारित वल्लभदेव का समय ठीक ही समझ पडता है।[1] इससे सिद्ध है कि दशम शताब्दी तक ये ३४ पद्य प्रक्षिप्त नही समझे जाते थे। इसके अतिरिक्त रचना-प्रौढि को देखते हुए भी ये माघ की ही कृति समझ पड़ते है, अतः इन्हें माघ-विरचित ही मानना उचित जान पड़ता है। अस्तु, फिर षोडश सर्ग में युद्ध-सन्नद्ध शिशुपाल का दूत-द्वारा[2] भेजा गया चतुर्दश-पद्यात्मक सन्देश भी प्रिय-अप्रिय दोनों अर्थों का वहन करता है। माघ ने केवल द्वयर्थ रचना ही नही की, अपितु एक श्लोक मे तीन अर्थो तक का समावेश किया है।[3] श्रीहर्ष को प्रसिद्ध पञ्चार्थक श्लोक[4] की प्रेरणा यही से मिली होगी। माघ ने रैवतक गिरि पर अपनी रमणियों के साथ मस्ती से गाते हुए सिद्धों के स्वर का विशेषण 'भाविक' दिया है।[5] उसी प्रकार श्रीहर्ष भी प्रभात वर्णन करने वाले वैतालिकों के पदों को "भाविक" विशेषण देते हैं।[6]

हरिचन्द्र

हरिचन्द्र-कृत धर्म-शर्माभ्युदय काव्य भी एक उच्चकोटि का महाकाव्य है। भाव-सौन्दर्य के साथ प्रसाद गुण एवं वैदर्भी रीति के कारण उसकी गणना रघुवंश, किरात एवं माघ की श्रेणी मे निःसन्देह की जा सकती है। हरिचन्द्र ने पूर्ववर्ती कवियों, विशेषतः कालिदास, भारवि तथा माघ, के भाव भाषा आदि को यथेष्ट अपनाया है, किन्तु इससे न तो इनकी मौलिकता में बट्टा लगा है और न कविता ही कहीं अरुचिकर होने पाई है। हरिचन्द्र के समय मे ही विद्वानों मे इस महाकाव्य की समुचित प्रतिष्ठा हो गई थी। कवि की यह उक्ति, "कुशल विद्वानों ने अपने हृदयरूपी निकष पर सैकड़ों बार परीक्षा कर के जिसे अत्यत उत्कृष्ट होने का प्रमाणपत्र दिया, जो अनेक भावों तथा घटनाओं की विचित्र रचना के सौन्दर्य से युक्त है, ऐसा हमारा काव्य रूपी स्वर्णालङ्कार पुण्यशील विद्वानों का कर्णभूषण

---

१. ई० हूल्श, मेघदूत की भूमिका, पृ०९।११, रा०ए०सो० १९११

२. माघ १६।२ से १५ तक।

३. सदामदबलप्रायः समुद्धतरसो बभौ।
प्रतीतविक्रमः श्रीमान् हरिर्हरिरिवापरः॥ मा० १९।११६

४. नै० १३.।.१४

५. प्रगीयतेसिद्धगणैश्चयोषितामुदारमन्ते कलभाविकस्वरैः। मा० ४।३३

६. श्रुतिमधुपदस्त्रग्वैदग्धीविभावितभाविकस्फुटरसभृशाभ्यक्ता वेतालिकैर्जगिरे गिरः। नै० १९।१।

बने",[1] सगर्व नही लगती। श्रीहर्ष धर्मशर्माभ्युदय काव्य से पूर्ण परिचित समझ पडते हैं। नैषध मे एक स्थान पर तो उन्होंने श्लेष के सहारे इसका नामोल्लेख भी किया है। वरुण स्वयवर के अन्त मे नल को वरदान देते हुए कहते हैं "आपके अङ्ग का संयोग पाकर पुष्पो मे म्लानि (मुरझाहट) न होगी, और उनमे दिव्य सुगन्ध आ जायगी। मुझे पुष्प के अतिरिक्त कोई ऐसी वस्तु न दिखाई पडी जो धर्म तथा श्रेय (धर्मशर्म) दोनो का साधक हो।"[2] यद्यपि धर्मशर्म को एक साथ संयुक्त देखकर उससे धर्मशर्माभ्युदय का सकेत समझना द्राविड़-प्राणायाम ही है, किन्तु अनेक स्थलो मे भावसाम्य तथा वर्णन-शैली-साम्य देखकर यह अनुमान करना सुसम्भव है। इस महाकाव्य के कुछ उदाहरण आलोचना के लिए पर्याप्त होंगे। रत्नपुराधिपति महासेन की महिषी सुव्रता के रूप-वर्णन के प्रसङ्ग मे हरिचन्द्र कहते हैं—"विधाता ने इसका-जैसा सुन्दर शरीर बनाने के लिए कहा से सारगुण नही ग्रहण किया—कमल से सुगन्ध, ईख से फल, कस्तूरी से मनोज्ञ प्रभा ली।"[3] इसी प्रकार नैषध में भी दमयन्ती के मुख तथा नेत्र के लिए विधि को अनेक सुन्दर वस्तुओं का सार ग्रहण करना पडा। "ब्रह्मा ने दमयन्ती के मुख की रचना के लिए मानो चन्द्र-मण्डल का श्रेष्ठ अंश ले लिया था, जिससे कि चन्द्रमा के मध्य मे गर्त बन गया और वह गर्त इतना गहरा हुआ कि उससे उस पार के आकाश की नीलिमा दिखलाई पड़ने लगी है।"[4] क्या विधाता ने दमयन्ती के नेत्रो की रचना के लिए बड़े प्रयत्न के साथ इसके पलक रूपी यन्त्र द्वारा, चकोर-नेत्रो से, मृगनयनो से तथा कमलों से अमृत-प्रवाह पूर्ण यह श्रेष्ठ भाग निकाला है?[5] विदर्भाधिपति प्रतापराज की

---

१. दक्षैः साधुपरीक्षितं नवनवोलेखार्पणेनादरात्,
यच्चेतः कषपट्टिकासुशतशः प्राप्तप्रकर्षोदयम्।
नानाभंगिविचित्रभावघटनासौभाग्यशोभास्पदम्,
तन्नः काव्यसुवर्णमस्तु कृतिनाकर्णद्वयीभूषणम्। ध० श०

२. अम्लानिरामोदभरश्चदिव्यः पुष्पेषुभूयाद्भवदङ्गसङ्गात्।
दृष्टः प्रसूनोपमयामयान्यन्नधर्मशर्मोभयकर्मठंयत्॥ नै० १४।८५

३. द्रुमोत्पलात्सौरभमिक्षुकाण्डतः फलं मनोज्ञांमृगनाभितः प्रभाम्।
विधातुमस्याइवसुन्दरं वपुः कुतोन सारंगुणमाददे विधिः॥ ध० श० २।६५

४. हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनायवेधसा।
कृतमध्यबिलंविलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम॥ नै० २।२५

५. चकोरनेत्रेणदृगुत्पलानां निमेषयन्त्रेण किमेषकृष्टः।
सारः सुधोद्गारमयः प्रयत्नैर्विधातुमेतन्नयनेविधातुः॥ नै० ७।३२

दुहिता के सौन्दर्य वर्णन के प्रसङ्ग मे हरिचन्द्र ने कहा है "मुट्ठी मे पकड़े जाने योग्य कटिवाली इस सुन्दरी को अपनी धनुवता बना कर कामदेव ने सारे राजाओ को एक साथ अपने बाणो का लक्ष्य बनाया।"[1] अन्त पुर मे नल को भी दमयन्ती ऐसी ही प्रतीत हुई थी "मुट्ठी मे ग्रहण योग्य कटिप्रदेश (क्षीणकटि) वाली यह सुन्दरी मदन की कुसुम-धनु-लता ही है, जो हमे मोहित करने के लिए अपने श्रीमान् अपाङ्गो से कटाक्ष-बाणो की वृष्टि करती है।"[2] "स्वयंवर-मण्डप मे राजाओ के नेत्र विदर्भकुमारी (प्रतापराज-दुहिता) के जिस अङ्ग के सौन्दर्य को देखने लगते वही डूब-से जाते और अन्य अङ्गों को देखने के लिए वे इन्द्र की भाति सहस्र नेत्रों की स्पृहा करते।"[3] दमयन्ती के रूपमाधुर्य का पान करते समय नल के नेत्रो की भी कुछ ऐसी ही अवस्था हुई थी।[4] (उस समय उन्हे इन्द्र के नेत्रों की लिप्सा नही हुई, क्योकि इन्द्र तो स्वय उनका याचक बना था। उनकी अपनी बुद्धि ही पर्याप्त थी) दिव्याङ्गनाए महासेन से अपने आगमन का प्रयोजन पहले सूत्र की भाति सक्षेप में कहती है फिर उसका भाष्य की भाति विस्तृत वर्णन करती है।[5] दमयन्ती भी देवो को प्रत्युत्तर देते समय दूत-रूप मे प्रच्छन्न नल से प्रार्थना करती है कि "मेरी सूत्र-रूप मे कही हुई बात के प्रति दूत, तुम भाष्यकार बनना दूषणकार नही, क्योकि मै अबला उन विद्वानो को उत्तर ही क्या दे सकती हूं।"[6] नायिका की अधीर अवस्था का वर्णन करती हुई सखी (दूती) नायक से कहती है—"सुन्दरी पहले अपूर्व (मदन–) ताप-वश दिन मे रात को अच्छा समझती और रात मे दिन को अच्छा समझती,

---

१. एतांधनुर्यष्टिमिवैषमुष्टिग्राह्यैकमध्यांसमवाप्यतन्वीम्।
नृपानशेषानपि लाघवेन तुल्यं मनोभूरिषुभिर्जघान॥ ध० श० १७।१४

२. सेयंमृदुः कौसुमचापयष्टिः स्मरस्यमुष्टिग्रहणार्हमध्या।
तनोतिनः श्रीमदपाङ्गमुक्तां मोहाय यादृष्टिशरौघवृष्टिम्॥ नै० ७।२८

३. यद्यत्र चक्षुःपतिततंतदंगे तत्रैव तत्कान्तिजलेनिमग्नम्।
शेषांगमालोकयितुंसहस्रनेत्राय भूपाः स्पृहयाम्बभूवुः॥ ध० श० १७।१४

४. तत्रैवमग्ना यदपश्यदग्रे नास्यादृगस्याङ्गमयास्यदन्यत्।
नादास्यदस्यै यदि बुद्धिधारां चिच्छिद्य विच्छिद्य चिरान्निमेषः॥ नै० ८।९

५. उक्तमागमनिमित्तमात्मनः सूत्रवत्किमपि तत्समासतः।
तस्य भाष्यमिवविस्तरान्मयावर्ण्यमानमवनीपतेश्रृणु॥ ध० श० ५।३०

६. स्त्रिया मया वाग्मिषु तेषु शक्यते न जातु सम्यग्वितरीतुमुत्तरम्।
तदत्र मद्भाषितसूत्रपद्धतौप्रबन्धृतास्तु प्रतिबन्धृता नते। नै० ९।३७

और अत्र वह वहा रहना चाहती थी जहां न दिन हो न रात।"[१] दमयन्ती भी दिन में प्रिय-विरह से अधीर होकर रात्रि के कान्त सगम की मधुर-वेला की कामना करती और रात्रि मे प्रिय की काम-क्रीड़ाओ से लजाकर दिन का प्रकाश मनाया करती—[२] धर्मशर्माभ्युदय के चतुर्थ सर्ग मे धातकीखण्ड द्वीप के राजा दशरथ के राज्य त्याग कर तप के लिए जाने को उद्यत होने पर उनके मन्त्री सुमन्त ने उन्हे चार्वाक मतानुकूल कुछ उपदेश दिया है।[३] श्रीहर्ष को अपने नैषध मे चार्वाक मतानुकूल शास्त्रार्थ (१७वां सर्ग) की थोडी प्रेरणा मिलनी यहां से भी सम्भव हो सकती है किन्तु उसका वास्तविक उद्‌गम स्थान कृष्ण-मिश्रकृत प्रबन्ध-चन्द्रोदय ही है।

कृष्णमिश्र

कृष्णमिश्र चन्देल नरेश कीर्तिवर्मा के समकालीन थे, और गोपाल की आज्ञा से कीर्तिवर्मा के विजय-महोत्सव पर उन्होंने प्रबोध-चन्द्रोदय रूपक की रचना की थी। चन्देलराज कीर्तिवर्मा का समय ईसा की ग्यारहवी शताब्दी का उत्तरार्द्ध निश्चित है, अतः कृष्णमिश्र का भी वही समय निश्चित समझना चाहिए। इस रूपक मे मनुष्य के अन्तःकरण की ज्ञान-मूलक सद् तथा अज्ञानमूलक असद्‌वृत्तियों को नाट्कीय पात्रों का रूप देकर उनके संघर्ष का निरूपण बड़े ही दार्शनिक (मनोवैज्ञानिक) ढग से ६ अङ्कों मे किया गया है, और अन्त मे महामोहान्धकार का नाश कर प्रबोध-(ज्ञान) रूपी चन्द्र का उदय दिखाया गया है। नैषध मे कलि-सैन्य वर्णन तथा चार्वाक-सिद्धान्त आदि दार्शनिक-शास्त्रार्थ के प्रसङ्गो को रखने की प्रेरणा इसी प्रबोध-चन्द्रोदय से मिली प्रतीत होती है।

मन की प्रवृत्ति-निवृत्ति नामक दो पत्नियो में प्रवृत्ति से महामोह का वंश चला और निवृत्ति से विवेक का। महामोह के प्रियवल्लभ काम, दम्भ, अहंकार, क्रोध, लोभ, चार्वाक आदि हे। नाटक के द्वितीय अङ्कों में इन सब के पृथक् पृथक् स्वरूप से हम परिचित होते हैं। नैषध मे भी स्वयंवर से स्वर्ग जाते हुए देवों को रास्ते मे कलि अपनी सेना-सहित आता मिला। उसकी सेना के प्रधान सैनिक है काम, क्रोध, लोभ, मोह। प्रबोध-चन्द्रोदय में महामोह राजा के रूप में चित्रित किया जाता है, तथा

---

१. स्तुत्वा दिने रात्रि महश्च रात्रौ स्तौतिस्म सा पूर्वमपूर्वतापात्।
संप्रत्यहो वाञ्छति तत्र तन्वी स्यातुं न यत्रास्ति दिनं न रात्रिः। ध० श० १४।७०

२. वासरे विरहनिःसहा निशां कान्तसङ्गसमयं समैहत।
साह्रिया निशि पुनर्दिनोदयं वाञ्छतिस्म पतिकेलिलज्जिता। नै० १८।५५

३. ध० श० ४।६३-६६

काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, अहंकार आदि उसके आश्रित अनुचर के रूप में चित्रित होते है, जो उसकी आज्ञा से अपने अपने कार्य मे लगे रहते हैं। नैषध मे भी मोह को ही काम, क्रोध, लोभ का उसी प्रकार उपजीव्य बताया गया है जैसे गृहस्थाश्रम, ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास इन तीनो आश्रमो का।[1] क्रोध अपना परिचय देते हुए कहता है "मैं ससार को अन्धा कर देता हूं, धीर को बधिर बना देता हू, सचेत को चेतनाहीन कर देता हूं और बुद्धिमान् को भी ऐसा कर देता हू जिससे वह न उचित-कार्य देख सकता है, न हित की बात सुन सकता है और न अपने ज्ञान का उपयोग कर सकता है।[2] श्रीहर्ष ने भी कई श्लोकों में प्रत्येक का परिचय कुछ इसी प्रकार से दिया है।[3] क्रोध के स्वरूप-निरूपण-प्रसङ्ग मे प्रबोध-चन्द्रोदय के श्लोक का ही भाव दूसरे शब्दो मे हमें नैषध में इस प्रकार मिलता है। "वही क्रोध जो पहले तो अनर्थ मे प्रवृत्ति पैदा करता है, फिर शान्त होने पर पश्चात्ताप रूप मे अत्यन्त विरक्ति तथा निर्वेद पैदा करता है और जो उद्दीप्त होकर सारी इन्द्रियो की चेष्टाओं को नष्ट करने वाला अज्ञान-रूपी अन्धकार उत्पन्न करता है।"[4]

प्रबोध-चन्द्रोदय के कुछ भावो को नैषध मे कई स्थानो पर कहा गया है। मदन अपने बाणो का प्रताप गाता हुआ कहता है, "इन्द्र अहल्या के जार बने, ब्रह्मा अपनी पुत्री के पीछे दौड़े, चन्द्रमा ने अपने गुरु की स्त्री का भोग किया, इस प्रकार प्रायः किसको मैने मार्ग-भ्रष्ट नही किया। संसार को व्याकुल करने मे मेरे बाणो को श्रम कहा?"[5] श्रीहर्ष ने इन पौराणिक आख्यानो का दो बार उल्लेख किया है। एक तो कलिशास्त्रार्थ के ही प्रसङ्ग मे काम-प्रताप का वर्णन करते हुए चार्वाक कहता है,

---

१. ब्रह्मचारिवनस्थायियतयो गृहिणं यथा।
त्रयो यमुपजीवन्ति क्रोधलोभमनोभवाः॥ नै० १७।३२

२. अन्धीकरोमिभुवनं बधिरीकरोमि धीरं सचेतनमचेतनतांनयामि।
कृत्यं न पश्यति न येन हितं श्रृणोति धीमानधीतमपि न प्रतिसन्दधाति॥
प्र० च० २।२८

३. नै० १७।१४-३४

४. वैराग्यं यः करोत्युच्चै रञ्जनं जनयन्नपि।
सूते सर्वेन्द्रियाच्छादि प्रज्वलन्नपि यस्तमः॥ नै० १७।२२

५. अहल्यायाः जारः सुरपतिरभूदात्मतनयां
प्रजानाथोयासीदभजतगुरोरिन्दुरबलाम्।
इति प्रायः को वा न पदमपदेऽकार्यत मया
श्रमोमद्वाणानां क इव भुवनोन्माथविधिषु॥ प्र० च० १।१४

"'परस्त्रीगमन न करना चाहिए' इस प्रकार के पाखण्ड को अहल्या के साथ सम्भोग करने वाले स्वयं इन्द्र न पूरा कर सके, तो और कोई क्या कर सकता है"[१] और "अरे द्विजो, गुरु-स्त्री-गमन मे पाप की कोई सम्भावना ही न करो। और की कौन कहे, आप लोगों के स्वामी द्विजराज चन्द्रदेव ने स्वयं गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा में अनुराग किया था।"[२] दूसरे नल के रति-महल के विवरण के प्रसङ्ग मे स्वयं कवि की उक्ति है—"राजप्रासाद की भित्ति पर पुराण-प्रसिद्ध ब्रह्मा का अपनी पुत्री के साथ रमण करने का दुस्साहस करना तथा मदन द्वारा उनका उपहास किया जाना आदि सारी कथा क्रम-पूर्वक विस्तार के साथ चित्रित थी।"[३] "उस विलास-भवन की भित्तियों पर गौतम-पत्नी अहल्या के कामुक देवेन्द्र का परस्त्रीगमन का दुस्साहस भी चित्रित था। मानो वह भगवान् कामदेव की विजय-घोषणा हो।"[४] "चन्द्रमा के अपने गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा के साथ कामुक व्यवहार के आख्यान को लेकर भरतमुनि-प्रणीत नाटकशास्त्र के अनुसार लिखी गई नाटिका उस प्रासाद के प्राङ्गण मे खेली जा रही थी।"[५]

एक श्लोक तो प्रबन्ध-चन्द्रोदय से प्राय ज्यों का त्यों ले लिया गया है। वेदों की बुद्धि-पौरुष-हीनों की जीविका बताते हुए चार्वाक महाराज-महामोह से कहता है "अग्निहोत्र, तीनो वेद, त्रिदण्डधारण तथा भस्म-लेपन यह सब बुद्धि-पौरुष-हीन लोगो की जीविका है, ऐसा बृहस्पति कहते है।"[६] नैषध मे कलिप्रेरित चार्वाक कहता

---

१. परदारनिवृत्तिर्या सोऽयं स्वयमनादृतः।
अहल्याकेलि-लोलेन दम्भो दम्भोलिपाणिना। नै० १७।४३

२. गुरुतल्पगतौ पापकल्पनां त्यजत द्विजाः।
येषां वः पत्युरत्युच्चैर्गुरुदारग्रहे ग्रहः॥ नै० १७।४४

३. भित्तिचित्रलिखिताखिलक्रमा यत्र तस्थुरितिहाससंकथाः।
पद्मनन्दन-सुता-रिरंसुतामन्दसाहसहसन्मनोभुवः॥ नै० १८।२०

४. पुष्पकाण्डजयडिण्डिमायितं यत्र गौतम-कलत्र-कामिनः।
पारदारिक-विलास-साहसं देवभर्तुरुदटङ्कि भित्तिषु। नै० १८।२१

५. गौरभानु-गुरु-गेहिनी-स्मरोद्वृत्तभावमितिवृत्तमाश्रिताः।
रेजिरे यदजिरेऽभिनीतिभिर्नाटिका भरतभारती सुधा॥ नै० १८।२३

६. अग्निहोत्रंत्रयोवेदास्त्रिदण्डंभस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः॥ प्र० च० २।२५

है "बृहस्पति ने तो कहा है कि अग्निहोत्र, तीनो वेद, त्रिदण्ड-धारण, भस्म-लेप एवं तिलक-धारण ये सब बुद्धिहीन-दरिद्रों की जीविका के साधन है।"[१]

महिम्नः स्तोत्र

पुष्पदन्त-रचित महिम्नः स्तोत्र एक उच्च साहित्यिक कृति है। "राजशेखर की काव्य-मीमासा तथा जयन्त भट्ट की न्याय मञ्जरी मे महिम्न. स्तोत्र का उल्लेख होने के कारण इसे दशम शताब्दी से पूर्व का ही कहा जायगा।"[२] आचार्य पण्डित रघुवर मिट्ठूलाल शास्त्री ने तो पूर्ण प्रमाण के साथ इसका रचना-काल और भी पूर्व बताया है।[३] नैषध मे महिम्नः स्तोत्र के भी अनेक भाव मिलते हैं। स्तोत्र के प्रारम्भ मे ही क्षमायाचना के रूप में पुष्प-दन्त कहते है। "प्रभो, आप की महिमा, वाणी और मन के मार्ग से परे है।"[४] इसी प्रकार देवपूजा के प्रसङ्ग में क्षमायाचना करते हुए नल कहते है—"प्रभो मन वाणी से परे तुम्हारे रूप की स्तुति हम किस बल पर करें, अतः यदि हम कुछ कहने का साहस करते है तो वह तुम्हारी निन्दा ही होती है। तो नाथ, जो धृष्टता करने जा रहा हूं उसे प्रलाप समझकर क्षमा कर देना।"[५] तथा "नाथ भले ही आप वाणी और मन के विषय न हों तो क्या वे इसीलिए आपकी ओर प्रवृत्त न हों—भला चातकों का जोड़ा कहा बादलों तक पहुच पाता है, पर वह उसी मेघ के लिए उत्कण्ठित रहता है और मेघ भी तो उसे हर प्रकार से सन्तुष्ट करता ही है।"[६] त्रिपुरवध मे शिव ने जिन उपकरणों का उपयोग किया था उनका उल्लेख करते हुए पुष्पदन्त कहते हैं—"तृण के समान त्रिपुर को जलाने के लिए आप का यह आडम्बर कैसा ? किन्तु कार्यवस्तु से खेल करने वाली प्रभुओं की बुद्धि किसी के अधीन नही होती।"[७] अर्थात् अपना कार्य करने में स्वामी किसी से राय लेने नही

---

१. अग्निहोत्रं त्रयीतन्त्रं त्रिदण्डं भस्मपुण्ड्रकम्।
प्रज्ञापौरुषनिःस्वानांजीवोजल्पतिजीविका॥ नै० १७।३९

२. सु० कु० दे का संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ३८१

३. म० म० डा० गङ्गानाथ झा स्मारक ग्रन्थ—पृ० ४२-४५ की टिप्पणी

४. अतीतः पन्थानं तवचमहिमावाङमनसयोः। म० स्तो० २

५. दूरतः स्तुतिरवाग्विषयस्ते रूपमस्मदभिधा तव निन्दा।
तत्क्षमस्व यदहं प्रलपामीत्युक्तिपूर्वमयमेतदवोचत्॥ नै० २१।५२

६. मैव वाङमनसयोर्विषयो भूस्त्वांपुनर्न कथमुद्दिशतां ते।
उत्कचातकयुगस्यघनः स्यात्तृप्तये घनमनाप्रुवतोऽपि॥ नै० २१।५४

७. दिधक्षोस्ते कोऽयंत्रिपुरतृणमाडम्बरविधि
विधेयैः क्रीडन्त्यो न खलु परतन्त्राः प्रभुधियः। म० स्तो०

जाते। नल भी हरि-हर रूप की प्रार्थना करते हुए कहते हैं "आपने हरिहर रूप में धड़ के ऊपर भी दो रूप क्यो धारण किए—हरिहर रूप मे एक रूप धड तक होना चाहिए था और दूसरा सिर—उसी प्रकार फिर नरसिह-रूप मे क्यों सिर और धड़ मे भेद कर दिया ? पर स्वतन्त्र सत्ता वाले से किसी बात के बुरे-भले के लिए कौन प्रश्न कर सकता है ?"[१]

भर्तृहरिशतक

भर्तृहरिशतक (७ वी शताब्दी से पूर्व) की अनेक उक्तियो के भाव नैषध मे लिए गए प्रतीत होते हैं। सत्पुरुषो की वृत्ति बताते हुए भर्तृहरि ने उन्हे "अपने स्वार्थ को त्याग कर के भी परार्थ साधने वाला कहा है।"[२] नैषध मे उसी उक्ति के आधार पर मदन-व्यथा के सागर मे डूबते हुए नल हंस को अपना अवलम्ब बताते हुए कहते हैं "आपको इस काम मे प्रवृत्त होने की प्रेरणा देना तो पिष्ट-पेषण ही है, क्योकि सत्पुरुष स्वय परार्थ साधने वाले होते है।"[३] नीति-शतक की प्रसिद्ध उक्ति है—"महान् अपना विक्रम महान् मे ही दिखाता है।"[४] उसी अर्थ की नैषध की उक्ति है "महान अपना पौरुष महान् से ही दिखाता है।"[५] खल तथा सज्जन की मित्रता की समता भर्तृहरि ने क्रम से दिन के पूर्वार्द्ध एव परार्ध की परछाई से देते हुए कहा है "दुष्ट की मित्रता पूर्वाह्ल काल की परछाई के समान होती है जो पहले तो बड़ी किन्तु बाद मे धीरे धीरे छोटी होती जाती है, और सज्जन की मित्रता पहले छोटी और पीछे बढती हुई अपराह्लकालिक परछाई के समान होती है।"[६] श्रीहर्ष भी दही के सफेद रायते का वर्णन करते हुए कहते है—"जैसे दुष्ट पहले मित्र बाद को

---

१. ऊर्द्ध्वदिक्कदलनां द्विरकार्षीः किं तनुं हरिहरीभवनाय।
किंचतिर्यगभिनो नृहरित्वे कः स्वतन्त्रमनु नन्वनुयोगः॥ नै० २१।१०४

२. एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये॥
नी० श० ७४, बाम्बे संस्कृत सीरीज़ प्रकाशन १८८५

३. अथवा भवतः प्रवर्तना न कथं पिष्टमियं पिनष्टिनः।
स्वतएवसतांपरार्थता ग्रहणानां हि यथा यथार्थता॥ नै० २।६१

४. महान्महत्स्वेव करोतिविक्रमम्। नी० श० १

५. सतांमहत्सम्मुखधावि पौरुषम्—नै० १२।८

६. आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात्।
दिनस्यपूर्वार्द्धपरार्द्धभिन्ना छायेव मैत्री खल-सज्जनानाम्॥
नी० श०, ६० बाम्बे संस्कृत सीरीज़ १८८५

शत्रु हो जाते हैं उसी प्रकार सफेद रायता पहले तो कोमल, पर मुख में रखने पर अत्यन्त तीतेपन के कारण असह्य जलन उत्पन्न करने वाला था।"[1] भर्तृहरि ने वैराग्य-शतक मे स्त्री-रूप की निन्दा करते हुए लिखा है, "स्तन मास की ग्रन्थिया है, किन्तु उन्हे स्वर्णकलश की उपमा दी गई, मुह कफ से भरा रहता है, उसे चन्द्रमा समान बताया, मूत्रलिप्त जाघों को हाथी के सूडो के समान बताया। कितना निन्द्य स्त्री का रूप है, जिसे कवियों ने इतना ऊचा उठा दिया है।"[2] नैषध में घृणावादान् पद-द्वारा इसी उक्ति की ओर संकेत करते हुए चार्वाक से देवो को उत्तर दिलाया गया है, स्त्रियों के प्रति "मुखं श्लेष्मागार", "स्तनौमास-ग्रन्थी" आदि जो घृणोत्पादक वाक्य कहे जाते है उन्हें तृणवत् उपेक्षित कर देना चाहिए, क्योंकि तुम पुरुष भी तो आखिर वैसे ही हो, फिर यह दूसरों को धोखा देने से क्या लाभ ?"[3] भगवान् कामदेव का प्रभुत्व बताते हुए भर्तृहरि ने अपने श्रृङ्गार-शतक की प्रस्तावना मे ही कहा है—"जिन्होंने शिव, ब्रह्मा और विष्णु को मृगनयनियों का आज्ञापालक दास बनाया ऐसे अनिर्वचनीय-चरित्र वाले भगवान् कुसुमायुध को नमस्कार है।"[4] नैषध-गत स्वयंवर-सभा मे दमयन्ती को द्वीपाधिपो के मध्य में लाकर देवी सरस्वती ने भी उसी प्रकार सर्वप्रथम भगवान् अनङ्ग का संस्तव करते हुए कहा है—"जिसने ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के भी अन्त प्रशान्त भावों को श्रृङ्गारमय कर दिया है, अपने पाच बाणों से समस्त विश्व की पाचों (ज्ञान) इन्द्रियों को संक्षुभित करता हुआ वही अनङ्ग आपको आनन्द दे।"[5]

---

१. सितंमृदु प्रागथ दाहदायि तत् खलः सुहृत् पूर्वमिवाहितस्ततः। नै० १६।७४

२. स्तनौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्युपमितो
मुखंश्लेष्मागारं तदपि च शशांकेन तुलितम्।
स्रवन्मूत्रक्लिन्नं करिवरकरस्पर्धिजघन
महोनिन्द्यं रूपं कविजनविशेषैर्गुरुकृतम्॥ वैराग्य० श० २०—वे० क० प्रे० १८०६

३. तृणानीव घृणावादान्विधूनय वधूरनु।
तवापि तादृशस्यैव का चिरं जनवञ्चना॥ नै० १७।५८

४. शम्भुस्वयम्भुहरयोहरिणीक्षणानां येनाक्रियन्त सततं गृहकर्मदासाः
वाचामगोचरचरित्रविचित्रिताय तस्मै नमो भगवते कुसुमायुधाय। वै० श० १

५. लोकेशकेशवशिवानपि यश्चकार श्रृङ्गारसान्तरभृशान्तरशान्तभावान्।
पञ्चेन्द्रियाणि जगताभिषुपञ्चकेन सङ्क्षोभयन् वितनुतां वितनुर्मुदं वः।
नै० ११।२५

अनर्घराघव

अनर्घराघव मे राम की प्रशंसा करते हुए विभीषण कहते है—"आज पाताल लोक में शेषनाग आनन्द-मग्न हो सिर हिलाते हुए आपकी कीर्ति सुन रहे है। शेष नाग के कान न होने के कारण कुण्डल आदि आभूषण भी नही है, अत. सिर हिलाने से किसी अन्य प्रकार के शब्द द्वारा विघ्न होने की सम्भावना भी नही है।[१] फिर दो हजार आंखों वाले शेषनाग मस्ती के साथ अपनी पन्नगियों की गोष्ठी मे सगीत प्रसङ्ग मे गाई जाने वाली कीर्ति सुने, क्योकि वे चक्षु श्रवा हैं।[२]" श्रीहर्ष ने शेषनाग का आनन्द-मग्न हो सिर हिलाना तथा नेत्रो द्वारा कीर्ति सुनना इन दोनों भावों को थोड़ा परिवर्तन के साथ अपने नैषध मे लिया है। काञ्ची-नरेश के वर्णन-प्रसङ्ग मे सरस्वती कहती है—"इनकी प्रशंसा सुनते हुए भगवान् शेषनाग किस प्रकार अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते होगे यह समझ में नही आता। जब हार्दिक आनन्द से आसू उमडते है तो वे आखे तो बन्द नही कर सकते, क्योंकि चक्षु.श्रवा होने के कारण आखों से ही सुनते है, शरीर मे रोम न होने के कारण हर्ष-मूल रोमाञ्च भी अपने शरीर को ही फुलाकर व्यक्त करते हैं। तथा पृथ्वी के गिरने के भय से आनन्दातिरेक मे सिर भी नही हिला सकते।"[३] अनर्घराघव मे राम सीता के मुख की प्रशंसा करते हुए कहते है—"जो साक्षात् पद्मयोनि (ब्रह्मा) ने इनके वश मे जन्म लिया, जो प्रात काल से प्रारम्भ कर समस्त दिन ये भ्रमरों को प्रसन्न रखते है, तथा जो इन्होने एकाग्र मन से सूर्य की भक्ति की, सुन्दरि उन्ही पुण्यों के प्रभाव से इन्हे (कमलों को) तुम्हारे मुख से समानता मिली है।"[४] इसी भाव को लेकर श्रीहर्ष इस

---

१. कर्णाभावनिरस्तकुण्डलरवव्यासङ्गमाधुन्वता
मूर्ध्नः पन्नगपुङ्गवेन सुभगं त्वत्कीर्तिराकर्ण्यते॥ अ० रा० ७।७८

२. भोगीन्द्रः प्रमदोत्तरङ्गमुरगीसङ्गीतगोष्ठीषु ते।
कीर्ति देव शृणोतु विंशतिशतीयच्चक्षुषांवर्तते।
........................चक्षुश्रवाः। अ० रा० ७।७९

३. अन्तः सन्तोषवाष्पैः स्थगयति न दृशस्ताभिराकर्णयिष्य-
न्नङ्गेनानस्तिरोमा रचयति पुलकश्रेणिमानन्दकन्दाम्।
नक्षोणीभङ्गभीरुः कलयति च शिरः कम्पनं तन्नविद्मः।
शृण्वन्नेतस्य कीर्तीः कथमुरगपतिः प्रीतिमाविष्करोति॥ नै० १२।३९

४. गोत्रे साक्षादजनि भगवानेष यत्पद्मयोनिः
शय्योत्थायं-यदखिलमहः प्रीणयन्तिद्विरेफान्।
एकाग्रं दद्धति भगवत्युष्णमानौ च भक्तिं
तत्प्रापुस्ते सुतनु वदनौपम्यमम्भोरुहाणि॥ अ० रा० ७।८२

द्वारा दमयन्ती के सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुए कहते है, "ये दो कमल जो सूर्य की सेवा करने के कारण दमयन्ती के चरण बने है।[1] पवित्र सरोवरो और नदियों में निवास कर एव समाधि (सम्पुटित) अवस्था मे सारी रातों को बिता कर इन कमलों ने दूसरे जन्म में दमयन्ती के चरण बनने की सुन्दर गति पाई है।"[2] कांचीपुरी के वर्णन मे राम सीता से कहते हैं—"द्रविड़-सुन्दरियों के ललाट से टपकने वाले श्रम-जल (पसीने) के कारण कपोलो पर बनी पत्र-रचना के मिट जाने से उनके ये चन्द्र-निर्मल कपोल उनकी विपरीत-रति की सूचना-सी दे रहे है।"[3] ललाट से श्रम-बिन्दुओं के गिरने, कपोल-स्थली की पत्र-रचना के मिटने आदि भाव श्रीहर्ष ने अनर्घराघव के उक्त श्लोक से लेकर नल की विपरीत रति का वर्णन किया है, साथ ही भावों को कुछ अपनी ओर से परिष्कृत किया है। नल दमयन्ती से विपरीत रति का स्मरण दिलाते हुए कहते हैं—"उस समय तुम्हारे ललाट तथा कपोल पर लगी कस्तूरी पसीने के साथ तुम्हारी ठुण्डी पर बूदों के रूप मे लटक रही थी। श्मश्रु के समान उसने तुम्हे उस क्षण के योग्य (पुरुष) ही बना दिया था। तुम्हें याद होगा तुमने अपना वह प्रतिबिम्ब मेरे वक्ष.स्थल पर मोतियो के हार के बीच की मणि में भी देखा था।"[4] मुरारि का कहना है कि "लक्ष्मी विष्णु के उर:स्थल को इसलिए नही छोड़ती कि उन्हें वहा अपने भाई कौस्तुभ का साथ मिलता है।"[5] श्रीहर्ष ने इस भाव को कुछ और परिवर्द्धित करके लिया है। नल विष्णु की स्तुति करते हुए कहते हैं—"प्रभो, सागरतनया लक्ष्मी स्वभाव से ही परम-चञ्चला है। पर वह आपके पास सदा स्थिर निवास करती है। क्यों? सम्भवतः आपके निवास-स्थान समुद्र में आपके पास उसने अपने कई बाल-परिचित अथवा सहोदर-वर्ग देखे। गङ्गा आपके चरणों में है, कमल आपके करपल्लव मे सुशोभित है, कौस्तुभ आपके वक्ष:स्थल पर विराजमान है, तथा चन्द्रमा आपका वाम नेत्र ही है। अत: आपके पास अपने परिवार

---

१. जलजे रविसेवयेव ये पदमेतत्पदतामवापतुः॥ नै० २।३८

२. श्रितपुण्यसरः सरित्कथं न समाधिक्षपिताखिलक्षपम्।
जलजंगतिमेतु मञ्जुलां दमयन्ती-पदनाम्निजन्मनि॥ नै० २।३९

३. अभिमुखपतयालुभिर्ललाटश्रमसलिलैर्ख धूतपत्रलेखः।
कथयति पुरुषायितं वधूनां मृदितहिमद्युतिनिर्मलः कपोलः॥ अ० रा० ७।१०७

४. नीलदाचिबुकं यत्र मदाक्तेन श्रमाम्बुना।
स्मरहारमणौदृष्टं स्वमास्यं तत्क्षणोचितम्॥ नै० २०।९४

५. नाभ्रातृसंगमसुखासिकयाजहाति विष्णोः।
सकौस्तुभमुरश्चपलापिलक्ष्मीः॥ अ० रा० ७।१४२

को पाकर लक्ष्मी का भी मन लग गया है।"[1] अनर्घराघव मे वामदेव राजा दशरथ की प्रशंसा करते हुए कहते है—"जिस समय आप इन्द्र के साथ अर्धासन पर बैठे रहते है उस समय किन्नरो से आपकी प्रशसा सुनकर हृदय मे डाह रखते हुए भी बाहर से अपने भाव को छिपाने मे कुशल इन्द्र आपकी दाहिनी भुज. के रोमाच के गडने की पीडा के कारण आँखों मे उमडे आँसुओं के द्वारा ही आनन्द का प्रदर्शन करते है।"[1] मुरारि के पूर्वोक्त श्लोक से "इन्द्र का पर-प्रशंसा सुन कर साश्रु होना," "उनके पार्श्व मे स्थित व्यक्ति का रोमाञ्च होना" इन दो भावो को श्रीहर्ष ने थोड़ी अपनी कल्पना का योग देकर व्यक्त किया है। हंस दमयन्ती से नल की प्रशसा करते हुए कहता है—"लोकपाल महेन्द्र सपत्नीक बैठे हुए नल का औदार्य आदि गुण सुन रहे थे। इधर इन्द्राणी को सुनकर रोमाञ्च हुआ, उधर इन्द्र की आखों मे आनन्द के आसू छलक पडे। और इस प्रकार इन्द्राणी के पुण्य के ही कारण महेन्द्र को उसके रोमाञ्च का पता न चला (क्योंकि पर-पुरुष की प्रशंसा सुनकर पत्नी को रोमाञ्च होता देखकर वे उसे मानसिक व्यभिचार ही समझते)।"[2] विश्वामित्र के यज्ञ-रक्षार्थ राम को मागने पर दशरथ को महान् मानसिक विकल्प होता है। पर अन्त मे कोई उपाय न देखकर वे कहते है—"रघुओं का जो वश परोपकार मे विष्णु के कच्छप अवतार, शेषनाग, कुलपर्वत तथा दिग्गजो की कोटि मे गिना जाता था, वही अब मुझे उत्पन्न कर परोपकार साधन से क्यो विमुख हो।"[3] इसी श्लोक की शैली पर नैषध के पञ्चम सर्ग मे इन्द्रादि देवों तथा नल के वार्त्तालाप की कल्पना की गई है। यहा तक कि पूरे पञ्चम सर्ग मे छन्द भी वही रक्खा जो पूर्वोक्त श्लोक का है। श्रीहर्ष ने अपनी कल्पना का योग देकर मुरारि के उक्त श्लोक के भाव को कई प्रकार से अपनाया है।

---

१. जाह्नवीजलजकौस्तुभचन्द्रान् पादपाणिहृदयेक्षणवृत्तीन्।
उत्थिताब्धिसलिलात्वयि लोला किं स्थिता परिचितान्परिचिन्त्य ॥
नै० २१।१०६

२. त्वय्यर्धासनभाजि किन्नरगणोद्गीतैर्भवद्विक्रमै-
रन्तः सम्भृतमत्सरोपि भगवानाकारगुप्तौकृती ॥
उन्मीलद्भवदीयदक्षिणभुजारोमाञ्चविद्धोच्चरद्-
वाष्पैरेव विलोचनैरभिनयत्यानन्दमाखण्डलः॥ अ० रा० १।२९

३. शृण्वन् सदारस्तदुदारभावं हृष्यन् मुहुर्लेमि पुलोमजायाः।
पुण्येन नालोकत लोकपालः प्रमोदवाष्पावृत-नेत्र-मालः॥ नै० ३।२८

४. कूर्मराजभुजगाधिपगोत्रग्रावदिक्करिभिरेकधुरीणः।
मां प्रसूयकथमस्तु विगीतो हा परार्थ-विमुखो रघुवंशः॥ अ० रा० १।३९

उदाहरणार्थ—इन्द्र नल की अस्वीकृति सुनकर कहते हैं—"राजन् चन्द्रवश में उत्पन्न आप ही ने अभी यह कहा है !"[1] "विश्व-मुकुट रूप आपके कुल मे ऐसा कौन उत्पन्न हुआ है जिसने याचक का अभीष्ट न पूरा किया हो ? उस कुल मे सर्वप्रथम चन्द्रमा ही कलङ्की हुआ है। खेद है कि आप भी कही वैसे ही न हो जायं।"[2] फिर यम उन्हे प्रबोधन देते हैं—"मेरु कठोर पाषाणो का एक पर्वत है, कामधेनु भी पशु ही है, पर इनके याचक कभी निष्फल न गए। हाय वत्स ! आज तुम क्या करना चाहते हो ?"[3] प्रभात सुषमा का वर्णन करता हुआ शुन.शेफ पशुमेढ्र से कहता है "कमल की पंखुड़ी रूपी शुक्ति (सीपी) रात्रि की तिमिर-वृष्टि (अन्धकार) रूपी स्वाति की बूंदों को पाकर अब प्रभात मे भ्रमरों के रूप मे श्याम मोती उगल रही है। क्यों ? कारण के गुण कार्य मे सक्रान्त होते ही है।"[4]

श्रीहर्ष स्वयं एक बडे भारी दार्शनिक थे। अत: उनके काव्य में दार्शनिक संकेतो का आधार कोई अन्य काव्य नही हो सकता, अपितु श्रीहर्ष का पाण्डित्य ही है। किन्तु मुरारि की शैली की समता देखते हुए यह निर्णय निकालना अनुचित नही समझ पड़ता कि श्रीहर्ष ने न्याय के "कारण गुणा· कार्य गुणानारभन्ते" वाले सिद्धान्त को नैषध में कई बार कहने की प्रेरणा मुरारि से ही ली है। नैषध के २।३२, ३।१७ तथा ३।३९ में मुरारि के पूर्वोक्त श्लोक का प्रभाव स्पष्ट रूप मे देखा जा सकता है। इन श्लोको पर विस्तृत रूप से विचार अगले अध्याय मे किया जायगा।

मुरारि ने चन्द्रमा को अत्रि मुनि का नेत्रमल कहा है।[5] श्रीहर्ष ने यहीं से प्रेरणा लेकर चन्द्रवर्णन करते हुए २२।७३, ९८, ११०, १३३ मे कई बार चन्द्रमा को अत्रि-नेत्रोद्भव कहा है। इससे उनकी पुराणज्ञता की कमी न समझनी चाहिए। इस पर विशेष विवेचन "ऐतिहासिक एव पौराणिक संकेत" वाले अध्याय में

---

१. नाभ्यधायिनृपते ! भवतेदं रोहिणीरमणवंशभुवैव ॥ नै० ५।११७

२. कः कुलेऽजनि जगन्मुकुटे वः प्रार्थकेप्सितमपूरि न येन।
इन्दुरादिरजनिष्टकलङ्की कष्टमत्र स भवानपिमाभूत् ॥ नै० ५।११९

३. रोहणः किमपि यः कठिनानांकामधेनुरपि या पशुरेव।
नैनयोरपिवृथाभवदर्थी हा विधित्सुरसिवत्स किमेतत् ॥ नै० ५।१२५

४. पीत्वाभृशंकमलकुडमलशुक्तिकोषा दोषातनी तिमिरवृष्टिमथस्फुटन्तः।
निर्यन्मधुव्रतकदम्बमिषाद्वमन्ति विभ्रान्तिकारणगुणानिवमौक्तिकानि ॥
अ० रा० २।११

५. आः कीदृगत्रिमुनिलोचनदूषिकायां पीयूषदीधितिरितिप्रथितोऽनुरागाः ॥
आ० रा० २।८३

करेंगे। अनर्घराघव मे विश्वामित्र-द्वारा नूतन सृष्टि-रचना का उल्लेख (१।३२, ४७ तथा ३।२२ आदि मे) कई बार किया जाता है। किन्तु सब से अधिक विस्तृत विवरण राजा जनक इस प्रकार देते है—"जिस समय इन्द्र ने अपने हुंकार से त्रिशङ्कु का अधःपात किया उस समय अपनी अत्यन्त उद्दीप्त क्रोधाग्नि मे त्रिलोक की आहुति करने वाले आपके लिए घबड़ा कर आए हुए भगवान् पद्मयोनि की जरा (वृद्धावस्था) से विकल प्रार्थनाएं विघ्न बनी थी।"[1] श्रीहर्ष ने इस कथानक को प्राय: इसी प्रकार से नैषध में (२।१०२ मे) वर्णित किया है। वहां ब्रह्मा के प्रार्थना कर के विघ्न उपस्थित करने का उल्लेख अनर्घराघव के ही आधार पर है। विशेष विवेचन पौराणिक संकेतों के प्रसङ्ग मे किया जायगा।

ग

उक्तिसाम्य

नैषध मे कुछ उक्तियों तथा शब्दों का प्रयोग भी इस प्रकार हुआ है कि वे पूर्वोक्त काव्य से लिए गए प्रतीत होते है। उनका भी विवेचन कालिदास के ही ग्रन्थों से प्रारम्भ किया जाता है।

रघुवंश

शूरसेनाधिपति सुषेण के वर्णन प्रसङ्ग में सुनन्दा कहती है "इस नीपवंशी यज्ञशील राजा के आश्रित गुणों ने अपने परस्पर स्वाभाविक विरोध को उसी प्रकार त्याग दिया है जैसे सिद्धाश्रम में पहुँचकर वन्यपशु अपने सहज वैर को त्याग देते हैं।"[2] नैषध के गुणों की प्रशंसा मे श्रीहर्ष ने इसी प्रकार का भाव व्यक्त किया है। नल अपने तेज से अमित्र-(शत्रु-)-जित् होते हुए भी मित्र-(सूर्य-)-जित तथाचार-(दूत-)-दृष्टि होकर विचार (विवेक) दृष्टि थे। मानों विपक्षी राजाओ की

---

१. क्रोधाग्नौ पुरुहूतहुङ्कृतिपराभूतत्रिशङ्कुत्रपा,
सम्पातज्वलितेजगत्त्रयमयींत्वय्याहुर्ति जुह्वति।
सम्भ्रान्तोपनतस्यनाटितजरावैक्लव्यशीर्णाक्षराः,
प्रत्यूहायबभूवुरम्बुजभुवोदेवस्यचाटूक्तयः॥ अ० रा० ३।२२

२. नीपान्वयः पार्थिव एष यज्वा गुणैर्यमाश्रित्य परस्परेण।
सिद्धाश्रमं शान्तमिवैत्य सत्त्वैर्नैसर्गिकोऽप्युत्ससृजे विरोधः॥ रघु० ६।४६

भाँति विरुद्ध स्वभावों ने भी नल के भय से परस्पर विरोध त्याग दिया था।[१] रघुवंश की प्रसिद्ध उक्ति 'लोगो की रुचि विभिन्न होती हैं' (भिन्नरुचिर्हि लोक[२]) के समान भाव वाली नैषध की "लोगो की विभिन्न स्पृहा (रुचि) होने के कारण प्रत्येक वस्तु के प्रति द्वेषराग की कोई व्यवस्था नही की जा सकती" उक्ति है।[३] निर्वासिता सीता के करुण रोदन को सुनकर निर्जन वन मे वाल्मीकि के आने पर भावुक कवि कालिदास ने उनका स्पष्ट नाम न लिख कर अत्यन्त मार्मिक ढंग से उस हृदय-द्रावक घटना का उल्लेख किया है, जहाँ से आदिकवि की वाणी ने सर्वप्रथम काव्य का रूप धारण किया था, "व्याध के द्वारा आहत पक्षी को देखकर जिसकी करुणा श्लोक के रूप में परिणत हो गई थी, कुश और इन्धन के लिए निकले वे ही कवि रोने की आहट पाकर सीता के पास आए।"[४] इसी प्रकार नैषध मे भी रामायण रचयिता आदिकवि का स्मरण उसी मर्मस्पर्शी घटना के साथ किया जाता है। वहाँ भी उनका नाम नही लिया जाता। विष्णु के रामरूप की वन्दना करते हुए राजा नल कहते हैं—"देव, क्रौञ्चपक्षी के दुःख को देखकर जिस आदिकवि की करुणा श्लोक बन कर उमड़ पड़ी थी उसने प्रिया-विधुर आपके जीवन की करुण कहानी को देखकर करुणार्द्र हो जो चौबीस सहस्र का श्लोक-सागर रच डाला, वह उचित ही था।"[५]

मेघदूत

मेघदूत की प्रसिद्ध उक्ति "कामार्त व्यक्तियों को स्वभावतया जड़-चेतन का ज्ञान नही रहता" के प्रायः समान भाव वाली नैषध की यह उक्ति है "मुग्धेषु कः सत्यमृषा विवेकः" (नै० ८।१८)।

---

१. प्रतीपभूपैरपि किं ततो भिया विरुद्ध-धर्मैरपि भेतृतोज्झिता।
अमित्रजिन्मित्रजिदोजसा स यद् विचारदृक् चारदृगप्यवर्तत॥ नै० १।१३

२. रघु० ६।३०

३. भिन्नस्पृहाणां प्रतिचार्थमर्थं द्विष्टत्वमिष्टत्वमपव्यवस्थम्। नै० ६।१०६

४. तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाययातः।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥ रघु० १४।७०

५. क्रौञ्चदुःखमपि वीक्ष्य शुचा यः श्लोकमेकमसृजत्कविराद्यः।
स त्वदुत्थकरुणः खलुकाव्यं श्लोकसिन्धुमुचितं प्रबबन्धः॥ नै० २१।७६

अभिज्ञान शाकुन्तल

कालिदास ने संस्कार रूप में विद्यमान जन्मान्तर के स्नेह को माना है, जो उचित अवसर पाने पर उद्बुद्ध होता है। राजा दुष्यन्त हंसपादिका के मधुरगीत को सुनकर स्वयं सोचते हैं "रम्य दृश्यो को देखकर तथा मधुर शब्दो को सुनकर जो सुखी प्राणी भी विकलता का अनुभव करता है उससे वह अपने भावों में विद्यमान जन्मान्तर के किसी अज्ञात स्नेह का हृदय से स्मरण करता है।"[1]

श्रीहर्ष ने भी स्नेह-विषयक उपर्युक्त सिद्धान्त को दूसरे शब्दों मे इस प्रकार स्वीकार किया है "किसी का किसी के प्रति अनुराग पूर्व जन्मो के किए हुए कर्मो के फलरूप मे ही होता है।"[2] नव स्नेह मे अधीर दुष्यन्त को शकुन्तला का अवलोकन, गमन तथा भाषण सब कुछ अपने लिए ही समझ पड़ता है। वे सोचते हैं— "नेत्रों को अन्यत्र ले जाती हुई भी जो उसने स्नेह से देखा, नितम्ब के भार से जाते समय जो उसने मन्द-मन्द सविलास गमन किया, सखी द्वारा रोकने पर उसने जो असूया के साथ कुछ कहा, उसकी ये सारी चेष्टाए मेरे लिए ही थी। कामी "स्वता" को ही देखता है, अर्थात् सब कुछ अपने ही लिए किया गया समझता है।"[3] नैषध की बारात मे भी कुछ रसिकों को ऐसी ही "स्वता" का अनुभव होता है। वह मुग्धा कोई आवश्यक कार्य करते समय जो अन्यमनस्क होने के कारण कुछ त्रुटि कर बैठती है, तया देखने के लिए उत्सुक अपनी आँखों को जो बराबर रोकती रहती है, सुन्दरी की इन दोनों क्रियाओ ने उस कामुक के प्रति उसके सारे अनुराग भावो को व्यक्त कर दिया।"[4] और ग्रीवा-भग करके सुन्दरी ने जो मुस्करा दिया, लज्जावश मुह नीचे किए जो चुप खड़ी रही तथा गद्गद कंठ से जो मृदुतापूर्वक कुछ शब्द कहे, युवक ने उन तीनो को उसकी प्राप्ति का ही सूचक

---

१. रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्यशब्दान्पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपिजन्तुः
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि। शा० ५।२

२. जन्मान्तराधिगतकर्मविपाकजन्मैवोन्मीलति क्वचनकस्यचनानुरागः। नै०।१३।३९

३. स्निग्धंवीक्षितमन्यतोपिनयने यत्प्रेरयन्त्या तथा,
यातं यच्चनितम्बयोर्गुरुतया मन्दं विलासादिव।
मागा इत्युपरुद्धयायदपिसा सासूयमुक्तासखी,
सर्वं तत्किलमत्परायणमहो कामी स्वतां पश्यति॥ शा० २।२

४. कृतंयदन्यत्करणोचितत्यजा दिदृक्षु चक्षुर्यदवारि बालया।
हृदस्तदीयस्यतदेव कामुके जगाद वार्तामखिलां खलं खलु॥ नै० १६।५७

समझा।"[1] मुग्धा शकुन्तला के अभिनव स्नेह की अत्यन्त स्वाभाविक व्यञ्जना का निरूपण करते हैं—"यद्यपि मेरी बातों से बात नही मिलती फिर भी मेरे बोलते समय उसके कान इधर ही रहते है। मेरी ओर मुह करके भले ही न खड़ी हो, फिर भी उसकी दृष्टि किसी दूसरी ओर नही जाती।"[2] मुग्धा दमयन्ती का भी आचरण वैसा ही होता है—"दमयन्ती प्रिय को सामने ही नही देखती थी, किन्तु द्वार मे, रत्न-स्तम्भो मे, या जहाँ कही नल का प्रतिबिम्ब दिखायी पडता, उसकी आखे वही पहुँच जाती। इस प्रकार वह प्रिय को अपनी आँखो से देखती भी थी, देखती नहीं भी थी।"[3] शकुन्तला के लोकोत्तर रूप की तुलना इन्दुकला से देते हुए दुष्यन्त कहते है:—"अथवा इस रूप की उत्पत्ति किसी मानवी से कैसे सम्भव है? विद्युज्ज्योति पृथ्वीतल से नही उदित होती।"[4] इसी प्रकार हंस नल से दमयन्ती के रूप की प्रशंसा करते हुए उसे भी सागरोद्भव शिवभालस्थ इन्दुकला ही बताता है—"महाराज भीम गुणों के सागर हैं, उनसे उत्पन्न कन्या को दूसरी लक्ष्मी ही समझिए। यहाँ वह आप को दृष्टिगोचर नही, पर शिवभालस्थ इन्दुकला को तो जानते ही होगे, अर्थात् दमयन्ती और इन्दुकला को एक ही समझिए।"[5]

किरातार्जुनीय

किरात के साथ भी नैषध का अनेक उक्तियों मे भावसाम्य दिखायी पड़ता है। उदाहरणार्थ (किरात का), "संकेतज्ञ अवसर नही चूकता।"[6] उसी प्रकार (नैषधका),

---

१. मुखंयदस्मायिविभुज्यसुभ्रुवाह्रियं यदालम्ब्यनतास्यमासितम्।
अवादि वा यन्मृदुगद्गदंयुवा तदेव जग्राह तदाप्तिलग्नकम्॥ नै० १६।६१

२. वाचंनमिश्रयतियद्यपिमद्वचोभिः कर्णंददात्यभिमुखंमयि भाषमाणे।
कामं नतिष्ठति मदाननसंमुखीनाभूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्या:॥ शा० १।२७

३. नानया पतिरनायिनेत्रयोर्लक्ष्यतामपि परोक्षतामपि।
वीक्ष्यते स खलु यद्विलोकने तत्र तत्र नयने ददानया॥ नै० १८।५४

४. मानुषीषु कथंवा स्यादस्य रूपस्य सम्भवः।
न प्रभातरलंज्योतिरुदेतिवसुधातलात्॥ शा० १।२२

५. श्रियमेव परं धराधिपाद् गुणसिन्धोरुदितामवेहिताम्।
व्यवधावपि वा विधोः कलां मृडचूडानिलयां न वेद कः॥ नै० २।१९

६. नहीङ्गितज्ञोऽवसरेवसीदति॥ ॥ कि० ४।२०

"बुद्धिमान् के लिए संकेत ही पर्याप्त है,"[१] तथा, "बुद्धिमान् शीघ्र दूसरो के अभिप्राय को जान जाते हैं।"[२] मार्ग वताने वाले के प्रति भारवि का कहना है "विषम भी नीतिमार्ग उचित निर्देश द्वारा समझा जा सकता है, जैसे बीहड जलाशय भी अच्छे घाट द्वारा अवगाहन के योग्य हो जाता है। किन्तु उचित निर्देश करने वाला तथा अच्छा घाट बनाने वाला ही विशेष दुर्लभ है।"[३] श्रीहर्ष ने भी अग्रणी के प्रति इसी प्रकार की उक्ति कही है—"पहले कोई मार्ग भर दिखाये, फिर उसके अनुगामी दुर्लभ नहीं होते।"[४] कुटिल के प्रति कुटिलता भी नीति है, इस विषय मे भारवि का मत है "जो मायावियो के प्रति मायावी नही होते वे मूढबुद्धि पराभव को प्राप्त करते हैं।"[५] श्रीहर्ष का भी यही निर्णय है, "कुटिल के साथ सरलता नही करनी चाहिए यह नीति है।"[६] भारवि ने अनार्य-संगम की अपेक्षा महापुरुष के साथ विरोध भी श्रेयस्कर बताया है, यदि उससे विरोध करने वाले का उत्कर्ष होता हो।"[७] किरात के उक्त सिद्धान्तका उपयोग हमे नैषध मे दिखायी पडता है। वहाँ इसी सिद्धान्त के आधार पर "दमयन्ती के स्तनों के साथ स्पर्धा करने के कारण प्रसिद्ध होने वाला घट शास्त्रों मे दृष्टान्त रूप बन गया (शास्त्रों मे प्रायः उदाहरण घट का ही दिया जाता है)। और मटका आदि बनाने वाले ने भी "भैमी" के स्तन-स्पर्धी कुम्भो को बनाने के कारण ही अपना प्रसिद्ध नाम "कुम्भकार" प्राप्त किया।

धर्मशर्माभ्युदय

'आसेचनक' उस वस्तु को कहते हैं जिसे देखते हुए भी नेत्र कभी तृप्त न हों। ('तदासेचनक तृप्तेर्नास्त्यन्तोयस्य दर्शने'—अमर कोष) क्षीर स्वामी ने इसकी टीका करते हुए लिखा है: आसिच्यते आप्यायते दृगनेन आसेचनकं, यस्य दर्शनात्

---

१. सुज्ञंप्रतीङ्गितविभावनमेववाचः॥ नै० ११।१०१
२. झटितिपराशयवेदिनोहि विज्ञाः। नै० ४।११८
३. विषमोऽपि विगाह्यतेनयः कृततीर्थः पयसामिवाशयः।
स तु तत्रविशेषदुर्लभः सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्म यः॥ कि० २।३
४. वर्त्म कर्षतु पुरः परमेकस्तद्गतानुगतिको न महार्घः॥ नै० ५।५५
५. व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः॥ कि० १।३०
६. आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः॥ नै० ५।१०३
७. समुन्नयन्भूतिमनार्यसङ्गमाद्वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः॥ कि० १।८
८. एतत्कुचस्पर्धितया घटस्य ख्यातस्य शास्त्रेषु निदर्शनत्वम्।
तस्माच्चशिल्पान्मणिकादिकारी प्रसिद्धनामाजनि कुम्भकारः॥ नै० ७।७५

दृक् न तृप्यति। बाण ने हर्ष-चरित (प्रथम उच्छ्वास) मे इसका प्रयोग इस प्रकार किया है "आसेचनक-दर्शन ...नप्तारम्।" हरिचन्द्र ने भी धर्मशर्माभ्युदय मे इसका प्रयोग इसी प्रकार किया है, "उसके सौन्दर्यामृत रूपी आसेचनक का स्त्रियो ने अपने नेत्रों से इच्छा भर पान किया।"[1] नैषध मे हंस दमयन्ती से कहता है, "सुन्दरि! अकेला चन्द्रमा तुम्हारे नयनो को किसी प्रकार तृप्ति नही दे सकता, अत: नल के मुखचन्द्र के साथ वह तुम्हारे लोचनो का आसेचनक वने।"[2] जड़ी-बूटियो द्वारा किसी के चित्त को वश मे करने की क्रिया को 'कार्मण' कहते है।[3] हरिचन्द्र ने कार्मण शब्द का प्रयोग दो स्थानों पर इस प्रकार किया है ! "प्रेम-रूपी वशीकरण (कार्मण) के वशीभूत-सी होकर सुन्दरी सुरत मे किसी प्रकार कष्ट का अनुभव नही करती थी।"[4] "तथा वह शृङ्गार रूपी नरेश की राजधानी तथा संसार के मन का एकमात्र वशीकरण (कार्मण) है।"[5] नैषध मे शाल्मल द्वीप में द्रोणगिरि पर होने वाली कार्मण ओषधियों का वर्णन करती हुई सरस्वती दमयन्ती से कहती है—,"उस शाल्मल द्वीप मे द्रोणगिरि पर वशीकरण (कार्मण) ओषधि भी है, जो बडे भाग्य से मिलती है। किन्तु द्रोण तुम्हारे लिये उसे उपहार रूप मे देगा।"[6] फिर मथुरा के राजा पृथु के हाथ मे बधी हुई मणि की ओर सकेत करती हुई सरस्वती कहती है, "पल्लव-रमणीय अधरो वाली सुन्दरि, महाराज पृथु के हाथ मे ससार को वश मे करने वाली इस कार्मण (मणि) को तो देखो।"[7] कौतूहल के साथ किसी वस्तु को देखने के लिए गर्दन ऊची करने को 'उद्ग्रीविका' कहते है। सुबन्धु ने वासवदत्ता मे "उद्ग्रीविका-दान" का प्रयोग किया है।[8] नैषध में स्वयवर मे नल के गले मे वरमाला डालने के पश्चात् सात्त्विकोदय के कारण

---

१. तदङ्गरूपामृतमक्षिभाजनैर्यदृक्षयासेचनकं पपुस्त्रियः॥ ध० श० २।४

२. एकः सुधांशुर्न कथञ्चनस्यात्तृप्तिक्षमस्त्वन्नयनद्वयस्य।
त्वल्लोचनासेचनकस्तदस्तुनलास्यशीतद्युतिमद्वितीयः॥ नै० ३।११

३. मूलैरोषधिभिर्यद्वशीकरणंतत्कर्मैव कार्मणं। तद्युक्तात्कर्मणोऽण्।
क्षीरस्वामी

४. ताम्यतिस्म सुरते न कथञ्चित् प्रेमकार्मणवशेवकृशाङ्गी। ध० श० १५।५९

५. शृङ्गारभूवल्लभराजधानी जगन्मनःकार्मणमेकमेव॥ ध० श० १७।१२

६. द्रोणः स तत्रवितरिष्यति भाग्यलभ्यसौभाग्यकार्मणमयीमुपदांगिरिस्ते॥११।६८

७. बाले धराधरितनैकविधप्रवाले, पाणौजगद्विजयकार्मणमस्य पश्य॥ नै० ११।१०४

८. कामिमिथुननिधुवनलीलादर्शनार्थमिवोद्ग्रीविकाशतदानखिन्नेषु—प्रदीपेषु-
वासवदत्ता।

दमयन्ती के रोमाञ्चों का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष ने भी एक स्थान पर "उद्ग्रीविका-दान" का ही प्रयोग किया है। "उस समय दमयन्ती का सारा शरीर पुलकित हो रहा था मानो उसके समस्त रोम बाल (वार अथवा शिशु) होने के कारण, वर की शोभा को देखने के लिए उत्सुक हो अपनी गर्दन उठाए हुए थे।"[1] फिर विवाह से लौटने पर नल को "अपनी नगरी पत्नी के समान दिखायी पडी, जिसके ऊंचे महल इस प्रकार प्रतीत होते थे मानो उसने अपने प्रिय को देखने के लिए गर्दन उठायी हो।"[2]

अनर्घराघव

विवाह आदि शुभ अवसरों पर स्त्रियां अपने हाथ और मुह के सहारे एक विशेष प्रकार का शब्द करती है, जिसे 'उलूलु' कहते है। मुरारि ने अनर्घराघव मे सीता के विवाह-प्रसङ्ग मे 'उलूलु' का उल्लेख किया है।[3] श्रीहर्ष ने भी स्वयवर मे दमयन्ती द्वारा माला डाले जाने के पश्चात् ही पुराङ्गनाओ की उलूलु-ध्वनि का इस प्रकार वर्णन किया है—"उस समय पुराङ्गनाये आनन्द के साथ उच्च स्वर मे मङ्गल गीत गाने लगी। उनमें इस प्रकार हर्षोद्रेक हुआ कि उनके कण्ठ गद्गद् हो गए, और जो शब्द निकलते थे वे अस्फुट (उलूलु) होते थे।"[4] युवावस्था मे भी जिसके शरीर मे बाल-सुलभ सुकुमार सौन्दर्य दिखायी पड़े उसे 'गर्भरूप'[5] कहते है। अनर्घराघव मे मुरारि ने गर्भरूप शब्द का प्रयोग इस प्रकार किया है। राजा दशरथ वामदेव से अपने ऊपर गुरु वशिष्ठ की अनुकम्पा का उल्लेख करते हुए कहते है :—"उनकी आज्ञा से प्रजा का पालन करते हुए मेरी वृद्धावस्था आ गयी। जो अब भी मुझे गर्भरूप (बालक) की भाँति सब कुछ सिखाते है, यह गुरु का मेरे ऊपर बड़ा पक्षपात ही है।"[6] इसी प्रकार नैषध में प्लक्षद्वीप के स्वामी मेधातिथि के रूप-

---

१. रोमाणिसर्वाण्यपि बालभावाद् वरश्रियं वीक्षितुमुत्सुकानि।
तस्यास्तदाकण्टकिताङ्गयष्टेरुदग्रीविकादानमिवान्वभूवन्॥ नै० १४।५३

२. ददर्शपश्यामिवनैषधः प्रियामथाश्रितोद्ग्रीविकमुन्नतैर्गृहैः॥ नै० १६।१२२

३. वैदेहीकरबन्धमङ्गलयजुःसूक्तं द्विजानां मुखे।
नारीणां च कपोलकन्दलतले श्रेयानुलूलुध्वनिः॥ अनर्घ० ३।५५

४. कापिप्रमोदास्फुटनिर्जिहानवर्णैव या मङ्गलगीतिरासाम्।
सैवाननेभ्यः पुरसुन्दरीणामुच्चैरुलूलुध्वनिरुच्चचार॥ नै० १४।५१

५. प्रशस्तोगर्भोगर्भरूपस्तंपूर्ववयसमित्यर्थ। प्रशंसायां रूपम्॥ मल्लिनाथ

६. तस्याज्ञयैवपरिपालयतः प्रजांमे कर्णोपकण्ठिपलितङ्करिणीजरेयम्।
यद्गर्भरूपमिवमामनुशास्तिसर्वमद्यापितन्मयिगुरुर्गुरुपक्षपातः॥ अ० रा० १।१५

वर्णन के प्रसङ्ग मे श्रीहर्ष गर्भरूप शब्द का प्रयोग करते हैं[१]। भोजन के बाद जो अंश उच्छिष्ट-रूप मे बच जाता है उसे "विघसीकृत" कहते हैं। अनर्घराघव मे राम के ऊपर क्रुद्ध हो परशुराम अपने परशु की ओर संकेत करते हुए कहते हैं:— "पहले विनष्ट किए हुए क्षत्रियो से बचे (विघसीभूत) क्षुद्रक्षत्रियो के प्रति भूखा मेरा यह परशु आज इसे खोज रहा है।"[२] इसी प्रकार श्रीहर्ष भी चन्द्रमा की सुधा को देवों द्वारा विघसीकृत (पीने के बाद बची हुई) बताते हैं— 'मुझे अब चन्द्रमा के अमृत के प्रति भी घृणा होती है, क्योकि देवो ने इसे पीकर जूठा कर दिया है।"[३] पुराने समय मे किसी लेख या ग्रन्थ की समाप्ति होने पर अन्त में समाप्ति-सूचक गोलाकार चिह्न बना दिए जाते थे। वे चिह्न कभी-कभी नागरी-अक्षर छ के समान भी देखे जाते हैं, उन्हें समाप्ति-लिपि कहते हैं। मुरारि ने विष्णु के सुदर्शन चक्र को सकल-दानव-जीवितव्यविद्यासमाप्तिलिपि कहा है[४]। इसी प्रकार श्रीहर्ष ने सरस्वती के दोनों कुण्डलो को "वृत्तसमाप्तिलिपि" कहा है।[५] और फिर बरातियों के भोजन-प्रसङ्ग मे दही-बड़े को, जो अन्त मे परोसा गया, भोजन-क्रिया की 'समाप्तिलिपि' कहा है[६]। विनोदशील को 'वैहासिक' कहते है। मुरारि ने प्रभात-वर्णन के प्रसङ्ग मे सूर्यदेव को 'मृदुमृणालिनी का वनविलास-वैहासिक' (अ०रा०-४।४) कहा है। ठीक इसी प्रकार श्रीहर्ष ने भी प्रभात-वर्णन मे सूर्यदेव को 'वनरुहवनीकेलिवैहासिक' (नै० १९।६४) कहा है। व्याकरण शास्त्र में मूल (स्थानी) के स्थान पर होने वाले (आदेश) में मूल का गुण आ जाया करता है, जो स्थानिवद्भाव कहा जाता है। अनर्घराघव में माल्यवान् शूर्पणखा से विश्वामित्र का परिचय देते हुए कहता है—"हे पुत्रि, तपस्या द्वारा अर्जित इस का ब्राह्मणत्व भी स्थानिवद्भाव से क्षत्रियकार्य नही छोडता।"[७] इसी प्रकार श्रीहर्ष भी इन्द्र को नल

---

१. तं गर्भरूपमपि रूपजितत्रिलोकम्। नै० ११।८०

२. सोन्त्यंप्राक्कवलग्रहस्यविघसीभूतेष्वपिक्षत्रिय।
क्षुद्रेषु क्षुधिताश्चिरेणपरशुस्तेनायसन्विष्यते॥ अ० रा० ४।२२

३. निपीय देवैर्विघसीकृतायां घृणां विधोरस्य दधे सुधायाम्॥ नै० २२।११६

४. त्रैविक्रमःसकलदानवजीवितव्यविद्यासमाप्तिलिपिरेषसुदर्शनो मे।अ० रा० ६।७०

५. [ ]कुण्डलीवृत्तसमाप्तिलिप्याः॥ नै० १०।८७

६. समाप्तिलिप्येव भुजिक्रियाविधेर्दलोदरं वर्तुलयालयीकृतम्। नै० १६।९८

७. वत्से, तपोभिरस्य ब्राह्मणादेशोऽपि स्थानिवद्भावेनक्षत्रकार्यं न विजहाति।
अ० रा०, अं० ४

का रूप धारण करने पर कहते है—१—कार्य साधने के लिए नैषध का रूप बना कर, साक्षात् नल बनकर, भी इन्द्र ने किस प्रकार अपने वास्तविक नीच भाव को धारण किया था—जिससे उन्हे अपनी ही बात की व्याख्या करनी पडी। २—विद्वान् इन्द्र ने प्रसिद्ध व्याकरण-शास्त्र के निर्माता होकर भी, (स्वय 'नहोध' ८।२।३४ : आदि आदेशो को बनाकर भी) अनल्-विधि मे क्या दूषित-स्थानिवद् भाव न किया। (किन्तु स्थानिवद्भाव केवल अनल्विधि मे ही होता है—इन्द्र इसे जानकर भी मूढ बना था)।[1]

जहाँ से कोई वस्तु पृथक् होती है उसे व्याकरण शास्त्र मे अपादान कहते है[2] मुरारि ने पदशास्त्र के इस पारिभाषिक शब्द को अपने नाटक मे प्रयुक्त किया है। रावण का पुरोहित मौष्कल रावण की प्रशसा करता हुआ कहता है—"जिसने कैलास पर्वत को उठाकर नागलोक-विजय-यात्रा का मार्ग प्रस्तुत किया, उसकी आपत्तियो का 'अपादान' कैसा ?"[3] इसी के अनुकरण पर श्रीहर्ष ने भी अपादान शब्द का प्रयोग जहाँ से प्रस्थान किया जाय उस स्थान के लिए किया है। देवगण कलि से रास्ते मे कहते है, "त्रैलोक्य के सुन्दर युवको के गर्व को नष्ट करने वाला वह स्वयवर तो कभी का समाप्त हो चुका है, क्योंकि आते हुए हम लोगो का वही तो अपादान है, (अर्थात् हम लोग वही से तो आ रहे है)।[4] अनर्घराघव मे अगस्त्य की महिमा का वर्णन करते हुए सुग्रीव राम से कहते है—"जिस समय मुनीन्द्र अगस्त्य ने चारों समुद्रो का "आपोशान" (भोजन के पूर्व आचमन) किया था, उस समय सातों भुवन अपने को मुनि का भक्ष्य समझकर (क्योकि आपोशान के बाद भक्ष्य खाया जाता है) निश्चय ही काँप गए होंगे"[5]। श्रीहर्ष ने इसी के आधार पर आपोशान शब्द का प्रयोग प्रभात-वर्णन के प्रसग मे इस प्रकार किया है—"प्रभात-बेला में कमलिनी की प्रथम पखुडी को विकसित तथा अन्य पखुड़ियो को सम्पुटित देख

---

१. स्वं नैषधादेशमहोविधाय कार्यस्य हेतोरपिनानलः सन्।
किं स्थानिवद्भावमधत्तदुष्टं तादृक्कृतव्याकरणः पुनः सः॥ नै० १०।१३६

२. ध्रुवमपाये अपादानम्—पा० १।४।२५

३. चक्रे वर्त्म च नागलोकजयिनीं यात्रामिवप्रस्तुवन्।
यः कैलासमुदस्य कीदृशमपादानं तु तस्यापदाम्॥ अ० रा० ३।३८

४. अतिवृत्तः स वृत्तान्तस्त्रिजगद्युवगर्वनुत्।
आगच्छतामपादानं स स्वयंवर एव नः॥ नै० १७।११८

५. ध्रुवमिहचतुरम्भोनिधिरचितापोशानकर्मणिमुनीन्द्रे।
भक्ष्यंमन्यानि किमपि चकम्पिरे सप्तभुवनानि॥ अ० रा० ७।९६

कर लोगो के मन मे यही ध्यान आता है कि मानों सूर्य की किरणों को खाने के पूर्व कमलिनी आपोशान क्रिया कर रही है।"[1] आपोशान शब्द काव्यग्रन्थों में प्रायः न के बराबर ही प्रयुक्त हुआ है। केवल अनर्घराघव तथा नैषध में इसका प्रयोग देखकर यह अनुमान स्वाभाविक हो जाता है कि श्रीहर्ष को इसे काव्य मे प्रयुक्त करने की प्रेरणा मुरारि से मिली होगी। किन्तु श्रीहर्ष ने अगस्त्य के प्रसङ्ग मे इसका वर्णन न करके प्रभातकालीन कमल के वर्णन मे किया है, और इस प्रकार अपनी मौलिकता को अक्षुण्ण बनाए रक्खा है।

विश्वामित्र राजा दशरथ की प्रशसा करते हुए कहते हैं कि "स्वर्गसुन्दरियों के सौभाग्य की रक्षा करना तो इक्ष्वाकु वश वालो की लिखी-पढी (पक्की की हुई रजिस्टर्ड) वृत्ति है।"[2] श्रीहर्ष को पूर्वोक्त श्लोक का "लिखितपठिता" पद बहुत प्रिय लगा। अत उन्होने उसे अपने प्रभात-वर्णन मे ज्यों का त्यों रख लिया। वैतालिक कहते हैं—"दिन मे कुमुदिनी अपने मुकुलरूपी नेत्रो को बन्दकर अन्धी बन जाती है। सूर्यको वह नही देखती, अत. लोग उसे बुरा कहते है। अरे भाई समझो तो बात यह है कि कवियो ने राज-दारा के लिए "असूर्यम्पश्या" विशेषण "लिख-पढ" (रजिस्टर्ड कर) दिया है। तो कुमुदिनी भी तो द्विजराज या उडुराज की दारा है फिर वह 'असूर्यम्पश्या" क्यो न हो।"[3]

---

१. मिहिरकिरणाभोगं भोक्तुं प्रवृत्ततया पुरः कलितचुलुकापोशानस्य ग्रहार्थमियं किमु। इतिविकसितैनैकेनं प्राग्दलेन सरोजिनी जनयतिमतिंसाक्षात्कर्तुर्जनस्यदिनोदये। नै० १९।२८

२. इक्ष्वाकूणांलिखित-पठितास्वर्वधूगण्डपीठक्रीड़ापत्रप्र हरमकरीपाशुपाल्यं हि वृत्तिः। अ० रा० १।३१

३. स्त्रमुकुलमयैर्नेत्रैरन्धंभविष्णुतयाजनः किमु कुमुदिनीं दुर्व्याचष्टे खेरनवेक्षिकाम्। लिखितपठिता राजो दाराः कविप्रतिभासु ये श्रृणुत श्रृणुतासूर्यम्पश्या न सा किल भाविनी। नै० १९।३६

पञ्चम अध्याय

रस और भाव की अभिव्यक्ति

काव्यानन्द का प्रधान रूप भावानुभूति या रसानुभूति है। किन्तु अलङ्कार-वादी या चमत्कार-वादी के लिए काव्यानन्द वह है जो चमत्कार-जन्य होता है, जिसमें अलङ्कार आदि की प्रधानता रहती है। आचार्यों ने काव्य-रस के चार अवयव माने हैं—१—स्थायी भाव, २—विभाव, ३—अनुभाव और ४—सञ्चारी भाव। मोटे तौर पर हम उन्हें दो पक्षों में बाँट सकते हैं १—आश्रय-पक्ष, २—आलम्बन-पक्ष। दृश्य अथवा श्रव्य काव्य में जिस पात्र के हृदय में "रति" इत्यादि कोई स्थायीभाव व्यञ्जित होता है, वह पात्र उस भाव का 'आश्रय' कहा जाता है। हृदय में उस भाव की अनुभूति के समय "आश्रय" की जो चेष्टाएं होती हैं उन्हीं को 'अनुभाव' कहते हैं, तथा स्थायी भाव में "उन्मग्न"-"निमग्न" होने वाले अन्य सहभावों को 'सञ्चारी' भाव कहा जाता है। इस प्रकार आश्रय पक्ष में "स्थायी भाव", "अनुभाव" तथा "सञ्चारी भाव" तीनों का अन्तर्भाव हो जाता है। आलम्बन पक्ष में विभाव के दोनों पहलू, आलम्बन तथा उद्दीपन, आ जाते हैं। आश्रय का स्थायी भाव जिस पात्र या वस्तु के प्रति उद्‌बुद्ध हुआ है वह उसका "आलम्बन" है तथा उस पात्र या वस्तु की अवस्था, चेष्टा या अन्य परिस्थितियाँ, जिनके कारण आश्रय में वह भाव-विशेष जागरित होता है 'उद्दीपन' के अन्तर्गत गिनी जाती हैं। "आलम्बन सजीव या निर्जीव दोनों प्रकार के हो सकते हैं। उदाहरणार्थ—करुण-रस का आलंबन जिस प्रकार वाल्मीकि के आश्रम में लक्ष्मण द्वारा परित्यक्त, उन्मुक्त रोदन करने वाली सती सीता हो सकती है,[1] उसी प्रकार राम के स्वर्गा-रोहण के पश्चात कुश-द्वारा परित्यक्त उजड़ी अयोध्या भी हो सकती है।"[2] रस में "आलम्बन" सबसे प्रधान होता है। यदि "आलम्बन" का चित्रण सफल हो गया तो रसोद्‌बोध निश्चित हो जाता है।

---

१. रघुबंश १४ सर्ग

२. रघुबंश १६ सर्ग

शृङ्गाररस

नैषध में शृङ्गार प्रधान रस है और रति प्रधान भाव। किन्तु उत्साह, हास, विस्मय, जुगुप्सा, शोक, क्रोध, वात्सल्य आदि भावों की भी यथास्थान अत्यन्त मनोरम व्यञ्जना हुई है। महाकाव्यो में प्रधान रस के अतिरिक्त अन्य रसों को भी गौण रूप मे रखने का नियम रक्खा गया है।[1] क्योकि जीवन मे सदा एक ही रस या भाव नही बना रहता है—कभी हास-परिहास है तो कभी रोदन-विलाप, कभी उत्साह है तो कभी अपार शोकावेग, कभी वात्सल्य की सरस धार बहती है तो कभी क्रोध का प्रण्वड ताण्डव देखने को मिलता है। और इस बहुरङ्गी रूप मे ही जीवन का स्वारस्य है। अतः काव्यों मे सभी या अनेक रसों की उपलब्धि अथवा उपस्थिति उचित तथा स्वाभाविक ही समझ पड़ती है। नैषध में शृङ्गार के संयोग-वियोग दोनों पक्षों का सुन्दर साङ्गोपाङ्ग चित्रण हुआ है। वियोग या विप्रलम्भ पक्ष पहिले आया है, संभोग बाद मे। नैषध का प्रारम्भ नल-दमयन्ती के पूर्वराग या प्रेम से होता है। संस्कृत-साहित्य के समस्त प्रेमाख्यानों वाले काव्यों मे वर्णित प्रेम कुछ नियत प्रकारों मे विभक्त किया जा सकता है। प्रथम प्रकार का प्रेम वह है जो राम-सीता के जीवन मे दिखाया गया है। यह प्रेम विवाह के पश्चात् अत्यन्त स्वाभाविक रूप से प्रारम्भ होता है तथा जीवन की विकट परिस्थितियों के आने पर निखरता चलता है। वनगमन से लेकर लङ्का के भयानक युद्ध तक हमें राम-सीता के "प्रेम" की झाकी दिखायी पड़ती है। इस प्रेम से दाम्पत्य-जीवन मे आनन्द, उत्साह तथा शक्ति सब की प्रेरणा मिलती है। यह अत्यन्त शुद्ध, अत्यन्त निर्मल एवं अत्यन्त सात्त्विक होता है। इसमे आनन्द है, पर विलास नही, सुख है, पर कामुकता नही। आदि-कवि ने अपने रामायण में इसी प्रेम का निरूपण किया है।

दूसरे प्रकार का प्रेम गान्धर्व-विवाह के प्रसगो में देखा गया है। नायक-नायिका कही अकस्मात् मिल जाते है। दोनो मे नयनानुराग उत्पन्न होता है। फिर प्राप्ति के लिए बेचैनी आती है। ऐसे प्रेम की कथा प्रायः विवाह तक ही चलती है। विवाह हो जाने पर फिर उसकी कोई चर्चा नहीं।

तीसरे प्रकार का प्रेम वही है जो रत्नावली, प्रियदर्शिका, कर्पूरमञ्जरी आदि मे देखने को मिलता है। यह वास्तव में प्रेम नहीं बल्कि राजाओ के अन्तःपुर में भोग-विलास या रङ्ग-रहस्य का चित्रण मात्र है। इसमें रानियो के मान, ईर्ष्या, कलह, द्वेष, विदूषको के हास-परिहास तथा राजाओ की स्त्रैणता आदि का ही दर्शन

---

१. अङ्गानिसर्वेऽपि रसाः॥ सा० द० ६।३१७

होता है। इसमे प्रयत्न कही नही, केवल फल-भोग है। कौशाम्बी-नरेश उदयन का चरित्र प्राय इसी प्रकार का चित्रित किया गया है।

चौथे प्रकार का प्रेम वह है जो गुण-श्रवण, चित्र-दर्शन, स्वप्न-दर्शन आदि से (प्रायः नायिका के मन मे) उत्पन्न होता है। फिर प्राप्ति के लिए प्रयत्न होता है। उषा-अनिरुद्ध का प्रेम इसी प्रकार का है।

नैषध मे वर्णित प्रेम वैसे तो चौथे प्रकार का है किन्तु इसमे झलक चारो की मिलती है। महाभारत-आदि मे जहाँ कही भी नल का चरित्र वर्णित है वहाँ उसमे गाम्भीर्य, क्षमा, सत्यसन्धता तथा शालीनता ओतप्रोत है। साहित्य शास्त्र की भाषा मे नल प्राय सर्वत्र धीरोदात्त नायक के रूप मे प्रतिष्ठित हुए है, किन्तु दमयन्ती के अलौकिक अनन्य प्रेम ने उनके सत्यव्रत जीवन मे एक अपूर्व सरसता एव मधुरता उत्पन्न कर दी है। सती ने अपने प्रेम की ऐसी दिव्य दीपशिखा जलाई जिसका आलोक नल के जीवन के विशाल कक्ष के प्रत्येक वातायन से छिटक रहा है। इसमे पडकर समुद्र-गम्भीर नल प्रेम-भूमि बन गए, तथा नल-चरित अथ से इति तक प्रेम-कहानी बन गया। उस प्रेम की विशेषता यह है कि वह लोक-विमुख ऐकान्तिक प्रेम नही होने पाया। उसमें वियोग की आहो के साथ लोक-व्यवहार की चिन्ता भी है, तथा सभोग के हास-परिहास के साथ कर्तव्य का उत्साह भी है। आज-कल की प्रवृत्ति के अनुसार प्रेम अन्धा होता है। किन्तु दमयन्ती का प्रेम सती का प्रेम था। वह दूत मे नल-रूप की समता देखकर भी उसे आँख भर इसीलिए नही देख सकती थी कि पर पुरुष को देखना उसके सतीत्व के प्रतिकूल पडता था।[१] नल की प्राप्ति के लिए वह प्राण भी दे सकती थी किन्तु मर्यादा का उल्लङ्घन नही कर सकती थी। उसने स्वयवर मे देवों को प्रसन्न करके ही नल को वरना निश्चित किया।[२] अपने पिता के यहाँ अन्त पुर मे नल को पाकर भी दमयन्ती, कण्व के आश्रम मे दुष्यन्त को पाकर शकुन्तला की भाँति शृङ्गार-चेष्टाओ मे नही पड जाती। प्रेम का अभिनय नही करने लगती।

उसी प्रकार नल का प्रेम भी कर्तव्य की आच से तपा हुआ है। दमयन्ती के प्रेम मे वे प्राण देकर भी अनृण होने को तैयार थे। यह उस प्रेम का लोक-मङ्गल पक्ष था। इस पर विशेष विचार स्वभाव-चित्रण करते हुए किया जायगा। इन्द्र आदि

---

१. वृणे दिगीशानिति का कथा तथा त्वयीति नेक्षे नलभामपीहया।
सतीव्रतेऽग्नौ तृणयामि जीवितं स्मरस्तु किं वस्तु तदस्तु भस्मयः॥ नै० ९।७०

२. व्रजन्तु ते तेऽपि वरं स्वयंवरं प्रसाद्य तानेव मया वरिष्यसे।
न सर्वथा तानपि न स्पृशेद्द्या न तेऽपि तावन्मदनस्त्वमेव वा॥ नै० ९।१५४

देवो की भी दमयन्ती मे आसक्ति है ही। किन्तु इसे प्रेम न कह कर "लोभ या लोलुपता" कहा जाय तो अधिक अच्छा है। उनकी आसक्ति मे प्रेमवाली एकनिष्ठता कहाँ है ? देवगण दमयन्ती के रूप-सौन्दर्य को अपनाना चाहते थे, चाहे उसका हृदय भले न रीझे। विजयेच्छु राजा की भाति वे साम, दाम, दण्ड, भेद—चारो नीतियों का प्रयोग करना चाहते थे। इन उपायो से भी सफल न होने पर वे छल-कपट पर भी उतारू हो सकते थे। अत उनका प्रेम लोभ या लोलुपता ही कहा जायगा—वैसा लोभ, जैसा किसी उदरम्भरि का अच्छी मिठाइयो के प्रति हुआ करता है। वस्तुत. प्रेम दो हृदयो का अत्यन्त पावन संबध है। वहा दो हृदय परस्पर एक दूसरे को पाना चाहते है। लोभ किसी वस्तु के प्रति होता है, पर प्रेम व्यक्ति से होता है, क्योंकि उसमे दोनों ओर से सजीवता रहती है।

विप्रलम्भ शृङ्गार

नैषध मे शृङ्गार का विप्रलम्भ-पक्ष पहले आया है सम्भोग बाद मे। नल-जीवन का पूर्वार्द्ध है भी इसी प्रकार का। विप्रलम्भ (वियोग) चार अथवा पाच प्रकार का माना[1] गया है, जिसका हेतु १—पूर्वराग अथवा अभिलाष, २—मान अथवा ईर्ष्या, ३—प्रवास, ४—करुण तथा ५—शाप होता है। नैषध का वियोग अभिलाष अथवा पूर्वराग के रूप का है। श्रीहर्ष ने काव्य का नाम नल-चरित रक्खा और इसका प्रारम्भ भी नल का परिचय देते हुए किया। नल के जीवन मे दमयन्ती की अवतारणा कब और कैसे हुई, इस प्रसङ्ग को महाकवि ने अद्भुत सफलता के साथ कल्पित किया है। कठिनाई इस कारण विशेष थी कि भारतीय प्रेम-पद्धति में नायिका का नायक मे अनुराग पहले दिखाया जाता है, नायक का नायिका मे बाद को। अब यदि दमयन्ती का परिचय पहले देकर उसके नलानुराग का विवरण देते हुए काव्य का प्रारम्भ करते तो उसमे प्रामुख्य दमयन्ती-चरित का होता, जिससे नलीय-चरित नाम सार्थक न होता। अतः नल का परिचय देता हुआ कवि उनके यश, दान, पराक्रम आदि का विवरण शीघ्रता से देकर वयः-सन्धि के समय रूप-सौन्दर्य का बडा विस्तृत चित्रण करता है। फिर उस अलोक-सामान्य रूप के प्रति सुन्दरियों की क्या भावना होती है, इसका विवरण देता हुआ अत्यन्त स्वाभाविक

---

१. अपरस्तु अभिलाष-विरहेर्ष्या-प्रवास-शाप-हेतुक इतिपञ्चविधः—
(काव्यप्रकाश चतुर्थ उल्लास)

केचित्तु—'पूर्वानुरागमानाख्यप्रवासकरुणात्मना
विप्रलम्भविधानोऽयं शृङ्गारः स्याच्चतुर्विधः॥

ढग से विदर्भ देश के राजा भीम की कुमारी का उल्लेख करता है। "मेरी रूप-श्री नलकान्ति के योग्य है या नही ?" इसे जानने के लिए एक भीम-कुमारी को छोड कर, कोई भी सुन्दरी जब हाथ मे दर्पण लेती तो उसकी निराशा की आहो से दर्पण ही अन्धा हो जाता।[1] इस एक श्लोक में श्रीहर्ष ने कितनी बाते अत्यन्त उत्कृष्ट व्यञ्जना द्वारा व्यक्त की है—नल का अवर्णनीय सौन्दर्य, अन्य किसी सुन्दरी से नल-परिणय की असम्भावना, भीम की कुमारी का अद्भुत सौन्दर्य तथा उसके हृदय मे नल रूप के प्रति आकर्षण। प्रथम सर्ग मे श्रीहर्ष ने दमयन्ती के सौन्दर्य का कही भी शब्दो (अभिधा) द्वारा वर्णन नही किया है। नल के रूप की विस्तृत प्रशसा कर के अन्त मे केवल इतना कह दिया कि "अपनी रूप सपत्ति के अनुरूप नल मे भीमनन्दिनी का मन अनुरक्त होने लगा।"[2] इस परिचय के प्रसग मे एक बात जो विशेष ध्यान देने की है वह यह कि श्रीहर्ष ने पूरे प्रथम सर्ग मे कही भी दमयन्ती का नाम नही लिखा है। अभी तो हमे विदर्भ-देश और वहा के राजा भीम का ही परिचय दिया गया है। दमयन्ती वहाँ की राजकुमारी के रूप मे जानी जा सकती है। अत. श्रीहर्ष ने विदर्भजा, भीमनन्दिनी, भैमी आदि शब्दो के द्वारा ही उसका उल्लेख किया है। सुन्दरी का "दमयन्ती" नाम तो सर्वप्रथम द्वितीय सर्ग मे हस के मुख से सुनने को मिलता है जो इस नामकरण का कारण भी बतलाता है।[3]

दमयन्ती का नल मे अनुराग कई अत्यन्त स्वाभाविक कारणो से उत्पन्न होता है तथा उसी प्रकार उत्कर्ष पर पहुचता है। किसी से एक वार सुनकर, कही चित्र मे एक बार देख कर, या स्वप्न मे एक वार साक्षात्कार कर के जो अनुराग उत्पन्न होता है, वह केवल अभिलाष दशा तक ही सीमित रह सकता है। उसमे प्रेमजन्य अन्य वियोग-दशाएँ अत्यन्त अस्वाभाविक लगेगी। एक तो दमयन्ती की वयः-सन्धि है,[4] जिस अवस्था मे कुमारियो के मन मे अपने अनुरूप पति की बड़ी कल्पनाए उठती है, फिर नल की रूप-सम्पत्ति के विषय मे उसने बहुत तरह से सुना है।[5]

---

१. श्रियास्य योग्याहमिति स्वमीक्षितुं करे तमालोक्य सुरूपयाधृतः।
विहाय भैमीमपदर्पया कया न दर्पणः श्वासमलीमसः कृतः॥ नै० १।३१

२. नृपेऽनुरूपे निजरूपसम्पदां दिदेश तस्मिन्बहुशः श्रुतिं गते।
विशिष्य सा भीमनरेन्द्रनन्दना मनोभवाज्ञैकवशंवदं मनः॥ नै० १।३३

३. दमनादमनाक्प्रसेदुषस्तनयां तथ्यगिरस्तपोधनात्।
वरमाप स दिष्टविष्टपत्रितयानन्यसदृग्गुणोदयाम्॥ नै० २।१७

४. विदर्भजाया मदनस्तथा मनो नलावरुद्धं वयसैव वेशितः॥ नै० १।३२

५. नृपेनुरूपे—बहुशः श्रुतिं गते॥ नै० १।३३

अतः अनुराग का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। पूर्वराग मे सर्वप्रथम 'मनोभिलाष' होता है। पिता के पास बन्दियों के मुह से नल की प्रशसा सुनकर रोमाञ्चित होना,[१] बातचीत के प्रसग मे घास (नरकुल) का भी नल नाम सुन कर चौक पड़ना,[२] उपमान रूप मे नल को ही रखवाना,[३] निषध देश से आए दूत-द्विज-बन्दि-चारणों के मुख से नल के गुणो की प्रशंसा सुन कर विमनस्क हो जाना,[४] चित्रकार से चित्र-भित्ति पर सुन्दर युगल बनवाने के व्याज से नल का और अपना चित्र बनवाना[५] आदि सारी चेष्टाए दमयन्ती के मनोभिलाष तथा गुणकथन अवस्था की सूचक है।

इस पूर्वराग (वियोग) की विभिन्न दशाओं को आचार्यों ने काम-दशा कहा है। पूर्वराग पहले तो रूप-गुण-प्रधान होने के कारण सामान्योन्मुख रहता है। हमें अमुक व्यक्ति-विशेष इसलिए प्रिय लगा कि उसमे वह रूप और वे गुण है जो हमें अत्यन्त प्रिय है। यहा हमारा अनुराग उस व्यक्ति के लिए नहीं, बल्कि उस रूप और उन गुणो के प्रति है। अत. हम इसे सामान्योन्मुख कहते हैं। पर यही पूर्वराग जब कुछ दिन तक बना रह जाता है तो प्रेम का रूप धारण कर लेता है। प्रेम-व्यक्ति-विशेष के प्रति होता है। अत. विशेषोन्मुख कहा जाता है। फिर उस पूर्वराग मे एक-निष्ठता आ जाती है। प्रेम हो जाने पर उस व्यक्ति के न मिलने से अनेक दुःख स्वभावतया भोगने पडते हैं। अतः पूर्वराग या प्रेमजन्य वियोग-दशा को काम-दशा कहना अधिक उपयुक्त नही समझ पड़ता। कामवेदना ऐसी वेदना है जो व्यक्ति विशेष के प्रति नही होती। वह एक प्रकार से समागम सुख का अभाव-मात्र है। सभवतः प्रिय और प्रेमी के मिलन के समय की दशा का साधारण सयोग-दशा से साम्य देख कर दोनो को वियोग-दशा मे भी समान मान लिया गया है।

---

१. उपासनामेत्य पितुः स्म रज्यते दिने दिने सावसरेषु वन्दिनाम्।
पठत्सु तेषु प्रतिभूपतीनलं विनिद्ररोमाजनि शृण्वती नलम्॥ नै० १।३४

२. कथाप्रसङ्गेषु मिथः सखीमुखात्तृणेऽपि तन्व्या नलनामनिश्रुते।
द्रुतं विधूयान्यदभूयतानया मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया॥ नै० १।३५

३. स्मरात्परासोरनिमेषलोचनाद्बिभेमि तद्भिन्नमुदाहरेति सा।
जनेन यूनः स्तुवता तदास्पदे निदर्शनं नैषधमभ्यषेचयत्॥ नै० १।३६

४. नलस्य पृष्टा निषधागता गुणान् मिषेणदूतद्विजबन्दिचारणाः।
निपीय तत्कीर्तिकथामथानया चिराय तस्थे विमनायमानया॥ नै० १।३७

५. प्रियं प्रियां च त्रिजगज्जयिश्रियौ लिखाधिलीलागृहभित्ति कावपि।
इति स्म सा कारुवरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते॥ नै० १।३८

हंस से मिलने के पूर्व दमयन्ती के राग की केवल 'चिन्ता', 'स्मृति', 'अभिलाष' तथा 'गुण-कथन' अवस्थाएं ही दिखायी पडती है। सतत चिन्ता के कारण उसे स्वप्न मे नल दिखायी पडते—उन्हे वह अपना पति बनाती।[1] नल के विषय मे वह सुनती, मोहवश उन्हे देखती तथा निरन्तर उनके ध्यान मे रहती।[2] अन्य दशाएं हंस के चले जाने के बाद दिखायी पडती हैं। हंस-दमयन्ती-संवाद 'अथ' से 'इति' तक उत्तम व्यञ्जनाओं से भरा पडा है। हंस जिस उपोद्घात के साथ दमयन्ती से वार्तालाप प्रारम्भ करता है उसे सुनकर कोई सुन्दरी, जिसने नल का नाम भी कभी नही सुना है, उनसे अनुराग करने लगती, फिर दमयन्ती तो पहले से ही नल मे अनुरक्त थी, हंस ने अपने आलाप-कौशल से यदि उस अनुराग को प्रगाढ प्रेम का रूप दे दिया तो इसमे कोई अस्वाभाविकता नही। हंस के द्वारा वह 'पूर्वराग', 'मञ्जिष्ठाराग' की दशा मे पहुच जाता है। अब नल-प्राप्ति के लिए सुन्दरी प्राणो की भी बाजी लगाने को तैयार है।[3] वह हंस को नल से अपने अनुराग के निवेदन करने का जो उचित अवसर तथा विधि बताती है वह उसकी अधीरता का ही व्यक्तीकरण है। प्रिय का समाचार देने वाला भी कितना प्रिय होता है इसका दर्शन दमयन्ती के कृतज्ञता-पूर्ण वाक्यों में देखा जा सकता है—"हे सौम्य, इस बालिका ने जो कुछ भी अनुचित किया हो उसे क्षमा करना। हंस होते हुए भी देवांश होने के कारण तुम उसी प्रकार वन्दनीय हो, जैसे श्रीवत्स से अङ्कित होकर मत्स्य की मूर्ति होती है।[4] मेरी आंखो को तुम्हे देख कर जो आनन्द मिला है उससे भी बढ कर किस सुख को तुम मुझे देना चाहते हो? अपनी सुधा-धारा से विश्व नेत्र को शीतल करने के सिवा चन्द्रमा

---

१. मनोरथेन स्वपतीकृतं नलं निशि क्व सा न स्वपती स्म पश्यति।
अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात्करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम्॥ नै० १।३९
निमीलितादक्षियुगाच्च निद्रया हृदोऽपि बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात्।
अदर्शि संगोप्य कदाप्यवीक्षितो रहस्यमस्याः स महन्महीपतिः॥ नै० १।४०

२. श्रुतः स दृष्टश्च हरित्सु मोहाद्ध्यातः स नीरन्ध्रितबुद्धिधारम्।
ममाद्य तत्प्राप्तिरसुव्ययो वा हस्ते तवास्ते द्वयमेकशेषः॥ नै० ३।८२

३. दत्वात्मजीवं त्वयि जीवदेपि शुध्यामि जीवाधिकदे तु केन।
विधेहि तन्मां त्वदृणान्यशोद्धममुद्रदारिद्र्यसमुद्रमग्नाम्।
क्रीणीष्व मज्जीवितमेव पण्यमन्यन्न चेदस्ति तदस्तु पुण्यम्।
जीवेशदातर्यदि ते न दातुं यशोऽपि तावत्प्रभवामि गातुम्॥ नै० ३।८६–८७

४. अनार्यमप्याचरितं कुमार्या भवान्मम क्षाम्यतु सौम्य! तावत्।
हंसोऽपि देवांशतयासि वन्द्यः श्रीवत्सलक्ष्मेव हि मत्स्यमूर्तिः॥ नै० ३।५७

करता ही क्या है?"[१] अन्त मे हस के चल देने पर दमयन्ती का उसे निर्निमेष अश्रु-विप्लुत नेत्रों से देखना भी स्नेह की ही सूचना देता है।

जब इसका निश्चित पता चल गया कि अपना प्रिय भी उसी भाति प्रेम मे अधीर है तो उसके प्रति अपना प्रेम कितना और गाढा होगा इसका अनुमान सहज मे लगाया जा सकता है। हस दमयन्ती को प्रेम की ऐसी माधवी पिला जाता है जिसका नशा दिन-प्रतिदिन बढता ही जाता है।[२] वह प्रिय के विषय मे जितना ही सुनती, उसका 'ताप' उतना ही और बढ़ता जाता है। 'ताप' के लक्षण उसके कोमल शरीर मे ही देखे जा सकते है।[३] चिन्ता की प्रबलता के कारण[४] चिन्ता की अधिकता ही जडता हो जाती है।[५] आखों मे निरन्तर अश्रुधार,[६] दीर्घ उष्णनि श्वास,[७] उन्मादवश सर्वत्र नल-रूप का दिखायी पड़ना[८] शरीर-व्याधि का बढना,[९] आदि स्मरदशाएं

१. मत्प्रीतिमाधित्ससि कां त्वदीक्षामुदं मदक्ष्णोरपि यातिशेताम्।
निजामृतैर्लोचनसेचनाद्वा पृथक्किमिन्दुः सृजति प्रजानाम्॥ नै० ३।५८

२. अथ नलस्य गुणं गुणमात्मभूः सुरभि तस्य यशः कुसुमं धनुः।
श्रुतिपथोपगतं सुमनस्तया तमिषुमाशु विधाय जिगाय ताम्॥ नै० ४।१
यदतनुज्वरभाक्तनुते स्म सा प्रियकथासरसीरसमज्जनम्॥ नै० ४।२

३. कुसुमचापजतापसमाकुलं कमलकोमलमैक्ष्यत तन्मुखम्।
अहरहर्वहदभ्यधिकाधिकां रविरुचिग्लपितस्य विधोर्विधाम्॥ नै० ४।६ इत्यादि

४. मनसि सन्तमिव प्रियमीक्षितुं नयनयोः स्पृहयान्तरुपेतयोः।
ग्रहणशक्तिरभूदिदमीययोरपि न सम्मुखवास्तुनि वस्तुनि॥ नै० ४।१२

५. अतितमां समपादि जडाशयं स्मितलवस्मरणेऽपि तदाननम्।
अजनि पङ्गुरपाङ्गनिजाङ्गणभ्रमिकणेऽपि तदीक्षणखञ्जनः॥ नै० ४।४

६. हृदि दमस्वसुरश्रुझरप्लुते प्रतिफलद्विरहात्तमुखानतेः।
हृदयभाजमराजत चुम्बितुं नलमुपेत्य किलागमि तन्मुखम्॥ नै० ४।१३

७. सुहृदमग्निमुदञ्चयितुं स्मरं मनसि गन्धवहेन मृगीदृशः।
अकलि निःश्वसितेन विनिर्गमानुमितनिह्नुतवेशनमायिता॥ नै० ४।१४

८. विरहपाण्डिमरागतमोमषीशितिमतन्निजपीतिमवर्णकैः।
दश दिशः खलु तद्दृगकल्पयल्लिपिकरी नलरूपकचित्रिताः॥ नै० ४।१५

९. करपदाननलोचननामभिः शतदलैः सुतनोर्विरहज्वरे।
रविमहो बहु पीतचरं चिरादनिशतापमिषादुदसज्यत॥ नै० ४।१७
हृदयदत्तसरोरुहया तया क्व सदृगस्तु वियोगनिमग्नया।
प्रियधनुः परिरभ्य हृदा रतिः किमनुमर्तुमशेत चितार्चिषि॥ नै० ४।२१

स्वाभाविक ही लगती है। सुन्दरी की विवशता-पूर्ण करुण दशा का एक अत्यन्त सुन्दर चित्र देते हुए श्रीहर्ष कहते हैं—"दमयन्ती को कामदेव के बाण-रूपी पन्नगों ने डसा था, जिससे वियोगरूपी विष फैल कर उसे विह्वल कर रहा था। सुन्दरी की दशा सूर्य की किरणों से पीडित चन्द्रकला की-सी हो रही थी। उसे देख कर किसका करुणार्णव न उमड पड़ता।[1] चन्द्रोपालम्भ[2] तथा मदनोपालम्भ[3] 'प्रलाप' के ही उदाहरण कहे जा सकते हैं। यद्यपि इन उक्तियो मे कही-कही केवल कवि-प्रौढोक्ति-मात्र देखने को मिलती है, हृदय के कोमल भावो का कोई योग नही, किन्तु अधिक उक्तिया प्रेम-व्यथित हृदय की ही समझ पड़ती है। अर्द्ध-समस्या के रूप मे अन्तरङ्ग सखियों के साथ विनोद-वृत्ति के मूल मे भी वही रति भावना काम कर रही है। सखियों से बात करते-करते दमयन्ती का मूर्च्छित होना[4] अत्यन्त स्वाभाविक जँचता है। एक तो पहले की दुर्बलता, फिर सखी की निराशा की बाते—अब मूर्च्छा न होगी तो और क्या होगा?

नल-दमयन्ती के पूर्व-राग मे सर्वत्र तुल्यानुराग दिखाया गया है। नल ने भी लोगो से ही दमयन्ती के रूप-गुण की प्रशसा सुनी।[5] एक अविवाहित, विजयी, प्रतापी, युवा राजा के हृदय मे किसी अपूर्व सौन्दर्यवाली राजकुमारी के प्रति अनुराग उत्पन्न होना न अनुचित है न अस्वाभाविक। नल को शीघ्र अधीरता, उद्वेग, निद्रानाश आदि[6] दशाओं का अनुभव होने लगता है। पुरुष की यह बेचैनी स्वाभाविक ही है। उद्वेग और प्रलाप भी बढ जाता है।[7] उपवन-विहार से मदन-व्यथा और बढ जाती है। हंस के सम्मुख नल अपनी सारी कदर्थना अत्यन्त भोले शब्दो मे

---

१. इयमनङ्गशरावलिपन्नगक्षतविसारिवियोगविषावशा ।
शशिकलेव खरांशुकरार्दिता करुणनीरनिधौ निदधौ न कम्॥ नै० ४।३३

२. नै० ४।४७–७३

३. नै० ४।७४–९९

४. इदमुदीर्य तदैव मुमूर्च्छ सा मनसि मूर्च्छितमन्मथपावका।
क्व सहतामवलम्बलवच्छिदामनुपपत्तिमतीमतिदुःखिता॥ नै० ४।११०

५. स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः श्रयन्तमन्तर्घटनागुणश्रियम्।
कदाचिदस्या युवधैर्यलोपिनं नलोऽपि लोकादश्रृणोद्‌गुणोत्करम्॥ नै० १।४२

६. अपह्नवानस्य जनाय यन्निजामधीरतामस्य कृतं मनोभुवा।
अबोधितज्जागरदुःखसाक्षिणी निशा च शय्या च शशाङ्ककोमला॥ नै० १।४९

७. शशाक निह्नोतुमयेन तत्प्रियामयं बभाषे यदलीकवीक्षिताम्।
समाज एवालपितासु वैणिकैर्मुमूर्च्छयत्पञ्च मूर्छनासु च॥ नै० १।५२

कहृ डालते हैं।[१] हृस दमयन्ती के सम्मुख नल का मदन-ताप भी उतना ही अधिमात्र बताता है जितना दमयन्ती का है।[२] दमयन्ती के प्रेम में नल की एक-निष्ठता की व्यञ्जना हृस किस प्रकार करता है—"नल का चित्त तुममे इस प्रकार लीन है कि उनकी सारी वाह्येन्द्रिया अपने विषयो का भी ग्रहण नही कर सकतीं, मानो उन्होने उपवास का व्रत ले रक्खा है। अब तुम्हे पाकर उन्हे अमृतपान का सुख मिलेगा।" राजा देवाश हैं ही, इस अमृतपान से उसका देवाशत्व भी चरितार्थ हो जायगा।"[३] हृस पूर्ण वक्रोक्ति के साथ नल के चक्षू-राग,[४] विषय-निवृत्ति,[५] नि.श्वास,[६] संकल्प,[७] निद्रानाश,[८] त्रपानाश,[९]

---

१. शतशः श्रुतिमागतैव सा त्रिजगन्मोहमहौषधिर्मम।
अमुना तव शंसितेन तु स्वदृशैवाधिगतामवैमि ताम्॥ नै० २।५४ इत्यादि

२. इदं यदि क्ष्मापतिपुत्रि! तत्त्वं पश्यामि तन्न स्वविधेयमस्मिन्।
त्वामुच्चकैस्तापयता नृपं च पञ्चेषुणैवाजनि योजनेयम्॥ नै० ३।१००

३. त्वद्बद्धबुद्धेर्बहिरिन्द्रियाणां तस्योपवासव्रतिनां तपोभिः।
त्वामद्य लब्ध्वामृततृप्तिभाजां स्वदेवभूयं चरितार्थमस्तु॥ नै० ३।१०१

४. लिपि दृशा भित्तिविभूषणं त्वां नृपःपिबन्नादरनिर्निमेषः।
चक्षुर्भ्रैरर्पितमात्मचक्षूरागं स धत्ते रचितं त्वया नु॥ नै० ३।१०३
पातुर्दृशालेख्यमयीं नृपस्य त्वामादरादस्तनिमीलयास्ते।
ममेदमित्यश्रुणि नेत्रवृत्तेः प्रीतेर्निमेषच्छिदया विवादः॥ नै० ३।१०४

५. त्वं हृद्गता भैमि! बहिर्गतापि प्राणायिता नासिकयास्यगत्या।
न चित्रमाक्रामति तत्र चित्रमेतन्मनो यद्भवदेकवृत्ति॥ नै० ३।१०५

६. अजस्रमारोहसि दूरदीर्घा संकल्पसोपानतर्ति तदीयाम्।
श्वासान्स वर्षत्यधिकं पुनर्यद्ध्यानात्तव त्वन्मयतां तदाप्य॥ नै० ३।१०६

७. हृत्तस्य यन्मन्त्रयते रहस्त्वां तद्व्यक्तमामन्त्रयते मुखं यत्।
तद्वैरिपुष्पायुधमित्रचन्द्रसख्यौचिती सा खलु तन्मुखस्य॥ नै० ३।१०७

८. स्थितस्य रात्रावधिशय्य शय्यां मोहे मनस्तस्य निमज्जयन्ती।
आलिङ्ग्य या चुम्बति लोचने सा निद्राधुना न त्वदृतेऽङ्गना वा॥ नै० ३।१०८

९. त्वत्प्रापकात्त्रस्यति नैनसोऽपि त्वय्येव दास्येपि न लज्जते यत्।
स्मरेण बाणैरतितक्ष्य तीक्ष्णैर्लूनः स्वभावोऽपि कियान् किमस्य॥ नै० ३।११०
स्मारं ज्वरं घोरमपत्रपिष्णोःसिद्धागदङ्कारचये चिकित्सौ।
निदानमौनादविशद्विशाला साङ्क्रमिको तस्य रुजेव लज्जा॥ नै० ३।१११

उन्माद[1] तथा मूर्छा[2] दशाओं का चित्रण करता है। ऐसा प्रतीत होता है मानों श्रीहर्ष साहित्य-मीमांसा का कोई ग्रन्थ सामने रख कर यह वर्णन और तदुनसार वियोगावस्था की सभी दशाओं का क्रमिक चित्रण कर रहे हों, यहा तक कि अन्त मे दसवी अवस्था का भी उल्लेख कर देते हैं। रस-विच्छेद के भय से कविगण मरण का वर्णन नही करते। पर श्रीहर्ष ने उसे भी याद कर ही लिया, यद्यपि उसे आकाश-कुसुम ही रक्खा।

हंस के दमयन्ती के पास से लौटने पर नल के स्वरूप की जो एक झाकी दी गयी है, उसी से उनके अनुराग की अधीरता का पता चलता है। नल अपने आप से कह रहे थे—"प्रिये दमयन्ती, मैं तुम्हे कुछ नही कह सकता हू, क्योंकि तुम स्वय पराधीन हो। हंस, शीघ्र आओ, बोलो, उसने मुझे क्या (संदेसा) कहला भेजा है?"[3] और जब हंस ने सन्देश सुना दिया तो—"एक बार कही बात को कई बार कहलवाते और प्रगाढ आनन्द की मदिरा से मत्त हो, सुनी बात को, स्वयं भी, सैकड़ो बार, उसी भांति, दुहराते।"[4] किम्-किम्! इस द्विरुक्ति मे उत्कंठा का सुन्दर स्वरूप छिपा है।

नैषध मे वर्णित प्रेम समाज के आदर्श-भूत नायक-नायिका का होने के कारण अत्यन्त मर्यादित है। प्राप्ति का प्रयत्न नायिका की ओर से अधिक है। नायक की ओर से केवल हंस को भेजने के अतिरिक्त कुछ भी नही। इससे एक तो दमयन्ती के सतीत्व की परीक्षा हो जाती है, दूसरे नल-चरित्र की गम्भीरता तथा उदात्तता प्रतिष्ठित हो जाती है।

स्वयंवर मे पाच नलो के सम्मुख पहुचने पर दमयन्ती के उद्विग्नता,[5]

---

१. बिभेति रुष्टासि किलेत्यकस्मात्स त्वां किलापेति हसत्यकाण्डे।
यान्तीमिव त्वामनु यात्य हेतोरुक्तस्त्वयेव प्रतिवक्ति मोघम्॥ नै० ३।११२

२. भवद्वियोगाच्छिदुरार्तिधारायमस्वसुर्मज्जति निःशरण्यः।
मूर्च्छामयद्वीपमहान्ध्यपङ्के हा हा महीभृद्भट-कुञ्जरोऽयम्॥ नै० ३।११३

३. परवति दमयन्ति! त्वां न किंचिद्वदामि द्रुतमुपनम किं मामाह सा शंस हंस॥
नै० ३।१३४

४. कथितमपि नरेन्द्रः शंसयामास हंसं किमिति किमिति पृच्छन् भाषितं स प्रियायाः।
अधिगतमथ सान्द्रानन्दमाध्वीकमत्तः स्वयमपि शतकृत्वस्तत्तथान्वाचचक्षे॥
नै० ३।१२५

५. इन्द्राग्निदक्षिणदिगीश्वरपाशिभिस्तां वाचं नले तरलिताथ समां प्रमाय।
सा सिन्धुवेणिरिव वाडववीतिहोत्रं लावण्यभूः कमपि भीमसुताप तापम्॥
नै० १३।३५

मे, उस सकेत को न समझने का अभिनय करती है। अब मुग्धा के सामने वडी विकट समस्या आनी है। 'नल' शब्द का स्पष्ट उच्चारण करना पडेगा—क्योकि वामा सखी सरस्वती खुराफ़ात पर उतारू हो गयी है। मुग्धा बडी कठिनाई से 'न' तो कह लेती है फिर 'ल' कहने के पूर्व ही लज्जा उसे इस प्रकार पी जाती है कि वह 'ल' कह ही नही सकती। तब अपनी अगुलियो से सरस्वती की अगुलियो को दबाती हुई सिर नीचे झुका लेती है।[1] लज्जा द्वारा पी लिया जाना, अगुली से सखी की अगुलियों को दवाना, साथ ही सिर झुकाना आदि से बढ कर लज्जा भाव की व्यञ्जना का और उत्कृष्ट रूप क्या हो सकता है? उपहास मे ही जब सरस्वती उसका हाथ पकडकर महेन्द्र की ओर ले जाती है, उस समय दमयन्ती जिस प्रकार उनसे अपना हाथ छुड़ाती है[2] उसमे प्रेम के सहचारी 'भय' तथा 'सम्भ्रम' की सुन्दर व्यञ्जना है। वरमाला पड जाने के बाद प्रेम की पक्की रजिस्ट्री हो गयी, अत सात्त्विक भावों का उदय अत्यन्त स्वाभाविक लगता है। रोमाञ्च का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं—"उस समय दमयन्ती का सारा शरीर पुलकित हो रहा था, मानो उसके समस्त रोम, बाल (बार अथवा शिशु) होने के कारण वर की शोभा को देखने के लिए उत्सुक हो अपनी गर्दन उठाए हुए थे।[3] वरमाला पहनाते समय के परस्पर के स्पर्श से दोनो को स्तम्भ हो आया।[4] नल के स्वेद,[5] वेपथु,[6] तथा हर्ष से आखों के छलकने[7] (अश्रु) का भी सुन्दर चित्रण हुआ है। पाणिग्रहण विधि के समय भी दोनों को स्वेद,

---

१. देव्याः श्रुतो नेति नलार्धनाम्नि गृहीत एव त्रपया निपीता।
अथाङ्गुलीरङ्गुलिभिर्मृशन्ती दूरं शिरः सा नमयाञ्चकार॥ नै० १४।३२

२. विहस्य हस्तेऽथ विकृष्य देवी नेतुं प्रयाताऽभि महेन्द्रमेताम्।
भ्रमादियं दत्तमिवाहिदेहे ततश्चमत्कृत्य करं चकर्ष॥ नै० १४।३४

३. रोमाणि सर्वाण्यपि बालभावाद्वरश्रियं वीक्षितुमुत्सुकानि।
तस्यास्तदा कण्टकिताङ्गयष्टेरुद्ग्रीविकादानमिवान्वभूवन्॥ नै० १४।५३

४. चेष्टा व्यनेशन्नखिलास्तदास्याः स्मरेषु वातैरिव ता विधूताः।
अभ्यर्थ्य नीतः कलिना मुहूर्तं लाभाय तस्या बहु चेष्टितुं वा॥ नै० १४।५५

५. तन्न्यस्तमाल्यस्पृशि यन्नलस्य स्वेदं करे पञ्चशरश्चकार।
भविष्यदुद्वाहमहोत्सवस्य हस्तोदकं तज्जनयाम्बभूव॥ नै० १४।५६

६. तूलेन तस्यास्तुलना मृदोस्तत्कम्प्राऽस्तु सा मन्मथबाणवातैः।
चित्रीयितं तत्तु नलो यदुच्चैरभूत्स भूभृत्पृथुवेपथुस्तैः॥ नै० १४।५७

७. दृशोरपि न्यस्तमिवास्तराज्ञां रागाद् दृगम्बुप्रतिबिम्बि माल्यम्।
नृपस्य तत्पीतवतोरिवाक्ष्णोः प्रालम्ब्यमालम्बनयुक्तमन्तः॥ नै० १४।५८

रोमाञ्च, स्तम्भ[1] तथा दमयन्ती को रथ पर चढाते हुए भी दोनो को रोमाञ्च का अनुभव हुआ।[2]

दमयन्ती का वर्णन सर्वप्रथम एक मुग्धा के रूप मे किया जाता है। रतिक्रीडा के समय प्रथम मिलन मे मुग्धा दमयन्ती की लज्जा का कारण कुछ बीती घटनाएं है। दूत-रूप मे आए हुए नल के सम्मुख जो उसने मुह खोल कर बाते की थी, उस धृष्टता को सोच कर अब वह समझ ही नही पाती थी कि क्या करू।[3] स्वयंवर-सभा मे जो उसने लाज छोड कर स्वय नल को वरमाला पहनायी, अपनी उस चञ्चलता को सोच कर तो दमयन्ती नल की ओर ताक भी नही सकती थी।[4] इस श्लोक मे 'सदसि', 'स्वय' तथा 'विलोकितु' में कितनी उत्तम व्यञ्जना है। किवाड के पास चित्र-लिखित-सी खडी रहना, प्रिय के लाख बुलाने को न सुनना,[5] प्रिय के पास न आना, किसी तरह से लाई जाने पर, बिस्तर पर न बैठना, आदि[6] मे मुग्धा की लज्जा का ही चित्रण होता है। नल के सम्मुख वह अभी मुह खोल कर हस भी नही सकती है। उनकी हसी की बातों को सुन कर केवल मुस्करा भर देती है।[7] (इस 'स्मित' मे उद्दीपन कितना है इसे सहृदय स्वय समझ सकते हैं) मुग्धा के द्वैधभाव का एक सुन्दर चित्र श्रीहर्ष देते हैं—"मदन-वश सुन्दरी प्रिय को देखे

---

१. अपह्नुतः स्वेदभरः करे तयोस्त्रपाजुषोर्दानजलैर्मिलन्मुहुः।
दृशोरपि प्रस्तुतमत्रुसात्त्विकं घनैः समावीयत धूमलङ्घनैः॥
नै०।१६।४२ इत्यादि

२. इति स्मरः शीघ्रमतिश्चकारतं वधूं च रोमाञ्चभरेण कर्कशौ।
स्खलिष्यति स्निग्धतनुः प्रियादियं म्रदीयसी पीडनभीरु दीर्घुगात्॥ नै०१६।११५

३. दूत्यसङ्गतिगतं यदात्मनः प्रागशिश्रवदियं प्रियं गिरः।
तं विचिंत्य विनयव्ययं ह्रिया न स्म वेद करवाणि कीदृशम्॥ नै० १८।३१

४. यत्तया सदसि नैषधः स्वयं प्राग्वृतः सपदि वीतलज्जया।
तन्निजं मनसिकृत्य चापलं सा शशाक न विलोकितुं नलम्॥ नै० १८।३२

५. ह्रीसरिन्निजनिमज्जनोचितं मौलिदूरनमनं दधानया।
द्वारि चित्रयुवतिश्रियातया भर्तृहूतिशतमश्रुतीकृतम्॥ नै० १८।३४

६. वेश्म पत्युरविशन्न साध्वसाद्वेशितापि शयनं न साऽभजत्।
भाजितापि सविधं न सास्वपत् स्वापितापि न च सम्मुखाभवत्॥ नै० १८।३५

७. सिष्मिये हसति न स्म तेन सा प्रीणितापि परिहासभाषणैः।
स्वे हि दर्शयति ते परेण कानर्घ्यदन्तकुरुविन्दमालिके॥ नै० १८।४९

बिना रह नहीं सकती थी, किन्तु लज्जा उसे देखने नही देती थी। प्रिय की ओर आंखें चलती पर लज्जावश आधे रास्ते से ही लौट आती।[1]

कवियों ने शृङ्गार की संयोगावस्था मे स्त्रियों के 'शरीरज' (भाव, हाव, आदि) अयत्नज (शोभा, कान्ति आदि) तथा 'स्वभावज' (लीला, विलास आदि) अलङ्कारो का वर्णन किया है।[2] नैषध मे भी रतिक्रीडा के समय दमयन्ती के अनेक सत्त्वज अलङ्कारों का वर्णन हुआ है। धीरे-धीरे दमयन्ती का मुग्धात्व चला जाता है, और उसके स्थान पर प्रगल्भता आती है।[3] रति मे नायक-नायिका के बीच परिहास स्वाभाविक लगता है। इसका एक उदाहरण पर्याप्त होगा—"नल के ओठो पर नेत्र-चुम्बन के कारण पडी हुई कज्जल-रेखा को देखकर दमयन्ती की मुस्कान रोके न रुकती, और नल के पूछने पर वह उनके हाथ मे दर्पण दे देती।[4] नल-दमयन्ती का स्नेह इतना प्रगाढ हो जाता है कि क्षण भर का भी वियोग (नल के सन्ध्योपासना के निमित्त थोड़ी देर के लिए बाहर जाने मे) दमयन्ती को सह्य नही।[5]

शृङ्गार-प्रसङ्ग मे सखियों के साथ नायक-नायिका का परिहास भी प्रायः सस्कृत (दृश्य, श्रव्य) काव्यो मे देखने को मिलता है। उसमे नायक-नायिका का विनोद होता ही है, साथ ही वह प्रकरण शृङ्गार का उद्दीपन भी बनता है। नैषध मे एक पूरे (बीसवे) सर्ग मे नल-दमयन्ती का सखियो के साथ हास-परिहास होता है। सम्भवतः संयोग शृङ्गार के इसी अश की पूर्ति के लिए बीसवें सर्ग की रचना हुई है। सखी-परिहास के बहाने कवि ने रति-रहस्यो का भी उद्घाटन कर दिया है। सखियो के

---

१. नाविलोक्य नलमासितुं स्मरो ह्रीर्न वीक्षितुमदत्त सुभ्रुवः।
तद्दृशः पतिदिशाचलन्नथ व्रीडिताः समकुचन्मुहुः पथः ॥ नै० १८।५३

२. दशरूपक २।३०-३३

३. चुम्बितं न मुखमाचकर्ष यत्पत्युरन्तरमृतं ववर्ज तत्।
सा नुनोद न भुजं तदर्पितं येन तस्य किमभून्न तर्पितम्॥ नै० १८।७० इत्यादि

४. वीक्ष्य पत्युरधरं कृशोदरी बन्धुजीवमिव भृङ्गसंगतम्।
मञ्जुलं नयनकज्जलैर्निजैः संवरीतुमशकत्स्मितं न सा॥ नै० १८।१२५
तां विलोक्य विमुखश्रितस्मितां पृच्छतो हसितहेतुमीशितुः।
ह्रीमती व्यतरदुत्तरं वधूः पाणिपङ्करुहि दर्पणार्पणम्॥ नै० १८।१२६

५. क्षणविच्छेदकादेव विघ्नैर्मुग्धे! विरज्यसि॥ नै० २०।८

हट जाने के बाद एक बार पुनः एकान्त मे उनके स्वेद,[१] वेपथु,[२] स्तम्भ,[३] गद्गद, आदि का प्रदर्शन होता है। काल तथा प्रसग भिन्न होने के कारण इन भावो का कई बार वर्णन भी जी-उबाने वाला नही होता। नैषध के अन्त मे एकान्त, निशा, चन्द्रिका, आदि उद्दीपनो की योजना कर के श्रीहर्ष रति भाव की व्यञ्जना के लिए सारी भूमिका तैयार कर देते है।

शृङ्गार-रसाभास

नल-दमयन्ती का परस्पर रति-भाव तो साङ्गोपाङ्ग शृङ्गार रस मे निष्पन्न हुआ, किन्तु दमयन्ती के प्रति जो इन्द्रादि देवो की तथा स्वयंवर मे आए राजाओं की भी रति वर्णित है, वह 'अनुभयनिष्ठ' (तथा प्रतिनायकनिष्ठ भी) होने के कारण रसाभास ही कही जायगी। उसी प्रकार पुराङ्गनाओ का नल के प्रति रति-भाव भी भावाभास है। प्रथम सर्ग मे हंस की रतिक्रीडा में[५] तथा लता और पवन की क्रीणाओ मे[६] शृङ्गार-रसाभास ही है।

देव-विषयक भक्ति भी रति-भाव ही है। नैषध मे दमयन्ती द्वारा स्वयवर[७] में श्रद्धापूर्ण हो देवो को उनका नाम ले लेकर प्रणाम करना आदि मे तथा नल द्वारा

---

१. लीन-चीनांशुकं स्वेदि दरालोक्यं विलोकयन्।
तन्नितम्बं स निःश्वस्य निनिन्द दिनदीर्घताम्॥ नै० २०।१४९

२. न्यवारीव यथाशक्ति स्पन्दं मन्दं वितन्वता।
भैमीकुचनितम्बेन नलसम्भोगलोभिना॥ नै० २०।१५४

३. अपिश्रोणिभरस्वैरां धर्तुं तामशकन्न सः।
तदङ्गसंगजस्तम्भो गजस्तम्भो रुद्रोरपि॥ नै० २०।१५५

४. आलिङ्ग्यालिङ्ग्य तन्वङ्गि मामित्यर्धगिरं प्रियम्।
स्मित्वा निवृत्य पश्यन्ती द्वारपारमगादसौ॥ नै० २०।१५६

५. प्रियासु बालासु रतक्षमासु च द्विपत्रितं पल्लवितं च बिभ्रतम्।
स्मरार्जितं रागमहीरुहाङ्कुरं मिषेण चञ्च्वोश्चरणद्वयस्य च॥ नै० १।११८

६. पुरा हठाक्षिप्ततुषारपाण्डुरच्छदा वृतेर्वीरुधि बद्धविभ्रमाः।
मिलन्निमीलं ससृजुर्विलोकिता नभस्वतस्तं कुसुमेषु केलयः॥ नै० १।९७

७ श्रद्धामयीभूय सुपर्वणस्तान्ननाम नामग्रहणाग्रकं सा।
सुरेषु हि श्रद्धवतां नमस्या सर्वार्थसिध्यङ्गमिथः समस्याः॥ नै० १४।३ इत्यादि

पूजा-सहित देव-प्रार्थना (इक्कीसवें सर्ग)[1] मे रति-भाव ही है। ऐसे रति-भाव को आचार्यों ने भाव ही माना है।

पातिव्रत्य

नैषध मे पातिव्रत्य की बडी विशद व्यञ्जना हुई है। पातिव्रत्य भी प्रेम ही है—पूज्यत्व-भावना-मिश्रित दाम्पत्य-प्रेम। उसमे प्रिय के प्रति रति के साथ पूज्य होने की भावना भी रहती है। वह पूज्य-भाव धर्मानुप्राणित रहता है, वह प्रिय की महत्ता के सामने किसी को नही मानता। प्रिय की महत्ता मे अपनी आत्मीयता निहित होने से उसमे गर्व भी रहता है। हंस के साथ इन्द्र आदि दिक्पालों की दूतियो के साथ, तथा दूत रूप मे पहुंचे हुए नल तक के साथ, दमयन्ती का जो सवाद है उसमे पातिव्रत्य की उच्चकोटि की व्यञ्जना हुई है। हस के संदेह करने पर कि—"पिता की आज्ञा से अथवा स्वेच्छा से ही यदि कहीं तुमने किसी दूसरे तरुण को वर लिया तो तुम्हारे लिए याचना करने वाले मेरे विषय मे निषधेश्वर का क्या विश्वास रह जायगा?"[2] दमयन्ती किस दृढता के साथ अपने प्रेम की एकनिष्ठा का परिचय देती है।[3] जन्मान्तर में विश्वास होने के कारण हिन्दू-ललना के प्रेम मे सतीत्व की ज्योति और भी जगमगा उठती है। उसे तो अपने प्रिय के चरणो का दासीत्व-मात्र चाहिए। इससे बड़े किसी और पद से उसका कोई प्रयोजन नही।[4] वह अनर्घ्य चिन्तामणि भी नही चाहती, उसके लिए सबसे बडी निधि उसका प्रिय है जो उसकी आँखो में तीनो लोको से सुन्दरतम है।[5] अब या तो प्रिय मिलेगा या ये प्राण ही चले

---

१. दूरतः स्तुतिरवाग्विषयस्ते रूपमस्मदभिदा तव निन्दा।
तत्क्षमस्व यदहंप्रलपामीत्युक्तिपूर्वमयमेतदवोचत्॥ नै० २१।५२
नो ददासि यदि तत्त्वधियं मे यच्छ मोहमपि तं रघुवीर।
येन रावणचमूर्युधि मूढा त्वन्मयं जगदपश्यदशेषम्॥ नै० २१।७१ इत्यादि

२. पितुर्नियोगेन निजेच्छया वा युवानमन्यं यदि वा वृणीषे।
त्वदर्थमर्थित्वकृति प्रतीतिः कीदृङ्‌ मयि स्यान्निषधेश्वरस्य॥ नै० ३।७२

३. मदन्यदानं प्रति कल्पना या वेदस्त्वदीये हृदि तावदेषा।
निशोऽपि सोमेतरकान्तशङ्कामोङ्कारमग्रेसरमस्य कुर्याः॥ नै० ३।७५

४. तदेकदासीत्वपदादुदग्रे मदीप्सिते साधु विधित्सुता ते।
अहेलिना किं नलिनी विधत्ते सुधाकरेणापि सुधाकरेण॥ नै० ३।८०

५. तदेकलुब्धे हृदि मेऽस्ति लब्धुं चिन्ता न चिन्तामणिमप्यनर्घ्यम्।
चित्ते ममैकः सकलत्रिलोकी सारो निधिः पद्ममुखः स एव॥ नै० ३।८१

जायेंगे।[1] साथ ही प्रिय की प्राप्ति कराने वाले के प्रति उसके हृदय में कितना सम्मान, कितनी कृतज्ञता है। "जीवनदाता तुमसे मैं अपने प्राणों को देकर शुद्ध हो सकती हूं—पर प्राणाधिक को देने वाले तुमसे किस प्रकार अनृण होऊंगी। अतः तुम मुझे इस प्रकार अपार दारिद्रय-समुद्र में डुबाओ कि मैं तुम्हारे ऋणों से कभी मुक्त न हो सकूँ।[2] (प्रिय को मूल्य रूप में दे कर) तुम मेरे जीवन को ही विक्रेय वस्तु के रूप में ले लो और कुछ नहीं तो पुण्य ही सही। मेरे जीवेश-दाता, यदि मैं तुम्हें कुछ दे नहीं सकती, तो तुम्हारा यश तो गा ही सकती हूं।"[3] फिर इन्द्र-दूती के प्रबल प्रलोभन[4] सुन कर भी किस युक्ति के साथ उत्तर देती है—"मैं उन्हीं (इन्द्र) की पति रूप में सुश्रूषा करना चाहती हूँ। मुझे उन्हीं से भोग-सुख मिलेगा, उन्हीं से मेरे पातिव्रत्य का वैभव भी बढ़ेगा। हा, इतनी विशेषता अवश्य होगी कि वे देव-रूप में नहीं होंगे अपितु नृप-रूप में उन्हीं (देव) के एक अंश होंगे।"[5] स्वराज्य को किस अवहेलना-पूर्ण गर्व के साथ (भू-राज्य से ही नहीं) भू-वास से भी तुच्छ बताती है,[6] फिर अपनी नल-वरण की रुचि का किस प्रकार समर्थन करती है?[7] अन्त में किंचित् रोष के साथ इन्द्र-दूती को शपथ देकर इन्द्र के विषय में आगे कुछ भी बोलने से मना कर देती है।[8]

---

१. ममाद्य तत्प्राप्तिरसुव्ययो वा हस्ते तवास्ते द्वयमेक शेषः॥ नै० ३।८२

२. दत्वात्मजीवं त्वयि जीवदेऽपि शुध्यामि जीवाधिकदे तु केन।
विधेहि तन्मां त्वदृणान्यशोद्धुमनुद्रदारिद्र्यसमुद्रमग्नाम्॥ नै० ३।८६

३. क्रीणीष्व मज्जीवितमेव पण्यमन्यन्न चेदस्ति तदस्तु पुण्यम्।
जीवेशदातर्यदि ते न दातुं यशोऽपि तावत्प्रभवामि गातुम्॥ नै० ३।८७

४. मन्दाकिनीनन्दयोर्विहारे देवे धवे देवरि माधवे च।
श्रेयः श्रियां यातरि यच्च सख्यां तच्चेतसा भाविनि भावयस्व॥ नै० ६।८३

५. शुश्रूषिताहे तदहं तमेव पतिं मुदेऽपि व्रतसम्पदेऽपि।
विशेषलेशोऽयमदेवदेहमंशागतं तु क्षितिभृत्तयेह॥ नै० ६।९४

६. स्वर्गे सतां शर्म परं न धर्मा भवन्ति भूमाविह तच्च ते च।
शक्या मखेनापि मुदोऽमराणां कथं विहायत्रयमेकमीहे॥ नै० ६।९८ इत्यादि

७. क्रमेलकं निन्दति कोमलेच्छुः क्रमेलकः कण्टकलम्पटस्तम्।
प्रीतौ तयोरिष्टभुजोः समायां मध्यस्थता नैकतरोपहासः॥ नै० ६।१०४ इत्यादि

८. भूयोऽर्थनेनं यदि मां त्वमात्थ तदा पदावालभसे मघोनः।
सतीव्रतैस्तीव्रमिमं तु मन्तुमन्तर्वरं वज्रिणि मार्जितास्मि॥ नै० ६।११०

अन्त में दूत-रूप नल के सम्मुख तो दमयन्ती के पातिव्रत्य की अग्नि-परीक्षा ही हो जाती है। नल से इन्द्र-विषयक प्रस्ताव को सुनकर पहले तो देवों को इस अभिलाषा के लिए ही मीठे व्यङ्ग्य के साथ तुच्छ बताती है—"देवो की यह वाणी मुझ मनुष्य के प्रति कृपा के साथ भी कैसे निकल पड़ी? अथवा प्रभु लोग सहज भक्ति से नम्र व्यक्ति के प्रति भला किन शब्दो से अपना हर्ष नही प्रकट करते।"[1] भला सुराङ्गनाओं के सङ्गम से सुशोभित महेन्द्र की मेरे द्वारा की गयी प्रबल विडम्बना कैसे उचित है? हंसावलियो से सुशोभित सरोवर की बकपङ्क्ति से होने वाली विडम्बना कैसी लगेगी?[2] "देवाङ्गनाओ के समक्ष बताओ मानवी की क्या सत्ता? हाँ, जहाँ वे देवियाँ नही है, वहाँ मानवी अवश्य सुशोभित हो सकती है। दरिद्र की पत्नी के स्वर्णाभूषणरहित अङ्गों की क्या पीतल के गहनो से शोभा नही होगी?"[3] फिर नल के चरणों मे अपने चित्त को समर्पित कर देने के कारण वह देवो के विषय में कुछ सोचती हुई भी पातिव्रत्य के भङ्ग होने से डरती है[4]। अपनी प्रतिज्ञा सुनाकर अपने प्रेम की दृढता का परिचय देती है।[5] उसे अपने प्रिय के अप्रतिम सौन्दर्य पर गर्व है। अच्छा होता यदि दूत भी उसके प्रिय के सौन्दर्य को देख लेता।[6] उसकी विवशता मे उसकी दृढ-निष्ठा का मनोरम प्रदर्शन होता है।[7] और अन्त मे घोर निराशा के अन्धकार में दमयन्ती के उन्मुक्त रोदन, विलाप तथा मृत्यु के आह्वान में उसके प्रेम की दृढ़ता प्रकट होती है। अपने हृदय को उपालम्भ देती हुई किन शब्दो

---

१. कथं नु तेषां कृपयापि वागसावसावि मानुष्यकलाञ्छने जने।
स्वभावभक्तिप्रवणं प्रतीश्वराः कया न वाचा मुदमुद्गिरन्ति वा॥ नै० ९।२६

२. अहो महेन्द्रस्य कथं मयौचिती सुराङ्गनासंगमशोभिताभृतः।
ह्रदस्य हंसावलिमांसलश्रियो बलाकयेव प्रबला विडम्बना॥ नै० ९।२७

३. पुरः सुरीणां भण केव मानवी न यत्र तास्तत्र तु शोभिकापि सा।
अकाञ्चनेऽकिञ्चन-नायिकाङ्गके किमारकूटाभरणेन न श्रियः॥ नै० ९।२८

४. बिभेमि चिन्तामपि कर्तुमीदृशीं चिराय चित्तार्पितनैषधेश्वरा।
मृणालतन्तुच्छिदुरा सतीस्थितिर्लवादपि त्रुट्यति चापलात्किल॥ नै० ९।३१

५. अपि द्रढीयः शृणु मत्प्रतिश्रुतिं स पीडयेत्पाणिमिमं न चेन्नृपः।
हुताशनोद्बन्धनवारिकारितां निजायुषस्तत्करवै स्ववैरिताम्॥ नै० ९।३५

६. दृशोर्द्वयी ते विधिनास्ति वञ्चिता मुखस्य लक्ष्मीं तव यन्न वीक्षते।
असावपि श्वस्तदिमां नलानने विलोक्य साफल्यमुपैतु जन्मनः॥ नै० ९।६७

७. दिगीश्वरार्थं न कथञ्चन त्वया कदर्थनीयास्मि कृतोऽयमञ्जलिः।
प्रसह्यतां नाद्य निगाद्यमीदृशं दृशौ दधे बाष्परयास्पदे भृशम्॥ नै० ९।६९

मे अपना विषाद प्रकट करती है—'मेरे हृदय, यदि तू लौहमय है तो विरहाग्नि से इतना अधिक तप्त होकर भी क्यो नहीं विलीन हो (पिघल) जाता। और तू वज्र भी तो नही है,[1] क्योकि मदन के पुष्प-बाण तुझे भेद देते है। फिर बोल हृदय तू क्यो नहीं फट जाता?" स्त्रियाँ अच्छी वस्तु न देख सकने पर या बुरी वस्तु देख लेने पर अपनी आँखों को प्राय कोसा करती हैं। दमयन्ती की अपनी आँखो के प्रति कैसी असूया है—"मेरे नेत्र, तुम बड़े विशाल थे, फिर भी मेरे पापी मनोरथ ने तुम्हे झूठ मे कैसे ठग लिया? अब प्रिय कान्ति के अवलोकन में विघ्नकारी अपने इस पाप को सैकड़ों वर्ष तक अपने ही आसुओ से धोओ"[2]। इसी प्रकार अपने मन के प्रति उसकी 'असूया', 'उपालम्भ' तथा 'विवशता' का कितना मनोरम चित्रण इन शब्दों मे हुआ है। "मेरे मन, न तो तुम्हारे अभिलषित प्रिय को पा रही हू, और न तुम्हारी अभिलषित मृत्यु को ही। तुम जिस वस्तु की अभिलाषा करते हो वही मेरी नही हो पाती। तो अब प्रिय के साथ वियोग की ही इच्छा करो, स्यात् तुम्हारी कृपा से वह मुझे न मिले।"[3] देवो के प्रति उसके उपालम्भ के वाक्यों मे किस प्रकार 'दैन्य' का चित्रण होता है—"देव, मेरे उग्र ताप को शान्त करने मे जिसकी एक बूद पर्याप्त थी, तुम्हारा वह करुणा का सागर किसने पी लिया? क्या तुम्हारी इच्छा के लेश-मात्र श्रम से ही मुझसे उत्तम करोडो सुन्दरिया तुम्हारे लिए शीघ्र ही नही प्रकट हो सकती?"[4] उसे ग्लानि केवल इस बात की है कि प्रिय नल ने उसके प्रेम की दृढ़ता को न जान पाया। प्रेमी प्रिय के हृदय में अपने प्रति करुणा या दया उत्पन्न करने के लिए मरण भी श्रेयस्कर समझता है। यदि मरने के पश्चात् प्रिय ने यह जान लिया कि प्रेमी की मृत्यु का कारण मैं ही हू, और इस प्रकार यदि उसके हृदय मे कुछ सहानुभूति उत्पन्न हुई तो प्रेमी की मृत्यु भी धन्य है। दमयन्ती कहती है—"नाथ, दमयन्ती मेरे लिए मेरी, क्या यह बात तुम्हारे कानों तक न पहुँचेगी? यदि इस समय अनुग्रह

---

१. भृशं वियोगानलतप्यमान! किं विलीयसे न त्वमयोमयं यदि।
स्मरेषुभिर्भेद्य! न वज्रमप्यसि ब्रवीषि न स्वान्त! कथं न दीर्यसे॥ नै० ९।८९

२. दृशौ! मृषा पातकिनो मनोरथाः कथं पृथू वामपि विप्रलेभिरे।
प्रियश्रियः प्रेक्षणघाति पातकं स्वमश्रुभिः क्षालयतं शतं समाः॥ नै० ९।९१

३. प्रियं न मृत्युं न लभे त्वदीप्सितं तदेव न स्यान्मम यत्त्वमिच्छसि।
वियोगमेवेच्छ मनः! प्रियेण मे तव प्रसादान्न भवत्वसौ मम॥ नै० ९।९२

४. मदुग्रतापव्ययशक्तशीकरः सुराः! स वः केन पपे कृपार्णवः।
उदेति कोटिर्न मुदे मदुत्तमा किमाशु संकल्पकणश्रमेण वः॥ नै० ९।९५

नही करते, तो उस समय भी क्या दया के लेश से मुझ पर अनुग्रह नही करोगे ?"[१] उसकी इस करुण अभिलाषा मे भी उसके प्रेम की गूढ अभिव्यक्ति है। अन्त मे उसकी विवशता-भरी दीन याचना मे उसके सती-प्रेम की कैसी झलक मिलती है—"मेरा यह हृदय विदीर्ण होने वाला है, अत हे याचक-कल्पवृक्ष, मै तुमसे कुछ याचना करूंगी कि मेरे हृदय के विदीर्ण होने से निकलने वाले इन अधम प्राणों के साथ तुम मेरे हृदय से न जाना।"[२]

वात्सल्य

अपनी सन्तान या उसी श्रेणी के अन्य प्रिय सम्बन्धी से जो स्नेह होता है उसे वात्सल्य कहते है। उसमे भी रति-भाव ही दूर से झाकता समझ पड़ता है। वात्सल्य भी रति-भाव का ही रूपान्तर कहा जा सकता है। नैषध मे वात्सल्य की झाकी दो-तीन स्थलो पर मिलती है। चतुर्थ सर्ग मे दमयन्ती की मूर्च्छा सुन कर राजा भीम का घबडा कर अन्त पुर मे पहुंचना वात्सल्य-मूलक है। उनके 'भय'[३] तथा घबराहट मे वैद्य एवं मन्त्री की बातो को न सुनने मे, 'अनिष्टाशङ्का'[४] सञ्चारी भाव है। पुत्री को आशीर्वाद देने मे,[५] सखियो को समुचित उपचार के लिए आदेश देने मे[६] भी सन्तान-स्नेह का ही दर्शन होता है। वात्सल्य की दूसरी झांकी स्वयवर से विदा

---

१. कथावशेषं तव सा कृते गतेत्युपैष्यति श्रोत्रपथं कथं न ते।
दयाणुना मां समनुग्रहीष्यते तदापि तावद्यदि नाथ! नाधुना॥ नै० ९।९९

२. ममादरीदं विदरीतुमान्तरं तदर्थिकल्पद्रुम! किञ्चिदर्थये।
भिदां हृदि द्वारमवाप्य मा स मे हतासुभिः प्राणसमः समं गमः॥ नै० ९।१००

३. कलकलः स तदालिजनाननादुदलसद्विपुलस्त्वरितेरितः।
यमधिगम्य सुतालयमीयिवान्धृतदरः स विदर्भपुरन्दरः॥ नै० ४।११५

४. ताभ्यामभूद्युगपदप्यभिधीयमानं भेदव्यपाकृति मिथः प्रतिघातमेव।
श्रोत्रे तु तस्य पपतुर्नृपतेर्न किंचिद्भैम्यामनिष्टशतशङ्कितयाकुलस्य॥
नै० ४।११७

५ व्यतरदथ पिताशिषं सुतायै नतशिरसे सहसोन्नमय्य मौलिम्।
दयितमभिमतं स्वयंवरे त्वं गुणमयमाप्नुहि वासरैः कियद्भिः॥ नै० ४।११९

६. तदनु स तनुजासखीरवादीत्तुहिनऋतौ गत एवहीदृशीनाम्।
कुसुममपि शरायते शरीरे तदुचितमाचरतोपचारमस्याः॥ नै० ४।१२०
कतिपयदिवसैर्वयस्यया वः स्वयमभिलष्य वरिष्यते वरीयान्।
क्लशिमशमनयानया तदाप्तुं रुचिरुचिताथ भवद्विधाविधाभिः॥ नै० ४।१२१

लेते समय सरस्वती के बार-बार पीछे की ओर घूमकर दमयन्ती को देखने में है[1]। देवी सरस्वती एक प्रकार से दमयन्ती की अभिभावक के रूप मे चित्रित की गई है। उन्हे दमयन्ती के हित-साधन की चिन्ता सतत बनी रहती है। अतः दमयन्ती के प्रति उनका स्नेह 'वात्सल्य' ही माना जायगा, साधारण सखी का स्नेह नही।

फिर विदर्भराज के पुत्री तथा जामाता को अपनी रानी के सम्मुख ले जाकर भी—"देवि, तुम अत्यन्त उत्कण्ठित हो रही हो, लो अपने जामाता नल को पहिचानो,[2] जिसके सौन्दर्य के सामने स्वयं मदन भी तृण के समान है, तथा जो अपने उच्च कुल से हमारे भी कुल को पावन करने वाला है, त्रैलोक्य के सुन्दर पुरुषो के सम्मेलन मे इस प्रकार के वर को ढूँढ निकालना तुम्हारी पुत्री ही जानती थी"।[3]—यह कहने मे भी वात्सल्य-मूलक 'हर्ष' सञ्चारी भाव है। पुत्री को विदा करते समय विदर्भराज के अपने राज्य की सीमा तक पहुचाने जाने मे तथा[4]—'बेटी, अब तुम्हारा अपना पुण्य ही पिता है। तुम्हारी क्षमाशीलता ही तुम्हारी सारी विपत्तियो को नष्ट करने वाली होगी, सन्तोष ही तुम्हारा धन होगा, महाराज नल ही तुम्हारे सर्वस्व होगे और बेटी, अब मै तुम्हारा कोई न रहा।"[5]—इस कथन के साथ उमडते आँसुओ में भी उसी 'वात्सल्य' की झलक है।

रति के अतिरिक्त अन्य भावों की भी व्यञ्जना नैषध मे हुई है। अङ्गी न होने के कारण उनकी व्यञ्जना मे विभाव, अनुभाव तथा सचारियों की पूर्ण योजना करने का प्रयत्न नही किया गया है। कही केवल आलम्बन का चित्रण है, तो कही केवल 'आश्रय' का, और कही केवल 'अनुभाव' का ही उल्लेख करके भाव की व्यञ्जना कर दी गयी है। इतने पर भी व्यञ्जना बड़ी सफल हुई है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि श्रीहर्ष शृङ्गार के समान ही अन्य रसों मे भी सिद्धहस्त थे। प्रसङ्गानुसार यही नैषध के अन्य रसों तथा भावों पर भी विचार किया जाता है।

---

१. उत्का स्म पश्यति निवृत्य निवृत्य यान्ती वाग्देवतापि निजविभ्रमधाम भैमीम्॥ नै० १४।९९

२. विदर्भराजोऽपि समं तनूजया प्रविश्य हृष्यन्नवरोधमात्मनः।
शशंस देवीमनुजातसंशयां प्रतीच्छ जामातरमुत्सुके नलम्॥ नै० १५।५

३. तनुत्विषा यस्य तृणं स मन्मथः कुलश्रिया यः पवितास्मदन्वयम्।
जगत्त्रयीनायक-मेलके वरं सुता परं वेद विवेक्तुमीदृशम्॥ नै० १५।६

४. निजादनुव्रज्य स मण्डलावधेर्नलं निवृत्तौ चटुलापतां गतः।
तडाग-कल्लोल इवानिलं तटाद्धृतान्तिर्व्याववृते वराटराट्॥ नै० १६।११७

५. पितात्मनः पुण्यमनापदः क्षमा धनं मनस्तुष्टिरथाखिलं नलः।
अतः परं पुत्रि न कोऽपि तेऽहमित्यदस्त्रुरेष व्यसृजन्निजौरसीम्॥ नै० १६।११८

× वीर-रस

वीर-रस का भी नैषध मे अच्छा चित्रण हुआ है। वीर चार प्रकार के माने गए है—दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर तथा दयावीर। वीरता के ये चारो रूप नल मे ही दिखाए गए है। धर्मवीरता और युद्धवीरता का साङ्गोपाङ्ग चित्रण नही हो पाया है। क्योकि सिवाय नल की धर्मवृत्ति तथा युद्धविजयो का उल्लेख करने के अतिरिक्त कोई प्रसङ्ग नही था। नल की धर्म-परायणता का उल्लेख केवल एक स्थान पर इस रूप मे किया गया है—"नल के द्वारा धर्म के चारो पैरों पर स्थिर कर दिए जाने पर उस कृतयुग मे भला कौन तप-परायण न था। और की तो बात ही क्या, जब स्वय अधर्म भी केवल एक पैर से पृथ्वी का स्पर्श करता हुआ क्षीण हो तपस्वी बन गया था।"[1]

नल की युद्धवीरता का वर्णन कुछ विशेष विस्तार के साथ हुआ है। समर मे बाणो की घनघोर वृष्टि करके शत्रुओ की प्रतापाग्नि को शान्त करने[2], दिग्विजय ~~मे~~ जलाए गए बहुसख्यक शत्रु-नगरो की अग्नि से उज्ज्वल निज प्रतापो से जाज्वल्यमान पृथिवी-वलय की प्रदक्षिणा के रूप मे विजय की नीराजना (आरती) से सुशोभित होने[3] तथा शत्रु-रमणियो के नेत्रो मे टिकने वाली अतिवृष्टि का प्रयोजक बनने इत्यादि[4] मे नल विषयक युद्ध-वीर के स्थायी भाव 'उत्साह', आलम्बन शत्रु आदि, संचारी 'अमर्ष' आदि की व्यञ्जना हो जाती है। इक्कीसवे सर्ग मे नल के अमित ओज का चित्रण शिष्य राजकुमारों को अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा देने का उल्लेख करके किया गया है।[5] वह भी एक प्रकार से युद्धवीर का ही रूप है।

दया-वीर का प्रसङ्ग प्रथम सर्ग मे नल-करपञ्जरस्थ हस के रोदन में आता

---

१. पदैश्चतुर्भिः सुकृते स्थिरीकृते कृतेऽमुना केन तपः प्रपेदिरे।
भुवं यदेकाङ्घ्रिकनिष्ठया स्पृशन् दधावधर्मोऽपि कृशस्तपस्विताम्॥ नै० १।७

२. स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य सङ्गरे।
निजस्य तेजः शिखिनः परश्शता वितेनुरिङ्गालमिवायशः परे॥ नै० १।९

३. अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलैर्निजप्रतापैर्वलयं ज्वलद्भुवः।
प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्टया रराज नीराजनया स राजघः॥ नै० १।१०

४. निवारितास्तेन महीतलेऽखिले निरीतिभावं गमितेऽतिवृष्टयः।
न तत्यजुर्नूनमनन्यविश्रमाः प्रतीपभूपालमृगीदृशां दृशः॥ नै० १।११

५. अस्त्रशस्त्रखुरलीषु विनिन्ये शैष्यकोपनमितानमितौजाः॥ नै० २१।५

है, जिसे सुन कर नल के आसू उमड पडते है।[1] और वे हंस को छोड़ देते हैं।[2] यहा नल के अश्रुओ तथा हस को मुक्त करने में मूलरूप से दयामिश्रित 'उत्साह' ही कहा जा सकता है, शोक नही। शोक तो हंस के हृदय में अपने बालबच्चों के प्रति है।

नल की दानवीरता का अत्यन्त विशद चित्रण हुआ है। प्रथम सर्ग मे प्रौढ़ोक्ति द्वारा[3] तथा तृतीय सर्ग में कविनिबद्धप्रौढ़ोक्ति द्वारा[4] नल की वदान्यता का वर्णन हुआ है। किन्तु पञ्चम सर्ग मे इन्द्रादि दिक्पालो के याचक-रूप मे उपस्थित होने पर दानवीर (रस) का अत्यन्त मनोरम साङ्गोपाङ्ग निरूपण हुआ है। वहाँ उत्साह के आश्रय नल है, आलम्बन देवगण, उद्दीपन देवो की याञ्चा तथा अन्य चेष्टायें, एवं नल की शारीरिक, मानसिक तथा वाचनिक क्रियाएं अनेक अनुभाव तथा संचारी भाव है। नल को इन्द्र के—"हे नल, हम याचक के रूप मे तुम्हारे पास आए है।"[5] इस वाक्य को सुनकर रोमाञ्च हो आता है,[6] वह उनके अपार उत्साह का द्योतक है। उस समय नल को इन दिगीश्वरो के लिए क्या दुर्लभ है और वह कैसे मेरे अधीन है, इत्यादि वितर्क[7], होता है। दानी की संशय-मिश्रित ग्लानि का उदाहरण इन शब्दो मे मिलता है—इनके अभीष्ट का कैसे पता चले ? बिना मांगे क्या दिया जाय ? धिक्कार है उस दानी को जो याचक की इच्छा को जानते हुए भी उसके कहने की

---

१. सुताः ! कमाहूय चिराय चुंकृतैर्विधाय कम्प्राणि मुखानि कं प्रति।
कथासु शिष्यध्वमिति प्रमील्य सः स्रुतस्य सेकाद् बुबुधे नृपाश्रुणः॥ नै० १।१४२

२. इत्थममुं विलपन्तममुञ्चद्दीनदयालुतयावनिपालः।
रूपमदर्शि धृतोसि यदर्थं गच्छ यथेच्छमथेत्यभिधाय॥ नै० १।१४३

३. अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं लिपिं ललाटेर्थिजनस्य जाग्रतीम्।
मृषां न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः प्रणीय दारिद्र्य दरिद्रतां नलः॥ नै० १।१५
विभज्य मेरुर्न यदर्थिसात्कृतो न सिन्धुरुत्सर्गजलव्ययैर्मरुः।
अमानि तत्तेन निजायशोयुगं द्विफालबद्धाश्चिकुराः शिरः स्थितम्॥ नै० १।१६

४. दारिद्र्यदारिद्रविणौघवर्षैरमोघमेघव्रतमर्थिसार्थे ।
संतुष्टमिष्टानि तमिष्टदेवं नाथन्ति के नाम न लोकनाथम्॥ नै० ३।२५

५. अर्थिनो वयममी समुपेमस्त्वां नलेति॥ नै० ५।७७

६. अर्थिनामहृषिताखिललोमा स्वं नृपः स्फुटकदम्बकदम्बम्।
अर्चनार्थमिवतच्चरणानां स प्रणामकरणादुपनिन्ये॥ नै० ५।७९

७. दुर्लभं दिगधिपैः किममीभिस्तादृशं कथमहो मदधीनम्।
ईदृशं मनसिकृत्य विरोधं नैषधेन समशायि चिराय॥ नै० ५।८०

प्रतीक्षा करता है।[1] याचक चाटु तथा दीन वाक्यो को कह कर पराभूत होता है और अनेक बार मांगने से अत्यन्त लज्जित होता है। यह पाप दाता को लगता है, जिसका प्रक्षालन दान देने मे विलम्ब करने वाला दाता नही कर पाता।[2] नल के अनेक प्रकार के विचारो में[3] उनकी 'मति' का पता चलता है। नल के उत्साह की परिचायिका (याचक देवो की कार्यसिद्धि का लक्षण रूप) उनके मुख की उद्दीप्त कान्ति है, जो याचको को दाता में दुर्दर्शन हुआ करती है।[4] "यह नर-बालक प्राणो या इससे भी अधिक जो अभीष्ट हो, उसके द्वारा आपके चरणो की पूजा करने को प्रस्तुत है, आज्ञा हो, इस प्रकार की वह कौनसी वस्तु है?"[5] नल के इन शब्दो मे उनका अदम्य 'उत्साह' ही झलकता है। पर इन्द्र के कपट को सुनकर नल मे जो दान-विमुखता का भाव आता है वह 'मति' नामक संचारी मे ही गिना जायगा। अन्त मे देवो का अनेक भाति समझाना पुनः 'उत्साह' का उद्दीपन माना जायगा, जिससे नल उनकी प्रार्थना को अङ्गीकृत करके उसका पूर्ण परिपालन (निर्वाह) करते है। इस प्रकार दानवीर का अविकल चित्र देखने को मिलता है।

×अद्भुत-रस

नैषध मे अद्भुत का भी कही-कही चित्रण हुआ है। विचित्र हस को देख कर नल के मन मे जो कौतूहल होता है वह इतना प्रबल है कि प्रिया-वियोग मे इतने कातर होते हुए भी उनके मन मे एक प्रकार के हर्ष की गुदगुदी-सी अनुभव होने लगती है।[6] यह स्वर्णमय पखो वाली सुन्दरता पक्षी की नही देखी

---

१. मीयतां कथमभीप्सितमेषां दीयतां कथमयाचितमेव।
तं धिगस्तु कलयन्नपि वाञ्छामर्थिवागवसरं सहते यः॥ नै० ५।८३

२. प्रापितेन चटुकाकुविडम्बं लम्भितेन बहुयाचनलज्जाम्।
अर्थिना यदघमर्जति दाता तन्न लुम्पति विलम्ब्य ददानः॥ नै० ५।८४

३. यत्प्रदेयमुपनीय वदान्यैर्दीयते सलिलमर्थिजनाय।
सार्थनोक्तिविफलत्वविशङ्कात्रासमूर्च्छदपमृत्युचिकित्सा॥ नै० ५।८५ इत्यादि

४. एवमादि स विचिन्त्य मुहूर्तं तानवोचत पतिर्निषधानाम्।
अर्थिदुर्लभमवाप्य सहर्षान् याच्यमानमुखमुल्लसितश्रि॥ नै० ५।९३

५. जीवितावधि किमप्यधिकं वा यन्मनीषितमितो नरडिम्भात्।
तेन वश्चरणमर्चतु सोऽयं ब्रूत वस्तु पुनरस्तु किमीदृक्॥ नै० ५।९७

६. महीमहेन्द्रस्तमवेक्ष्य स क्षणं शकुन्तमेकान्तमनोविनोदिनम्।
प्रियावियोगाद्विधुरोऽपि निर्भरं कुतूहलाक्रान्तमना मनागभूत्॥ नै० १।११९

गयी।[1] राजा की इस स्तुति मे उनका विस्मयमूलक 'हर्ष' ही निहित है। हंस की बातो से नल के मन का (ग्लानि-कृपा-मिश्रित) 'विस्मय' और भी बढ़ जाता है।[2] (यद्यपि चित्र वैलक्ष्य तथा 'कृपा' शब्दों का प्रयोग करने मे "स्वशब्द-वाच्यत्व" दोष आ गया है किन्तु उससे 'विस्मय' भाव में कमी नही आने पाती, वे स्ववाचक उसके केवल अनुवादमात्र है।)

हंस के कुण्डिनपुर-स्थित दमयन्ती-क्रीड़ावन में अकस्मात् पहुँचने पर उसकी और दमयन्ती की सखियो के नेत्र अपनी उन दृश्यमान वस्तुओ को त्यागकर इस प्रकार पहुंचे जैसे योगियो के चित्त अनिर्वचनीय रूप ब्रह्म को पाकर उसमे अन्य सभी विषयों को त्यागकर रमते है।[3] यहाँ भी 'विस्मय' ही कारण है।

स्वयंवर मे राजवर्णन के प्रसङ्ग मे कई बार अद्भुत का आलम्बन प्रस्तुत किया गया है। आलम्बन का यदि ऐसा चित्रण हुआ हो कि वह अभिमत स्थायीभाव को उद्बुद्ध करने में समर्थ होवे तो वहा रसास्वाद पूरा हो जाता है। कामरूप-नरेश का वर्णन करती हुई सरस्वती कहती है—"कवच के बिना इनके शत्रु समर-भूमि में सारे शरीर मे बाणो से बिधकर प्राण-विसर्जन के साथ सूर्यमण्डल का भी भेदन करते हुए भवसागर पार करते है। नौकादण्ड, कर्णधार और अनुकूल पवन के बिना भी, एवं नौका के टूटने से सागर में डूबकर भी सागर पार करना असीम आश्चर्य का कारण है।"[4] इसी प्रकार कीकटाधिप के वर्णन में[5] अद्भुत के आलम्बन का अच्छा निरूपण हुआ है।

---

१. न जातरूपच्छदजातरूपताद्विजस्य दृष्टेयमिति स्तुवन्मुहुः।
अवादि तेनाथ स मानसौकसा जनाधिनाथः करपञ्जरस्पृशा॥ नै० १।१२९

२. इतीदृशैस्तं विरचय्य वाङ्मयैः सचित्रवैलक्ष्यकृपं नृपं खगः।
दयासमुद्रे स तदाशयेऽतिथी चकार कारुण्यरसापगा गिरः॥ नै० १।१३४

३. नेत्राणि वैदर्भसुतासखीनां विमुक्ततत्तद्विषयग्रहाणि।
प्रापुस्तमेकं निरुपाख्यरूपं ब्रह्मेव चेतांसि यतव्रतानाम्॥ नै० ३।३

४. अकर्णधाराशुगसम्भृताङ्गतां गतैररित्रेण विनास्य वैरिभिः।
विधाय यावत्तरणेर्भिदामहो निमज्ज्य तीर्णः समरे भवार्णवः॥ नै० १२।७१

५. भूशक्रस्य यशांसि विक्रमभरेणोपार्जितानि क्रमा-
देतस्य स्तुमहे महेभरदनस्पर्धीनि कैरक्षरैः।
लिम्पद्भिः कृतकं कृतोऽपि रजतं राज्ञां यशः पारदै-
रस्य स्वर्णगिरिः प्रतापदहनैः स्वर्णपुनर्निर्मितः॥ नै० १२।९१ इत्यादि

अन्त में देवों के नलरूप त्याग कर अपना वास्तविक रूप धारण करते समय तथा सरस्वती के अपना प्राकृत रूप धारण करते समय[1] अद्भुत रस की व्यञ्जना मिलती है। यह अद्भुत रस निर्वहण सन्धि के समय होने के कारण अत्यन्त उपयुक्त अवसर पर सन्निवेशित हुआ है। विस्मय के साथ सभी भाव अपने उत्कर्ष पर पहुच जाते है। सभवत इसीलिए कुछ चमत्कारवादी आचार्यों ने अद्भुत रस को सर्वव्यापी माना है।[2] फिर 'हर्ष' और 'विस्मय' का तो बडा पुराना साथ है। इसीलिए आचार्यों ने नाटको मे निर्वहण (उपसंहृति) के समय अद्भुत रस का होना आवश्यक बताया है। (कार्यो निर्वहणेऽद्भुत.—सा० द० ६।१०)।

करुण-रस

करुणरस (अथवा भाव) की व्यञ्जना हस द्वारा करायी गयी है। नल के करपञ्जर मे पडा हस कभी राजा को धिक्कारता है,[3] —इस धिक्कार मे दु खी प्राणी की झुझलाहट छिपी है—कभी दैव को उपालम्भ देता है— 'विधे, तुम्हारे जिन कर-कमलो ने प्रिया की शीतलता तथा मृदुलता को जन्म दिया, उन्ही से मेरे विषय में 'अपनी प्रिया से वियुक्त होवोगे' इस प्रकार की निष्ठुर अक्षरो वाली लिपि कैसे निकली ?"[4] कभी अपनी वृद्धा माता की असहाय अवस्था का स्मरण[5] और नवप्रसूता वरटा (हसी) के अकथनीय दु.ख वाले क्षण का विकल्प करता है—"प्रिये, मेरे साथियों से जब तुम पूछोगी कि 'शुभ संदेश तथा कमलनालों को लिए मन्दगति से आता हुआ मेरा प्रिय कितनी दूर है ?' उस समय उन्हे रोता देख हाय ! तुम्हारा यह क्षण किस रूप का होगा ?"[6]

---

१. विलोकके नायकमेलकेऽस्मिन्नृपान्यताकौतुकदर्शिभिस्तैः।
बाधा बतेन्द्रादिभिरिन्द्रजालविद्याविदां वृत्तिवधाद्व्यधायि॥ नै० १४।७०

२. रसेसारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते। तच्चमत्कारसारत्वेसर्वत्राप्यद्भुतोरसः।
तस्माद्भुतमेवाहकृती नारायणो रसम्—सा० द० ३

३. नै० १।१३० इत्यादि।

४. कथं विधातर्मयि पाणिपङ्कजात्तव प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः।
वियोक्ष्यसे वल्लभयेति निर्गता लिपिर्ललाटन्तपनिष्ठुराक्षरा॥ नै० १।१३८

५. मुहूर्तमात्रं भवनिन्दया दयासखाः सखायः स्रवदश्रवो मम।
निवृत्तिमेष्यन्ति परं दुरुत्तरस्त्वयैव मातः सुतशोकसागरः॥ नै० १।१३६

६. मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः प्रियः कियद्दूर इति त्वयोदिते।
विलोकयन्त्या रुदतोऽथ पक्षिणः प्रिये स कीदृग्भविता तवक्षणः॥ नै० १।१३७

यहा हंसी की रतिमूलक 'उत्सुकता' मे 'शोक' का रग बड़ा गहरा दिखायी पडता है। उस समय की उसकी दारुण दशा का चित्रण अत्यन्त मर्मस्पर्शी हुआ है—प्रिय के करुण वृत्तान्त को सुन कर उस चञ्चलाक्षी को दशो दिशाएं शून्य दिखायी पडेगी।[1] परिणाम मे हस अपने अस्फुटितेक्षण नवजात शावकों की मरणान्त दुर्दशा की कल्पना करता है—"हाय, जिन्हे बडी अभिलाषाओं से बहुत दिनो मे पाया था, मेरे वे ही अस्फुटित नेत्र शावक क्षुधार्त हो नीड के किनारो पर लुढक-लुढक कर क्षण भर मे चल बसेगे।"[2] "मेरे प्यारे बच्चो! अब चूँ-चूँ शब्द करते हुए देर तक किसको बुलाकर चूँगा (भोजन) मागोगे? किसकी ओर अपने चञ्चल चञ्चु करके गोष्ठी कथा कहोगे? हा! अब तुम कथा-मात्र में शेष रह जाओगे?"[3] यह कल्पना ही इतनी गुरुतम है कि हंस का दु खित मन उसका बोझ नही सह सकता और फलत. 'मूछित' हो जाता है।

हास्य

हास्यरस का भी प्रसङ्ग कई बार आया है। प्रथम तो स्वयंवर मे पाण्ड्य-नरेश के स्तुति-गान के समय दासी के—"राजकुमारी जी, इधर कौतुक देखिए। प्रासाद के शिखर पर उस फहराती ध्वजा पर भी वह कौवा अपना पैर-जमाना चाहता है।"[4] इस अप्रस्तुत भाषित मे हास्य की अच्छी पुट है। फिर—"देवि, आप कब तक इनके गुणों का पृथक् पृथक् गान करती रहेगी, एक बार एक वाक्य मे ही क्यों नही कह देती कि इतने बडे विश्व के होते हुए भी सारे गुण इन राजा में भीड़ लगाकर निवास करते हुए स्थान की कमी के कारण कष्ट पा रहे है"[5]—नेपाल-नरेश के यशोगान को सुनकर हंसाने वाली चेटी की इस बात मे पर्याप्त हास्यच्छटा देखी जाती

---

१. अयि स्वयूथ्यैरशनिक्षतोपमं ममाद्य वृत्तान्तमिमं बतोदिता।
मुखानि लोलाक्षि! दिशामसंशयं दशापि शून्यानि विलोकयिष्यसि॥ नै०।१।१३९
२. तवापि हा हा विरहात्क्षुधाकुलाः कुलायकूलेषु विलुण्ठ्य तेषु ते।
चिरेण लब्धाः बहुभिर्मनोरथैर्गताः क्षणेनास्फुटितेक्षणा मम॥ नै० १।१४१
३. सुताः कमाहूय्चिराय चुङ्कृतैर्विधाय कम्प्राणि मुखानि कं प्रति।
कथासु शिष्यध्वमिति प्रमील्य सः सुतस्य सेकाद्बुबुधे नृपाश्रुभिः॥ नै० १।१४२
४. शशंस दासीङ्गितविद्विदर्भजामितो ननु स्वामिनि! पश्य कौतुकम्।
यदेष सौधाग्रनटे पटाञ्चले चलेऽपि काकस्य पदार्पणग्रहः॥ नै० १२।२१
५. दमस्वसुश्चित्तमवेत्य हासिका जगाद देवीं कियदस्य वक्ष्यसि।
भग प्रभूते जगति स्थिते गुणैरिहाप्यते सङ्कटवासयातना॥ नै० १२।५०

है। अन्त में सखी द्वारा "इस नरेन्द्र की परार्द्ध से भी अधिक संख्या मे गिनी हुई दुष्कीर्तिया कच्छपी के दूध से बने सागर के तट पर गूँगो के परस्पर वार्त्तालाप के समय बन्ध्या के पुत्रों द्वारा अष्टम स्वर मे गायी जाती है और उन अपकीर्तियो को जन्मान्ध पुरुष देखता है कि वे घोर अन्धकार के समान रूप वाली भी है।"[1] इत्यादि व्याजस्तुति रूप कीकट-नरेश के अकीर्ति-वर्णन मे तो विस्मय-मिश्रित हास्य की अच्छी गूढ व्यञ्जना मिलती है।

फिर बरातियों के भोजन करते समय तो हास-परिहास का खुलकर प्रयोग हुआ है।—नैषध के १६।४९, १६।५४ इत्यादि स्थलों मे निम्न श्रेणी के पात्र रूप वाराङ्गनाओ से सवद्ध निम्नकोटि का अशिष्ट परिहास उपलक्षित होने के अतिरिक्त अच्छे पात्रों का भोजन के अन्त मे—"बरातियो ने सुपाडी तो मुख में रक्खी पर पान छोड़ दिया। राजकुमार दम ने उन पानो को सुगन्धित लगाया था पर बरातियो ने उन्हे 'बिच्छू' समझ लिया और इस प्रकार उनके भ्रम को देख कर सब हंस पड़े[2]। —इस प्रकार का अच्छा उपहास दृष्टिगोचर होता है। उपेक्षा-पूर्ण उपहास का एक दृश्य कलि-सवाद में आता है। कलि की यह बात सुनकर—"कि हम लोग दमयन्ती के परिणय के लिए उसके स्वयवर महोत्सव मे जाने की जल्दी मे है, तो कृपया उधर जाने का सीधा रास्ता बता दीजिए"[3] —देवो को हंसी आ गयी जिसकी सुन्दर व्यञ्जना मुस्कराते हुए परस्पर एक दूसरे का मुह देखने तथा उत्तर देने मे है—देव-गण कलि के इस अकारण अहंकार को जानकर परस्पर एक दूसरे का मुंह देखकर उसकी मूर्खता पर हसे फिर बडी देर के बाद उससे बोले—"[4] । यहा हास्य का आलम्बन कलि है और उद्दीपन उसकी अहंकार-पूर्ण बात कि "हम स्वयवर के लिए

---

१. अस्य क्षोणिपतेः परार्धपरया लक्षीकृताः संख्यया
प्रज्ञाचक्षुरवेक्ष्यमाणतिमिरप्रख्याः किलाकीर्तयः।
गीयन्ते स्वरमष्टमं कलयता जातेन वन्ध्योदरा
न्मूकानां प्रकरेण कूर्मरमणीदुग्धोदधे रोधसि॥ नै० १२।१०६

२. मुखे निधाय क्रमुकं नलानुगैरथोज्झिपर्णालिरवेक्ष्य वृश्चिकम्।
दमार्पितान्तर्मुखवासनिर्मितं भयाविलैः स्वभ्रमहासिताखिलैः॥ नै० १६।११०

३. स्वयंवरमहे भैमीवरणाय त्वरामहे।
तदस्माननुमन्यध्वमध्वने तत्र धाविने॥ नै० १७।११४

४. तेऽवज्ञाय तमस्योच्चैरहङ्कारमकारणम्।
ऊचिरेऽतिचिरेणैनं स्मित्वा दृष्टमुखा मिथः॥ नै० १७।११५

कलिङ्गाधिपति का वर्णन करती हुई सरस्वती कहती है—"इनके शत्रु ने नगर-वासियों से सुना कि कलिङ्गाधिपति आ पहुंचे। वह भागा और वन में पहुंचा, पर वह भागना व्यर्थ ही हुआ। क्योंकि वहा शुकगण भी 'कलिङ्गाधिपति आ पहुंचे' यही ज्यों का त्यों चिल्ला रहे थे। उस घोषणा को सुन कर बेचारा शत्रु भय से काप उठता।"[1] भय-भाव का किंचित् दर्शन उत्कल-नरेश के वर्णन में भी होता है—"अपनी धवलता का अहंकार करने वाली सारी वस्तुओं को पराजित करके इसकी भुजाओं के धवलयश के संसार में अपना प्रतिद्वन्द्वी ढूँढ़ने के लिए फैलने पर कुमुद मारे भय के रात भर जागता है, मल्लिका की माला भय से तुम्हारे केश-पाशो में छिपी रहती है, तथा शीतांशु अमृत-प्रस्राव करने के बहाने भय के मारे पसीने से तर रहता है।"[2]

नैषध मे भावोदय, भाव-सन्धि, भाव-शान्ति तथा भाव-शबलता के भी सुन्दर उदाहरण मिलते है। "औत्सुक्य" भाव के उदय का एक उदाहरण है—दमयन्ती प्रतिदिन चारणो-द्वारा यशोगान के समय पिता की वन्दना के लिए जाकर उनसे (चारणों से) अन्य राजाओ के चरित-वर्णन के प्रसङ्ग मे नल-चरित सुनकर पुलकित हुआ करती[3]। इसी प्रकार शृङ्गार के "गर्व" भाव की शान्ति का एक सुन्दर उदाहरण यह है—"दमयन्ती के अतिरिक्त किस सुन्दरी ने नल को देखकर 'मै सुन्दरता में नल के योग्य हूं, या नही' इसे जानने के लिए अपने रूप को दर्पण मे देख गत-दर्प हो हस्तगत दर्पण को आहो से मलिन नहीं किया?"[4] उत्कण्ठा एवं विषाद भावों की सन्धि का सुन्दर चित्रण उस समय हुआ है जब देवों का दौत्यभार स्वीकार करके नल कुण्डिनपुरी के पास पहुँचते है। उस समय अहा, यह वही पुरी है जिसकी वीथियाँ दमयन्ती के मृदु चरणों के स्पर्श से कृतार्थ हुई है। इस प्रकार उत्कण्ठा-विकल राजा ने क्षण भर उस नगर को सस्पृह देखा। पर देवो द्वारा अपनी आशा को खण्डित सोच

---

१. अयं किलायात इतीरिपौरवाग्भयादयादस्य रिपुर्वृथा वनम्।
श्रुतास्तदुत्स्वापगिरस्तदक्षराः पठद्भिरत्रासि शुकैर्वनेऽपि सः॥ नै० १२।२५

२. दूरं गौरगुणैरहङ्कृतिभृतां जैत्राङ्ककारे चर-
त्येतद्दोर्यशसि प्रयाति कुमुदं बिभ्यन्न निद्रां निशि।
धम्मिल्ले तव मल्लिकासुमनसां माल्यं भिया लीयते।
पीयूषस्रवकैतवाद्धृतदरः शीतद्युतिः स्विद्यति॥ नै० १२।८४

३. उपासनामेत्य पितुःस्म रज्यते दिनेदिने सावसरेषु वन्दिनाम्।
पठत्सु तेषु प्रतिभूपतीनलं विनिद्ररोमाजनि शृण्वती नलम्॥ नै० १।३४

४. श्रियास्य योग्याहमिति स्वमीक्षितुं करे तमालोक्य सुरूपया धृतः।
विहाय भैमीमपदर्पया कया न दर्पणः श्वासमलीमसः कृतः॥ नै० १।३१

कर एक लम्बा नि.श्वास लिया[१]। और जब नल अदृश्य रूप में अन्त.पुर में प्रवेश करते हैं, उस समय 'उपेक्षा', 'लज्जा', 'सन्तोष' तथा 'विषाद' भावों का मनोरम चित्रण इस प्रकार किया जाता है—नल के हृदय मे द्वार पर शस्त्र-सन्नद्ध रक्षकों के प्रति अवज्ञा हुई। उन्हें (चोर की भाति) छिपकर चल रहा हू, यह सोचकर लज्जा आई। 'दमयन्ती को देखूँगा' अतः कुछ सन्तोष हुआ, पर अपने को दूत सोचकर वे दु:खी हो गए।"[२] 'विषाद' और 'हर्ष' भावों की सन्धि की अद्‌भुत व्यञ्जना नल के हृदय में तब होती है, जब अदृश्य रूप मे वे इन्द्र-दूती का प्रस्ताव सुनते हैं। 'उस समय मुझे न तो दमयन्ती मिली और न मैंने दूत-कार्य ही किया' इस प्रकार नल अत्यन्त गम्भीर चिन्ता मे मग्न थे। उस समय उनका हृदय-कमल जो छिन्न-भिन्न न हुआ वह इसीलिए कि वह दमयन्ती के मुखचन्द्र को देख रहे थे।[३]

जिस समय दमयन्ती ने नल को अन्त.पुर में देखा उस समय उसके अनुराग तथा औदास्य भाव क्रम से शान्त और उदय होने लगे। "यह तो नल है" यह सोचकर दमयन्ती का उनमें अनुराग हो जाता, फिर "वे यहा कहां?" तत्क्षण यह सोच कर उदास हो जाती[४]। 'हर्ष-विषाद' की सन्धि का एक मर्मस्पर्शी चित्रण उत्कल राज। के प्रताप वर्णन में है। सरस्वती कहती है "कलिङ्गराज के भय से शत्रु-रमणी सारा दिन पर्वत-कन्दरा मे व्यतीत करती। रात्रि हुई, रमणी अपने शिशु के साथ कन्दरा से बाहर आती है। आकाश मे स्वच्छ चन्द्रमा प्रकाशमान है। बालक ने समझा वह खिलौने का हस है। वह अपने खिलौने के लिए हठ करने लगता है। —रमणी-शिशु के हठ से तथा अपनी विपत्ति को सोचकर बहुत रोती है, कपोलों पर बहती अश्रुधारा में बालक को अपने चन्द्र-हंस[५] का प्रति-

---

१. भैमीपदस्पर्शकृतार्थरथ्या सेयं पुरीत्युत्कलिकाकुलस्ताम्।
नृपो निपीय क्षगमीक्षणाभ्यां भृशं निशश्वास सुरैः क्षताशः॥ नै० ६।५

२. हेलां दधौ रक्षिजनेऽस्त्रसज्जे लीनश्चरामीति हृदा ललज्जे।
द्रक्ष्यामि भैमीमिति संतुतोष दूतं विचिन्त्य स्वमसौ शुशोच॥ नै० ६।१०

३. भैमीं च दूत्यं च न किंचिदापमिति स्वयं भावयतो नलस्य।
आलोकभाग्याद्यदि तन्मुखेन्दोरभून्न भिन्नं हृदयारविन्दम्॥ नै० ६।८९

४. तस्मिन्नलोऽसाविति सान्वरज्यत क्षणं क्षणं क्वेह स इत्युदास्त।
पुनः स्म तस्यां वलतेस्य चित्तं दूत्यादनेनाथ पुनर्न्यवर्ति॥ नै० ८।५

५. एतद्‌भीतारिनारी गिरिबिलविगलद्वासरा निःसरन्ती।
स्वक्रीडाहंसमोहग्रहिलशिशुभशुप्रार्थितोन्निद्रिचन्द्रा।
आक्रन्दद् भूरि यत्तन्नयनजलमिलच्चन्द्रहंसानुबिम्ब-
प्रत्यासत्तिप्रहृष्यत्तनयविहसितैराश्वसीन्न्यश्वसीच्च ॥ नै० १२।२८

बिम्ब दिखाई पड़ता है, वह अपने खिलौने (हंस) को समीप में पाकर प्रसन्न हो जाता है। रमणी शिशु के मिथ्या प्रबोध से अवकाश तो पाती है, पर अपनी दुर्दशा तथा अकिञ्चनता को सोचकर लम्बी आहे भरती है।"

स्वयंवर मे जिस समय सरस्वती दमयन्ती का हाथ पकड़ कर इन्द्र की ओर चली उस समय स्वर्ग की लक्ष्मी की ललनोचित "असूया" तथा "ब्रीडा" भावों की सन्धि का श्रीहर्ष ने अनुपम चित्रण किया है। "दमयन्ती को इन्द्र की ओर आती देखकर स्वर्ग-साम्राज्यलक्ष्मी को सचमुच ईर्ष्या हुई, किन्तु, फिर उसे लौटती देखकर, स्वयं इन्द्र में अनुराग करती हुई, वह बड़ी लज्जित हुई[1]। "अनुराग", "उत्सुकता" तथा ब्रीडा की भाव-शबलता का एक अत्यन्त हृदय-स्पर्शी चित्रण उस समय का है जब नल नवोढ़ा वधू को लिए हुए विदर्भ देश से अपनी नगरी के समीप पहुंचते हैं। उस समय दमयन्ती ने देखा कि "प्रिय अपनी नगरी को देखने में कुछ तल्लीन से हैं, अत. उनसे छिपकर नल को कटाक्षों से देखना चाहा, कि उधर नल का भी ध्यान प्रिया की ओर खिचा और आंखे भी पुरी की ओर से लौट कर प्रिया की ओर दौड़ी। बस मार्ग में ही दोनो की आंखें चार हुई[2]।

---

१. भैमीं निरीक्ष्याभिमुखीं मघोनः स्वाराज्यलक्ष्मीरभृताभ्यसूयाम्।
दृष्ट्वा ततस्तत्परिहारिणीं तां व्रीडं बिडौजः प्रवणाम्भपादि॥ नै० १४।३५

२. पुरीं निरीक्ष्यान्यमना मनागिति प्रियाय भैम्या निभृतं विसर्जितः।
ययौ कटाक्षः सहसा निवर्तिना तदीक्षणेनार्धपथे समागमम्॥ नै० १६।१२३

षष्ठ अध्याय

वस्तु-वर्णन

कवि अपनी सहृदयता तथा वर्णन-कौशल के द्वारा काव्य मे आए इतिवृत्तात्मक अंशों को भी सरस बना देता है। संस्कृत कवियों की यह विशेषता रही है कि वे अपने काव्य मे एक अत्यन्त नगण्य वस्तु को भी रखते समय उसे अपनी सूक्ष्मदर्शिता के आधार पर कल्पना का ऐसा जामा पहनाते हैं कि श्रोता के मानस-नेत्रों के सम्मुख उसका अत्यन्त आकर्षक चित्र उपस्थित हो जाता है। काव्य मे 'आलम्बन' ही मुख्य होता है। कवि अपने काव्य मे जिन वस्तुओं का वर्णन करता है वे किसी न किसी रूप में आलम्बन ही मानी जायगी। काव्य मे वर्णित प्रायः प्रत्येक वस्तु किसी न किसी पात्र के किसी न किसी भाव का आलम्बन होती है। जो किसी पात्र के किसी भाव का आलम्बन नही होती वह कवि या श्रोता के भाव का आलम्बन होती है। कवि अपनी सहृदयता से उस वस्तु का किसी भाव के साथ ग्रहण करता है, और उसी रूप मे पाठक या श्रोता के सम्मुख रखने का प्रयास करता है, जिससे पाठक या श्रोता को भी उस वस्तु का उसी रूप में ग्रहण हो। यदि कवि ने अपने शब्द-चित्र द्वारा उस वस्तु का वह अभिप्रेत रूप उपस्थित कर दिया जो पाठक या श्रोता के भी उसी भाव को उद्‌बुद्ध कर दे, तो मानो उसे अपने काव्य में एक बड़ी सफलता मिल गई। उसे उस वस्तु में स्वयं रमना पड़ता है, साथ ही पाठक को भी रमाना उसका कर्तव्य होता है। वन, पर्वत, नदी, ऋतुएं, पुर, विवाह, यात्रा, प्रभा, सन्ध्या, रजनी, चन्द्र, रूप-सौन्दर्य आदि वस्तुएं ऐसी है जिनमे मनुष्य-मात्र की रागात्मिका वृत्ति रमती है। ये उसके रागात्मक भावों के आलम्बन हैं। अतः उन वस्तुओं का वर्णन भी रसात्मक ही माना जायगा। जिन वस्तुओं का कवि विस्तृत चित्रण करता है उनमें मनुष्य के रति-भाव की आलम्बनता इसलिए है कि स्वभावतः उनमें शोभा या सौन्दर्य है, और कुछ इसलिए कि उनके साथ मनुष्य का चिर-साहचर्य रहा है। (प्राकृतिक दृश्य इसी प्रकार के आलम्बन है)। कुछ वस्तुएं इतनी भव्य विशाल या दीर्घ होती है कि वे उसके आश्चर्य का आलम्बन बनती है। कुछ का रूप इतना घृणित होता है कि वे उसकी जुगुप्सा का आलम्बन बनती है। इसी प्रकार अन्य भावो के भी आलम्बन होते है।

वस्तु के वर्णन मे कवि कभी तो अभिधावृत्ति के द्वारा वाच्य रूप में किसी भाव को प्रकट करता है, और कभी व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा व्यङ्ग्य अलङ्कार के रूप में। यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देनी उचित है कि कवि दृश्य वर्णन करते समय जो उपमा, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, आदि अलङ्कारो के द्वारा प्रस्तुत के मेल मे अप्रस्तुत वस्तुओ की योजना करता है उनमे उसका उद्देश्य प्रस्तुत के प्रति उस भाव को तीव्र करना मात्र होता है। अत. अप्रस्तुत की योजना करते समय कवि इस बात के लिए सावधान रहता है कि वे (अप्रस्तुत वस्तुएं) ऐसी हों जो सर्वसाधारण के चित्त में ऐसे भाव जागरित करे जो भाव उस प्रस्तुत से होने चाहिए। कल्पना की ऊंची उड़ान मे श्रोता या पाठक की बुद्धि को प्रस्तुत से हटा कर 'शून्य' में छोड देना कवि की सफलता नही कही जा सकती। कवि को अपनी कल्पना के लिए उतनी ही छूट देनी चाहिए जितनी से वह वस्तु के अतिरम्य भाव-कमल को श्रोता (पाठक) के मानस तल पर विकसित कर सके। उसे इस बात को कभी भूलना न चाहिए कि दृश्य वर्णन मे अप्रस्तुत की योजना का गौण स्थान रहता है, प्रस्तुत ही प्रधान होता है

सस्कृत साहित्य मे श्रीहर्ष के समय तक, दुर्भाग्य से, कवियो मे वैदुष्य-प्रदर्शन की भावना इतनी प्रबल हो गयी थी कि प्राकृतिक वस्तुओं के साथ उनकी कोमल वृत्तिया रमती ही नहीं थी। वस्तु-विशेष का वर्णन करते समय वे अपनी बौद्धिक विशेषताओ तथा अधीत विषयों को दिखाने में लग जाते थे, या आचार्यो द्वारा बनाई हुई सूची को पूरा पूरा उतार देते थे। नैषध 'अथ' से 'इति' तक श्रीहर्ष की कल्पनाओं से भरपूर है। कही कोई एक भी बात कवि की नूतन उद्भावना के बिना नही कही गई है। श्रीहर्ष अत्यन्त सरस कवि थे। नैषध मे जिन वस्तुओं का वर्णन उन्होने किया है, उनमें उनकी वृत्ति स्वय रमी हुई जान पड़ती है। किन्तु उनकी कल्पना-शक्ति इतनी प्रबल थी तथा उनकी बहुज्ञता इतनी अधिक थी कि कोई बात उनकी लेखनी से सीधे ढंग से निकलती ही नही। (विशेष विवेचन के लिए अलङ्कार वाला अध्याय देखिए) पर इसका अर्थ यह नहीं कि उन उक्तियों मे हृदय को स्पर्श करने की क्षमता नहीं है। वे एक अत्यन्त सरस हृदय से निकली समझ पडती है। नैषध की एक बडी विशेषता है उसकी नाटकीय कथोपकथन-शैली। वर्णन अधिक-तर किसी न किसी पात्र के मुँह से हुए है, या किसी न किसी पात्र के आलम्बन के रूप में। कवि स्वयं बहुत कम सामने आता है। 'काव्य-कथानक', 'कथानक का औचित्य' तथा 'रसनिरूपण' वाले अध्यायों में प्रायः सभी वस्तुओ के औचित्य का यथावसर विवेचन कर दिया गया है। यहां कुछ विशेष वस्तुओ की वर्णन-शैली की विशेषता को दिखाने का प्रयत्न किया जायगा, जिन पर अब तक विशेष दृष्टि से विचार नहीं किया गया है।

उपवन-वर्णन

दमयन्ती के प्रति पूर्व राग-व्यथित नल मन बहलाने के लिए उपवन में जाते हैं। राजोद्यान होने के कारण उपवन हर प्रकार से सम्पन्न दिखाया गया है। आचार्यो ने उद्यान-वर्णन में कुछ वस्तुओं की सूची निर्धारित की है।[1] श्रीहर्ष ने उनका वर्णन यथास्थान किया है, पर इस ढंग से कि वह 'शास्त्र-स्थिति-प्रदर्शन' मात्र नही लगता। उन वस्तुओं का वर्णन किसी विशेष सौन्दर्य को बढाने के प्रसंग में हुआ है, अनायास नही। कवि उद्यान की प्रत्येक वस्तु को प्रिया-वियुक्त अनुरागी की आँखो से देखता है। सुन्दर फूल फल सभी क्लेश को बढाते ही हैं, घटाते नही। आलम्बनों (पुष्प फल आदि) का चित्रण करते समय कवि ने आश्रय (राजा) के अनुभावों को भी दिखाना चाहा है। ऐसा न होता तो भी पाठक या श्रोता को भाव ग्रहण मे कठिनाई न पडती। केतकी को देखकर नल मन ही मन झुंझला कर उससे कहते हैं, "कामदेव अपने पुष्पमय धनुष के मधु से गीले हाथ मे तुम्हारे पराग की धूलि लगा कर मुझे अपने बाणो का लक्ष्य बनाता है।"[2]

नल के वियोगी हृदय की प्रतिक्रियाओ का कवि को इतना अधिक ध्यान है कि उसने कही-कही अतिरम्य फूल फल का चित्रण अत्यन्त जुगुप्सामय कर दिया है। उदाहरणार्थ—नल ने कामदेव के अर्द्धचन्द्राकार बाणो के समान, वियोगियों के हृदय को विदारने वाले तथा दुर्बल पथिकों का मास भक्षण करने के कारण (पल अश्) यथार्थ नाम वाले पलाश वृक्ष मे फूलो का गुच्छा देखा[3]। मानो वह (वियोगियों के हृदय में सम्बद्ध) कालखण्ड (नामक उस काले मास) से निकला हो (जो दाहिने पार्श्व में रहता है)।"

इस उपवन वर्णन मे समासोक्ति तथा उत्प्रेक्षा का भरपेट प्रयोग हुआ है। 'वायु द्वारा चुम्बित, परागकणों के रूप में रोमाञ्चित, स्मित विकसित कलिकाओं से सुशोभित ईषत्-कम्पित अभिनव लताओं' को नल भय तथा आदर के साथ अपनी

---

१. उद्याने सरणिः सर्वफलपुष्पलताद्रुमाः।
पिकालिकेकिहंसाद्याः क्रीडावाप्यध्वगस्थितिः॥ काव्य-कल्पलता-वृत्ति १।५।६८

२. धनुर्मधुस्विन्नकरोऽपि भीमजापरं परागैस्तव धूलिहस्तयन्।
प्रसूनधन्वा शरसात्करोति मामिति क्रुधाक्रुश्यत तेन केतकम्॥ नै० १।८१

३. स्मरार्धचन्द्रेषुनिभे क्रशीयसां स्फुटं पलाशेऽध्वजुषां पलाशनात्।
स वृन्तमालोकत खण्डमन्वितं वियोगिहृत्खण्डिनि कालखण्डजम्॥ नै० १।८४

आँखो से पी रहे थे[1]। इसी प्रसङ्ग में श्रीहर्ष ने पथिकों का भी उल्लेख किया है। नल को वे चम्पा-कलिकाए मदन की बलि-दीप-शिखा ही समझ पड़ी, जो भ्रमर-रूप (दीपशिखा की) कालिख के बहाने मानो पथिक-पतङ्गो के वध रूप पाप कर्मो का अर्जन कर रही थी।"[2] राजोद्यान में पथिको की चर्चा कवि-परम्परा-भुक्त ही मानी जायगी। चम्पा पर भ्रमर का बैठना भी एक विशेष परम्परा की प्रेरणा है। उपवन मे कोकिल की कूक और भ्रमर की गुजार भी सुनाई पड़ती है, पर अत्यन्त मधुर कल्पना के परिधान में समावृत। कोकिल अपनी कूक मे मानो वियोगियों की करुण कथा कह रहा था और वन उस कोकिल से भ्रमरो की गुजारो के रूप की हुँकारो द्वारा सुन रहा था, तथा करुण-पुष्प करुणरस के समान विकास पा रहे थे।[3] कवि के सूक्ष्म निरीक्षण का एक सुन्दर उदाहरण देखिए, "नाग-केसर के पुष्प पर भ्रमरो की पङ्क्तिया आ-आ कर बैठती थी तथा उनके भ्रमण की गति से पुष्पों के पराग गिरते थ। नल को ऐसा प्रतीत हुआ, मानो तेजी से चलते हुए श्याम निकष पर मदन-बाण तीक्ष्ण किया जा रहा है, उसके घर्षण से पराग रूपी चिनगारियाँ[4] निकल रही है। श्लोक का पूर्वार्द्ध प्रस्तुत को बड़ी सूक्ष्मता के साथ वर्णित करता है, उत्तरार्द्ध में कवि ने अप्रस्तुत की योजना नल की दृष्टि से की है। समस्त उद्यान-वर्णन मे इसी प्रकार प्रस्तुत वस्तु की झाकी भर मिलती है। तब तक कवि की कल्पना का ऐसा भारी आवरण पड़ जाता है कि पाठक प्रस्तुत को प्रायः भूल ही जाता है। बार-बार पाठक का ध्यान प्रस्तुत से हटा कर दूसरी वस्तुओ की ओर ले जाना कभी-कभी अच्छा नही समझ पड़ता। अप्रस्तुत की योजना वस्तु का भावपूर्ण समग्र चित्र उपस्थित करने के लिए की जाती है। बार बार कामदेव के बाणो तथा पौराणिक कथानकों की याद मन को उबा देती है। उपवन मे वाराङ्गना-कुचोपम पके बिल्व-फल, मदन-तूणीर-सदृश पाटल (गुलाब) पुष्प, इन्दुकलानुकारी अगस्त्य पुष्प, मदनशास्त्र-सदृश रक्त पत्तों वाले अशोक, आदि का चमत्कारपूर्ण वर्णन हुआ है। कही-कहीं वर्णन अत्यन्त सरस भी हो गया है। वन-पवन का वर्णन करते

---

१. नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता करम्बिताङ्गी मकरन्दशीकरैः।
दृशा नृपेण स्मितशोभिकुड्मला दरादराभ्यां दरकम्पिनी पपे॥ नै० १।८५

२. विचिन्वतीः पान्थपतङ्गहिंसनैरपुण्यकर्माण्यलिकज्जलच्छलात्।
व्यलोकयच्चम्पककोरकावलीः स शम्बरारेर्बलिदीपिका इव॥ नै० १।८६

३. पिकाद्वने श्रृण्वति भृङ्गहुङ्कृतैर्दशामुदञ्चत्करुणे वियोगिनाम्॥ नै० १।८८

४. गलत्परागं भ्रमिभङ्गिभिः पतत्प्रसक्तभृङ्गावलि नागकेसरम्।
स मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणं शाणमिव व्यलोकयत्॥ नै० १।९२

हुए श्रीहर्ष कहते है—"लता-रमणी का नृत्य-कला-गुरु, पुष्पसौरभ का चोर कुसुम-मकरन्द से सुवासित, जल मे सलील तैरने वाला वन-पवन नल की सेवा कर रहा था"[1] पवन के शैत्य, मान्द्य, सौगन्ध्य तीनो गुणों को कवि ने किस निपुणता से व्यञ्जना द्वारा कह दिया है ?

इसी उपवन मे सरोवर का भी वर्णन है। श्रीहर्ष ने उसे सागर के समान बताया है।[2] उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति आदि के द्वारा सरोवर की प्रत्येक विशेषता सागर की किसी न किसी विशेषता से मिलती है। सरोवर के कमलनाल जल-निलीन ऐरावतो के दांत है, जो शेषनाग की पूँछ के समान छवि वाले है।[3] श्वेत कमल चन्द्रमा है[4] शैवाल दडवाग्नि की धूमराशि है, आदि।[5]

कुण्डिनपुर-वर्णन

पुरी का दृश्य हस के नेत्रों के सामने जैसा आया उसी प्रकार वर्णित हुआ है। एक प्रकार से पुरी के प्रति भावो का आश्रय हस ही लगता है। किन्तु उसका वर्णन इतना सूक्ष्म तथा विस्तृत है कि उसका आश्रय स्वयं कवि अथवा पाठक या श्रोता रूप मानव ही कहा जायगा, हस को पक्षी होने के कारण उन भावो का आश्रय मानना उचित न होगा । श्रीहर्ष नगर-जीवन से बहुत परिचित समझ पडते है। पुरी-वर्णन मे स्फटिक-मणि-विनिर्मित भवन[6], नीलमणि-रचित राज-प्रासाद,[7] मणिमय गृह[8], कुङ्कुमराग-कषायित-क्रीडावापी,[9] जलपूर्णपरिखा,[10] गगनचुम्बी गृहो

---

१. लताबलालास्यकलागुरुस्तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः ।
असेवतामुं मधुगन्धवारिणि प्रणीतलीलाप्लवनो वनानिलः॥ नै० १।१०६
२. निलीय तस्मिन्निव सन्नपांनिधिर्वने तडाको ददृशेऽवनीभुजा॥ नै० १।१०७
३. पयोनिलीनाभ्रमुकामुकावलीरदाननन्तोरगपुच्छसुच्छवीन् ।
जलार्धरुद्धस्य तदान्तभूमिदो मृणालजालस्य मिषाद्बभार यः॥ नै० १।१०८
४. सिताम्बुजानां निवहस्ययश्छलात्..............
..............कुलं सुधांशोर्बहलं वहन् बहु॥ नै० १।११०
५. चलीकृता यत्र तरङ्गरिङ्गणैरबालशैवाललतापरम्पराः।
ध्रुवं दधुर्वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमभूमधूमताम्॥ नै० १।११४
६. स्फटिकोपल विग्रहा गृहाः॥ नै० २।७४
७. नृपनीलमणीगृहत्विषाम्॥ नै० २।७५
८. सितदीप्रमणिप्रकल्पिते यदगारे॥ नै० २।७६
९. सुदतीजनमज्जनार्पितैर्घुसृणैर्यत्र कषायिताशया।
.............वापिका..... ....॥ नै० २।७७
१०. परिखाकपटस्फुटस्फुरत्प्रतिबिम्बानवलम्बिताम्बुनि। नै० २।७९

की उन्नतपताकाए[1] ऊपर नीचे अद्‌भुत वस्तुजात से सम्पन्न भवन,[2] प्रासाद-भित्तियों पर निर्मित पुत्तलिकाएं,[3] कनक-प्राकार,[4] सूर्यकान्त-मणियो वाले भवनों से दिन भर अग्नि ज्वालाओं का निकलना,[5] सागर के समान कोलाहल तथा रत्नादि से पूर्ण बाजार[6], भवन की अट्टालिकाओं पर जटित चन्द्रकान्त मणियों से प्रति चन्द्रोदय के समय जलस्राव[7], गन्धी-बाजार मे केशर की दूकानों की वीथिया,[8] दूकानों पर फैलाई अगणित वस्तुए[9], सूर्यकान्त-मणि-जटित राजमार्गो पर शिशिर की रातों में शीत का अभाव,[10] चन्द्रकान्त-मणि-जटित राजमार्गो पर ग्रीष्म के ताप का अभाव,[11] ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चारो वर्णो का मर्यादा-सहित निवास करना,[12] मरकत-रचित क्रीड़ा-पर्वत की ऊंची हरित रश्मियों,[13] आदि का वर्णन है। श्रीहर्ष की दार्शनिकता अलङ्कार-विधान मे भी झलक पड़ती है। निशीथ-वेला मे नगरी के विषय मे क्षण भर के लिए नीरव हो जाने की अवस्था मे कवि की उत्प्रेक्षा है—"वह ऐसी प्रतीत होती है मानो प्राकार (चहार-दीवारी) की पङि्क्त का योगवस्त्र धारण कर

---

१. व्रजते दिवि यद्‌गृहावलीचलचेलाञ्चलदण्डताडनाः।
व्यतरन्नहणाय विश्रमं सृजते हेलिहयालिकालनाम्॥ नै० २।८०

२. क्षितिगर्भधराम्बरालयैस्तलमध्योपरिपूरणां पृथक्।
जगतां किल याखिलाद्‌भुताजनि सारैर्निजचिह्नधारिभिः॥ नै० २।८१

३. बहुरूपकशालभञ्जिकामुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्कवः—इत्यादि॥ नै० २।८३

४. वरणः कनकस्य मानिनीम्.......परिरभ्यानुनयन्नुवास याम्॥ नै० २।८६

५. अनलैः परिवेषमेत्य या ज्वलदर्कोपलवप्रजन्मभिः। नै० २।८७

६. बहुकम्बुमणिः...............।
........पट्टु दध्वानयदापणार्णवः॥ नै० २।८८

७. यदगारघटाट्टकुट्टिमस्रवदिन्दूपलतुन्दिलापया॥ नै० २।८९

८. अनुसायमभूर्विलेपनापणकश्मीरजपण्यवीथयः॥ नै० २।९०

९. विततं वाणिजापणेऽखिलं पणितुम्......
....................जगतीवस्तु....। नै० २।९१

१०. रविकान्तमयेन सेतुना सकलाहं ज्वलनाहितोष्मणा।
शिशिरे निशि गच्छतां पुरा चरणौ यत्र दुनोति नो हिमम्॥ नै० २।९३

११. विधुदीधितिजेन यत्पथं पयसा........... ।
शशिकान्तमयं तपागमे कलितीव्रस्तपति स्म नातपः॥ नै० २।९४

१२. स्थितिशालिसमस्तवर्णतां न कथं चित्रमयी बिभर्तु या॥ नै० २।९८

१३. वैदर्भीकेलिशैले मरकतशिखरादुत्थितैरंशुदर्भैः॥ नै० २।१०५

मणिभवन-रूपी किसी अन्तर्ज्योति की उपासना कर रही है।"[1] राज-प्रासादों की ऊंचाई बताने के लिए कवि एक अत्यन्त सुन्दर चित्र खीचता है—"सुधा-धवल राज-मन्दिरों के कण्ठ-प्रदेश मेघ-खण्डो के स्पर्श के कारण श्यामवर्ण दिखाई देते हैं। तो वे (राजमन्दिर) (गौरदेह वाले) नीलकण्ठ भगवान् इन्दुमौलि की समता क्यो न पावे?"[2]

अन्तःपुर-वर्णन

कुण्डिनपुर मे दमयन्ती का अन्त.पुर नल के हर्ष-विषाद भावों का आलम्बन है। "अहा, यह वह पुरी है जिसकी वीथिया दमयन्ती के मृदु-चरणो के स्पर्श से कृतार्थ हुई हैं।" इस प्रकार उत्कण्ठा-विकल राजा ने क्षण भर उस नगरी को सस्पृह देखा। पर देवों द्वारा अपनी आशा को खण्डित सोच कर एक लम्बा नि.श्वास लिया।[3]

द्वार पर खड़े रक्षको का, नृत्य-गीत का, तथा नल की मानसिक परिस्थितियों का सुन्दर चित्रण हुआ है। अदृश्य नल के अङ्ग से सुन्दरियों का स्पर्श होना, नल के रत्नाभूषण में किसी सुन्दरी के दुकूल का उलझ जाना और उससे उसके नितम्ब का दिगम्बर[4] हो जाना, चतुष्पथ पर किसी सुन्दरी की गेद की चोट लगना, किसी के द्वारा सघर्ष पाकर नखाङ्कित हो जाना, किसी के स्तन-कुङ्कुम से लिप्त हो जाना[5] आदि का अत्यन्त सजीव चित्रण हुआ है। नल के प्रतिबिम्ब को हार या दर्पण मे देख कर सुन्दरियो का मदनवश होना,[6] उनके अङ्ग-स्पर्श से पुलकित

---

१. क्षणनीखया ययानिशि श्रितवप्रावलियोगपट्टया।
मणिवेश्ममयं स्म निर्मलं किमपि ज्योतिरबाह्यमिज्यते॥ नै० २।७८

२. दधदम्बुदनीलकण्ठतां वहदत्यच्छसुधोज्ज्वलं वपुः।
कथमृच्छतुयत्र नाम न क्षितिभृन्मन्दिरमिन्दुमौलिताम्॥ नै० २।८२

३. भैमीपदस्पर्शकृतार्थरथ्या सेयं पुरीत्युत्कलिकाकुलस्ताम्।
नृपो निपीय क्षणमीक्षणाभ्यां भृशं निशश्वास सुरैः क्षताशः॥ नै० ६।५

४. संघट्टयन्त्यास्तरसात्मभूषाहीराङ्कुरप्रोतदुकूलहारी ।
दिशा नितम्बं परिधाप्य तन्व्यास्तत्पापसंतापमवाप भपः॥ नै० ६।२८

५. हतः कयाचित् पथि कन्दुकेन संघट्टय भिन्नः करजैः कयापि।
कयाचनाक्तः पथि कुङ्कुमेन संभुक्तकल्पः स बभूव ताभिः॥ नै० ६।२९

६. छायामयः प्रैक्षि कयापि हारे निजे स गच्छन्नथ नेक्ष्यमाणः।
तच्चिन्तयान्तर्निरचायि चारु स्वस्यैव तन्व्या हृदयं प्रविष्टः॥ नै० ६।३०

होना[१], अत्यन्त भावुक तथा स्वाभाविक लगता है। नल कही पर दमयन्ती का चित्र बनाकर ही मन बहलाने लगते है[२]—कही सुन्दरियां एक दूसरे की यौवन-पून-कान्ति देख रही हैं—नल उनके बीच से निकल जाते है और इस प्रकार क्षण भर का आकस्मिक व्यवधान उत्पन्न कर उन्हें आश्चर्य में डाल देते है[३], वही नल-दमयन्ती का भ्रान्ति में वास्तविक मिलन भी वर्णित है[४]। सारिका की बातें[५], सखियो के अभिनय[६], प्रतिकर्म[७] (शृङ्गार रचना), मदनपत्र-लेखन,[८] चित्राङ्कन,[९] वीणावादन,[१०] मालाग्रथन,[११] पत्र-रचना,[१२] अक्ष-क्रीड़ा[१३] आदि का अत्यन्त सरस चित्रण कवि के राजाओं के अन्त.पुर-विषयक ज्ञान का परिचय देता है।

---

१. उल्लास्यतां स्पृष्टनलाङ्गमङ्गं तासां नलच्छायपिबाऽपि दृष्टिः।
अश्मैव रत्यास्तदर्नात पत्या छेदेऽप्यबोधं यदहर्षि लोम॥ नै० ६।३४

२. उल्लिख्य हंसेन दले नलिन्यास्तस्मै यथार्दाश तथैव भैमी।
तेनाभिलिख्योपहृतस्वहारा कस्या न दृष्टाजनि विस्मयाय॥ नै० ६।३७

३. तारुण्यपुण्यामवलोकयन्त्योरन्योन्यमेणेक्षणयोरभिख्याम्।
मध्ये मुहूर्तं स बभूव गच्छन्नाकस्मिकाच्छादनविस्मयाय॥ नै० ६।४०

४. अन्योन्यमन्यत्रवदीक्षमाणौ परस्परेणाध्युषितेऽपि देशे।
आलिङ्गतालीमपरस्परान्तस्तथ्यं मियस्तौ परिषस्वजाते॥ नै० ६।५१

५. एतं नलं तं दमयन्ति, पश्य...........।
श्रुत्वा स नारी करवर्तिसारीमुखात्........॥ नै० ६।६०

६. यत्रैकयालीकनलीकृतालीकण्ठे मृषाभीमभवीभवन्त्या।
..................................॥ इत्यादि ॥ नै० ६।६१

७. चन्द्राभ्रमाभ्रं तिलकं दधाना..............इत्यादि॥ नै० ६।६२

८. दलोदरे काञ्चनकेतकस्य...........।
............यत्र स्वमनङ्गलेखं लिलेख भैमी.....॥ नै० ६।६३

९. विलेखितुं भीमभुवो लिपीषु सख्या.......इत्यादि॥ नै० ६।६४

१०. भैमीमुपावीणयदेत्य यत्र कलि-प्रियस्य प्रियशिष्यवर्गः॥ नै० ६।६५

११. ....प्रसूनैः।
स्रजं सृजन्त्या..............॥ नै० ६।६७

१२. आलिख्य सख्याः कुचपत्रभङ्गीमध्ये सुमध्या मकरीं करेण॥ नै० ६।६९

१३. शारीं चरन्तीं सखि! मारयैतामित्यक्षिदाये कथिते कयापि...इत्यादि॥
नै० ६।७१

विवाह-वर्णन

इसमे नगर की सजावट, मङ्गलवाद्य, वधूवर का नख-शिख शृङ्गार, वर-यात्रा, विवाह-विधि, यौतक (दहेज) तथा हास-परिहास के साथ बरातियों के भोजन आदि का विस्तृत चित्रण एवं हृदयहारी वर्णन हुआ है। दमयन्ती की सहज तथा अलङ्कृत शोभा का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष कहते है—"अलङ्करणो के बिना भी दमयन्ती स्वय सुषमा की पराकाष्ठा थी, पर कुशल सखियो ने उसे और भी विशिष्ट प्रकार से अलङ्कृत कर दिया था, जिससे वैदर्भी सीमातीत लगने लगी थी—इसका कोन निर्णय कर सकता था कि भूषणो से दमयन्ती की शोभा हो रही थी, अथवा दमयन्ती से भूषणो की।"[1] शृङ्गार-वर्णन मे कही भी बात सीधी नही कही गई, कोई न कोई उत्प्रेक्षा, रूपक या अतिशयोक्ति अलङ्कार अवश्य जुड़ा हुआ है। उदाहरणार्थ —अञ्जन-रेखा का वर्णन करते हुए कवि कहता है—"दमयन्ती के अपाङ्गो तक फैली हुई अञ्जन-रेखा अत्यन्त सुशोभित हो रही थी, मानो यौवन-श्री ने सुन्दरी के नेत्रो को और दीर्घ करने के लिए नापने की डोरी लगाई है।"[2] एक बात को कई ढंग से कहना तो श्रीहर्ष की शैली है। लगता है मानो कवि की कल्पना पहिले के वर्णन से सन्तुष्ट नही हुई है। इसी अञ्जन के रेखा के विषय मे पूर्वोक्त के सिवा दो और कल्पनाए देखिए—कवि का वितर्क है कि "यह रेखा अञ्जन की नही है। स्यात् बार-बार मदन-भावनाओं से पूर्ण कटाक्षो के चलाने के कारण नेत्र प्रान्त तक जाने वाली दमयन्ती की पुतरी रूप नीलमणि ने अपनी श्याम-प्रभा से यह मार्ग बना लिया है।"[3] फिर "दमयन्ती के नेत्र अञ्जन-रेखा से युक्त हो कर अद्भुत शोभा पा रहे थे—मानों ये मदन के बाण रूप दो नील कमल है जो मदन की बाहुओं से धनुष की प्रत्यञ्चा के खीचने से बनी काली चिह्न-रेखा के सहित सुशोभित है।"[4]

बरात देखने की उत्कण्ठा स्वाभाविक है। कवियो ने बहुत प्राचीन काल से बरात के प्रसग मे अट्टालिकाओं एवं राजमार्ग से पुराङ्गनाओ का सोत्कण्ठ देखना

---

१. विनापि भूषामवधिः श्रियामियं व्यभूषि विज्ञाभिरदर्शि चाधिका।
न भूषयैषाधिचकास्ति किं तु सानयेती कस्यास्तु विचारचातुरी॥ नै० १५।२७

२. अपाङ्गमालिङ्ग्य तदीयमुच्चकैरदीपि रेखा जनिताञ्जनेन या।
अपाति सूत्रं तदिव द्वितीयया वयः श्रिया वर्धयितुं विलोचने॥ नै० १५।३४

३. अनङ्गलीलाभिरपाङ्गधाविनः कनीनिकानीलमणेः पुनः पुनः।
तमिस्रवंशप्रभवेन रश्मिना स्वपद्धतिः सा किमरञ्जि नाञ्जनैः॥ नै० १५।३५

४. असेविषातां सुषमां विदर्भजादृशाववाप्याञ्जनरेखयाऽन्वयम्।
भुजद्वयज्याकिणपद्धतिस्पृशोः स्मरेण बाणीकृतयोः पयोजयोः॥ नै० १५।३६

अवश्य वर्णित किया है। श्रीहर्ष ने उनकी तल्लीनता के सुन्दर चित्र प्रस्तुत किए हैं। उदाहरणार्थ—"किसी सुन्दरी ने नल के देखने मे तत्पर-नयना होने के कारण हाथ में लिए हुए पान को खाने के बजाय मुख मे अपना नीला कमल ही डाल लिया। मानों उसे यह क्रोध था कि मेरे मुख रूपी राजा के होते हुए यह कमल क्यों राजा बन रहा है।"[1]

स्त्रियों का वर तथा बरात की ओर सङ्केत कर के उन्हे अपनी सखियों को दिखाना अत्यन्त स्वाभाविक तथा सूक्ष्म चित्रण है। उत्कण्ठा तथा तल्लीनता का एक चित्र देखिए—"कोई सुन्दरी नल की ओर सकेत कर के अपनी सखी को दिखा रही थी। वेग से हाथ उठाने पर उसके कङ्कण मे उलझ कर मोतियो का हार टूट गया और बिना देखे ही उसके सारे मोती बिखर गए—मानों उसने उस समय नल के लिए आचार-लाज छिटकाए हों।"[2] भीड मे रसिकों की क्रीड़ाओं का भी उल्लेख हुआ है। वह कवि का अपना निरीक्षण ही है। जब कि सारे समाज की आँखे नल के ऊपर गड़ी हुई हैं, उसी समय किसी पुश्चली के आए हुए जार से आलिङ्गने के कारण नल-दर्शन मे रह रह कर विघ्न पड़ता है।[3] पुराङ्गनाओ की सर्वात्मना तल्लीनता का एक सुन्दर चित्र और देखने योग्य है। किसी सुन्दरी का आभूषण गिर गया है, दूसरी पास खड़ी उसे उसकी सुध दिला रही है किन्तु "नल को देखने मे तल्लीन उन मृगनयनियो के कान भी अपने आभूषण के नील-कमल रूपी आखों से नल को देखने लगे थे, सम्भवतः इसीलिए वे भी ऐसे बेसुध हो गए थे जिससे वे सखियो की बाते भी न सुन सके।"[4]

विवाह-विधि परम्परागत ढग से वर्णित है। यौतक मे राजविभवोचित वस्तुएं दी गई है। कुछ अस्त्र-शस्त्रों के भी नाम है जो श्रीहर्ष के वीर-युग मे महत्त्वशाली माने जाते थे।

---

१. करस्थताम्बूलजिघत्सुरेकिका विलोकनैकाग्रविलोचनोत्पला।
मुखे निचिक्षेप मुखद्विराजतारुषेव लीलाकमलं विलासिनी॥ नै० १५।७७

२. सखीं नलं दर्शयमानयाङ्कतो जवाद्धुदस्तस्य करस्य कङ्कणे।
विषज्य हारैस्त्रुटितैरतर्कितैः कृतं कयापि क्षणलाजमोक्षणम्॥ नै० १५।७५

३. कयापि वीक्षाविमनस्कलोचने समाज एवोपपतेः समीयुषः।
घनं सविघ्नं परिरम्भसाहसैस्तदा तदालोकनमन्वभूयत॥ नै० १५।७८

४. वतंसनीलाम्बुरुहेण किं दृशा विलोकमाने विमनीबभूवतुः।
अपि श्रुती दर्शनसक्तचेतसां न तेन ते शुश्रुवतुर्मृगीदृशाम्॥ नै० १५।८१

बरातियों का भोजन तथा उपहास एक साथ रक्खा गया है—इस उपाय द्वारा भोजन-वर्णन भी सरस तथा रुचिकर हो गया और उपहास भी समयोचित और उपयोगी हो गया। अन्यथा भोजन और उपहास दोनों का वर्णन करना काव्य-शिष्टता के विरुद्ध था। केवल भोजन-पदार्थों का नाम गिनना अरुचिकर होता अथवा कोरा उपहास नीरस होता। भोजन के साथ उपहास के एक दो चित्र पर्याप्त होंगे। "किसी युवक के सामने घी से चिकने चमकते भोजन पात्र मे सुन्दरी का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था। युवक ने उस प्रतिबिम्ब के वक्षःस्थल पर दो लड्डू रखकर उन्हे नख से कुरेदना प्रारम्भ किया और अन्त मे सुन्दरी के देखते हुए उन लड्डुओ को निर्दयता के साथ मसल डाला।"[1] "युवक की थाली में खाने को भात है तो भी वह अपने हाथ को पद्म-कोष-सा बनाकर मागता है कि "इतना चावल दो", सुन्दरियों ने सकेत की व्यञ्जना समझ ली। एक ने दूसरी से कहा "सखी देती क्यों नही ?" दूसरी ने उत्तर दिया "तू ही क्यों नही देती !" इस प्रकार परस्पर विवाद में लग कर सुन्दरियों ने चाहते हुए भी उसे उसकी अभिवाञ्छित वस्तु न दी।"[2]

प्रभात-वर्णन

प्रभात-बेला मे राजाओं को जगाने के लिए आज भी चारणों का गान होता है तथा शहनाई बजाई जाती है। नैषध मे इसका सन्निवेश अत्यन्त उपयुक्त स्थान पर हुआ है। प्रभात वर्णन के आश्रय वैसे तो नल-दमयन्ती हैं, जो उषा की मधुर स्निग्ध वेला मे रतिश्रान्त परिरम्भ किए सोए हुए हैं, किन्तु इस प्रकार के प्राकृतिक दृश्य श्रोता या पाठक के भावों के भी आलम्बन होते है।

उषाकाल मे प्राची की मुस्कान तथा चन्द्रमा-सहित प्रतीची की खिन्नता पर कवि की कैसी भाव-पूर्ण कल्पना है—"उधर वरुण की भार्या प्रतीची दिशा को पाकर शीताशु के रश्मि रूप वस्त्र धीरे-धीरे खिसकने लगे है—वे निरंकुश होते जा रहे हैं—और इधर इन्द्र की रानी प्राची पर-पुरुष का इस प्रकार परस्त्री-गमन देख कर प्रकाश के बहाने मानों मुस्करा रही है।"[3] "प्रभात में छोटे छोटे तारों का न

---

१. घृतप्लुते भोजनभाजने पुरः स्फुरत्पुरन्ध्रिप्रतिबिम्बिताकृतेः।
युवानिधायोरसि लड्डुकद्वयं नखैर्लिलेखाथ ममर्द निर्दयम्॥ नै० १६।१०३

२. सरोजकोशाभिनयेन पाणिना स्थितेऽपि कूरे मुहुरेव याचते।
सखि! त्वमस्मै वितर त्वमित्युभे मिथो न वादाद्दतुः किलौदनम्॥ नै० १६।९१

३. वरुणगृहिणीमाशामासादयन्तममुं रुचीनिचयसिचयांशांशभ्रंशक्रमेणनिरंशुकम्।
तुहिनमहसं पश्यन्तीव प्रसादमिषादसौ निजमुखमितः स्मेरं धत्ते हरेर्महिषी हरित्॥
नै० १९।३

दिखाई पड़ना, सूर्य की किरणों का मानों होड लगा कर गगन-प्राङ्गण मे पहुँचना तथा चन्द्रमा का मानों रात भर अन्धकार के साथ युद्ध करते हुए क्षीण-तेज दिखाई पड़ना"[१]—ये तीन ऐसे दृश्य है जिन पर प्रभात-वेला मे एक-साथ दृष्टि पड़ती है। इनका एक-साथ चित्रण करते हुए श्रीहर्ष का हृदय उनमे तल्लीन हो गया प्रतीत होता है।

प्रभात-वर्णन मे कवि के सूक्ष्म एवं भावपूर्ण निरीक्षण के एक दो चित्र उपयुक्त ही होंगे। "प्रभात-वेला मे सूर्य की किरणे अलक्तक (महावर) से भी अधिक रक्त तथा दीप्तिमान् होती है। दूर उन किरणो के साथ अन्धकार का सयोग इस प्रकार का प्रतीत होता है, मानों अनेक श्वेत पक्षियो के रक्तवर्ण चञ्चु श्याम पङ्क के ऊपर पड़ रहे है और उन किरणों की संगति से अत्यन्त कृष्णा भ्रमरी की प्रभा भी रक्त-श्याम हो गई है।"[२] और "रात मे कुश की नोकों पर पड़ी ओस की बूदे प्रभात मे ऐसी प्रतीत होती है, मानों लोहे की सुइयों पर छेद करने के लिए मोती रक्खे हों।"[३] बीच बीच मे कवि की बहुज्ञता ने भी पर्याप्त हस्तक्षेप किया है। जिससे कवि का मन प्रभात की रमणीयता से बहक कर वेदों, शास्त्रों और पुराणों के गह्वर मे अपनी कल्पना के उपकरण ढूंढने चला जाता है। उदाहरणार्थ—प्रातः तारो के विलुप्त होने तया चन्द्रमा को रश्मि-रहित होने के प्रति कवि कितनी दूर की गूढ कल्पना करता है—"भगवान् सूर्य की प्रभातकालिक किरणे "ऋक्"-रूप मानी गई है और प्रत्येक ऋचा के प्रारम्भ मे ओङ्कार अवश्य रहता है। तो प्रातः सूर्य की किरण-रूपी ऋचाओंके ओङ्कारों में अनुस्वार सूचक बिन्दुओं को लगाने के लिए ही मानों ये आकाश के निर्मल तारे बटोर लिए जाते है और उदात्त स्वर की रचना के लिए ही सम्भवतः चन्द्रमण्डल से उदात्त (ऊंची) रश्मियां ले ली जाती

---

१. अमहतितरास्तादृक्तारा न लोचनगोचरास्तरणिकिरणा द्यामञ्चन्ति क्रमाद परस्पराः।
कथयति परिश्रान्तिं रात्रीतमस्सहयुध्वनामयमपि दरिद्राणप्राणस्तमीदयित-स्त्विषाम् ॥ नै० १९।४

२. स्फुरति तिमिरस्तोमः पङ्कप्रपञ्च इवोच्चकैः पुरुसितगरुच्चञ्चुपुटस्फुटचुम्बितः।
अपिमधुकरी कालिम्मन्या विराजति धूमलच्छविरिव रवेर्लाक्षालक्ष्मीं करैरतिपातुकैः॥ नै० १९।५

३. रजनिवमथुप्रालेयाम्भः कणक्रमसम्भृतैः कुशकिशलयस्याच्छैरग्रेशयेरुदबिन्दुभिः।
सुषिरकुशलेनायःसूचीशिखाङ्कुरसङ्कुरं किमपि गमितान्यन्तर्मुक्ताफलान्यवमेनिरे॥ नै० १९।६

है।"[१] प्रातःकाल में वेदपाठियों की वेदध्वनि के प्रति यह कल्पना—"चारों वेदों की एक सहस्र शाखाएं ही सूर्य की सहस्र किरणो के रूप मे विवर्तित हुई है। वे किरणे अब हमारे समीप आ गई है। यह प्रातः वेदपाठियों के मुख-रूपी कन्दराओं मे इन्ही वेदशाखा-रूपधारी सूर्यकिरणो की वेद-पद-रूप प्रतिध्वनि ही तो गगन मे उड़ती है—"[२] कवि की शास्त्रज्ञता तथा रचना-कौशल का तो अवश्य पूर्ण परिचय देती है किन्तु रविकिरणो अथवा वेद- पाठियो के प्रति क्या भाव उत्पन्न करती है यह कहा नही जा सकता। इसी प्रकार कभी रामायण,[३] कभी पुराण,[४] कभी धर्मशास्त्र,[५] और कभी महाभारत,[६] आदि के प्रसग कवि को दूर खीच ले जाते है। किन्तु इस पर भी हम यह कह सकते है कि नैषध मे प्रभात का सौन्दर्य-वर्णन बड़ी सहृदयता के साथ हुआ है। प्रकृति के दृश्यो मे जहा कही मानवीकरण (समासोक्ति अलङ्कार) हुआ है, वहा हृदय की कोमल वृत्तियो का और भी पता चलता है। उदाहरणार्थ—कवि की दृष्टि मे तारो, निशा तथा शशि का सम्बन्ध वैसा ही है जैसा एक कुल के लोगो का परस्पर होता है। अत: "प्रभात होते होते अपने स्वामी चन्द्रमा की विपत्ति को देखना न सह सकने के कारण निशा एवं तारे उसके निस्तेज होने के पूर्व ही स्वय नष्ट हो गए, किन्तु इस चन्द्रमा का हृदय तो निश्चित ही पत्थर का बना है—जैसा कि काले पत्थर की छाया उसके मध्य में दृष्टि-गोचर होकर प्रमाणित कर रही है—जो अपने इन प्रिय जनों

---

१. रविरुचिरचितामोङ्कारेषु स्फुटामलबिन्दुतां,
गमयितुममूरुच्चीयन्ते विहायसि तारकाः।
स्वरविरचनायासामुच्चैरुदात्ततया हृताः।
शिशिरमहसो बिम्बादस्मादसंशयमंशवः॥ नै० १९।७
(श्रीहर्ष कृष्णयजुर्वेदकी मैत्रायणी या कठक सहिता के अनुयायी प्रतीत होते है। क्योंकि उदात्तस्वर पर खड़ी रेखा का चिह्न इन्हीं में लगता है, अन्यत्र कहीं नहीं।)

२. दशशतचतुर्वेदीशाखाविवर्तनमूर्तयः सविधमधुनाऽलङ्कुर्वन्ति ध्रुवं रविरश्मयः।
वदनकुहरेष्वध्येतॄणाममूं तदुदञ्चति श्रुतिपदमयस्तेषामेव प्रतिध्वनिरध्वनि॥
नै० १९।१०

३. नै० १९।८
४. नै० १९।१५
५. नै० १९।२८
६. नै० १९।४३

(तारे एवं रात्रि) के नष्ट होने पर भी वह शीघ्र विदीर्ण न हो गया।[1] "प्रभात-वर्णन मे कवि की दृष्टि भ्रमर, चक्रवाक, कुमुद, कमल की ओर विशेषत. जाती है। ये ही विशेष रूप से उसकी कल्पना के आधार बनते है। नैषध मे भ्रमर के विषय मे बड़ी भावपूर्ण उक्तिया कही गयी है। उषा वेला मे अभी सरोजिनी का बन्धन अच्छे प्रकार से ढीला नही हो पाया है—उसका मुख पूर्ण विकसित नही हो पाया है। भ्रमरी अबला है, कोमल है, उसमे प्रवेश करने की शक्ति नही है। किन्तु भ्रमर पुरुष है, उसमे पौरुष है, धृष्टता है, बल है,—वह बलात् प्रवेश करता है। सरोजिनी का मकरन्द मुँह में भर कर बाहर लाता है और इस प्रभात वेला मे प्रिया को प्रेम से खिलाता है तथा स्वय भी खाता है।[2] सरोवर के तट-वृक्षों पर रहने वाले पक्षी कलरव करने लगते है, जिससे सरोवर मे सोई कमलिनी के कमलरूप नेत्र खुल गए। भ्रमर कमलो के मकरन्द को अपनी प्रिया के अधरामृत से मिला कर पी रहा है।[3] चक्रवाक के विषय मे कवि की उक्ति है—"रात्रि के समय चक्रवाक को अपनी प्रिया से वियुक्त होना पड़ा था। अब चन्द्रमा अपनी प्रिया रात्रि से वियुक्त हो रहा है। रात्रि मे चक्रवाक के हृदय मे ताप था, अब प्रभात होने पर वह ताप सूर्य मे चला गया। इस प्रकार अब चक्रवाक को न वियोग है, न ताप। अब प्रिया से मिलने की अधीरता है। बियोग-वश उसकी जिह्वा अत्यन्त चञ्चल हो उठी है। विकल हो वह अपनी प्रिया को अनेकों बार नाम लेकर बुला रहा है।[4] प्रभात मे कुमुदिनी के

---

१. उडुपरिषदः किं नार्हत्वं निशः किमु नौचिती,
पतिरिह न यद्दृष्टस्ताभ्यां गणेयरुचीगणः।
स्फुटमडुपेतेराश्मं वक्षः स्फुरन्मलिनाश्मन-
श्छवि यदनयोर्विच्छेदेऽपि द्रुतं बत न द्रुतम्॥ नै० १९।१९

२. अनतिशिथिले पुम्भावेन प्रगल्भबलाः खलु,
प्रसभमलयः पाथोजास्ये निविश्ये निरित्वराः।
किमपि मुखतः कृत्वा नीतं वितीर्य सरोजिनी,
मधुरसमुषोयोगे जायां नवान्नमचीकरन्॥ नै० १९।२७

३. तटतरुखगश्रेणीसांराविणैरिव साम्प्रतं ।
सरसि विगलन्निद्रामुद्राजनिष्ट सरोजिनी।
अधरसुधया मध्ये मध्ये वधूमुखलब्धया।
धयति मधुपः स्वादुङ्कारं मधूनि सरोरुहाम्॥ नै० १९।२

४. विशति युवतित्यागे रात्रीमुचं मिहिकारुचं
दिनमणिमणिं तापे चित्तान्निजाच्च यियासति।
विरहतरलज्जिह्वां बह्वाह्वयन्त्यतिविह्वला-
मिह सहचरीं नामग्राहं रथाङ्गविहङ्गमाः॥ नै० १९।३५

मुकुलित होने के प्रति कवि की उक्ति है—"दिन मे कुमुदिनी अपने मुकुल-रूपी नेत्रों को बन्दकर अन्धी बन जाती है, वह सूर्य को नही देखती, जिससे लोग उसे बुरा कहते है। बात यह है कि कवियों ने राजदारा के लिए असूर्यम्पश्या विशेषण निश्चित कर दिया है। तो कुमुदिनी भी तो द्विजराज या उडुराज की दारा है, फिर वह 'असूर्यम्पश्या' क्यो न हो?[1] सूर्य की किरणों, भ्रमरों तथा कमलों के संयोग से सरोवर की शोभा का कवि ने अत्यन्त सलिष्ट चित्र उपस्थित किया है—'सरोवर के चारों ओर सूर्य की बालकिरणे फैली हुई है, अरुणिमा में वे किरणे कुङ्कुम-कुसुमो को भी मात करती है। जब सरोवर के कमलो की सुगन्ध लेकर भ्रमर आनन्द से ऊपर उठते है तो उनकी कृष्णिमा से मिलकर (अरुणवर्ण) किरणें गुञ्जाफल की शोभा धारण करती हुई-सी जान पड़ती है।'[2] और; सूर्य की बालरश्मियां सरोवर को अरुणिमा दे रही है, आने वाले भ्रमरों की श्यामावलियां उसे कृष्णिमा दे रही है तथा उसके मध्य मे विकसित कलियों वाले धवल कमल उसे श्वेतिमा दे रहे है—इस प्रकार सरोवर 'श्वेत-श्याम-रतनार' हो गया है।[3] अन्त में सूर्य के विषय में अनेको कल्पनाएं की गयी हैं, किन्तु साथ ही कवि का सूक्ष्म निरीक्षण एवं भावुक हृदय भी झलकता दिखायी पडता है। गवाक्षों से होकर आने वाली बाल सूर्य की किरणों में बड़ी द्रुतगति से घूमने वाले त्रसरेणुओ के प्रति बन्दीजन कहते हैं—"राजन्, भवन की गवाक्षो से प्रविष्ट होने वाली सूर्य की किरण रूपी रक्ताङ्गुलियों को सादर देखिए। वे ऐसी प्रतीत हो रही है मानो आप के नयन-कमल की अरुणनाल हों। इन किरणों मे रजः-परमाणु तेजी से घूमते हुए ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो स्वर्ग के बढ़ई

---

१. स्वमुकुलमयैर्नेत्रैरन्धंभविष्णुतया जनः,
किमु कुमुदिनीं दुर्व्याचष्टे खेरनवेक्षिकाम्।
लिखितपठिता राज्ञो दाराः कविप्रतिभासुये
शृणुत शृणुतासूर्यम्पश्या न सा किल भाविनी॥ नै० १९।३६

२. धुसृगसुमनःश्रेणीश्रीणामनादरिभिः सरः।
परिसरचरैर्भासां भर्तुः कुमारतरैः करैः।
अजनि जलजामोदानन्दोत्पतिष्णुमधुव्रता।
वलिशबलनाद् गुञ्जापुञ्जश्रियं गृहयालुभिः॥ नै० १९।३८

३. रचयति रुचिः शोणीमेतां कुमारितरा रवे,
र्यदलिपटली नीलीकर्तुं व्यवस्यति पातुका।
अजनि सरसी कल्माषी तद्ध्रुवं धवलस्फुटत्

विश्वकर्मा ने सूर्यदेव को फिर से शाण पर चढ़ाया हो, और ये उसी के स्फुलिङ्ग निकल रहे हों।[1] डूबते हुए चन्द्रमा के प्रति कवि की उक्ति है—"पश्चिम मे आधा डूबा हुआ चन्द्रमा मानों शङ्ख को काटने के लिए आरा हो, जो जल मे भिगोए हुए श्वेतशङ्ख को काटने के कारण उसके श्वेतपङ्क से पाण्डु-वर्ण हो गया है।[2] इसी चन्द्र-रूपी आरे ने विशाखा नक्षत्र के शङ्खाकार तारो को लुप्त कर दिया है। तथा जलोत्पन्न शङ्ख को काटने के लिए बडे वेग के साथ हाथ से चलाया जा रहा है। कवि ने कमल, कुमुद तथा भ्रमरो का एक साथ मनोहर चित्र दिया है—(कमल के) सरोवर मे अपने पखुडी-रूपी नेत्रो को खोले हुए जो कुमुद सतरी की भाति रात भर सरोवर की सम्पत्ति (कमल) की रखवाली करता रहा, अब दिन होने पर वही रात का जागा प्रहरी सुख की नीद सोने लगा है। भीतरमधुपो का गुजार ही उस शयालु का घुर्घुर् शब्द हो रहा है[3]। —प्रभात मे कौओं की काव-काव, कोयल की कूक तथा सिर हिलाते हुए कबूतर की 'घू-घू' की ओर भी श्रीहर्ष ने ध्यान दिया है, और उन्हें अपनी कल्पना से सुन्दर सजाकर चित्रित किया है।[4]

---

१. नय नयनयोर्द्राक्पेयत्वं प्रविष्टवतीरम-
भवनवलभीजालान्नाला इवार्ककराङ्गुलीः।
भ्रमदणुगणक्रान्ता भान्तिभ्रमत्य इवाशु याः
पुनरपि धृता कुन्दे किं वा न वर्धकिना दिवः॥ नै० १९।५४

२. ताराशङ्खविलोपकस्य जलजं तीक्ष्णत्विषो भिन्दतः।
सारम्भं चलता करेण निविडां निष्पीडनां लम्भितः।
छेदार्थोपहृताम्बुकम्बुजरजोजम्बालपाण्डूभव-
च्छङ्खच्छिन्त्करपत्रतामिह वहन्नस्ङ्गताधों विधुः॥ नै० १९।५७

३. अवैमि कमलाकरे निखिलयामिनीयामिक
श्रियं श्रयति यत् पुरा विततपत्रनेत्रोदरम्।
तदेव कुमुदं पुनर्दिनमवाप्य गर्भभ्रमद्,
द्विरेफरवघोरणाघनमुपैति निद्रामुदम्॥ नै० १९।५९

४. इह किमुषसि पृच्छाशसिकिंशब्दरूपे प्रतिनियमितवाचा वायसेनैष पृष्टः।
भग फणिभवशास्त्रे तातङः स्थनिनौ काविति: विहिततुहीवागुत्तरः कोकिलोभूत्॥
नै० १९।६०

दाक्षीपुत्रस्य तन्त्रे ध्रुवमयमभवत् कोऽप्यधीती कपोतः,
कण्ठेशब्दौघसिद्धिक्षतबहुकठिनीशेषभूषानुयातः
सर्वं विस्मृत्य दैवात् स्मृतिमुषसि गतां घोषयन्यो घुसंज्ञां,
प्राक् संस्कारेण सम्प्रत्यपि धुवति शिरः पट्टिकापाठजेन॥ नै० १९।६१

प्रभात का समय तभी तक रमणीय रहता है जब तक सूर्यमण्डल अपनी रक्तिमा लिए रहता है। सूर्यमण्डल के श्वेत हो जाने पर तो प्रभात का अनुराग ही नष्ट हो जाता है, और वह 'दिन' हो जाता है। श्रीहर्ष के भावुक नेत्र प्रभात के सौन्दर्य की इस सीमा को अच्छी तरह पहचानते थे। अतएव बन्दीजन प्रभात-वर्णन के अन्त मे कहते है, "तिमिर सागर का बडवानल तथा दु खी कमलिनियो का आनन्द-दाता सूर्य ऊपर चढ़ आया है। पर अब भी सूर्य अपनी भास्वर-शुक्लता नही धारण कर रहे है? सूर्य-रश्मिया अब भी आकाश को रक्त किए हुए है"।[1]

इसके बाद शीघ्र ही सूर्य-किरणो की प्रचण्डिमा प्रारम्भ हो जायगी, अत. वर्णन यही समाप्त हो जाता है।—वह समाप्ति भी पुरस्कार-दान-द्वारा की जाती है, बन्दीजनो के अकस्मात् चुप हो जाने से नही। काव्य की यह अभिनयात्मकता उसकी श्रेष्ठता का प्रमाण है। सम्पूर्ण वर्णन पढने से यही प्रतीत होता है, मानो उसे कवि ने स्वय जगकर उष काल से दूरारूढ सूर्य तक का सानन्द निरीक्षण करते हुए लिखा है।

सन्ध्या-वर्णन

इसके अतिरिक्त सूर्यास्त, अन्धकार, तारे, चन्द्रोदय, चन्द्रिका तथा चन्द्रमा आदि का वर्णन हुआ है। नल-दमयन्ती एकान्त मे प्रासाद के शिखर पर बैठे हुए यह वर्णन कर रहे है, अत यह उनके भावो का उद्दीपनमात्र कहा जायगा।

सूर्यास्त के समय अरुणाभ प्रतीची दिशा के प्रति कवि की उत्प्रेक्षा है—इसे 'अलक्तक' (महावर) से धोकर कुङ्कुम से पूर दिया गया है[2]। इसी विषय में एक और उत्प्रेक्षा देखिए—"आकाश रूपी पर्वत के उच्च शिखर से सूर्य-रूप गैरिक की बृहत् शिला पश्चिम दिशा की ओर गिरी। गिर कर चूर हो जाने पर उसी की धूल ऊपर उठ कर यह सन्ध्या की रक्तिमा के रूप में फैली है[3]। कभी-कभी श्रीहर्ष अपनी कल्पना की झोंक मे विरुद्धरस की भी झाकी दे देते है। सन्ध्या की अरुणिमा

---

१. दूरारूढस्तिमिरजलधेर्वाडवश्चित्रभानु–
भानुस्ताम्यद्वनरुहवनीकेलिवैहासिकोऽयम् ।
न स्वात्मीयं किमपि दधते भास्वरश्वेतिमानं–
द्यामद्यापि द्युमणिकिरणश्रेणयः शोणयन्ति॥ नै० १९।६४

२. आक्षालि लाक्षापयसेव येयमपूरि पङ्कैरिवकुङ्कुमस्य॥ नै० २२।३

३. उच्चैस्तरादम्बरशैलमौलेश्च्युतो रविर्गैरिकगण्डशैलः।
तस्यैव पातेन विचूर्णितस्य सन्ध्यारजोराजिरिहोज्जिहीते॥ नै० २२।४

है—"यह ब्रह्माण्ड सृष्टि के आदि में निर्मित एक मण्डप-रूप है, अति प्राचीन होने के कारण इस मण्डप के काष्ठों में घुन लग गए हैं—ये तारे उन्ही घुनो के छिद्र है तथा इन तारों की किरणे, उन छिद्रों से निकलने वाली, जीर्णकाष्ठ की श्वेत धूलि है[1]।

अन्धकार के विषय मे भी उसी प्रकार कल्पना पर कल्पना होती चली गयी है। चारों दिशाओ में फैले अन्धकार के प्रति कवि की उक्ति है। "पूर्व मे ऐरावत के श्याम मदजल[2], दक्षिण मे यमराज का महिष[3], पश्चिम में सूर्य रूपी महाकाल के फल का कृष्ण बीज[4] तथा उत्तर मे उदीची-रूपी नायिका की चैत्ररथ (कुबेर-वन) नाम की पत्र-रचना की सामग्री-रूप कस्तूरी[5] ही उन उन दिशाओ मे अन्धकार के नाम से अभिहित हैं, अन्धकार कोई पृथक् वस्तु नही है।" उसी प्रकार दिन मे भगवान् सूर्यदेव अपने सहस्रकरो से नील-गगन को ऊपर उठाए हुए थे। अब उनके अस्त हो जाने से वही श्याम-गगन निराधार होने के कारण चारो ओर फैलता हुआ नीचे चला आ रहा है, वही अन्धकार है, वैसे अन्धकार कोई अन्य वस्तु नहीं है[6]। अन्धकार पर उक्तियों की कल्पना करते हुए कवि को औलूक (वैशेषिक) दर्शन मे प्रतिपादित तमस् का ध्यान आ गया। उलूक और तमस् का सम्बन्ध सोच कर कवि को यह विस्मृत हो गया कि वह सन्ध्या या रात्रि के अन्धकार का वर्णन कर रहा है। उसके सामने केवल अन्धकार रह गया। उसे ध्यान आया कि दिन मे जब ग्रहाधीश भगवान् सूर्यदेव के तेज से सारे तारागण नष्ट-कान्ति हो जाते हैं, तथा समस्त वस्तुजात नेत्रगोचर होने लगते हैं, उस समय उलूक-गणो को चारो ओर अन्धकार ही

---

१. लोकाश्रयो मण्डपमादिसृष्टि ब्रह्माण्डमाभात्यनुकाष्ठमस्य।
स्वकान्तिरेणूत्करवान्तिमन्तिघुणव्रणद्वारनिभानि भानि॥ नै० २२।२५

२. शचीसपत्न्यां दिशि पश्य भैमी! शक्रेभदानद्रवनिर्झरस्य।
पोप्लूयते वासरसेतुनाशादुच्छृङ्खलः पूर इवान्धकारः॥ नै० २२।२६

३. रामालिरोमावलि दिग्विगाहि ध्वान्तायतेवाहनमन्तकस्य।
यद्वीक्ष्य दूरादिव बिभ्यतः स्वानश्वान्गृहीत्वापसृतो विवस्वान्॥ नै० २२।२७

४. पक्वं महाकालफलं किमासीत् प्रत्यग्गिरेःसानुनि भानुबिम्बम्।
भिन्नस्य तस्यैव दृशन्निपातादवीजानि जानामितमां तमांसि॥ नै० २२।२८

५. पत्युर्गिरीणामयशःसुमेरुप्रदक्षिणाद्भास्वदनादृतस्य।
दिशस्तमश्चैत्ररथान्यनामपत्रच्छटाया मृगनाभिशोभि॥ नै० २२।२९

६. ऊर्ध्वं धृतं व्योमसहस्ररश्मेर्दिवा सहस्रेण करैरिवासीत्।
पतत्तदेवांशमता विनेदं नेदिष्ठतामेति कुतस्तमिस्रम्॥ नै० २२।३०

दिखायी पडता है[1]। इस वर्णन की उपयुक्तता का निर्णय विद्वान् सहृदय पाठक स्वयं कर सकते है। इसके पश्चात् यथाक्रम चन्द्रोदय तथा चन्द्र-वर्णन आता है। चन्द्रोदय होने के थोड़ा पहिले प्राची की ओर एक सुन्दर आभा फैल जाती है। कवि उसका निरीक्षण स्वय करता हुआ-सा कहता है—"अभी चन्द्रदेव उदयगिरि-शिखर-माला की जवनिका की ओट मे ही है, पर उनकी प्रथम चन्द्रिकाए ही चकोरो के चञ्चुपुटो को तृप्त कर रही है[2]। चन्द्रमा की प्रथम किरणे वृक्ष की ऊची,चोटियों पर झलकती है, कवि की कल्पना है—"वृक्षों की शाखाए अभिसारिकाओं की भाति अन्धकार मे मानों नील वस्त्र पहन कर सकेत स्थान पर आई थी, और अब चन्द्रोदय होने पर अपने नीले वस्त्रो को परछाई के रूप मे वृक्षो के नीचे फेक कर तुरन्त चन्द्रिका-रूपी साडी पहन ली, जिससे चन्द्र ज्योत्स्ना मे अलग न समझ पडे और पकड़ी न जाय[3]। उदय के समय चन्द्रमा अरुण वर्ण रहता है। कवि उस अरुणिमा के प्रति अनेक कल्पनाये करता है। कभी कहता है कि "प्राची मे चन्द्रमा के सहोदर ऐरावत ने चन्द्रमा को अपने सिन्दूर-मण्डित मस्तक पर उठा लिया है, इसी कारण से उसमे अरुणाई आ गयी है।[4] कभी देवाङ्गनाओ के द्वारा अपने मुख की समानता के कारण प्रेम से शशि के चूमे जाने पर उनके अधरालक्तक के लगने से उसका रक्तवर्ण हो उदय होना बताया है।[5]

फिर धवल शीतांशु का भरपेट वर्णन किया गया। 'चन्द्रमा बालक-रूपी दोष का चादी का चकई भौरा' है। बालक ने लाल डोरे से इसे लपेट रक्खा था, अब घुमा कर लाल डोरे खीच लिए और यह खिलौना (आकाश मे नाचता, चढ़ता हुआ) ललाई छोड़ता जा रहा है।[6]

---

१ मूर्धाभिषिक्तः खलु यो ग्रहाणां तद्भासमास्कन्दितऋक्षशोभम्।
दिवान्धकारं स्फुटलब्धरूपमालोकतालोकमुलूकलोकः॥ नै० २२।३७

२. पश्यावृतोऽप्येष निमेषमद्रे रधित्यकाभूमितिरस्करिण्या।
प्रवर्षति प्रेयसि! चन्द्रिकाभिश्चकोरचञ्चूचुलुकप्रमिन्दुः॥ नै० २२।४०

३. ध्वान्ते द्रुमान्तानभिसारिकास्त्वं शङ्कस्व संकेतनिकेतमाप्ताः।
छायाच्छलादुज्झितनीलचेला ज्योत्स्नानुकूलैश्चरिता दुकूलैः॥ नै० २२।४१

४. निजानुजेनातिथितामुपेतः प्राचीपतेर्वाहनवारणेन।
सिन्दूरसान्द्रे किमकारि मूर्ध्नि तेनारुणश्रीरयमुज्जिहीते॥ नै० २२।४४

५. यत्प्रीतिमद्भिर्वदनैः स्वसाम्यादचुम्बि नाकाधिपनायिकानाम्।
ततस्तदीयाधरयावयोगादुदेति बिम्बारुणबिम्ब एषः॥ नै० २२।४५

६. बालेन नक्तं समयेन मुक्तं रौप्यं लसद्विम्बमिवेन्दुबिम्बम्।
भ्रमिक्रमादुज्झितपट्टसूत्रनेत्रावृत्तिं मुञ्चति शोणिमानम्॥ नै० २२।५१

रात्रि यमुना के समान है, और अन्धकार उसके श्याम जलप्रवाह के समान। उस अन्धकार-प्रवाह के चले जाने पर चन्द्रिका बालू के अन्तरीप के समान लगती है तथा चन्द्रमा उस पर जलता हुआ दीपक-सा।[1] शिव तथा मदन से चन्द्रमा का कई प्रकार से सम्वन्ध बताया गया है। चन्द्रमा का देवो को अमृत देना तथा चकोरों को चन्द्रिका देना भी कवि-सम्प्रदाय मे प्रशस्त कार्य माना गया है। श्रीहर्ष की उक्ति है—"चन्द्रमा चकोरो को कान्ति, देव-जाति को अमृत तथा शिव को अपनी कला देता हुआ सर्वोत्कृष्टता से प्रकाशमान है। क्यो न हो, कल्प-वृक्ष का सहोदर जो ठहरा। इसके लिए तो इतना भी थोड़ा ही है।"[2]

चन्द्रिका तथा चन्द्र-कलङ्क पर भी अनूठी उक्तिया कही गयी है। "पृथ्वी पर की वस्तुओ की श्याम छाया चन्द्र ज्योत्स्ना के साथ मिलकर इस प्रकार लगती है मानों चन्द्रिका चन्द्र कलङ्क की नीलकान्ति के साथ मिल रही हो।"[3] चन्द्रमा के अमृत के प्रति कवि को शङ्का हो रही है। उसकी उक्ति है—"चन्द्रमा के तेजमे सुधा रहती है यह प्रवाद नितान्त असत्य है। अथवा चन्द्र-तेज मे जो अमृत रहता है वह निश्चय ही जरा-मरण को दूर करने वाला नही है, अन्यथा इन्दुरश्मियों को पीने वाले ये चकोर क्यो न अजर अमर हो जाते।"[4] शरन्निर्मल चन्द्रमा मे उसका कलङ्क और निखर उठता है। कवि का निरूपण है कि "जिस शरद् ऋतु मे वर्षा के अपार मेघो की कालिमा को दूर करने का सामर्थ्य है—जिस शरद् के आते ही वर्षा के काले मेघ धवल हो जाते है—वह भी चन्द्रमा की इस थोडी सी कालिमा को नही मिटा सकती—प्रत्युत शरद् मे कृष्णिमा और भी दीप्त हो उठती है।"[5] सागर, अत्रि तथा शंकर तीनो का चन्द्रमा से घनिष्ठ सबन्ध विस्तृत रूप से वर्णित किया गया है। राहु भी उतना ही महत्त्व का है। चन्द्रमा से बढ कर कवि की कल्पना

---

१. ज्योत्स्नामयं रात्रिकलिन्दकन्यापूरानुकारेऽपसृतेऽन्धकारे।
परिस्फुरन्निर्मलदीप्तिदीपं व्यक्तायते सैकतमन्तरीपम्॥ नै० २२।६०

२. त्विषं चकोराय सुधां सुराय कलामपि स्वावयवं हराय।
ददज्जयत्येष समस्तमस्य कल्पद्रुमभ्रातुरथाल्पमेतत्॥ नै० २२।६३

३. ज्योत्स्नापटाः क्ष्मातटवास्तुवस्तुच्छायाच्छलच्छिद्रधरा धरायाम्।
शुभ्रांशुशुभ्रांशकराः कलङ्कनीलप्रभामिश्रविभा विभान्ति॥ नै० २२।७०

४. मृषा निशानाथमहः सुधा वा हरेदसौ वा न जराविनाशौ।
पीत्वा कथं नापरथा चकोरा विधोर्मरीचीनजरामराः स्युः॥ नै० २२।१००

५. पयोमुचां मेचकिमानमुच्चैरुच्चाटयामास ऋतुः शरद्या।
अपारि वामोरु! तयापि किञ्चिन्न प्रोञ्छितुं लाञ्छनकालिमास्य॥ नै० २२।११२

का आधार और कौन पदार्थ हो ही सकता है? उत्सुकता का सुन्दर चित्र खीचा गया है। नल दमयन्ती से कहते है—"देखो, चन्द्रमा का धवल प्रान्त भाग कितना शोभाशाली है ? वह देखो, चन्द्रमा के अन्तम् मे हरिण किस प्रकार कलङ्क बन रहा है।" और इस प्रकार नल सुन्दरी को कभी चन्द्रमा का अन्त (पर्यन्त भाग) दिखाते कभी अन्तस् (मध्यभाग)[1]। चन्द्रमा के गोल आकार तथा नील कलङ्क के प्रति कवि की एक अद्भुत कल्पना है एक साथ सप्रेम मधुपान करने के लिए ताराओं की एक परिषद् बैठी है और मध्य मे चन्द्ररूप यह सूर्यकान्त मणिका बना हुआ एक विशाल मटका रक्खा हुआ है। इसके नील कलङ्क को देखकर कवि लोगों की यह उत्प्रेक्षा बड़ी सरल हो जाती है कि मानो उस विशाल मटके के ऊपर शशक नाम का एक नीलमणियो का वना हुआ चषक रक्खा हुआ है।[2]

---

१. अन्तः सलक्ष्मीक्रियते सुधांशो रूपेण पश्ये ! हरिणेन पश्य।
इत्येष भैमीमदर्शदस्य कदाचिदन्तं स कदाचिदन्तः॥ नै० २२।१३२

२. सपीतेः संप्रीतेरजनि रजनीशः परिषदा
परीतस्ताराणां दिनमणिमणिग्रावमणिकः।
प्रिये! पश्योत्प्रेक्षाकविभिरभिधानाय सुशकः
सुधामभ्युद्धर्तुं धृतशशकनीलाश्मचषकः॥ नै० २२।१४४

सप्तम अध्याय

प्रकृति (पात्र-स्वभाव) चित्रण

संस्कृत प्रबन्ध-काव्यों में पात्रों का चरित्र प्राय विशेष प्रकार के बने साँचे में ढला हुआ होता है। प्रत्येक पात्र कुछ विशेष रूप से निर्धारित आदर्शों का पालन करता हुआ-सा प्रतीत होता है। भरत, धनञ्जय आदि पूर्व आचार्यों ने नायक-नायिका, प्रतिनायक, दूत, सखी, विदूषक आदि सब का स्वरूप तथा कार्य निर्धारित कर दिया है। परवर्ती कवि अपने नाटकों तथा काव्यों में उन निर्धारित आदर्शों का यथासंभव पालन करने का प्रयत्न करते रहे। एक बात और ध्यान देने की है कि साहित्य-शास्त्र के आचार्यों ने पात्रों के स्वभाव आदि का निरूपण रस के प्रसङ्ग में किया है। वे पात्रों द्वारा रस की अभिव्यक्ति को मुख्य मानते थे, अत: पात्र का स्वभाव या चरित्र साध्य रूप में आता था। किन्तु साथ ही रस के एक व्यङ्ग्य वस्तु होने के कारण, तथा पात्रों द्वारा उसकी उत्तम अभिव्यञ्जना होने के कारण, कवि अपने काव्य में पात्रों के स्वभाव तथा चरित्र के चित्रण में अत्यन्त सावधान रहते थे। स्वभाव की व्यञ्जना प्राय. पात्रों के वचन तथा कार्यों द्वारा ही की गयी है, कवि उसका साक्षात् वर्णन बहुत कम करता है, क्योंकि ऐसा वर्णन नीरस और अतएव असफल भी होता है। संस्कृत काव्यों में पात्रों द्वारा किसी नियत आदर्श का ही पालन विशेष देखा जाता है, अजायबघर के जन्तुओं की भांति वहां अपनी वैयक्तिक विचित्रताएं लिए पात्र नहीं आते। इसका अर्थ यह नहीं कि पात्रों की वैयक्तिक विशेषता बिल्कुल विलुप्त रहती है। पात्रों के इतिहास अथवा लोकवृत्त में प्रसिद्ध रूप को परिवर्तित करना तो कवि के लिए बड़ा भारी अपराध माना जाता है। राम का प्रसन्न गम्भीर चरित्र, लक्ष्मण का उदण्ड 'वावदूक' स्वभाव, अर्जुन का वीर अनुशिष्ट सत्यसन्ध रूप, भीम का उद्धत आचरण, देवों का स्वार्थ, असुरों का अनाचार आदि ऐसी विशेषताएं हैं, जो कुछ कहे बिना ही पात्र के नाम-मात्र से श्रोता या पाठक को प्रत्यक्ष हो जाती हैं। अब यदि कवि इन पात्रों के प्रसिद्ध तथा प्रतिष्ठित रूप के नितान्त विपरीत रूप का चित्रण करे तो यह उसके काव्य का बड़ा भारी दोष होगा। वह उन पात्रों के नए कल्पित रूप के साथ श्रोता या पाठक का साधारणीकरण कर ही न पाएगा। जैसे—अनर्घराघव में विश्वामित्र से मिथिला चलने का

मे कोई च्युति नही हो सकती।[1] उसके हठ-धर्म मे सती की निष्ठा है। कीट से लेकर नारायण पर्यन्त सभी को अपनी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति मे एक-सी कृत-कृत्यता होती है।[2] दमयन्ती को सतीत्व पर अमिट विश्वास है। उस अमोघ शस्त्र के बल पर उसे इन्द्र आदि किसी से भय नही है। उसके सारे अपराध उसके सतीत्व की अग्नि मे भस्म हो जायेगे, ऐसा उसका दृढ विश्वास है।[3]

श्रीहर्ष अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण में स्वयं सतर्क समझ पड़ते हैं। दमयन्ती के चरित्र की रक्षा उन्होने स्थान-स्थान पर की है। इन्द्र स्वयं नल का रूप बना कर दमयन्ती के अन्तःपुर मे जा सकते थे, और अपने विषय में दौत्य कर सकते थे। इस कार्य के लिए व्यर्थ नल से क्यों याचना की। यह सन्देह अत्यन्त अवसरोचित ही है। दैवविधान का अटल पक्षपाती कवि इसका समर्थन अत्यन्त मार्मिक युक्ति के साथ करता है। "नल के समान सौन्दर्य वाले दूत में दमयन्ती का अनुराग उत्पन्न होगा ही, तो ऐसा न हो कि उसके चरित्र मे यह कलङ्क बन जाय, मानो यही सोचकर विधाता ने दमयन्ती के प्रति स्वय इन्द्र को नल का कपट रूप धारण कर दूत न होने दिया।"[4]

दमयन्ती एक साधारण स्त्री के रूप मे नही चित्रित हुई है। उसमें कुछ विशेषताए ऐसी है जो साधारण स्त्रियो मे नही पायी जाती। अन्त.पुर मे नल के अकस्मात् प्रकट होने पर भय के कारण सारी सखियाँ स्तब्ध हो जाती है, किन्तु दमयन्ती अपनी चेतना को पूर्ण स्वस्थ रखती हुई अपनी प्रतिभा से स्वयं वार्तालाप प्रारम्भ करती है।[5] नल के सामने आतिथ्य का प्रस्ताव कर वह अपने हृदय की उदारता का परिचय देती है।[6]

दमयन्ती नल के रूप की सानुराग प्रशंसा करती है। अज्ञात पुरुष के रूप की प्रशंसा भले ही उसकी सहृदयता घोषित करती हो, किन्तु उसके सतीत्व मे घातक

---

१. गुणा हरन्तोपि हरेर्नरं मे न रोचमानं परिहापयन्ति।
न लोकमालोकयथापवर्गात्त्रिवर्गमर्वाञ्चममुञ्चमानम्॥ नै० ६।१०५

२. आकीटमाकैटभवैरि तुल्यः स्वाभीष्टलाभात् कृतकृत्यभावः।
भिन्नस्पृहाणां प्रति चार्थमर्थं द्विष्टत्वमिष्टत्वमपव्यवस्थम्॥ नै० ६।१०६

३. सतीव्रतैस्तीव्रमिमं तु मन्तुमन्तर्व्वरं वज्रिणि मार्जितास्मि॥ नै० ६।११०

४. दूते नलश्रीभृति भाविभावा कलङ्किनीयं जनि मेति नूनम्।
न संव्यधान्नैषधकायमायं विधिः स्वयं दूतमिमां प्रतीन्द्रम्॥ नै० ८।१६

५. नै० ८।१९

६. नै० ८।१९-२३

हो सकती है, अतः श्रीहर्ष सुन्दरी की बुद्धि तथा हृदय का विश्लेषण करते हैं— "दमयन्ती-आतिथ्य सम्बन्धी चाटु वचनों के बहाने उनमे विद्यमान वस्तुत अपने प्रिय नल की ही सौन्दर्य-प्रशंसा करने लगी।"[1]

देवों के प्रति उसकी उपेक्षा की झलक इसी मे मिलती है कि वह नल की लम्बी भूमिका[2] को सुनकर भी उसे अनसुनी-सी कर देती है[3] और बार-बार नल से उनका नाम-ग्राम ही पूछती रह जाती है।[4] उसके दृढ़ सतीत्व तथा एकनिष्ठ प्रेम का सब से बड़ा प्रमाण तब मिलता है जब वह कहती है कि "यदि स्वप्न में भी मेरे मन को किसी अन्य ने स्पर्श किया हो, तो देवगण समस्त लोक के सारे वृत्तों के साक्षी अपनी बुद्धि से ही क्यों नही पूछ लेते ?[5] एक भोली मुग्धा अपने हृदय को और किस रूप में दिखा सकती है। अपनी प्रतिज्ञा मे तो उसने सतीत्व का चरम रूप दे दिया—"यदि राजा नल ने मेरा पाणिग्रहण न किया तो आग में जल कर, या गला बाँध कर, अथवा पानी मे डूब कर मै स्वयं अपनी आयु के साथ शत्रुता करूंगी।"[6] अन्त में नल से की गयी "दूत, दिगीश्वरों के लिए तुम मुझे किसी प्रकार पीड़ित न करो। देखो, मैं हाथ जोड़ रही हूँ, कृपा कर के अब आज ऐसी बातें न करो।"[7] आदि प्रार्थना में तथा अधीर विलाप मे,[8] पतिव्रता की ऐसी विवशता झलकती है जिसके सामने पाषाण-हृदय भी पिघल जाय।

स्वयंवर-मण्डप मे दमयन्ती के कुछ और अति-मानव गुण देखने को मिलते हैं। पांच नलों को देखकर उसे महान् विकल्प होता है। "अथवा मै देवी सरस्वती के ही हाथ में वरमाला देकर कह दूं कि इनमे जो निषधेश्वर हों, उन्ही के गले मे इसे डाल दीजिए, किन्तु इस प्रकार देवी देवों की कोप-भाजन बन जायँगी। तृण-

---

१. भूयोऽपि बाला नल-सुन्दरं तं मत्वामरं रक्षिजनाक्षिबन्धात्।
आतिथ्यचाटून्यपदिश्य तत्स्थां श्रियं प्रियस्यास्तुत वस्तुतः सा॥ नै० ८।३१

२. नै० ८।५७-१०८

३. नै० ९।२

४. नै० ९।३,४

५. ममाशयः स्वप्नदशाज्ञयापि वा नलं विलङ्घ्येतरमस्पृशद्यति।
कुतः पुनस्तत्र समस्तसाक्षिणी निजैव बुद्धिर्विबुधैर्न पृच्छ्यते॥ नै० ९।३२

६. नै० ९।३५

७. नै० ९।६९

८. नै० ९।८६, १००

रूप अपने लिये मै रत्न-तुल्य अपने सुहृद् को क्यो मारू?"[1] अपने को तृण तथा मित्र को रत्न बताना दमयन्ती की उदारता, सहृदयता तथा त्याग के परमोच्च उदाहरण हैं। उसकी शालीनता एक अन्य विकल्प मे झलकती है। वह सोचती है "अथवा इनमे जो वास्तविक नल हो वह मेरी इस वरमाला को स्वीकार करे, इस प्रकार कह कर इस माला को वास्तविक नल को पहना दू। किन्तु लज्जा त्याग कर लोगों के सुनते हुए ऐसा कैसे करू, यह तो भारी उपहास होगा।"[2]

प्रत्यक्ष रूप मे इतना अपकार करने वाले देवो के प्रति भी उसकी श्रद्धा बनी रहती है।[3] विदुषी होने के कारण वह देवों के स्वार्थी तथा लोभी स्वभाव को भली भाति जानती है। साथ ही दूत रूप मे आए नल ने भी एक हित की बात का दृढता से सकेत किया था कि "देवों के विघ्न करने के लिए उतारू होने पर कौन मनुष्य हाथ में धरी वस्तु भी पा सकता है?"[4] अत. विवश दमयन्ती अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए देवभक्ति का सहारा लेती है, देव-कृपा के बिना पञ्चनली का दुर्ग तोड़ा ही नही जा सकता था। माला पहिनाने मे दमयन्ती को अपने व्रीडा, त्वरा आदि भावों से जो संघर्ष करना पड़ा वह उसकी शालीनता का ही परिचायक है।[5]

स्वयंवर के अन्त मे दमयन्ती ने राजाओ की आहो के कारण करुणरस से द्रवित होकर अपने पिता से प्रार्थना कर के अपनी सुन्दर सखियाँ उन्हे दिलवाईं। दमयन्ती को न पाने के कारण उन राजाओं के जो प्राण ग्लानिवश शरीर से चल देना चाहते थे वे दमयन्ती के समान ही कला-कौशल निपुण इन सुन्दरियो को पाने से रुक गये।[6] संस्कृत साहित्य मे किसी कवि ने अपनी नायिका के इस प्रकार के उदार रूप की कल्पना नही की है। वास्तव मे दमयन्ती के इस चरित्र की कल्पना श्रीहर्ष की संस्कृत-साहित्य को अद्वितीय देन है।

---

१. देव्याः करे वरणमाल्यमथार्पये वा यो वैरसेनिरिह तत्र निवेशयेति।
सैषा मया मखभुजां द्विषती कृता स्यात्स्वस्मै तृणाय तु विहन्मि न बन्धुरत्नम्॥
नै० १३।५२

२. यः स्यादमीषु परमार्थनलः स मालामङ्गीकरोतु वरणाय ममेति चैनाम्।
तं प्रापयामि यदि तत्तु विसृज्य लज्जां कुर्वे कथं जगति शृण्वति ही विडम्बः॥
नै० १३।५३

३. नै० १४।१

४. सुरेषु विघ्नैकपरेषु को नरः करस्थमप्यर्थमवाप्तुमीश्वरः॥ नै० ९।८३

५. नै० १४।२६, २८, ३६

६. नै० १४।९७

अंत मे वह पति-परायणा गृहिणी के रूप मे भी दिखायी पड़ती है। देवपूजा करना, पति के भोजन के पश्चात् भोजन करना आदि[1] हिंदू नारी का सहज आदर्श है। दमयन्ती के प्रति देवर्षि ने इन्द्र से कितने उचित शब्दो मे कहा था कि—

"सा भुव किमपि रत्नमनर्घ भूषण जयति तत्र कुमारी। (नै० ५।२६)"

हंस

भारतीय प्रेम काव्यों मे प्रेम-सन्देश प्राय मनुष्येतर प्राणियो से ही भिजवाया जाता है। इससे दो बाते हुई है, एक तो प्रेमी राम अथवा गोपियो की भाति चेतन अचेतन मे भेद न कर के अपनी प्रेम-वेदना की उत्कृष्टता व्यञ्जित कर देता है, दूसरे पशु-पक्षियो या अन्य किसी वस्तु मे मानवीय भावनाओं का आरोप कर के प्रेम सन्देश भेजने मे उसकी मधुरता और भी बढ जाती है। प्रेम-सन्देश-वाहक प्राय. वे ही पशु-पक्षी अथवा अन्य कोई प्राणी बनाये जाते है, जो मनुष्य की सयोग या वियोग की दशा मे किसी न किसी भाव के आलम्बन रहते है। कौए की काव-काव मे प्रिय के आगमन की सूचना होती है, कोयल की कूक मे विरही हृदय की कराह रहती है, पपीहे की पुकार मे प्रेम की कसक सुनाई पडती है, मयूर की वाणी (केका) वियुक्त हृदय के प्रति सहानुभूति प्रकट करती है, राजहस प्रिय-सयोग का स्वरूप है, चक्र-वाक-मिथुन प्रेमी हृदयों के अपने मूर्त रूप है, भ्रमर-सन्देश सुनाता है, मेघ सन्देश सुनाकर प्रिय को आने के लिए उत्सुक करता है, मलयानिल कुछ कहने आता है— आदि। अत कवि इन्हे प्रेम-कथानक मे रखकर प्रेम की अनुभूति को और तीव्र बना देता है। यदि वह सन्देश मनुष्य द्वारा भेजा जाय, तो सन्देश-वाहक का व्यक्तित्व उसमे हस्तक्षेप करके सन्देश को उसी रूप मे न व्यक्त करेगा। चाहे उसमें परिष्कार भले कर दे, किन्तु निश्चय ही उसके भोलेपन को नही व्यक्त कर सकेगा, क्योंकि उस सदेश-हारक के हृदय मे तो वे भाव है नही। अत वह स्वभावत उन्हे उसी रूप मे नही व्यक्त कर सकता, जिस रूप मे प्रेमी ने उससे कहा था। वह प्रेमी के हृदय का सच्चा रूप नही रख सकता। उद्धव इसी कारण गोपियों के प्रति प्रेम-सन्देश मे असफल रह गए। किन्तु ये मनुष्येतर प्राणी उसमे अपना कोई व्यक्तित्व नही मिलाएंगे और स्वयं प्रेम की उस विशेष भावना के प्रतीक होने के कारण प्रेमी के भावों को प्रिय के सम्मुख पूर्ण रूप से व्यक्त कर देंगे। अतएव हस को देखकर दमयन्ती के मुह से अपने आप निकल जाता है—"यह हंस मेरे भावी प्रिय का आवेदक (सूचक)

---

१. नै० २१।१२१

है।[1]" श्रीहर्ष इस प्रेम-विषयक रहस्य को अच्छी तरह जानते थे, अत. उन्होंने अपने हस को पक्षी ही रक्खा उसे मनुष्य नही बनाया। मनुष्य द्वारा भेजा गया सन्देश तो नैषध में भी असफल ही बना रहा। देवों का सन्देश चतुर दूतियाँ ले गयी, स्वयं नल ले गये, पर कोई फल न हुआ। अस्तु।

श्रीहर्ष हस का प्रथम परिचय ही एक अत्यन्त सरस सहृदय प्रेमी के रूप में देते है—"उसका अनुराग-वृक्ष बाला-मुग्धाओ के प्रति रक्तचञ्चु के रूप में अभी केवल दो पत्तों वाला, तथा सुरतसह प्रौढाओं के प्रति दोनो रक्त चरणो के रूप में अनेक पत्तों वाला समझ पडता था—मुग्धाओं के प्रति केवल चुम्बनादि के लिए चञ्चु ही पर्याप्त होगी, किन्तु प्रौढाओं के साथ हाथ-पैर सब का प्रयोग किया जाता है।"[2] उत्तमोत्तम ध्वनि युक्त इस एक श्लोक द्वारा कवि पाठक के हृदय मे हस का ऐसा स्वरूप प्रतिष्ठित कर देता है कि वह नायक के समान प्रिय लगने लगता है। वह राजा को अपने वाङमय से विलक्षित करके[3] अपनी व्युत्पन्नता का भी परिचय दे देता है। हस एक सहृदय के रूप मे दिखायी पड़ता है। मातृभक्त पुत्र के नाते विपत्ति के समय उसका ध्यान सर्वप्रथम अपने इकलौते बेटे वाली वृद्धा माता के कष्टो की ओर जाता है।[4] वह अपने मरने की चिन्ता नही करता, पर वृद्धा माता किस प्रकार सुत-शोक-सागर पार करेगी[5] इसकी चिन्ता उसे विशेष रूप से है।

वह पति है—एक सहृदय प्रेमी-पति। पत्नी के विपन्न रूप का ध्यान कर वह विकल हो उठता है।[6] उसके हृदय मे वात्सल्य है। नवजात शिशुओं का कष्ट वह सोच भी नहीं सकता। उस चिन्ता के आघात से वह मूर्च्छित हो जाता है।[7]

हस के चरित्र की सब से बड़ी विशेषता उसकी कृतज्ञता है। वह प्रेम-काव्य के साधारण दूत के रूप में नही रक्खा गया है। उसका हृदय उत्तम तत्त्वों से बना है। उसने ऐसे राजा को अप्रिय कहा जो नितान्त दयालु है, अत. वह उस अपराध का

---

१. मे भाविप्रियावेदक एष हंसः॥ नै० ३।९

२. प्रियासु बालासुरतक्षमासु च द्विपत्रितं पल्लवितं च बिभ्रतम्।
स्मरार्जितं रागमहीरुहाङ्कुरं मिषेण चञ्च्वोश्चरणद्वयस्य च॥ नै० १।११८

३. नै० १।१३४

४. नै० १।१३५

५. नै० १।१३६

६. नै० १।१३६, १३७

७. नै० १।१४२

प्रतीकार राजा का कुछ हित कर के करना चाहता है,[१] "क्योकि अपने उपकारी का यथा-साध्य प्रत्युपकार शीघ्र करना चाहिए। वह प्रत्युपकार छोटा हो या बडा, विद्वानों को इसका विशेष विचार नहीं"।[२] यह प्रेम-दौत्य उसने स्वय अपने ऊपर लिया है, उसे किसी ने सौपा नही। उसके हृदय की उच्चता का तब और भी गुरुतर प्रमाण मिलता है जब वह कहता है—"राजन्, केवल आपकी अनुमति लेने के लिए मैने जो यह विज्ञापना की उसके लिए मै बड़ा लज्जित हू—सत्पुरुष कार्य-द्वारा अपनी उपयोगिता बताते है, केवल वचन-द्वारा नही।"[३]

फिर कर्तव्य-भार को उठा लेने पर उसे किसी प्रकार के सुख आनन्द की परवाह नही रह जाती। जब तक वह कार्य न हो जाय उसे चैन नही मिलता। नल का सन्देश लेकर कुण्डिनपुर जाते हुए मार्ग मे न तो उसने विशाल वृक्षो से सुशोभित किसी भी वन में आश्रय लिया और न अपनी जाति के लोगों की ध्वनि का प्रतिशब्द ही किया।[४] और उस दौत्य-कार्य को उसने बड़ी सफलता से पूरा किया। नायक-नायिका के भावों को जानकर जो स्वय अपनी ऊहा से अवसरोचित व्यवहार करता हुआ दौत्यकार्य को सफलता के साथ सम्पन्न करे उसे आचार्यों ने निसृष्टार्थ-दूत कहा है।[५] नल मे अनुरक्त दमयन्ती के मन को सभी उपायों द्वारा वह हस और भी दृढ कर देता है। उसकी कुशलता का एक उदाहरण देखिए। सर्व-प्रथम बिना पूछे ही दमयन्ती के सम्मुख नल की प्रशंसा का पुल बाँधता है, फिर विधाता को भी नल-दमयन्ती-संयोग अभीसिप्त है इसकी भी सूचना दे देता है। इतनी भूमिका तैयार कर के दमयन्ती के चित्त के भावों को जानने के लिए, उपेक्षा का अभिनय करता हुआ कहता है—"अच्छा यह अप्रासङ्गिक चिन्ता छोड़े। सुन्दरि, मैने तुम्हे बहुत श्रान्त किया (थकाया)। मैं उस अपराध का परिमार्जन करना चाहता हूं—बोलो, तुम्हारा क्या अभीष्ट साधूं?[६]" दमयन्ती के हृदय को जानने के लिए एक परम कुशल मनो-विज्ञान-वेत्ता क्या इससे भी अच्छा मार्ग सोच सकता था?

---

१ नै० २।११

२. नै० २।१४

३. नै० २।४८

४. नै० २।७२

५. उभयोर्भावमुन्नीय स्वयं वदति चोत्तरम्।
सुश्लिष्टं कुरुते कार्यं निसृष्टार्थस्तु स स्मृतः॥ सा० द० ३।४८

६. आस्तां तदप्रस्तुतचिन्तयालं मयासि तन्वि श्रमितातिवेलम्।
सोऽहं तदागः परिमार्ष्टुकामः किमीप्सितं ते विदधेऽभिधेहि॥ नै० ३।५२

जब दमयन्ती के अनुराग को दृढ जान लेता है तब कहता है—"राजकुमारी, यदि यह सत्य है तो अब मुझे कुछ करना शेष नही रह जाता, क्योकि तुम्हें तथा उस राजा को परस्पर-प्रेम मे तपाने वाले कामदेव ने पहले से ही यह योजना तैयार कर रखी है।[1]" यदि पहुचते ही दमयन्ती के प्रति नल की मदन कृत कदर्थनाओं का रोना रोने लगता (जैसा कि प्रेमी प्रिया के सम्मुख किया करता है) तो सम्भवत. दमयन्ती की दृष्टि मे नल उतने ऊचे न जचते। कभी कभी उपेक्षा की आंच पर तपाने से प्रेमघट और भी खरा उतरता है। अत. हंस पहले तो नल-प्रेम की चर्चा ही नही करता, और जब देख लेता है कि दमयन्ती का प्रेम नल मे सच्चा है, तभी नल-प्रेम के रहस्य को खोलता है—सत्पुरुष गम्भीर कुण्ड तथा गम्भीर हृदय का अवगाहन करके ही उचित कार्योपन्यास की बात करते हैं।[2] इससे दमयन्ती का प्रेम और भी प्रगाढ़ हो जाता है—जब प्रिय भी मुझसे प्रेम करता है, तो फिर मुझसे बढ कर और कौन?

सफलतापूर्वक दौत्य पूर्ण करने के साथ वह अपने उपकारी की विपत्ति मे भी सहायक होता है। जिस समय अन्त.पुर में दूत नल स्वयं उन्मादवश अपने को प्रकाशित करने का पश्चात्ताप कर रहे है, उस समय पहिले की भाँति व्यथा में मग्न हुए उनके उद्धार की इच्छा से वह दयालु हंस शीघ्र वहां पहुंच जाता है।[3] और नल को बल देता है कि 'देवों की कार्य-सिद्धि के लिए इतना प्रयास कर के भी उनके प्रति अपना अपराध सोचकर आपको झूठा साक्षी बनाना उचित नही—सत्पुरुषो की चित्त-शुद्धि स्वयं अपना साक्षी होती है।'[4] नैषध मे हंस का जितना चरित्र चित्रित किया गया है उतना अत्यन्त उदात्त तथा आदर्श रूप है। नल ने हंस के प्रति उचित ही कहा था—

"प्रिय हंस, तुम्हारा रूप अतुलनीय है, तुम्हारी सुशीलता अवर्णनीय है, तथा "रूप में गुण भी होते हैं", सामुद्रिक शास्त्र के इस सिद्धान्त के तुम्ही प्रत्यक्ष उदाहरण हो।[5]"

---

१. इदं यदि क्ष्मापतिपुत्रि ! तत्त्वं पश्यामि तन्न स्वविधेयमस्मिन्।
त्वामुच्चकैस्तापयता नृपं च पञ्चेषुणैवाजनि योजनेयम्॥ नै० ३।१००

२. ह्रदे गभीरे हृदि चावगाढे शंसन्ति कार्यावतरं हि सन्तः॥ नै० ३।५२

३. इति स्वयं मोहमहोर्मिनिर्मितं प्रकाशनं शोचति नैषधे निजम्।
तथा व्यथामग्नतदुद्दिधीर्षया दयालुरागाल्लघु हेम-हंसराट्॥ नै० ९।१२७

४. नै० ९।१२९

५. न तुलाविषये तवाकृतिर्न वचोवर्त्मनि ते सुशीलता।
त्वदुदाहरणाकृतौ गुणा इति सामुद्रकसारमुद्रणा॥ नै० २।५१

इन्द्र तथा अन्य देवगण

नैषध मे इन्द्रादि देवो की चेष्टाए प्रारम्भ से ही काव्य के नायक नल के प्रधान-कार्य दमयन्ती-परिणय के विरुद्ध होती है। यद्यपि वे अन्त मे प्रसन्न होते है, किन्तु उस प्रसन्नता मे उनकी विवशता ही समझ पडती है—जब उनकी सारी माया निष्फल हो जाती है तो वे अपने पराजय को प्रसन्न हो कर वर देने मे ही छिपाने लगते है, अत उन्हे प्रतिनायक ही कहा जा सकता है। साहित्य के लक्षण-ग्रन्थो मे प्रतिनायक को लोभी, दर्पी, मात्सर्ययुक्त, मायी, कपटी, अहङ्कारी, चल-स्वभाव, क्रोधी, आत्म-श्लाघा-पर, हठी, पाप-शील, व्यसनी तथा प्रधान नायक का शत्रु कहा गया है।[१]

नैषध में इन्द्र सर्वप्रथम देवर्षिनारद का आतिथ्य करते हुए मिलते है। देवर्षि का ऐसा चरित्र ही रहा है कि देव-दानव, सुर-असुर, नर, सभी की श्रद्धा उनके प्रति रहती है। अत उनका आतिथ्य कर के इन्द्र आतिथ्य-परायण नही कहे जा सकते। फिर नारद से राजाओं के स्वर्ग जाने के कारण को जानने की इच्छा से उनके "भगवन्, अब वे अतिथि-गण मुझे अभिशाप-युक्त-सा समझ कर जो मेरे पास नही आते इसी कारण केवल स्वोदर-पूर्ति-मात्र फल वाले इस अपने कुत्सित वैभव के प्रति मेरा अधिक आदर-भाव नही रह गया।[२] ये लक्ष्मी-सुख पूर्वोपार्जित पुण्यैश्वर्य के व्यय करने पर ही प्राप्त होते हैं। वास्तव मे तो इन्हे विपत्ति ही कहा गया है। अतः इनको सत्पात्र के कर-कमल मे समर्पित करना ही उन विपत्तियों मे शास्त्र-सङ्गत शान्तिक-विधि बताया गया है।[३]" इत्यादि कहने मे भी विनयाच्छन्न अभिमान की ही झलक मिलती है।

नारद द्वारा निश्चित सूचना पाकर भी कि—"दमयन्ती किसी अतिशय सुकृती युवक में अनुरक्त है" उसकी प्राप्ति के लिए चल देना 'लुब्धता' का ज्वलन्त उदाहरण है। शची-सी पत्नी और रम्भा, घृताची, तिलोत्तमा, मेनका, उर्वशी-जैसी अप्सराओं के होते हुए भी इन्द्र का एक मानवी के लिए पागल होकर चल देना,

---

१. प्रतिनायकः—लुब्धो, धीरोद्धतः, स्तब्धः पापकृत् व्यसनी रिपुः। द०रू०२।९
धीरोद्धतः—दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाछद्मपरायणः।
धीरोद्धतस्त्वहङ्कारी चलश्चण्डो विकत्थनः॥ द० रू० २।५

२. साभिशापमिव नातिथयस्ते मां यदद्य भगवन्नुपयन्ति।
तेन न श्रियमिमां बहु मन्ये स्वोदरैकभृतिकार्यकदर्याम्॥ नै० ५।१६

३. पूर्वपुण्यविभवव्ययलब्धाः श्रीभरा विपद एव विमृष्टाः।
पात्रपाणिकमलार्पणमासां तासु शान्तिकविधिर्विधिदृष्टः॥ नै० ५।१७

यदि पापशीलता नही, तो और क्या है ? स्वर्ग सुन्दरियो मे जो खलबली मची वह इन्द्र के चरित्र के प्रति उनकी उचित प्रतिक्रिया थी।

इन्द्र की 'माया' और 'कपट' का स्पष्ट रूप नल के सामने दिखायी पडता है। जब वे कपट के साथ कुशल पूछते हैं और कहते हैं—"नल, हम देवगण तुम्हारे पास याचक के रूप मे आए है।[1] और नल के कुछ भी दे डालने का वचन देने पर किस प्रकार सीधे शब्दो मे कहते है—"हे महीन्दो, हम दमयन्ती का पाणिग्रहण करना चाहते है। तुम मदन-भय छोड़ कर हमारा दौत्य करो।"[2] इन सीधे शब्दो मे कितना कपट भरा हुआ है ?

अपने को विश्व-साक्षी बताते हुए भी—यह जानते हुए भी कि दमयन्ती नल से प्रेम करती है—उनका यह कहना कितनी धृष्टतापूर्ण निर्लज्जता का द्योतक है कि 'नल, इस विश्वस्त कार्य मे तुम्हे प्रयुक्त किए बिना हम सब को सन्तोष नही हो सकता।[3]'

जब नल उनके कपट को समझ कर दौत्य-भार लेने के लिए तैयार नही होते तो वे दूसरी चाल चलते हैं। देवगण दान तथा यश की महत्ता बता कर चाटुकारिता तथा अपयश का भय दिखा कर अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए उन्हे तैयार कर ही लेते हैं।[4] देवों के विरोध तथा कृतघ्नता का सब से कुत्सित रूप तब देखने को मिलता है, जब निष्कपट भाव से अपना सम्पूर्ण बुद्धि-बल लगाकर दौत्य करने वाले नल के उपकार को भूलकर वे नल का ही रूप धारण कर स्वयवर में उपस्थित होते हैं। उन्हे अब भली-भाति विदित हो गया है कि दमयन्ती नल को चाहती है—केवल नल को। देवों को वह किसी भी हालत मे स्वीकार नही कर सकती, चाहे उसके प्राण ही निकल जाए। वह पर-कलत्र हो चुकी है। किन्तु उनका लोभ, उनकी कामुकता इतनी प्रबल है कि वे चारों, 'कदाचित् नल के भ्रम से ही दमयन्ती हमें स्वीकार कर ले', इस अवशिष्ट आशाकण का अवलबन ले कर नल का अद्भुत मिथ्या रूप धारण करते हैं।[5] इसमे उनकी कृतघ्नता, मात्सर्य, स्तब्धता, पापशीलता,

---

१. अर्थिनो वयममी समुपेमस्त्वां नलेति॥ नै० ५।७७

२. पाणिपीडनमहं दमयन्त्याः कामयेमहि महीमिहिकांशो।
दूत्यमत्र कुरु नः स्मरभीतिं निर्जितस्मर ! चिरस्य निरस्य॥ नै० ५।९९

३. त्वामिहैवमनिवेश्य रहस्ये निर्वृत्तिं न हि लभेमहि सर्वे॥ नै० ५।१०१

४. नै० ५।११७-१३७

५. नलभ्रमेणापि भजते भैमी कदाचिदस्मानितिशेषिताशाः।
अभून्महेन्द्रादिचतुष्टयी सा चतुर्नली काचिदलीकरूपा॥ नै० १०।१८

व्यमन तथा (काव्य-) नायक के प्रति शत्रुता एक-साथ व्यक्त हो जाती ह। स्वयवर मे बैठे देवगण पाठक की श्रद्धा के नही घृणा के ही पात्र होते है।

अन्त मे दमयन्ती की प्रार्थनाओ से प्रसन्न होकर वे अपना रूप धारण कर लेते है। यह उनकी पराजित अवस्था वाली विवशता थी। सती के तेज के सामने यह छलना कब तक टिक सकती थी। इसका भण्डाफोड निश्चय ही होता। महाभारत मे यही तो हुआ। वहाँ दमयन्ती द्वारा अपने सतीत्व की दुहाई देने पर देवो को विवश होकर अपना वास्तविक रूप धारण करना पड़ा।[1] सीता के सतीत्व के सामने अग्नि को भी शीतल होना पड़ा था, सावित्री के सतीत्व ने यम से सत्यवान् के प्राण वापस ले लिए थे, शाण्डिली के सतीत्व ने सूर्योदय ही रोक दिया था, अनसूया के सतीत्व से मन्दाकिनी को चित्रकूट के पास बहना पड़ा था। फिर सतीत्व की अपरिमेय-शक्ति के सामने इन्द्रादि देवों की माया की कितनी सत्ता थी? अतः ऐसा क्यों न माना जाय कि उन देवो का यह रूप प्रकट करना तथा नल को वरदान देना, अपना 'मुह पीट कर लाल करना' था। स्वर्ग लौटते हुए आनन्द प्रकट करना[2] तथा कलि के सम्मुख नल की प्रशंसा करना भी मुह की लगी हुई कालिख धोना था। किन्तु इतना छिपाने पर भी उनकी लज्जा को कलि ताड़ ही गया।[3] देवी सरस्वती की इस वकालत मे कि "देवगण स्वयवर मे नल को यश और दमयन्ती देने तथा वरदान देने गए थे। स्वय दमयन्ती से विवाह करने नही गए थे[4]" कितना सत्य है, पाठक उसे स्वय समझ सकते है। कलि से अपनी स्पष्ट प्रतीत होने वाली लज्जा का देवगण जो समर्थन देते है, उसमे उनके हृदय की विवशता का और भी पता चल जाता है। उनका कहना है कि "कले, तुम्हारी बुद्धि हमे आश्चर्य मे डाल रही है। तुमने हमारी लज्जा को ठीक पहचाना। वास्तव मे महान् को यदि थोड़ी वस्तु दान में दी जाय तो अपने ही को लज्जा होती है।"[5] श्रीहर्ष ने भी वस्तुतः इन्द्रादि देवों को प्रतिनायक ही चित्रित किया है। इसीलिए स्वयवर मे बैठे इन्द्र के प्रति उनकी उक्ति है—

---

१. महाभारत, वनपर्व ५७, १७-२३

२. नै० १६।१३०

३. नै० १७।१४२-१५२

४. नै० १७।१३४

५. विस्मेयमतिरस्मासु साधुर्वैलक्ष्यमीक्षसे।
यद्दन्तेऽल्पमनल्पाय तद्दत्ते ह्रियमात्मनः ॥ नै० १७।१४१

"कार्य साधने के लिए नैषध का रूप बनाकर, साक्षात् नल वन कर भी इन्द्र ने किम प्रकार अपने वास्तविक नीच भाव को धारण किया था, जिससे उन्हे अपनी ही बात की व्याख्या करनी पड़ी।"[1]

सरस्वती

वैसे तो सरस्वती केवल राज-परिचय कराने के लिए अवतरित की जाती हैं, किन्तु कवि यथावसर उनके स्त्री-सुलभ चरित्र का भी स्वरूप दिखाता गया है। आते ही उन्होंने राजा भीम से जिस रूप मे अपना परिचय दिया वह अत्यन्त सुखद तथा कष्ट से मुक्तिप्रद था। उनके इन वचनों मे कितना आश्वासन है—"राजन्, यह तुम्हारे प्रसन्न होने का अवसर है। अब विषाद बहुत हो चुका। इन राजाओं के विचित्र वंश तथा चरित्र का वर्णन मैं करूंगी।"[2] श्रीहर्ष ने जिस प्रकार एक लम्बे रूपक द्वारा सरस्वती के रूप की कल्पना की है उससे देवी के प्रति अपने आप श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। स्वयवर मे राज-परिचय देते हुए उनकी प्रगल्भता तो उनके तत्कालीन व्यवसाय के लिए उचित ही है। दमयन्ती से उनका ललनोचित परिहास भी देखने को मिलता है। दमयन्ती सरस्वती से नल के पास चलने के लिए कहती है, किन्तु सरस्वती परिहास करती है—"सुन्दरि, तुमने नल के विषय मे तो 'न' कह ही दिया है, अतः किसी दूसरे का नाम बताओ, अथवा नल का 'न' मात्र कहा आगे का 'ल' भी कह डालो।" सरस्वती के इस प्रकार कहने पर लज्जा तथा मदन की द्वन्द्व-भूमि दमयन्ती ने केवल आंखों से नल की ओर सङ्केत कर दिया।[3] देवी मे ललना-सुलभ वत्सलता भी ओत-प्रोत है। दमयन्ती को उन्होने अपनी पुत्री के रूप मे मान लिया था। देवों से दमयन्ती की ओर से क्षमा मागना, नल-दमयन्ती के सयोग का समर्थन करना,[4] देवी की वत्सलता के ही उदाहरण है। कवि स्वर्ग जाती हुई देवी के परम वत्सल हृदय का चित्रण करता है—

---

१. स्वं नैषधादेशमहो विधाय कार्यस्य हेतोरपि नानलः सन्।
किं स्थानिवद्भावमधत्तदुष्टं तादृक्कृतव्याकरणः पुनः सः॥ नै० १०।१३६

२. भीमस्तयागद्यत मोदितुं ते वेला किलेयं तदलं विषद्य।
मया निगाद्यं जगतीपतीनां गोत्रं चरित्रं च विचित्रमेषाम्॥ नै० १०।८९

३. त्वत्तः श्रुतं नेति नले मयातः परं वदस्वेत्युदिताथ देव्या।
ह्रीमन्मथद्वैरथरङ्गभूमी भैमी दृशा भाषितनैषधाभूत्॥ नै० १४।३६

४. नै० १४।४०-४५

"सरस्वती भी जाती हुई उत्कण्ठित होकर बार बार अपनी वचन-चातुरी की आधारभूत दमयन्ती को घूमकर देखती जाती थी।"[१]

विदर्भराज

नैषध मे राजा भीम एक वत्सल पिता के रूप मे चित्रित हुए है। पुत्री की व्यथा से उनका चित्त अधीर हो उठता है तथा वे शीघ्र स्वयंवर का आयोजन करने लगते है।[२] स्वयवर मे आए राजाओ का वे पूर्ण आतिथ्य करते है। दान, दया, सूनृत वचन तथा आतिथेयी ये चार भीम के अन्तःपुर के रक्षक है।[३] राजाओ का परिचय देने के लिए उनकी चिन्ता के मूल मे भी वत्सलता ही है।[४] साथ ही उनका हृदय आस्तिक है।[५] कष्ट के समय अपने कुलदेव का स्मरण होता है।[५]

स्वयवर मे दमयन्ती द्वारा नल-वरण होने पर विदर्भ-नरेश के हर्षोत्फुल्ल वत्सल हृदय का थोड़ा दर्शन होता है। वे अपनी पुत्री के साथ अन्त.पुर मे जाते है, और वहां दमयन्ती के पतिवरण के विषय मे अनेक सन्देह करती हुई महारानी से कहते है—"देवि, तुम अत्यन्त उत्कण्ठित हो रही हो, लो अपने जामाता नल को पहिचानो।"[६] और पुत्री को विदा करते समय उनके उपदेश मे पितृ-हृदय भावों से उमड़ता दिखायी पड़ता है। वे रोते रोते पुत्री को बिदा करते हुए कहते है—

"बेटी, अब तुम्हारा पुण्य ही पिता है, तुम्हारी क्षमाशीलता ही तुम्हारी सारी विपत्तियो को नष्ट करने वाली होगी, सन्तोष ही तुम्हारा धन होगा, महाराज नल ही तुम्हारे सर्वस्व होगे, और बेटी, अब से मै तुम्हारा कोई न रहा।"[७]

कलि

कलि हर प्रकार से प्रतिनायक के रूप मे आता है। नैषध के कथानक में यद्यपि नल से कलि को विरोध करने का कोई कारण नही, और न उसकी कोई ऐसी क्रिया

---

१. उत्का स्म पश्यति निवृत्य निवृत्य यान्ती वाग्देवतापि निजविभ्रमधाम भैमीम्॥ नै० १४।९९

२. नै० ४।११५, १२१

३. नै० १०।२७, २८

४. नै० १०।६८

५. नै० १०।६९

६. नै० १५।५

७. पितात्मनः पुण्यमनापदः क्षमाः धनं मनस्तुष्टिरथाखिलं नलः।
अतःपरं पुत्रि ! न कोऽपि तेऽहम्................॥ नै० १६।११८

होती है जिससे उसके विरोध का नायक के ऊपर कोई प्रभाव पड़े, तथापि इन्द्रादि देवों की कलुषता को लघु बनाने की ही भावना से कवि ने इस विख्यात महाकलुषित चरित्र का समावेश किया है। कलि का सहज धर्म पाप-परायणता है और महाभारतानुसार नल के उत्तरार्द्ध जीवन मे वह महान् कष्टकारक बना हुआ है, अतः कवि ने इन्द्रादि देवों को प्रतिनायक के रूप में रखते हुए भी, समाज में उनके देवत्व के प्रति अनास्था न हो, इस विचार से नल के इस अकारण शत्रु के चरित्र का चित्रण किया है। कलि के सामने देवों की दुष्टता पाठक को प्रायः भूल-सी जाती है। यहाँ नल से उसका विरोध अकारण ही है। वह देवों से कहता है—"देव-गण, अब हम लोगों ने दमयन्ती के प्रति अपनी अभिलाषा को त्याग दिया है। किन्तु उस नल के प्रति तो हममें दया का लेश भी नहीं है।[1]" कलि के अपने दुष्ट स्वभाव के सिवा इस वैर का कोई कारण नहीं समझ पड़ता। उसके प्रति-नायकत्व का प्रमाण उसकी एक प्रतिज्ञा है, जो वह नल के विषय मे करता है—

"विज्ञजनो, नल के विषय में मुझ कलि की इस प्रतिज्ञा को जान लो। मै नल से दमयन्ती तथा पृथ्वी दोनों ही छुड़वाऊंगा, और उस पर विजय प्राप्त करूँगा।"[2]

इनके अतिरिक्त, दूती, सखियाँ तथा बन्दीजन भी हैं। किन्तु उनके चरित्र का कोई विकास नहीं दिखाया जाता है। उनका केवल वही व्यवसाय-गत रूप देखने को मिलता है, जिसे साहित्य-लक्षण-ग्रन्थों के आचार्यों ने निर्धारित किया है।

---

१. प्रौञ्छि वाञ्छितमस्माभिरपि तां प्रति संप्रति।
तस्मिन्नले न लेशोऽपि कारुण्यस्यास्ति नः पुनः॥ नै० १७।१३६

२. प्रतिज्ञेयं नलेविज्ञाः कलेर्विज्ञायतां मम।
तेनभैमीं च भूमिं च त्याजयामि जयामि तम्॥ नै० १७।१३८

अष्टम अध्याय

दोष-निरूपण

काव्य-कल्पना में सर्वथा स्वतन्त्र होते हुए भी कवि को कुछ नियमो अथवा बन्धनो के भीतर ही रहना पड़ता है। उसकी स्वच्छन्दता की कुछ नियत सीमाएं होतीं हैं। उनकी उपेक्षा करना उसका प्रमाद कहा जाता है, और कवि के उस प्रमाद के कारण काव्य-सौन्दर्य मे ही कुछ न्यूनता प्रतीत होने लगती है। अतएव आचार्यों ने थोड़ी भी त्रुटि के लिए सर्वोच्च महाकवियो को भी क्षमा नही दी। दोषो का विवेचन करते समय उन्होंने भारवि, माघ तथा कालिदास तक की कृतियो से अनेक उदाहरण दिए। श्रीहर्ष और मम्मट के सम्बन्ध वाली किंवदन्ती तो नैषध को पूर्ण 'दोषाकर' ही सिद्ध करती है। पर सयोग से वह किंवदन्ती-मात्र ही रह गई है। सम्भवत नैषध की ग्रन्थियो को न सुलझा सकने के कारण किसी पण्डितम्मन्य 'खल' ने चिढ कर इस किंवदन्ती को गढ़ लिया था। क्योंकि श्रीहर्ष के परवर्ती साहित्य के समालोचक आचार्यों ने गुण, रीति, अलङ्कार आदि के प्रकरण मे तो नैषध के अनेक उदाहरण दिए, किन्तु दोषो का विवेचन करते समय कही किसी आचार्य ने नैषध की एकाध पंक्ति शायद ही कही उद्धृत की हो।[1]

---

१. पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रतिवस्तूपमा के दोष का विवेचन करते हुए वाक्यार्थ के असंष्ठुलता रूप सामान्य-दोष से नैषध के श्लोक—

"उपासनामेत्य पितुःस्म रज्यते दिने दिने सावसरेषु बन्दिनाम्।
पठत्सु तेषु प्रतिभूपतीनलं विनिद्र रोमाजनि शृण्वती नलम् ॥१।३४"

को क्रमेलकवत् ग्रस्त बताया है। और उसी वाक्यार्थ की प्रकारान्तर से योजना कर के श्लोक को इस प्रकार सुन्दरतर रूप दिया है—

उपासनार्थं पितुरागतापिसा, निविष्टचित्तावचनेषु बन्दिनाम्।
पठत्सु तेषु प्रतिभूपतीनलं विनिद्र-रोमाजनि शृण्वती नलम् ॥

किन्तु 'दिनेदिने' 'रज्यतेस्म' तथा 'अवसरेषु' में जो उच्च-कोटि की व्यञ्जना है, वह पण्डितराज के काट-छाँट कर व्याकरण की एक वाक्यता के

आचार्यों की इस मनोवृत्ति का केवल यही कारण प्रतीत होता है कि उन्हे नैषध मे गुण, अलङ्कार आदि अच्छाइयाँ इतनी अधिक मात्रा मे मिली, तथा श्रीहर्ष की प्रतिभा से वे इतने अभिभूत हो गए कि इस काव्य के दोषो की ओर, जो यो भी अत्यन्त नगण्य थे, उनका ध्यान ही न गया। नैषध मे कही कुछ दोष भी है, किन्तु उसी रूप में जैसे रत्न मे कही कही कीटानुवेध (कीड़े का छेद) आदि दोष हो जाते है। किसी श्लोक का कोई दोष भले ही कुछ खटकता हो, पर उसी श्लोक मे अन्य गुण इतनी अधिक मात्रा मे होते है कि उसके सौन्दर्य में उस दोष से कोई विशेष क्षति नही आने पाती।[१]

यहाँ नैषध के कुछ स्थलों का उल्लेख किया जा रहा है जो स्थूल दृष्टि से देखने मे सदोष प्रतीत होते है, किन्तु सूक्ष्मेक्षिकया विचारने पर निर्दोष ही सिद्ध होते है। अतः इन्हे नैषध के दोष न कह कर दोषाभास ही कहना उपयुक्त होगा। एकाध स्थल यदि वस्तुतः सदोष है भी तो वे न होने के बराबर ही माने जायेगे। अस्तु !

ख्यातिविरुद्धता अथवा प्रसिद्धिहत

जहाँ कवि ख्याति अथवा प्रसिद्धि के विरुद्ध कोई योजना करता है, वहां ख्याति-विरुद्धता अथवा प्रसिद्धिहत दोष माना जाता है। "उपवन-विहार करते समय नल ने चम्पक-कलिकाओं को देखा, जो कामदेव की बलिदीपशिखाओं के समान प्रतीत हो रही थी। उन कलियों पर बैठे भ्रमर ही उन दीपशिखाओं के कज्जल थे, जो इस प्रकार प्रतीत होते थे मानों पान्थ (प्रवासी) रूपी पतगों (कीड़ों)

अनुसार रचे हुए इस नीरस पद में कहाँ से आ सकती है, इसका सहृदय-पाठक स्वयं अनुभव कर सकते है, अस्तु।

उसी प्रकार आचार्य रघुवर मिट्ठूलाल शास्त्री नैषध के—

निजांशुनिर्दग्धमदङ्गभस्मभिर्मुधा विधुर्वाञ्छतिलाञ्छनोन्मृजाम्।
त्वदास्यतां यास्यति तावतापि किं वधूवधेनैव पुनः कलङ्कितः॥ नै० १।१४६

श्लोक को—मदङ्गनिर्दाहजभस्ममुष्टिभिर्मुधेप्सुरङ्कापनयात्त्वदास्यताम्।
गमिष्मतीन्दुर्नकदाप्यमूं स्पृशा वधूवधेनाभिनवां कलङ्किताम्॥

यह अन्य रूप देकर उसे दो दोषों से निर्मुक्त बताते है, अस्तु।

१. नहि कीटानुवेधादयो रत्नस्यरत्नत्वंव्याहन्तुमीशाः—उक्तं च—
कीटानुवेधरत्नादिसाधारण्येनकाव्यता। दुष्टेष्वपिमतायत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः॥
सा० द०, प्रथम परिच्छेद

का वध कर के उन कलियों ने यह पाप कर्म अर्जित किया है।"[1] और फिर, "भ्रमरों से युक्त होने के कारण ऊंची चम्पक-कलिकाओं को अधीरता से देख कर तथा चकित होकर नल ने तर्क किया कि यह वियोगियो के विनाश के लिए उदय हुआ धूम-केतु है।[2]"

पूर्वोक्ति दोनों श्लोकों में चम्पक के पुष्प पर भ्रमरों का बैठना प्रदर्शित किया गया है, किन्तु यह लोक-प्रसिद्धि के विरुद्ध है। लोक में ऐसा विश्वास है कि भ्रमर चम्पा के फूल पर नही बैठता। क्योंकि वहाँ बैठने से उसकी मृत्यु हो जाती है।

पर यदि ध्यान से देखा जाय तो प्रथम (१।८६) में चम्पा की कलियो को दीपशिखा तथा उन पर अलियो को कज्जल-पुज के रूप में, और द्वितीय (१।९१) मे चम्पा की कलियों को अलियों की श्रेणी से ऊची उठी हुई कहा गया है। कवि ने यह कहीं नही कहा है कि चम्पा की कलियो पर भ्रमर बैठे थे। कज्जल दीपशिखा के ऊपर उससे अलग ही रहता है, दीप शिखा पर बैठा नही रहता। उसी प्रकार भवरे भी चम्पा की कलियो पर बैठे नही कहे गए है, अपितु मंडराते हुए ही चित्रित किए गए है। और अपह्नुति एवं उपमा द्वारा वस्तु-चित्रण में यहां भ्रमरों का चम्पक कलिकाओं पर मंडराना ही कवि को इष्ट है, जो किसी प्रकार ख्याति-विरुद्ध नही माना जायगा। द्वितीय (१।९१) मे चम्पा की कलियों को भ्रमरों की श्रेणी के कारण ऊची उठी हुई कहा गया है। यहा न भ्रमरों का बैठना कहा गया है, और न ही यह कहा गया है कि भ्रमर जीवित है या मृत। अतः यदि चम्पक-कोरकों को भ्रमरों के बैठने के कारण ऊंचा उठा हुआ माने तो यह भी बिना किसी कठिनाई के मान सकते हैं कि वे भ्रमर चम्पक कोरकों पर बैठने के कारण निष्प्राण होकर वहीं पडे रह गए है, जिससे वे कोरक ऊंचे उठे हुए प्रतीत हो रहे है। अतः यहां भी ख्याति-विरुद्धता दोष नही है।[3]

---

१. विचिन्वतीः पान्थपतङ्गहिंसनैरपुण्य-कर्माण्यलि-कज्जलच्छलात्।
व्यलोकयच्चम्पक-कोरकावलीः स शम्बरारेर्बलिदीपिका इव॥ नै० १।८६

२. अलिस्रजा कुड्मलमुच्चशेखरं निपीय चाम्पेयमधीरया धिया।
स धूम-केतुं विपदे वियोगिनामुदीतमातङ्कितवानशङ्कत॥ नै० १।९१

३. अतएव 'जीवातु' में मल्लिनाथ ने यहां इस दोष का इस प्रकार परिहार किया है—'न षट्पदो गन्धफलीमजिघ्रत' इत्यादौ अलीनां चम्पक-स्पर्श-भावाप्रसिद्धेरिति चेन्नस्पृशन्त्येव। किन्तु स्पृष्टा म्रियन्ते तावतैव स्पर्शाभाव-प्रसिद्धिरितिक्वचित् कीर्तितः परिहारः।

इन श्लोकों मे पूर्वोक्त ढंग से ख्याति-विरुद्धता दोष का परिहार हो जाने पर भी त्यक्त-पुनः-स्वीकृत नामक अर्थ-दोष बना रहता है। क्योंकि एक बार प्रथम (१।८६) मे भ्रमर-सहित चम्पक-कलिकाओ का वर्णन करके कवि स्थल-पद्मिनी (१।८८) रसाल (१।८९) तथा पिक (१।९०) का वर्णन करता है, और अन्त मे फिर (१।९१) भ्रमर-सहित चम्पक-कलिकाओं का चित्रण करने लगता है, अस्तु।

ख्याति-विरुद्ध दोष का एक अन्य आभास नल के सपत्नीक अपनी राजधानी में पहुँचने पर सौधवातायन से सुन्दरियों द्वारा उनके सौन्दर्य के अवलोकन के वर्णन में मिलता है—उस नगर की सब स्त्रियो के नेत्र-रूपी नीलकमल जो अत्यन्त प्यास के कारण शुष्क हो जाने से व्याकुल थे, राजा नल के मुखचन्द्र की शोभा रूपी सुधा का पान करने लगे। वह सुधा महलो की खिड़कियों के छेदों से जाती हुई रश्मि-रूप कमल-नालों द्वारा नेत्रों के समीप लाई जा रही थी।[1]—

कमलों का चन्द्रमा की सुधा से अनुराग लोक-प्रसिद्धि तथा कवि-प्रसिद्धि दोनों के विरुद्ध है।

किन्तु थोड़ा विचार करके देखा जाय तो कवि की उक्ति बड़ी युक्ति के साथ कही गयी प्रतीत होती है। दिन मे खिलने वाले कमलों का चन्द्रिका से साक्षात् सयोग नही होता है। कमलों के सूर्य-सम्पर्क से विकसित होने के कारण उनके असम तो क्या कैसी भी पिपासा अथवा शुष्कता से उत्पराग होने का अवकाश ही नही रहता है। यहा चन्द्रसुधा का मुख-श्री-सुधा से तादात्म्यारोपण होने से वह सुधा कमलो तक उन्हे खिलाने के लिए नही, अपितु जिलाने के लिए; और साक्षात् नही नाल द्वारा परम्परया पहुचती है। अत. यहा प्रसिद्धि-विरोध के लिए कोई अवकाश नही है।

क्लिष्टत्व

जहाँ अभीष्ट अर्थ की प्रतीति मे विलम्ब हो तथा बाधा होने के कारण अभीष्ट अर्थ कष्ट से समझ में आए वहा क्लिष्टत्व दोष माना जाता है।[2]

कुण्डिनपुर का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष कहते है—"जिस नगरी के भवनों की अट्टालिकाओ की भमि पर जटित चन्द्रकान्त मणियों से (सदा चन्द्रोदय के समय)

---

१. निषध-नृप-मुखेन्दु श्रीसुधा-सौधवातायनविवरगरश्मिश्रेणिनालोपनीताम्।
पपुरसमपिपासापांसुलत्वोत्परागाण्यखिलपुरपुरन्ध्रीनेत्रनीलोत्पलानि ॥
नै० १६।१२८

२. क्लिष्टत्वं यतोऽर्थप्रतिपत्तिर्व्यवहिता—काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास।

जलस्राव के कारण बढ़ी हुई आकाश-गङ्गा चन्द्रोदय के समय अपने पातिव्रत्य-धर्म को नही छोड़ती।[१]"

यहाँ चन्द्रोदय के समय समुद्र बढता है, गङ्गा समुद्र की पत्नी है। अत. उन्हें भी पति की वृद्धि के समय बढना चाहिए। चन्द्रकान्त मणिओ के जलस्राव से वे बढ़ती हैं, मानो वे चन्द्रोदय के समय अपने पातिव्रत्यधर्म का पालन कर रही है।

यह अर्थ बड़े विलम्ब से समझ में आता है। साथ ही, आकाश-गङ्गा का चन्द्रमा के उदय (वृद्धि) के समय बढ़ना देख कर यह भी प्रतीत होने लगता है कि आकाश-गङ्गा का यह पातिव्रत्य चन्द्रमा के ही प्रति है (क्योंकि समुद्र का कही उल्लेख नही है)। अतः यहां विरुद्धमतिकृत्-नामक दोष भी माना जा सकता है।

अप्रयुक्त

व्याकरण, कोष आदि के नियमो द्वारा शुद्ध होने पर भी कवियों ने जिन शब्दों का प्रयोग न किया हो उनका प्रयोग करना अप्रयुक्त दोष माना जाता है।[२] जैसे पद्म शब्द कोष द्वारा पुल्लिग तथा नपुसकलिङ्ग होने पर भी नपुंसकलिङ्ग मे ही प्रयुक्त होता है, उसका पुल्लिग मे प्रयोग करना अप्रयुक्त दोष होगा। किन्तु श्रीहर्ष दमयन्ती का वर्णन करते हुए "शीतकाल में पद्मों (पद्मान्) को तथा वर्षाकाल में खञ्जरीटों को, उनके जिस उत्तम भाग को लेकर, ब्रह्मा उन्हे कही धरोहर रख देते है, उसी उत्तम भाग से सुन्दरी के दोनों नेत्रों का निर्माण करते हैं।[३]"

यहाँ पद्म शब्द पुल्लिग मे प्रयुक्त होने के कारण अप्रयुक्त दोष से युक्त है।

दुष्क्रम

जहाँ वस्तुओं के परिगणन मे क्रम की व्यवस्था उचित नही रहती, वहां दुष्क्रम दोष माना जाता है। नैषध की "मानी पुरुष को प्राण तथा सुख भले ही छोडने पड़ें पर वे अपने जीवन के मुख्यव्रत 'याचना' को कभी नही छोड़ते।[४]" इस उक्ति में

---

१. यदगार-घटाट्ट-कुट्टिमस्रवदिन्दूपलतुन्दिलापया ।
मुमुचे न पतिव्रतौचिती प्रतिचन्द्रोदयमभ्रगङ्गया ॥ नै० २।८९

२. अप्रयुक्तं तथा आम्नातमपि कविभिर्नादृतम्—काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास।

३. पद्मान् हिमे प्रावृषि खञ्जरीटान् क्षिप्नुर्यमादाय विधिः क्वचित्तान्।
सारेण तेन प्रतिवर्षमुच्चैः पुष्णाति दृष्टिद्वयमेतदीयम् ॥ नै० १०।१२०

४. त्यजन्त्यसून्शर्म च मानिनोवरं त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम् ॥ नै० १।५०

'सुख तथा प्राण' यह क्रम उचित था, क्योंकि प्राण सभी सुखों से बढ कर प्रिय होते है।

किन्तु यहां 'शर्म' से श्रीहर्ष का अभिप्राय शारीरिक सुख या विषयानन्द नही है, अपितु वेदोक्त 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानिभूतानिमात्रामुपजीवन्ति', तथा 'न वा अरे पत्यु कामाय पति-प्रियो भवति। आत्मनस्तुकामाय'—इत्यादि है। अतः वे प्राण को पहले और परमार्थ मार्ग मे प्राप्य शर्म को पीछे रखते है। क्षत्रिय उसी सुख के लिए रण में दूसरे की रक्षा मे प्राण देते थे। अतः कवि का पूर्वोक्त क्रम उचित ही है।

अधिक-पदता

जहाँ कुछ पद आवश्यकता से अधिक होते है वहाँ अधिकपदता वाक्य-दोष होता है। इस दोष का आभास कुण्डिनपुर की पण्यवीथियों के वर्णन में मिलता है। कवि की उक्ति है—"जिस (नगरी) की दूकान पर विक्रेता ने (कस्तूरी के) सौगन्ध के लोभ से निश्चल, यद्यपि गुजार करते हुए श्याम भ्रमर को, जन-कोलाहल के कारण कस्तूरी खण्ड के साथ तौलते हुए, नही जान पाया।[1]"

यहाँ मलीमस (श्याम) शब्द व्यर्थ (अधिक) है। भ्रमर तो श्याम होता ही है, अत इस विशेषण के बिना भी भ्रमर के रग मे कोई अन्तर न आता।

किन्तु विचार करने पर मलीमस शब्द सप्रयोजन प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है, व्यर्थ नही। यहाँ भ्रान्तिमान् अलङ्कार के लिए केवल अलि और कस्तूरिका का उल्लेख मात्र पर्याप्त न होगा। साम्य की स्थापना के लिए दो मे से किसी एक का श्यामता-वाचक विशेषण देना उचित ही होगा। रस-गङ्गाधर मे भ्रान्तिमान् के उदाहरण 'कनकद्रव-कान्ति-कान्तया' तथा 'राम स्निग्धतरंश्यामं"—धाराधरधिया—।' इसी बात को सिद्ध करते हैं। भामिनी-विलास के—'मलिनेऽपिरागपूर्णां विकसितवदना-मनल्पजल्पेऽपि। त्वयि चपलेऽपि च सरसा भ्रमर कथं वा सरोजिनी त्यजसि।१।१०० मे मलिन पद भी इसी प्रकार सप्रयोजन प्रयुक्त हुआ है।

कुछ दोषाभास श्रीहर्ष की कालक्रम की उपेक्षाओं में मिलता है।

दूत-रूप नल के समझाने पर कि 'बिना देवों की प्रसन्नता के दमयन्ती का नल के साथ विवाह असम्भव है' दमयन्ती उन्मुक्त कण्ठ से विलाप करने लगती है, जिसे

---

१. सममेणमदैर्यदापणे तुलयन् सौरभलोभनिश्चलम्।
पणिता न जनारवैरवैदपि गुंजन्तमलिमलीमसम्॥ नै० २।९२

सुन कर नल का हृदय द्रवित हो जाता है, वे भावोद्रेक मे अपने को प्रकट कर देते है। उस समय दमयन्ती के लज्जावनत हो जाने पर उसकी सखी नल से कहती है—"आप का चित्र बना कर उस चित्र के चरणों पर स्वय अश्रुधार बहाती हुई दमयन्ती ने जो मदन रहस्य की बाते कही थी उन्हे आप मुझसे सुनिए।[1]" और फिर दमयन्ती की उक्तियों को सुनाती है—"स्वयं पति वरण करने मे स्वतन्त्र मेरे प्रति यदि आप अनुकम्पा करते है तो इसमे देवों के प्रति क्या कोई अपराध होगा? यज्ञो मे आपसे तृप्त होने के कारण देवगण सकोचवश कुछ कह तो सकेंगे ही नही।[2] और फिर अच्छा हो कि वे देवगण भी स्वयवर मे आवे। मै उन्हे प्रसन्न करके ही आपको वरूगी। उन्हें भी क्या किसी प्रकार दया न आवेगी? वे न कामदेव है न तुम्ही हो।[3]" नल को वरने मे देवगण अप्रसन्न होगे। यह विचार तो तभी उठ सकता था जब दमयन्ती को यह मालूम हुआ रहता कि देवगण भी उसे चाहते है। और देवो का प्रस्ताव तो वह दूत नल के मुख से ही सुनती है। अत. इसके पूर्व दमयन्ती के उस प्रकार के प्रलापो की कल्पना करके कवि ने काल-क्रम की योजना मे अव्यवस्था कर दी है।

किन्तु ध्यान से देखने पर यहा कोई काल-व्यतिक्रम नही हुआ है। नैषध के कथानक को यदि प्रारम्भ से देखे तो हम दमयन्ती के एक क्षण के लिए भी अपनी दृष्टि मे ओझल नही पाते। उसकी सारी चेष्टाए, सारे क्रियाकलाप एक क्रम से अङ्कित की गयी है। तो आखिर चित्र के प्रति यह प्रलाप हुआ ही कब होगा जिसका उल्लेख सखी ने इस प्रकार हृदयस्पर्शी ढग से किया है? यदि विचारपूर्वक देखें तो इसका एक ही समय समझ पडता है, वह है इन्द्रादि दिक्पालों की दूतियों के चले जाने पर। दूतियों के प्रस्तावों को सुन कर उसे देवो के अनुराग का पता चल जाता है, अत: पूर्वोक्त प्रलाप में देवानुराग का उल्लेख उचित ही होगा। और फिर, नल ने जो गुप्त रूप मे देव दूतियों से दमयन्ती की भर्त्सनाओं को सुन चुके थे, तुरन्त अपने को प्रकट न किया होगा। बीच मे कुछ समय अवश्य बिताया होगा, जिससे कि दमयन्ती की चित्तवृत्ति भी कुछ ठिकाने हो जाय। इस प्रकार दूतियों के जाने के

---

१. पदातिथेयाल्लिंखितस्य ते स्वयं वितन्वती लोचन-निर्झरानियम्।
जगाद या सैव मुखान्मम त्वया प्रसूनबाणोपनिषन्निशम्यताम्॥ नै० ९।१४३

२. सुरापराधस्तव वा कियानयं स्वयंवरायामनुकम्पता मयि।
गिरापि वक्ष्यन्ति मखेषु तर्पणादिदं न देवामुखलज्जयैव ते॥ नै० ९।१५३

३. व्रजन्तु ते तेऽपि वरं स्वयंवरं प्रसाद्य तानेव मया वरिष्यसे।
न सर्वथा तानपि न स्पृशेद्दया न तेपि तावन् मदनस्त्वमेव वा॥ नै० ९।१५४

पश्चात् तथा नल के प्रकट होने के पूर्व का अन्तराल ही वह समय है जब विक्षुब्ध एव व्यथित दमयन्ती ने अपने प्राणेश्वर के चित्र के सम्मुख साश्रु यह 'प्रसून-बाणोपनिषद्' सुनाई होगी। अत. यहा कालक्रम का कोई दोष नही।

इस दोषाभास का दूसरा उदाहरण देखिए—

स्वयवर मे शिबिकावाहक दमयन्ती को अवन्तिनाथ के पास से एक अन्य नरेश (गौडेन्द्र) के पास उसी प्रकार ले गए जैसे रघुवंशदीप राजा भगीरथ गङ्गा को पृथ्वीतल पर ले आए थे।[1]

सूर्यवश मे भगीरथ रघु से कई पीढ़ी पहले पैदा हुए थे। उस वंश का रघुवंश नाम रघु के पश्चात् पड़ा है। अतः भगीरथ को रघुवशदीप कहना अनुचित है। अच्छा होता यदि इसके स्थान पर 'रविवंशदीप' कहा गया होता।

किन्तु रविवंश बहुत बडा है। उसकी अनेक शाखाएं भी हुई। वह शाखा, जिसमे भगीरथ आदि उत्पन्न हुए रघुवंश ही के नाम से प्रसिद्ध हुई। मूल पुरुष को बताने के लिए तो उसके बाद 'प्रभव' अथवा 'कृ' का कोई कृत्प्रत्यान्त रूप जोडते हैं—जैसे सूर्य-प्रभव, वशकृत्, वशकर इत्यादि। यहां रघु के साथ ऐसा प्रयोग नही किया गया है। और फिर, महापुरुष अपने से दस पूर्व तथा दस अवर पुरुषों (२१ पीढ़ियों) को तारता है। इस विचार से भी रघु का नाम उचित ही लिया गया है। अतः यहाँ किसी प्रकार का दोष नही।

इसी दोषाभास का एक और उदाहरण देखिए—

स्वयवर मे ही अयोध्या के राजा ऋतुपर्ण का परिचय देती हुई सरस्वती दमयन्ती से कहती है—"इनके पूर्वजों ने सागर को खोदा तथा गङ्गा द्वारा उसे पूरा किया था, फिर इन्ही का वशज उस सागर पर पुल बाधेगा।[2]" यहां कवि को इस बात का ध्यान बना रहता है कि नल के समय तक रामावतार नहीं हुआ था, किन्तु आगे चल कर देवपूजा के समय नल द्वारा राम, कृष्ण, बुद्ध तथा कल्कि अवतारों की भी प्रार्थना करवाते है, उदाहरणार्थ—नल राम की प्रार्थना करते हुए कहते है—"हे रघुवर, यदि आप मुझे तत्त्व-बुद्धि नही देते तो वह मोह ही दे दीजिए, जिसके भय से रावण की सेना युद्ध-क्षेत्र मे मूढ होकर सम्पूर्ण विश्व को आपके रूप मे देखने लगी थी।[3]" उसी प्रकार कल्कि-अवतार की प्रार्थना करते हुए कहते है—"रण की

---

१. भैमीमनयत-जन्यजनस्तदन्यं गङ्गामिव क्षितितलं रघुवंशदीपः—नै० ११।९५.
२. अखानि सिन्धुः समपूरि गङ्गया कुलं किलास्य प्रसभं स भन्त्स्यते—नै० १२।८
३. नो ददासि यदि तत्त्वधियं मे यच्छमोहमपि तं रघुवीर।
येन रावणचमूर्युधि मूढा त्वन्मयं जगदपश्यदशेषम्॥ नै० २१।७०

धूलि से पाण्डु (धवल) वर्ण मानव देहधारी (विष्णु-व्यापक) आप पृथ्वी पर दुष्टो की खोज में घूमते हुए मानो अपने पिता विष्णु-यश का नाम सार्थक कर रहे थे, क्योंकि आपके रूप मे मानों उनका धवल यश ही साक्षात् देह धारण कर सर्वत्र व्यापक बन रहा था।[1]" इससे कवि की कालक्रम के प्रति असावधानी स्पष्ट प्रतीत होती है।

पर यह भी दोषाभास ही है। पुराणो मे विष्णु के ये ही अवतार इन्ही नामों से ब्राह्म, पाद्म, वाराह आदि कल्पों मे बार बार हुए बताए गए हैं। अत. अवतार रूप से राम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि आदि नित्य-विग्रहो की स्तुति मे कालक्रम के विपर्यय का कोई दोष नही होता। और अवतार रूप मे स्तुति करते समय उस अवतार के चरितों का गान भी उसी प्रकार 'नित्य चरित' के रूप 'कालानवच्छिन्न' ही माना जायगा। किन्तु एक मनुष्य के रूप में इनका चरितोल्लेख करते समय कवि को ऐतिहासिक दृष्टि रखनी पड़ेगी। सेतु बाँधना मानुष कर्म है और एक कालावच्छिन्न व्यक्ति से सबद्ध है। अतः यथाभूतवर्णन करने वाले कवि को इसमें पूर्वापरता की ऐतिहासिक दृष्टि होनी ही चाहिए, अस्तु।

---

१. देहिनेव यशस्या भ्रमतोर्व्यां पाण्डुरेण रणरेणुभिरुच्चैः।
विष्णुना जनयितुर्भवताभून्नाम विष्णुयशसश्च सदर्थम्॥ नै० २१।९२

नवम अध्याय

काव्य-सौन्दर्य अथवा अलङ्कार

श्रीहर्ष के समय तक रीति, वक्रोक्ति तथा ध्वनि आदि वादों की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी। यद्यपि भामह, दण्डी, उद्‌भट के अलङ्कार-वाद एवं वामन के रीतिवाद, अलङ्कारवादी कुन्तक के वक्रोक्तिवाद, आनन्दवर्धन के ध्वनिवाद का क्षेत्र निर्धारित हो चुका था, किन्तु काव्य में चमत्कार के लिए वैदुष्य-प्रदर्शन वाले युग मे कवियो ने तो अलङ्कार तथा वक्रोक्ति को अपनाया और काव्य-समालोचना के आचार्य आनन्दवर्धन तथा उनके अनुयायी अन्य आचार्यो ने ध्वनि एव रस का झण्डा ऊचा किया। कवि अप्रसिद्ध से अप्रसिद्ध अलङ्कारों की योजना करते, अत. उन्हे वैचित्र्य के पक्षपाती अलङ्कारवादी आचार्यो के सिद्धान्त अधिक प्रिय लगते। भणिति-भङ्गी उनका प्रधान लक्ष्य होता था। वे उसी के लिए यत्न करते। यदि उसके द्वारा ध्वनि तथा रस की भी कुछ निष्पत्ति हो जाती तो भले हो जाय, परन्तु कवियों का उसके लिए न तो कोई प्रयत्न होता, न उनको कोई अपेक्षा। इसके फलस्वरूप ध्वनि एवं रसवादी आचार्यों को उत्तम काव्य के उदाहरणार्थ बहुत दूर के पूर्ववर्ती-कालिदास, भवभूति, भट्टनारायण आदि—महाकवियों का आश्रय लेना पडता। उन्ही के काव्यों से घुमाफिरा कर वे सभी उदाहरण देते। अलङ्कारवादी भामह, दण्डी, वामन ने काव्य-सौन्दर्य के लिए जिस वचन-भङ्गी अथवा वैचित्र्य का प्रस्ताव किया था, कुन्तक ने अपने 'वक्रोक्ति जीवित' द्वारा उसे सब प्रकार से पल्लवित किया।

भामह ने काव्य के लिए वक्रता को उपयोगी बताया है—वाणी को अलङ्कृत करने के लिए वक्रोक्ति को वाञ्छनीय[1] कहा है। उन्होंने अतिशयोक्ति की परिभाषा करते हुए उसे लोकातिक्रान्त-गोचर (लोकातिशायी) वचन[2] कहा है, और आगे इस अतिशयोक्ति का वक्रोक्ति के साथ एक-रूप्य स्थापित करते हुए कहा है कि इसी वक्रोक्ति (अतिशयोक्ति) के द्वारा अर्थ सुशोभित होता है, अतः कवि को इसे

---

१. वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः—भामह का काव्यालंकार १।३६

२. निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा॥ वही, २।८१

माधने के लिए प्रयत्न करना चाहिए, क्योकि इसके बिना अलङ्कार ही क्या ?[१] भामह वक्रोक्ति को कोई एक पृथक् अल ार नही मानते, अपितु एक ऐसी उक्ति-भङ्गी (शैली) मानते है, जो समस्त काव्य मे आवश्यक होती है, चाहे वह गद्यरूप हो चाहे पद्य-रूप, और जो काव्य का एक प्रधान तत्त्व है।[२] सीधी बात को भामह कोई अलङ्कार नही मानते, क्योकि उसमे वक्रता नही रहती। ऐसी बात को वे 'वार्ता' कहते है। इसीलिए उन्होने 'हेतु', 'सूक्ष्म' तथा 'लेश' को अलङ्कार नही माना है।[३] अर्थात् भामह के मत से अतिशयोक्ति सारे अलङ्कारों का मूल है, जहाँ कुछ अतिशयोक्ति नही वहाँ कोई अलङ्कार नही।

दण्डी ने समस्त वाङमय (वचन-प्रकार) को ही दो भागों में विभक्त कर दिया है। उनके अनुसार स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति ये ही दो शैलिया है जिनके द्वारा भाव व्यक्त किया जाता है।[४] मनुष्य अपने भावो को या तो सीधे शब्दों मे व्यक्त करता है, या कुछ भङ्गिमा के साथ। सौन्दर्य दोनो तरह की उक्तियो में रहता है। वस्तु-स्वभाव के वर्णन को स्वभावोक्ति कहते है, तथा कुछ भी भङ्गिमा के साथ कही हुई बात सालंकार अथवा वक्रोक्ति कही जाती है। इसीलिए दण्डी ने हेतु, सूक्ष्म, लेश, आशीः आदि सीधी उक्तियों को भी अलङ्कार माना है। वक्रोक्ति मे भी सौन्दर्य बढाने वाला श्लेष होता है।[५] दण्डी ने वक्रोक्ति की चर्चा ससृष्टि (सकीर्ण) अलङ्कार के प्रकरण मे की है। दूसरे शब्दो मे हम दण्डी का मत इस प्रकार रख सकते है कि "जब वक्रोक्ति रहती है तब अलङ्कार सुशोभित होता है और जब श्लेष का संयोग होता है तब वक्रोक्ति और भी उत्कृष्ट हो जाती है।" साथ ही दण्डी ने भामह की भाति अतिशयोक्ति की व्यापकता को भी माना है। उन्होने अतिशयोक्ति के प्रति महाकवियों की आदरभावना का उल्लेख करते हुए उसे अन्य अलङ्कारो का

---

१. सैषा सर्वत्रवक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यःकोऽलङ्कारोऽनयाविना॥ वही २।८५

२. युक्तंवक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते—वही १।३०

३. हेतुश्चसूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मतः।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः।
गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्तिवासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते॥ काव्या० २।८६-८७

४. भिन्नंद्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेतिवाङ्मयम्—काव्यादर्श० २।३६३

५. श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम—काव्यादर्श० २।३६३

परमाश्रय बताया है[1]—वामन ने तो वक्रोक्ति को एक विशेष अर्थालङ्कार माना है[2] जो सादृश्य पर आधारित लक्षणा रूप होती है। किन्तु आचार्य कुन्तक ने इस वैचित्र्य वाद की प्रतिष्ठा बड़े समर्थ पाण्डित्य के साथ की। उन्होंने कवि के वक्र व्यापार (रचना-वैचित्र्य) से युक्त शब्दार्थ को काव्य माना। उनके मत से अलङ्कृत शब्दार्थ ही काव्य है।[3] कुन्तक ने सालंकार को ही काव्य माना है।[4] अलङ्कार को एक पृथक् वस्तु तथा काव्य को पृथक् वस्तु नही मानते। उनके मत से अलङ्कार का ही दूसरा नाम वक्रोक्ति है, जो दूसरे शब्दों में वैदग्ध्य-भङ्गी-भणिति (विचित्र ढंग से कही बात)[5] है। कुन्तक ने अलङ्कारों को केवल अभिधान-प्रकार-विशेष या, बात कहने का विशेष ढंग माना है।[6] उन्होंने सम्पूर्ण अलङ्कार-वर्ग को वक्रोक्ति का ही विभिन्न रूप माना है। वक्रोक्ति प्राण-रूप से सब में प्रवाहित रहती है। उनके मत से वाक्य-के अन्तर्गत ही समस्त अलङ्कार-वर्ग आ जाता है।[7] वक्रता के अभाव के कारण ही उन्होंने स्वभावोक्ति, विशेषोक्ति, हेतु, सूक्ष्म, लेश, उपमा, रूपक, तथा आशीः को अलङ्कार नही माना है। जो आलङ्कारिक स्वभावोक्ति को अलङ्कार मानते हैं उनके विषय में कुन्तक का यह कटाक्ष है कि यदि अलङ्कार्य को ही अलङ्कार मान लें तो फिर अलङ्कार किसका किया जायगा?[8]

कुन्तक ने यद्यपि अलङ्कार के साथ रस का उतना महत्त्व नही माना है किन्तु आनन्दवर्द्धन द्वारा प्रतिपादित उस सिद्धान्त की वे एकदम उपेक्षा भी नही कर

---

१. अलङ्कारन्तराणामप्येकमाहुः परायणम्। वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्। काव्यादर्श० २।२२०

२. सादृश्यलक्षणा वक्रोक्तिः—काव्यालङ्कार सूत्र ४।३।८

३. शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी। बन्धे व्यवस्थितौ काव्यम्—वक्रोक्तिजीवित १।७

४. सालङ्कारस्य काव्यता। तेन अलङ्कृतस्यकाव्यत्वमिति स्थितिः न पुनः काव्यस्यालङ्कारयोग इति।— व० जी० १।६ तथा वृत्ति

५. वैदग्धभङ्गीभणिति—वक्रोतिजीवित १।१०

६. उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलङ्कृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते॥ व० जी० १।१०

७. वाक्यस्यवक्रभावोन्यो भिद्यते यः सहस्रधा।
यत्रालङ्कारवर्गोऽसौ सर्वोप्यन्तर्भविष्यति॥ व० जी० १।२०

८. अलङ्कारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलङ्कृति।
अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते॥ व० जी० १।११

सके। उन्होने प्रबन्धो तथा प्रकरण वक्रता-सौन्दर्य में रस का प्राधान्य[1] स्वीकार किया है।

चमत्कार के विषय मे भामह-कुन्तक के पूर्वोक्त मत से श्रीहर्ष पूर्ण सहमत समझ पडते है। उन्होने नैषध मे स्थान-स्थान पर अलङ्कार, रस, ध्वनि के विषय मे अपना निश्चित मत भी दे दिया है। लक्षणामूल-ध्वनि के 'अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य' भेद की ओर सकेत करते हुए उन्होने ध्वनि मार्ग मे वक्रोक्ति की प्रधानता स्वीकार की है—"अथवा निषेध रूप मे यह तुम्हारी स्वीकृति ही है। तुम्हारी वाणीमे वक्रता उचित ही है। जिसे ध्वनि का चमत्कार कहते है विदग्ध (चतुर) स्त्रियो का मुख उसका निधान होता है"[2] इस श्लोक द्वारा श्रीहर्ष ने बडे कौशल के साथ अपने नैषध की रचना-शैली का भी परिचय दे दिया है। ध्यान से देखा जाय तो नैषध में प्रायः सर्वत्र विदग्ध (विदुषी) नारियों के ही मुख से कही हुई बाते है। सर्वप्रथम दमयन्ती की वचन-भङ्गी का दर्शनहस के साथ, चन्द्रमदनोपालम्भ में, सखियों के साथ, देवदूतियों के साथ, तथा नल के साथ होता है। फिर पञ्चसर्गात्मक स्वयंवर-वर्णन (१०-१४) में विदग्ध सरस्वती की वचन-भङ्गी का चमत्कार है। बीसवे सर्ग में सखियो के हास-परिहास मे भी थोडी वक्रता नही है। इक्कीसवे सर्ग के अन्त में शुक-सारिका-प्रलाप मे भी नारी की ही विदग्धता है, और अन्त मे सन्ध्या-चन्द्र-वर्णन मे दमयन्ती की वचन-भङ्गी का वैभव देखने को मिलता है। श्रीहर्ष इसी वक्रोक्ति अलङ्कार के पूर्ण पक्षपाती समझ पडते है। चमत्कार-प्रदर्शन के लिए श्रीहर्ष ने अतिशयोक्ति का सहारा लिया। नैषध की अतिशयोक्ति ठीक भामहोक्त ही है, जिसे वक्रोक्ति का पर्याय कह सकते है। किन्तु श्रीहर्ष ने उस अतिशयोक्ति को सभी अलंकारों का मूल नही माना है, क्योंकि भणिति-भङ्गी के अभाव वाले, भामह-कुन्तक द्वारा अस्वीकृत स्वभावोक्ति, विशेषोक्ति, हेतु, सूक्ष्म, लेश, आशी आदि अलङ्कारो का भी सौन्दर्य-प्राधान्य नैषध मे पर्याप्त मात्रा मे देखने को मिलता है, और उन सरलोक्तियो (स्वभावोक्तियों) मे काव्य-सौन्दर्य भी भरपूर है। श्रीहर्ष इस विषय मे दण्डी के अनुयायी समझ पड़ते है। एक स्थान पर तो उन्होंने स्पष्ट शब्दों में श्लेष के कारण ही वचन-भङ्गी की उत्कृष्टता स्वीकार की है।

दमयन्ती सरस्वती की श्लेष रचना के विषय में अपने मन मे कहती है—

"इनकी वाणी मे कोई अद्भुत वक्रता थी (क्यों न हो) जो ये मूर्तिमती सरस्वती

---

१. एवमेवामहाकवि-प्रबन्धेषु प्रकरण-वक्रता-विच्छित्ती रसनिर्व्यातदनी—वही

२. निषेधवेषो विधिरेष तेऽथवा तवैव युक्ता खलु वाचिवक्रता।
विजृम्भितं यस्य किल ध्वनेरिदं विदग्धनारीवदनं तदाकारः॥ नै० ९।५०

ही ठहरी। किस प्रकार श्लेष द्वारा (इनका) वर्णन कर के इन्द्र आदि देवो का आदर किया और विशेष रूप से मुझे नल का भी परिचय दे दिया।[1]"

ध्वनि के सभी भेदो के उदाहरण नैषध से प्रस्तुत किए जा सकते है। उत्तम काव्य वही है जिसमे वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्य द्वारा अधिक चमत्कार प्रस्तुत किया जाय और उसी को ध्वनि काव्य भी कहते है।[2] उस व्यङ्ग्यार्थ मे भी कभी अत्यन्त-तिरस्कृत वाच्य-भेद मे वाच्यार्थ की कोई गन्ध भी नही रहती, और कभी अर्थान्तरसङ्क्रमित वाच्य-भेद मे वाच्यार्थ अपनी झलक दिखाता हुआ व्यङ्ग्यार्थ को व्यक्त करता है। इन दोनों प्रकार के व्यङ्ग्यार्थ के मूल में लक्षणा रहती है, जिसे लक्षणा-मूलक अथवा अविवक्षित-वाच्य ध्वनि कहते हैं।[3] नैषध मे लक्षणामूलक 'अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य' ध्वनि नामक भेद का एक अत्यन्त सुन्दर उदाहरण दमयन्ती की दूत-नल के प्रति यह उक्ति है, "तुम्हे निश्चित (ध्रुव) ही जलाधिप (जड़ाधिप) ने आदेश दिया है, स्पष्ट (स्फुट) ही यमराज (परेतराज') ने भेजा है, निश्चित ही इन्द्र (मरुत्वान) ने भेजा है तथा अग्नि (ऊर्ध्वमुख) ने नियुक्त किया है।[4]"

यहाँ 'ध्रुव', 'स्फुट' तथा 'निश्चितं' शब्दों के कारण जलाधिप का 'मूर्ख-शिरोमणि, परेतराज का 'चेतनाहीन', मरुत्वान् का 'वातुल' तथा ऊर्ध्वमुख का (प्रतिभाहीन) अर्थ होगा जो क्रम से वरुण, यम, इन्द्र तथा अग्नि अर्थों के अनुपयोगी होने पर लिया जाने के कारण लक्षणामूलक 'अर्थान्तरसङ्क्रमित-वाच्य' ध्वनि ही है।

एक और उदाहरण अनुपयुक्त न होगा। अन्तःपुर में पोषित शुक नवदम्पती को सम्बोधित करते हुए सखियो से कहता है—

"अतः परस्पर अनुरागवश आप दोनो की (होने वाली) विलास-क्रीडा की स्वतन्त्रता मे घातक सखिया यहा से चली जाय। अन्यथा बिना वस्त्र हटवाए, बिना

---

१. सा भङ्गिरस्याः खलुवाचि कापि यद्भारती मूर्तिमतीयमेव।
 श्लिष्टं निगद्यादृत वासवादीन्विशिष्य मे नैषधमप्यवादीत्॥ नै० १४।१४

२. इदमुत्तममतिशयिनिव्यङ्ग्येवाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः॥—काव्यप्रकाश १।२

३. अविवक्षितवाच्यो यस्तत्रवाच्यं भवेद्ध्वनौ।
 अर्थान्तरेसंक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्॥ वही ४।३९

४. जलाधिपस्त्वामादिशन्मयि ध्रुवं परेतराजः प्रजिघाय च स्फुटम्।
 मरुत्वतैव प्रहितोऽसि निश्चितं नियोजितश्चोर्ध्वमुखेन तेजसा॥ नै० ९।२३

दन्तनख के प्रयोग द्वारा युद्ध करवाए 'मदन' 'मदन' कैसे होगा ?[1]" यहा पर एक 'मदन' का अर्थ तो कामदेव है, और दूसरे 'मदन' का मादक।

वाच्यार्थ का अत्यन्त तिरस्कृत करना तो प्राय. काव्य का सहज धर्म रहा है। विना उसके कवि अपनी वाणी मे वक्रता या चमत्कार ला ही नही सकता। इसके लिए कवियों ने सदा से खुल कर लक्षणा का उपयोग किया है। मूर्ख (बाहीक, जंगली मनुष्य) की मूर्खतातिशय का बोध कराने के लिए (गौर्बाहीकः कह कर) उसे बैल की उपाधि दी गयी।" आखें बिछाना, आखों में सावन-भादों छाना, कान का कच्चा होना, मन मारना, उदासी टपकना, बात पी जाना आदि ऐसी ही लाक्षणिक युक्तियां हैं, जो कवियो द्वारा प्रयुक्त होकर फिर साधारण बोलचाल मे रूढ़ हो गयीं। अगोचर भावों को मनोरम स्थूलमूर्त रूप मे प्रस्तुत करने का श्रेय 'लक्षणा' शक्ति को ही प्राप्त है। और विश्व के कवियों ने इसका कृतज्ञ-भाव से उपयोग किया है। इसके द्वारा व्यञ्जित अर्थ प्रायः सर्व-साधारण के लिए अत्यन्त सुगम होता है। नैषध में लक्षणामूलक इस अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्यध्वनि के अगणित उदाहरण हैं। यहा केवल दिग्दर्शन रूप से कुछ ही स्थल प्रस्तुत किए जाते है। अपने काव्य के प्रथम पद्य के प्रथम पद में ही कवि ने इसका सुन्दर प्रदर्शन किया है—"जिस राजा की (जीवन-) कथा का पान कर बुधजन सुधा का भी उतना आदर नही करते।[2]" कथा का पान कर के, इस वाक्य में पान करके, इस क्रिया के विशेष रूप प्रकृति (पा, धातु) के द्वारा कथा के प्रति आदर, श्रद्धा, अभिरुचि आदि सारे भाव एक-साथ व्यक्त हो जाते हैं, जो सुन कर (श्रु धातु) के प्रयोग से कभी न होते।

एक दूसरा उदाहरण दमयन्ती के प्रति हस की इस उक्ति मे मिलता है—

"सुन्दरि, तुम निरन्तर चलने वाली नल की कल्पना पक्तियों में बनी रहती हो। और जो वे अधिक (लम्बी) श्वासें लेते (बरसाते) हैं वह (तुम्हारे) ध्यान मे तुममे लीन होकर।"[3]

---

१. अन्योन्यरागवशयोर्युवयोर्विलासस्वच्छन्दताच्छिदपयातु तदालिवर्गः।
अत्याजयन् सिचयमाजिमकारयन्वा दन्तैर्नखैश्च मदनो मदनः कथं स्यात्॥
नै० २१।१४०

यहाँ पर एक मदन का अर्थ तो कामदेव है और दूसरे की मदन कामादक।

२. निपीययस्यक्षितिरक्षिणः कथास्तथाद्रियन्ते न बुधाः सुधामपि॥ नै० १।१

३. अजस्रमारोहसि दूरदीर्घां संकल्पसोपानततिं तदीयाम्।
श्वासान्स वर्षत्यधिकं पुनर्यद्ध्यानात्तव त्वन्मयतां तदाप्य॥ नै० ३।१०६

'श्वासों का वरसना' कहने से उन श्वासो के साथ आँखो में उमडने वाले आँसुओ का भी रूप सामने आ जाता है। श्वास सूखे नहीं निकलते, भीगे निकलते हैं।

एक अन्य उदाहरण अन्त.पुर मे दमयन्ती के सौन्दर्य को देख कर नल की आँखों की चेष्टाओं के वर्णन मे मिलता है।

"नल की आँखे सर्वप्रथम तो प्रिया के प्रत्येक अङ्ग मे, फिर आनन्द-सुधा के सागर में, और फिर हर्ष के आँसुओं की धार में ही डूब गई।[१]"

यहाँ आखों के 'डूबने' मे कितने भावो का व्यक्तीकरण है यह नल के हृदय को समझने वाले सहृदय स्वयं समझ सकते हैं।

अभिधामूलक ध्वनि के भी—व्यङ्ग्य का क्रम 'असंलक्ष्य अथवा संलक्ष्य' होने से दो भेद हैं।

व्यङ्ग्य रस, भाव, आदि की प्रतीति के समय असंलक्ष्य-क्रम रहता है। यद्यपि रस-प्रतीति के पूर्व विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि का ज्ञान भी क्रम से ही होता है, तथापि यह सब कार्य इतनी शीघ्रता के साथ निष्पन्न होता है कि उनसे रसप्रतीति का क्रम लक्षित नही हो पाता। और विभावादि से रसादि सदा व्यञ्जना द्वारा ही प्रतीत होते हैं, इसीलिए रसादि-ध्वनि को असंलक्ष्य-क्रम व्यङ्ग्यात्मक (व्यङ्ग्य ही) कहा जाता है। रस या भाव की प्रतीति कितने रूपों मे हो सकती है इसकी कोई निश्चित सीमा न हो सकने के कारण 'रसादि' ध्वनि के असंख्य भेद हो सकते है। अतः आचार्यों ने कोई भेद विस्तार न करके एक ही (रसादि)[२] नाम से इसका काम चलाया है।

नैषध-गत असलक्ष्य-क्रम व्यङ्ग्य ध्वनि का पूर्ण विवेचन रस-प्रकरण में किया जा चुका है, अतः यहाँ पुनः विचार करना उपयुक्त नही है।

जहाँ वाच्य से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति का क्रम संलक्ष्य रहता है, वहा 'संलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य ध्वनि' मानी जाती है। इसके तीन भेद हैं—शब्दशक्ति-जन्य, अर्थ-शक्ति-जन्य, तथा शब्दार्थोभय-शक्ति-जन्य। इसमे व्यङ्ग्य का क्रम उसी प्रकार लक्ष्य होता है, जैसे घण्टा बजने के पश्चात् वीची-तरङ्ग-न्याय से उसका क्रमिक अनु-रणन देर तक सुनाई पडता है।[३]

---

१. प्रतिप्रतीकं प्रथमं प्रियायामथान्तरानन्दसुधासमुद्रे ।
ततः प्रमोदाश्रुपरम्परायां ममज्जतुस्तस्य दृशौ नृपस्य ॥ नै० ७।२

२. रसादीनामनन्तत्वाद्भेद एकोहि गण्यते । काव्यप्रकाश ४।५७

३. अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितिस्तुयः ।
शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितोध्वनिः ॥ का० प्रकाश ४।५२

शब्द की शक्ति द्वारा जिस ध्वनि या व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है, वह दो प्रकार की मानी गयी है : १—वस्तु (भावार्थ) रूप तथा अलकार रूप।[१] शब्दोत्थापित वस्तु रूप ध्वनि का सौन्दर्य दमयन्ती के सम्मुख हंस की इस लबी डीग मे द्रष्टव्य है—

"यदि तुम्हारा चित्त सागर की गोदी मे बसी लङ्कापुरी का अभिलाषी है, अथवा किसी भी वस्तु में चलता है, तो तुम उसे अपने हाथ मे ही पड़ी समझो।[२]"

यहाँ 'कुत्रापि' आदि शब्द-शक्ति के द्वारा "मै तुम्हे नल प्राप्ति भी कराने मे समर्थ हूँ।" यह वस्तु (भावार्थ) व्यङ्ग्य है।

दमयन्ती की हंस के सम्मुख इस दृढ प्रतिज्ञा मे भी उसी ध्वनि का सौन्दर्य दिखायी पडता है। "मेरे पिता नल से अन्य के लिए शरीर-मात्र शेष मुझे अग्नि मे ही क्यों नही हवन कर देते।"[३]

यहाँ "जुहोति" कहकर दमयन्ती "यदि पिता ने मुझे नल के अतिरिक्त किसी अन्य को दिया तो मुझे मरी ही समझे" इस भाव को व्यक्त करती है। इसी प्रकार अन्य अगणित उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

वाच्यार्थ-द्वारा व्यङ्ग्यार्थ का भान कई प्रकार से होता है। कभी सीधे वस्तु-स्वभाव द्वारा, जिसे 'स्वत.-सम्भवी' कहते है, कभी प्रौढोक्ति द्वारा, और कभी कवि-निबद्ध-प्रौढोक्ति-द्वारा वस्तु तथा अलङ्कार के रूप मे वाच्य अर्थ व्यञ्जक बनता है—और उस व्यञ्जक वस्तु द्वारा भी कभी वस्तु रूप, कभी अलङ्कार रूप तथा व्यंजक अलङ्कार द्वारा कभी वस्तु-रूप, कभी अलङ्कार-रूप व्यङ्ग्यार्थ समझ पड़ता है। इस तरह अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के बारह भेद हो जाते है।[४]

नैषध मे इस अर्थशक्त्युद्भवध्वनि के बहुत से उदाहरण दिए जा सकते है। यथा—स्वतःसम्भवी वस्तु से वस्तु की ध्वनि, बरातियों के भोजन करते समय—

---

१. अलङ्कारोऽथ वस्त्वेवशब्दाद् यत्रावभाषते ।
प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवोद्विधा॥ का० प्र० ४।५२

२. पर्यङ्कतापन्नसरस्वदङ्कालङ्कापुरीमप्यभिलाषिचित्तम् ।
कुत्रापि चेद् वस्तुनि ते प्रयाति तदप्यवेहि स्वशये शयालु॥ नै०। ३।६६

३. अनैषधायैव जुहोति तातः किं मा कृशानौ न शरीरशेषाम्॥ नै० ३।७९

४. अर्थशक्त्युद्भवोप्यर्थो व्यञ्जकः सम्भवीस्वतः।
प्रौढोक्तिमात्रात् सिद्धोवाकवेस्तेनोम्भितस्यवा॥
वस्तु वालङ्कृतिर्वेतिषड् भेदोऽसौ व्यनक्ति यत् ।
वस्त्वलङ्कारमथ वा तेनायं द्वादशात्मकः ॥ का० प्र० ४।५४

किसी अनुरागी ने किसी सखी को मुस्करा कर देखा। सखी ने मुह फेर लिया। इस पर उसकी दूसरी सहेली कही से शक्कर की एक गुड़िया बनाकर ले आयी और उस अनुरागी के हाथ मे रख दिया।[1]

यहा सीधी घटना के वर्णन (स्वतःसम्भवी वस्तु) में—"मेरी सखी को आप शक्कर की बनी इस गुडिया की भाति ही अपने हाथ में समझिए"—यह वस्तु (भावार्थ) ध्वनित है।

कवि-निबद्ध-प्रौढोक्तिसिद्ध-वस्तु द्वारा अलङ्कार की व्यञ्जना का एक यह उदाहरण सरस्वती के प्लक्षद्वीप-वर्णन मे द्रष्टव्य है—

"जो सूर्य-भक्त होते हैं वे सूर्य के अतिरिक्त अन्य किसी देव मे आस्था ही नही रखते और सूर्य को देखकर ही भोजन करते है, उसी प्रकार जो चन्द्र-भक्त होते हैं वे चन्द्रमा मे विश्वास रखते हैं और चन्द्रमा को ही देखकर भोजन करते है। किन्तु उस प्लक्षद्वीप में जो चन्द्रभक्त होंगे उनका तो अमावस्या के दिन भी व्रत-भङ्ग नहीं होगा, क्योकि तुम्हारा मुख-चन्द्र उन्हें दिखाई पड़ता रहेगा।[2]"

यहाँ अमावस्या में भी व्रत-भङ्ग न होगा इस वस्तु के द्वारा मुख में इन्दु की भ्रान्ति पर आधारित भ्रान्तिमान् अलङ्कार व्यञ्जित होता है।

कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध अलङ्कार-द्वारा वस्तु-व्यञ्जना का एक सुन्दर उदाहरण अलङ्कृत दमयन्ती के स्वयंवर में प्रवेश करते समय के वर्णन में दिखाई पड़ता है—

"दमयन्ती के आभूषणरत्नो की निर्मल किरणे उसके परिधान को देदीप्यमान् कर रही थी, तथा उसके देह मे किए गए स्निग्ध पदार्थ एवं कृत्रिमोदक के लेप का अपनयन करने मे सयत्न-सी थीं। उसके साथ उसकी सखिया ऐसी प्रतीत होती थी मानो उस अलङ्कार-हीरको की आभारूप जल मे उसी के प्रतिबिम्ब हों।"[3]

यहा आभूषण की मणियों मे सखियो के प्रतिबिम्ब के प्रति अपने प्रतिबिम्ब की उत्प्रेक्षा करके उसके द्वारा सखियाँ भी दमयन्ती के समान सुन्दरी थीं' यह वस्तु व्यञ्जित होती है।

---

१. विलोकिते रागितरेण सस्मितं ह्रियाथ वैमुख्यमिते सखीजने।
तदालिरानीय कुतोऽपि शार्करीं करे ददौ तस्य विहस्य पुत्रिकाम्॥ नै० १६।१०४

२. सूरं न सौर इव नेन्दुमवीक्ष्य तस्मिन् नाश्नाति यस्तदितरत्रिदशानभिज्ञः।
तस्यैन्दवस्य भवदास्यनिरीक्षयैव दर्शेऽश्नतोपि न भवत्यवकीर्णिभावः॥
नै० ११।७६

३. स्निग्धत्वमायाजललेपलोपसयत्नरत्नांशुभृजांशुकाभाम् ।
नेपथ्यहीरद्युतिवारिवर्तिस्वच्छायसच्छायनिजालिजालाम्॥ नै० १०।९४

कवि-निबद्ध-प्रौढोक्ति-सिद्ध अलङ्कार द्वारा वस्तु-ध्वनि का एक उदाहरण स्वयवर मे कीकटाधिप के वर्णन-प्रसग में सरस्वती की इस उक्ति मे मिलता है—

"स्रष्टा का वह कान्ति का कोष जो असीम विश्व की रचना मे भी न घटा था, इस राजा को नख से मुख-चन्द्र पर्यन्त बनाने मे सारा ही रिक्त हो गया, तो क्या सम्पूर्ण प्रकाशमण्डल के व्यय हो जाने के कारण इन केशो की रचना प्रकाशा-भाव मे सुलभ घोर अन्धकार से की गयी है ?[1]"

यहाँ 'नख से मुख-पर्यन्त शरीर की रचना मे ही विधाता के तेज का सारा कोष समाप्त हो गया, अतः तेज के अभाव में सुलभ घोर अन्धकार द्वारा ही क्या मानों इसके केशों की रचना की गई है ?' इस प्रकार के 'उत्प्रेक्षा' अलङ्कार से यह राजा अत्यन्त तेजस्वी और रूपवान् है, तथा इसके केश अत्यन्त काले एव घने है' इस प्रकार की वस्तु व्यञ्जित होती है।

कवि-निबद्ध-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध अलङ्कार से अलङ्कार-रूप ध्वनि का एक सुन्दर उदाहरण अन्त.पुर में प्रच्छन्न दूत नल द्वारा किए गए दमयन्ती के मुखश्री-वर्णन में देखा जाता है—

"दिन में सूर्य के भय से चन्द्रमा ने तथा रात्रि मे चन्द्रमा के भय से कमल ने जब अपनी कान्ति दमयन्ती के मुखमण्डल में स्थापित कर दी तो उस समय उनमें (दिन मे चन्द्रमा तथा रात्रि मे कमल में) कोई शोभा न रही किन्तु दो मे से एक न एक की शोभा से युक्त यह मुख-मण्डल कब रमणीय नहीं रहता ?[2]"

यहाँ दिन में सूर्य के भय से चन्द्रमा ने तथा रात्रि में चन्द्रमा के भय से कमल ने 'इस प्रकार यथासंख्य और चन्द्रकमल ने दमयन्ती के मुखमण्डल मे अपनी अपनी कान्ति स्थापित कर दी' इस प्रकार अतिशयोक्ति अलङ्कारों की संसृष्टि के द्वारा 'चन्द्र और कमल में तो कभी-कभी ही शोभा रहती है, किन्तु दमयन्ती का मुख सदा सुशोभित रहता है' इस प्रकार का व्यतिरेक अलङ्कार व्यञ्जित होता है।

---

१. प्रागेवास्य पुरामुखेन्दु सृजतः स्रष्टुःसमस्तत्विषां,
कोषः शोषमगादगाधजगतीशिल्पेऽप्यनल्पायतः।
निःशेषद्युतिमण्डलव्ययवशादीषल्लभैरेष वा,
शेषः केशमयः किमन्धतमसस्तोमैस्ततो निर्मितः॥ नै० १२।९३

२. दिवारजन्यौ रविसोमभीते चन्द्राम्बुजे निक्षिपतः स्वलक्ष्मीम्।
आस्ये यदास्या न तदा तयोः श्रीरेकश्रियेदं तु कदा न कान्तम्॥ नै० ७।५५

वस्तुतः नैषध में प्रति-श्लोक अलङ्कारों की अद्भुत सुषमा है और नैषध के अलङ्कारों का विवेचन करने के लिए एक-एक श्लोक को क्रमशः लिया जाय तभी उचित विवेचन हो सकता है। किन्तु इस निबन्ध मे उसका इस प्रकार से समावेश करना सर्वथा असम्भव होगा। अत दिग्दर्शनमात्र के लिए पृथक्-पृथक् अलङ्कारों के एक-दो उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं, और विवेचन करते समय विशेषतया मम्मट के लक्षणों का आधार लिया जाता है। क्योंकि मम्मट के समय तक ध्वनि, रीति, अलङ्कार आदि सम्प्रदायों का पुर्णविकास एवं विवेचन हो चुका था। फलतः काव्य-प्रकाश में हमे मम्मट के मौलिकप्राय विवेचन के साथ पूर्ववर्ती सभी मतों का समन्वित रूप देखने को मिलता है। यहा अन्य आचार्यों का भी मत आवश्यकतानसार रक्खा जायगा।

वक्रोक्ति

इस अध्याय के प्रारम्भ मे वक्रोक्ति पर विस्तृत विचार किया जा चुका है। दण्डी ने जिस वक्र उक्ति में श्लेष के कारण और अधिक सौन्दर्य बढने की चर्चा की थी, परवर्ती आचार्यों ने उसी वक्रोक्ति को एक शब्दालङ्कार मानते हुए श्लेष अथवा काकु (कण्ठ-स्वर-परिवर्तन) द्वारा उसकी निष्पत्ति बताई और फलतः वक्रोक्ति का सम्भव वही रक्खा जहा दो व्यक्ति आपस में बात-चीत कर रहे हों। रुद्रट ने शब्दालङ्कारों में सर्वप्रथम वक्रोक्ति का वर्णन करते हुए उसका लक्षण दो रूप से किया है। एक श्लेष वक्रोक्ति दूसरा काकु वक्रोक्ति। उन्होने श्लेष वक्रोक्ति का लक्षण इस प्रकार किया है—

"जहां वक्ता द्वारा कही बात की व्याख्या उत्तरदाता पदों को तोड़-मरोड़कर दूसरे ढंग से करता है, उसे श्लेष-वक्रोक्ति जाननी चाहिए।"[१]

तथा काकु-वक्रोक्ति का स्वरूप इस प्रकार लक्षित किया है—

"जहा एक विशेष प्रकार के स्वर के स्पष्ट प्रयोग द्वारा दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है वहा काकु-वक्रोक्ति होती है।"[२]

इसी प्रकार आचार्य मम्मट ने भी शब्दालङ्कार प्रकरण के प्रारम्भ मे ही वक्रोक्ति का यह लक्षण किया है—

---

१. वक्रातदन्ययोक्तं व्याचष्टे चान्यथातदुत्तरदः।
वचनं यत् पदभङ्गैर्ज्ञेया सा श्लेषवक्रोक्तिः॥ रुद्रट—काव्यालंकार २।१४

२. विस्पष्टं क्रियमाणादक्लिष्टा स्वरविशेषतोभवति।
अर्थान्तरप्रतीतिर्यत्रासौ काकुवक्रोक्तिः॥ वही, २।१६

"जहाँ वक्ता के किसी अन्य तात्पर्य से कहे गए वाक्य को सुननेवाला श्लेष अथवा काकु रूप ध्वनि-विकार द्वारा किसी अन्य अभिप्राय में जोड दे वहा वक्रोक्ति नामक शब्दालङ्कार श्लेष और काकु भेद से दो प्रकार का होता है।"[1]

नैषध मे काकु-वक्रोक्ति तथा श्लेष-वक्रोक्ति दोनो का सुन्दर प्रयोग हुआ है। चतुर्थ सर्ग मे विरह-तप्त दमयन्ती और सखियो के सलाप मे काकु तथा श्लेष उभय-जनित वक्रोक्ति दिखायी पड़ती हैं। उसमे से काकु-वक्रोक्ति के केवल तीन उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जाते हैं।

सखी की उक्ति है—

"सुन्दरि, विपत्ति में अपनी सहज धीरता के द्वारा इस निष्करुण कुसुम-शर (काम) से अपने प्राणों को बचाओ।"[2]

इस पर दमयन्ती उत्तर देती है—

"आज मेरे प्राण ही तो विरोधी हो रहे हैं, फिर सखि, तुम (न जाने) क्यों मुझे 'शत्रुओ की रक्षा' करने को कहती हो।" यहा सखी दमयन्ती के जिन प्राणों का इष्ट पदार्थ के रूप से उल्लेख करती है, दमयन्ती अपने उपेक्षात्मक कण्ठस्वर के द्वारा उन्हें ही अपना शत्रु और उनकी रक्षा को आश्चर्य का विषय बताती है।[3]

२. फिर जब सखी कहती है—

"सुन्दरि, धैर्य-धारण करो। अकारण-भय छोड़ो (देख) यह शीतांशु उदय हो रहा है।"[4]

तो दमयन्ती उत्तर देती है—

"यह आतपरूप (कड़ी धूपकी) चिनगारियो से स्पष्ट जला रहा है (जो चण्ड-मरीचि सूर्य का कार्य है)। सखि, तू मेरे इस प्रत्यक्ष अनुभव को अपनी (उस मेरे अनुभव के विपरीत अचण्ड-मरीच चन्द्र के झूठे प्रसङ्ग की) बात से उड़ा रही है।"[5]

३. इसी प्रसङ्ग में काकु का एक और उदाहरण देना अरुचिकर न होगा—

---

१. यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथान्येन योज्यते
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा॥ का० प्र० ९।१०३

२. अकरुणादव सूनशरादसून् सहजयापदि धीरतयात्मनः॥ नै० ४।१०२ पूर्वार्द्ध

३. असव एव ममाद्य विरोधिनः कथमरीन्सखि रक्षितुमात्थ माम्॥ वही, उत्तरार्द्ध

४. व्रज धृतिं त्यज भीतिमहेतुकामयमचण्डमरीचिरुदञ्चति॥ नै० ४।१०५ पूर्वार्द्ध

५. ज्वलयति स्फुटमातपमुर्मुरैरनुभवं वचसा सखि! लुम्पसि॥ नै० ४।१०५ उत्तरार्द्ध

सखी के शपथ-पूर्वक कहने पर कि—'प्रिये, तेरे हृदय की शपथ, यदि तुझ पर चन्द्रमा की दीप्ति पड़ रही हो।[१]

दमयन्ती उत्तर देती है—

"हा सखि, 'यह चन्द्र-ज्योत्स्ना (पडने) का ही फल तो दीख रहा है कि वह त्वचा को जला रही है और प्राणों को जडसे उखाड़ रही है।"[२]

इसी प्रसङ्ग मे श्लेष-वक्रोक्ति का भी अतिमनोरम रूप देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए ये दो स्थल पर्याप्त होंगे—

१ सखी की उक्ति है—

"अरे, वैदर्भी यह अमृताशु (चन्द्र) है, इसकी किरणों से तुझे ताप क्यों हो रहा है।"[३]

इस पर दमयन्ती उत्तर देती है—

"सखि, इस शशाङ्क (कलङ्की) की किरणे यदि मृत होती तो परिताप ही क्यो होता।" (अर्थात्—इसकी दीधिति के अमृत (अमर) होने के कारण ही तो ताप है।)[४]

यहाँ अमृत का अर्थ सखी ने 'सुधा' रक्खा था किन्तु दमयन्ती ने 'न मरी हुई लिया।'

"दमयन्ती, देखो मदन की गर्मी के कारण हार की मणि के फट जाने से आज तुम्हारा हृदय-देश (वक्षस्थल) अनलकृत (अलकारहीन, नलहीन) हो गया है।"[५]

उस समय दमयन्ती अत्यन्त निराश उच्छ्वास लेती हुई कहती है—

"अरे सखि, यदि प्रियतम मेरे हृदय से दूर हट गए (ओझल हो गए), तब तो मै मर ही गयी।"[६]

यहाँ 'अनलङ्कृत' पद का सखी के अनुसार 'अ-भूषित' अर्थ होगा परन्तु दमयन्ती के अनुसार सभङ्ग-श्लेषद्वारा 'अनलम्' का अर्थ बिना नल का और 'कृतम्' का 'कर दिया गया' होगा।

---

१. अयि! शपे हृदयाय तवैव तद्यदि विधोर्न रुचेरसि गोचरः ॥ नै० ४।१०६ पूर्वार्द्ध

२. रुचिफलं सखि! दृश्यत एव तज्ज्वलयति त्वचमुल्ललयत्यसून् ॥ नै०४।१०६उत्त०

३. अमृतदीधितिरेष विदर्भजे! भजसि तापममुष्य किमंशुभिः ॥ ४।१०४ पूर्वार्द्ध

४. यदि भवन्ति मृताः सखि! चन्द्रिकाः शशभृतः क्व तदा परितप्यते। वही, उत्तरार्द्ध

५. स्फुटति हारमणौ मदनोष्मणा हृदयमप्यनलङ्कृतमद्य ते ॥ नै० ४।१०९ पूर्वार्द्ध

६. सखि! हतास्मि तदा यदि हृद्यपि प्रियतमः स मम व्यवधापितः ॥ नै०४।१०९उत्त०

श्लेष-काकु-उभय-प्रयुक्त वक्रोक्ति के कई चमत्कार-पूर्ण उदाहरण सत्तरहवें सर्ग मे देव-कलि के वाक्कलह मे मिलते है। इन्द्र कलि से कहते है :—

"कले, जब उस (दमयन्ती) ने नल को ही वर लिया तो तुम्हारा (वहा) न जाना ही उचित है। (तब) इस तरह इतने तेज विमान पर दौड़ने से भी अब क्या हो सकता है ?" उन्ही शब्दो में कलि भी इन्द्र को उत्तर वक्रोक्ति के द्वारा देता है। उसका अर्थ इस प्रकार होगा—"दमयन्ती ने जब नलको ही वर लिया तो देवराज, इन्द्राणी इत्यादि को मुँह दिखाने फिर आप का (स्वर्ग को) लौटकर न जाना ही उचित है। अथवा क्या आपका इस प्रकार का लौट आना ही उचित था ? अब इस (मुखमुद्रा से प्रकट) मान-रहित छिपाव से भरे उद्वेग से क्या लाभ होगा ?[1]"

यहां श्लोक के प्रथमार्द्ध का प्रायः एक ही अर्थ है, जिसे काकु के सहारे दोनों एक दूसरे के प्रति कहते है। किन्तु द्वितीयार्द्ध का सभङ्गश्लेष के सहारे दोनो ने दो प्रकार का अर्थ किया। वहाँ इन्द्र 'उद्वेग' का प्रयोग शीघ्रगामी और 'विमान' का व्योमयान के अर्थ मे करते है, परन्तु कलि इन शब्दों का क्रम से 'निर्वेद' और 'स्वाभिनान-रहिन' अर्थ लेता हुआ उत्तर देता है। इन्द्र के शब्दों मे 'अनेनापि धावना' का अर्थ इस दौडने वाले से भी है, किन्तु कलि के शब्दों में (अपिधा-वता तिरोधानवता अनेन)' 'इस छिपाए हुए से' आदि होगा। इसी प्रकार अग्नि, यम, और वरुण के साथ वाक्कलह मे भी वक्रोक्ति का कौशल देखा जा सकता है।[2]

अन्त मे श्लेष–वक्रोक्ति का एक और उदाहरण देकर इस प्रसङ्ग को समाप्त करते है। बन्दीजन प्रभात-वर्णन के प्रसङ्ग मे सूर्य के प्रति ऐसी उक्ति सुनाते है, जो सज्जनों के मुह से सूर्य की स्तुति, किन्तु दुर्जनो के मुह से निन्दा प्रतीत होगी। बन्दीजन कहते हैं—

"सूर्य की सज्जनों ने बडी स्तुति की है, पर दुर्जन लोग जब उनकी भी निन्दा करते है तो हम बन्दियों को कौन नीच न हँसेगा ? सज्जनो ने सूर्य की इस प्रकार प्रशसा की है—भगवान् भास्कर की किरणें (चरण) अत्यन्त मनोरम हैं। सारथी अरुणकी प्रभा से उनका रथ दीप्तिमान् है—अथवा—सूर्य की अपनी ही महती प्रभा से रथ दीप्तिमान् रहता है। शनि और यम दो पुत्रों को सूर्य देव

---

१. तवागमनमेवार्हं वैरसेनौ तया वृते।
उद्वेगेन विमानेन किमनेनापि धावता॥ नै० १७।१५४

२. नै० १७।१५५-५७

ने लोक-रक्षा के लिए उत्पन्न किया—दुष्टों को दण्ड देना इन दोनों पुत्रों का काम है। चक्रवाकों पर सूर्य देव बडे दयालु है, तथा विश्व भर के नेत्रों को प्रिय है।"

"दुर्जनों ने उन्ही शब्दों मे सूर्य की इस प्रकार निन्दा की है। सूर्य मे केवल ताप ही है। विश्वकर्मा ने उन्हें चरण-रहित ही बनाया है। सारथि की जाघे ही नही है। शनि और यम दो लायक पूत है, जिनसे बढकर ससार की रक्षा करने वाला क्या कोई मिलेगा? विश्व मे त्राहि की पुकार इन्ही दो के भय से तो उठ रही है। सूर्य की कृपा भी हुई तो चिडियों (चक्रवाकों) पर। अपनी प्रखर किरणों से आख फोड डालते है और लोग कहते है सूर्य आखों का प्यारा है।[1]"

अनुप्रास

वर्णों (अक्षरो) की समता को अनुप्रास कहते है।[2] शब्दालङ्कारों में श्रीहर्ष को अनुप्रास अलङ्कार सबसे अधिक प्रिय है। अनुप्रास मे भी उन्हें शब्द के अन्तिम वर्णों की समता अधिक प्रिय है, जैसा उन्ही के इन शब्दों से स्पष्ट है—

"'शब्दों मे आदि तथा अन्त के वर्णो के समान होने पर भी अनुप्रास अलङ्कार अन्तिम वर्णो में (अन्त्यानुप्रास) अधिक प्रिय लगता है।[3]"

इसी श्लोकार्ध के प्रथम समस्त पद में 'म' द्वारा छेकानुप्रास का तथा अन्तिम चरण मे 'स' द्वारा वृत्त्यनुप्रास का सौन्दर्य देखा जा सकता है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि श्रीहर्ष शब्दों के प्रथम या मध्य वर्ण में अनुप्रास आने ही नही देते। उनके "अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे भृगुर्महान् यत् कुचशैलशीली"[4] इत्यादि पद्यो में 'म' तथा 'श' इत्यादि का अनुप्रास प्रथम वर्णों में ही देखा जा सकता है। इसी प्रकार 'निमेष-यन्त्रेण किमेष कृष्टः' मे 'म' का अनुप्रास मध्य वर्णो में भी दिखाई पड़ता है।

---

१. रुचिरचरणः सूतोरुश्रीस्वनाथरथः शनिं
शमनमपि स त्रातुं लोकानसूत सुताविति।
रथपदकृपासिन्धुर्बन्धुर्दृशामपि दुर्जनै-
र्यदुपहसितो भास्वान्नास्मान् हसिष्यति कः खलः॥ नै० १९।४७

२. वर्णसाम्यमनुप्रासः॥ का० प्र० ९।७९

३. प्रथमचरमयोर्वा शब्दयोर्वर्णसख्ये विलसति चरमेनुप्रासभासां विलासः॥
नै० १३।५४

४. नै० ७।९६

अनुप्रास के प्रयोग में श्रीहर्ष प्रायः ब, व, श, ष, न, ण तथा य, ज मे भेद नही करते। इसे श्रुत्युनप्रास भी कहते है। उदाहरण के लिये कुछ स्थल यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

१. कुल सुधाशोर्बहल वहन् बहु॥ नै० ११११०
२. स्मरहर किममु बुभुजे विभु ॥ नै० ४।६०
३. स विलोक्य बालाम्॥ ६।१३
४. संबिभ्रति श्रोत्रियविभ्रमं यत्॥ नै० ७।१००
५. पुण्येन मन्ये पुनरन्यजन्म॥ नै० ८।३३
६. निश्चित्य शेषं तमसौ नरेशम्॥ नै० १४।१३
७. श्वसनात्स्वस्यशीघ्रत्वं रथैरेषामिवाकथि॥ नै० १७।४
८. न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम्॥ नै० २।४८

छेकानुप्रास के कुछ उदाहरण ये है—

१—कल्याणि कल्यानि तवाङ्गकानि कच्चित्तमां चित्तमनाविलं ते।
अल विलम्बेन गिरं मदीयामाकर्णयाकर्णतटायताक्षि॥[१]

२—भ्रमामि ते भैमि! सरस्वतीरसप्रवाहचक्रेषु निपत्य कत्यदः।
त्रपामपाकृत्यमनाक्कुरुस्फुटं कृतार्थनीयः कतमः सुरोत्तमः॥[२]

वृत्यनुप्रास के भी कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं—

१—ईशाणिमैवर्य्यविवर्तमध्ये! लोकेश लोकेशयलोकमध्ये।
तिर्यञ्चमप्यञ्च मृषानभिज्ञरसज्ञतोपज्ञसमज्ञमज्ञम्॥[३]

२—स्वयं सोऽयं सायंतनविधिविधित्सुर्बहिरभूत्।[४]

३—यद्वीक्ष्य दूरादिव बिभ्यत. स्वानश्वान् गृहीत्वापसृतो विवस्वान्॥[५]

श्रीहर्ष अन्त्यानुप्रास के भी विशेष अनुरागी समझ पड़ते हैं। नैषध मे इसके अनेक स्थल मिलते हैं। उदाहरणार्थ कुछ स्थल-विशेष उद्धृत किए जाते हैं—

१. धार्यः कथंकारमहं भवत्या वियद्विहारी वसुधैकगत्या। नै० ३।१५
२. अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादु.सुगन्धिः स्वदते तुषारा॥ नै० ३।९३
३. तं कापि मेने स्मरमेव कन्या भेजे मनोभूवशभूयमन्या॥ नै० ६।६

---

१. नै० ८।५७
२. नै० ९।५१
३. नै० ३।६४
४. नै० २१।१६२
५. नै० २२।२७

४. जातौ न वित्ते न गुणेन काम. सौन्दर्य एव प्रवण स वाम ।। नै० १०।१३

५. मध्येसभं सावततार बाला गन्धर्व-विद्याधरकण्ठनाला।
त्रयीमयीभूतवलीविभङ्गा साहित्यनिर्वर्तितदृक्तरङ्गा।। नै० १०।७४

यमक

जहाँ अर्थ रहते हुए भी भिन्न अर्थ वाले वे ही वर्ण फिर से वैसे ही सुनाई पड़ें, वहाँ यमक अलङ्कार माना जाता है।[१]

आवृत्ति-क्रम की व्यवस्था के अनुसार यमक अलङ्कार अनेक प्रकार का होता है। उनमे से एक प्रकार सन्दष्टक है, जिसमे श्लोक के द्वितीय तथा चतुर्थ चरणों मे यमक रहता है। श्रीहर्ष ने इस यमक का अनेक स्थलों में प्रयोग किया है। यथा—

१—अवलम्ब्य दिदृक्षयाम्बरे क्षणमाश्चर्यरसालसं गतम्।
स विलासवने वनीभृतः फलमैक्षिष्ट रसाल-सगतम्।।[२]

२—नभस· कलभैरुपासित जलदैर्भूरितरं क्षुप नगम्।
स ददर्श पतङ्ग-पुङ्गवो विटपच्छन्न-तरक्षु-पन्नगम्।।[३]

३—न वन पथि शिश्रियेऽमुना क्वचिदप्युच्चतरद्रुचारुतम्।
न स गोत्रजमन्ववादि वा गतिवेगप्रसरद्रुचारुतम्।।[४]

४—अथभीमभुजेन पालिता नगरी मञ्जुरसौ धराजिता।
पतगस्य जगाम दृक्पथं हरशैलोपम सौध-राजिता।।[५]

५—तारा रदानां वदनस्य चन्द्रं रुचा कचाना च नभो जयन्तीम्।
आकण्ठमक्ष्णोर्द्वितयं मधूनि महीभुजःकस्य न भोजयन्तीम्।।[६]

यमक के प्रयोग मे भी श्रीहर्ष ने श, ष, स में प्रायः कोई भेद नही किया है। कुछ स्थल उदाहरणार्थ प्रस्तुत किए जाते है:—

१. स राशिरासीन् महसा महोज्ज्वलः।। नै० १।१

२ अमी ततस्तस्य विभूषितं सितम्।। नै० १।५७

---

१. अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः—यमकम्।। का० प्र० ९।११७

२. नै० २।६६

३. नै० २।६७

४. नै० २।७२

५. नै० २।७३

६. नै० १०।१०६

३. अयोगभाजोऽपि नृपस्य पश्यता॥ नै० १।१००

४. सखाः सखायः स्रवदश्रवो मम॥ नै० १।१३६

५. वालामभाषत सभासततप्रगल्भा॥ नै० ११।१६

६. नाश्नाति स्नाति हा मोहात्॥ नै० १७।४१

७. मौन मानशे मानसेवनी॥ नै० २०।१३

८. विस्राणि विश्राणितवान् पितृभ्यः॥ नै० २२।५०

उसी प्रकार ज, य तथा ण, न में कभी-कभी अभेद कर दिया है। जैसे—

१. मनस्तु यं नोज्झतु जातु यातु॥ नै० ३।५९
२. मनुष्य-जन्मन्यपि यन्मनोजने॥ नै० ९।३४
३. स्फुरद्भिरानन्दमहार्णवैर्नवैः॥ नै० १२।२

श्लेष

श्रीहर्ष ने काव्य-चमत्कार के लिए श्लेष का अत्यधिक प्रयोग किया है। जहाँ कहीं भी उन्होंने अपनी कवित्व-शक्ति का विलास दिखाना चाहा वहाँ श्लेष का प्रधान आश्रय लिया। श्रीहर्ष के पूर्ववर्ती दण्डी, सुबन्धु, बाण, त्रिविक्रम आदि महाकवियों के रचना-कौशल का श्रेय उनकी श्लेष-पटुता को ही है। श्लेष दो प्रकार का होता है—(१) शब्दगत (२) अर्थगत।[१] जहाँ किसी शब्दविशेष के कारण से एक से अधिक अर्थ निकले, तथा उस शब्द के हटजाने पर उसके पर्याय-वाची अन्य शब्द के रखने से वे अर्थ न निकले, वहाँ शब्द-श्लेष होता है। इस अलङ्कार मे एक ही उच्चारण के विषय होकर शब्द, वाच्य अर्थ के भेद के कारण, भिन्न-भिन्न होकर भी अपने भिन्न स्वरूप को छिपाते है। अतएव इसे श्लेष अलङ्कार कहते है।[२] और जहाँ एक ही वाक्य मे अनेक अर्थ निकले वहाँ अर्थ-श्लेष होता है।[३] श्लिष्ट पदों को रखते समय वहाँ स्वयं कवि को अनेक अर्थ अभीष्ट रहते है। इसीलिए आचार्य दण्डी ने अनेकार्थ वाले श्लिष्ट वचन का विशेषण 'इष्ट' रक्खा है।[४]

---

१. श्लेषोऽर्थस्यापि सोऽन्यस्तु॥ रुद्रट—काव्यालङ्कार २।१३

२. वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः। श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसौ॥ का० प्र० ९।११९

३. श्लेषः स वाक्ये एकस्मिन् यत्रानेकार्थता भवेत्॥ का० प्र० १०।१४७

४. श्लिष्टमिष्टमनेकार्थमेकरूपान्वितं वचः॥ काव्यादर्श २।३१०

वे अनेक अर्थ कभी उसी समूचे पद से कभी उसे तोड-मरोड कर निकाले जाते हैं। अत शब्दश्लेष के अभिन्नपद तथा भिन्नपद दो भेद हो जाते हैं।[१] इन्ही दो को बाद के आचार्यो ने तीन भेद मान लिया—अभङ्ग, सभङ्ग तथा उभयात्म।[२]

अभङ्ग श्लेष के अनेक सुन्दर स्थल नैषध मे मिलते हैं। यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं।[३] कुण्डिनपुर के वर्णन-प्रसग मे श्रीहर्ष कहते हैं—

"जहाँ मर्यादाशील समस्तवर्ण (ब्राह्मण आदि जाति अथवा हरित पीत आदि रग) हों, वह नगरी चित्रमयी (आश्चर्यमयी अथवा रंग-बिरगी) क्यो न हो? जहाँ अनेक मुख शब्द कर रहे हों, वहाँ विभिन्न स्वरभेद क्यों न हो?"

यहाँ स्थिति, वर्ण, चित्र, स्वरभेद तथा अनल्पमुख शब्दों मे अभङ्गश्लेष है।

दमयन्ती दूतरूप नल से पूछती है—

"वह कौन सा वंश है जो तमोविनाशक आप ऐसे नायक-रत्न को धारण किए हुए है?[४]"

यहाँ वंश (कुल, बाँस) तमोपह (शोकनाशक, अन्धकारनाशक) तथा नायक-रत्न (श्रेष्ठपुरुष, हार के बीच का बड़ा रत्न) शब्दो मे अभङ्गपदश्लेष है।

'स्वयंवर सभा मे नल से अपना कपटपूर्ण परिचय देते हुए देवगण कहते हैं—"जो आप के सौन्दर्य को स्वयं देखकर भी हम मूर्खता में पड़े बैठे है इससे हमारी इस दुराशाधीनता को धिक्कार है, तथा हमारे इस विबुधत्व को धिक्कार है।[५]"

यहाँ अधिगत्य (जानकर, लेकर) आशापतिता (आशा मे पडे हुए, दिशाओं के स्वामित्व) तथा विबुधत्व (देवत्व, पण्डितत्व) मे अभङ्गपदश्लेष है।

'स्वयंवर-मण्डप मे ही दमयन्ती ने वैशद्य के कारण हृदयहारी, मृदुता के कारण अभिराम, आमोदजनक, गीतियुक्त षट्पदों से युक्त तथा जाति (मालती अथवा जातिवर्ग) आदि छन्दो से पूर्ण नवीन स्तुतिश्लोक रूपी पुष्पस्तबको से उन देवो की अर्चना[६] की।

---

१. तदभिन्नपदं भिन्नपदप्रायमिति द्विधा॥ वही, २।३१०

२. पुनस्त्रिधा सभङ्गोथाभङ्गस्तदुभयात्मकः॥ सा० द० १०।१२

३. स्थितिशालिसमस्तवर्णतां न कथं चित्रमयी बिभर्तु या।
स्वरभेदमुपैतु या कथं कलितानल्पमुखारवा न वा॥ नै० २।९८

४. बिभर्ति वंशः कतमस्तमोपहं भवादृशं नायकरत्नमीदृशम्॥ नै० ९।६

५. असाम यन्नाम तवेह रूपं स्वेनाधिगत्य श्रितमुग्धभावाः।
तन्नो धिगाशापतितान्नरेन्द्र! धिक्चेदमस्मद्विबुधत्वमस्तु॥ नै० १०।४८

६. वैशद्यहृद्यैर्म्रदिमाभिरामैरामोदिभिस्तानथ जाति-जातैः।
आनर्च गीत्यन्वितषट्पदैः सा स्तव-प्रसून-स्तबकैर्नवीनैः॥ नै० १४।६

यहाँ वैशद्य (स्पष्टता, श्वेतता, शुभ्रता), आमोदि (हर्षजनक, सुगन्धित), जाति (छन्द. मालती पुष्प), षट्पद (६ पाद वाले श्लोक या छप्पय तथा भ्रमर) पदों में अभङ्गश्लेष अलकार है।

अभङ्ग की अपेक्षा सभङ्ग-श्लेष-रचना में अधिक चमत्कार अपेक्षित होता है। त्रिविक्रम ने विनय-निगूढ गर्व के साथ अपनी सभङ्गश्लेष-रचना को "बाहुओं से तैर कर समुद्र पार करने के समान एक दुष्कर कार्य" बताया है[1]—

श्रीहर्ष के अभङ्ग श्लेष की अपेक्षा सभङ्ग मे अधिक सौन्दर्य है। उदाहरण के लिए—दमयन्ती हंस से कहती है—"कौन सी निर्लज्ज स्त्री द्विजराज-पाणिग्रह की अभिलाषा कहेगी।[2]"

यहाँ 'द्विजराज-पाणिग्रह' पद के (१) द्विजराज (चन्द्रमा) को हाथ से पकड़ना (२) हे द्विज (हंस) राजा के साथ विवाह (३) हे द्विजराज (हंस) अपने विवाह, आदि अनेक अर्थ निकलते है। आगे हंस से दमयन्ती की ही उक्ति है—

"मेरा चित्त—नल को चाहता है, इसे और कही अन्यत्र इसकी अभिलाषा नही है।[3]"

यहाँ 'नलं कामयते' पद के (१) नल को चाहता है (२) लंका नही जाता, आदि अर्थ सभङ्ग श्लेष द्वारा निकलते है।

नैषध मे अनेक श्लोक ऐसे है जहाँ अभङ्ग-सभङ्ग दोनों प्रकार के श्लेषों का सौन्दर्य देखने को मिलता है। कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे—

(१) नल के प्रति दमयन्ती के मन के प्रथम आकषर्ण का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष कहते है—

"जिस प्रकार सर्प-भक्षक गरुड़ द्वारा कुमार प्रद्युम्न बाणासुर के अग्नि-परिवेष्टित भवन मे बलात् प्रविष्ट हुए थे, उसी प्रकार भोगशील यौवन ने वैदर्भी के नलविशिष्ट मन मे मदन का प्रवेश कराया।[4]"

यहाँ यथोह्यमानः (१—यथा + उह्यमान) जिस प्रकार वहन करने पर: २—यथा + ऊह्यमान, जिस प्रकार विचार करने पर; (तथा मनो नलावरुद्धं) मनो

---

१. भङ्गश्लेष-कथाबन्धं दुष्करं कुर्वता मया।
दुर्गस्तरीतुमारब्धोबाहुभ्याममम्भसां पतिः॥ नलचम्पू १।२२

२. का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषं कथयेदलज्जा॥ नै० ३।५९

३. चेतो नलङ्कामयते मदीयं नान्यत्र कुत्रापि च साभिलाषम्॥ नै० ३।६७

४. यथोह्यमानः खलुभोगभोजिना प्रसह्यवैरोचनिजस्य पत्तनम्।
विदर्भजाया मदनस्तथा मनो नलावरुद्धं वयसैव वेशितः॥ नै० १।३२

+अनलावरुद्ध २—मनो+ नलावरुद्ध) मे सभङ्गश्लेष और भोगभोजिना (१—भोग—सर्प का शरीर खाने वाला, २—भोग (सुख) भोगनेवाला;) एव वयसा (१—पक्षी द्वारा, २—अवस्था द्वारा) मे अभङ्गश्लेष है।

२. अन्त.पुर में दमयन्ती-सौन्दर्य का निरीक्षण करते हुए नल कहते हे—

"मै इसके विषय में मुनियों को भी मोहित हुआ समझता हूँ। अथवा मुझे इसमे मुनियों के वर्तमान होने का भ्रम होता है, जैसे—इसके कुचरूपी पर्वत पर महामुनि भृगु निवास करते है, इसका मुख नारद को आनन्द देता है, तथा महाभारत का निर्माण करने वाले व्यास ने इस सुन्दरी की जङ्घा का आश्रय लिया है। अथवा इसके कुच, पर्वतों का प्रान्तभाग प्रपात तुल्य है, अनेक सुन्दर दातो से युक्त मुख आनन्ददायी है, तथा जङ्घाएं अत्यन्त सुरत-योग्य विस्तार वाली है।[1]"

यहाँ भृगु (१—भृगुमुनि २—प्रपात) एवं शैल (१—पर्वत २—स्वभाव) मे अभङ्गश्लेष तथा नानारदाह्लादि (१—नारद को आह्लाद देने वाला २—अनेक सुन्दर दांतों के कारण आनन्दप्रद) एवं महाभारत—सर्गयोग्य (१—महाभारत की रचना में समर्थ २—सुरतयोग्य) मे सभङ्ग श्लेष का सौन्दर्य ह।

३. स्वयंवर मे नल-रूप धारण कर बैठे हुए देव-गण दमयन्ती के रूप की प्रशंसा करते हुए कहते है—

"यह अपनी मुस्कान से गौरी है, अपने नेत्रो से हरिणी, मधुरकण्ठश्री से वीणावती, देहकान्ति से हैमा तथा शेष अङ्गों से सुन्दरी मेनका ही समझपड़ती है।[2]

यहां गौरी (१—गौरी अप्सरा अथवा पार्वती २—गौर प्रभावाली) हरिणी (१—एक अप्सरा २—मृगी) वीणावती (१—एक अप्सरा २—वीणा धारण किए हुए) हैमा (१—एक अप्सरा २—स्वर्ण कान्ति मय) मे अभङ्ग श्लेष है। मेनकापि (१—मेनका अप्सरा भी २—मुझे कोई नही) में सभङ्ग श्लेष है।

श्लेष का अत्यन्त प्रौढ़ रूप स्वयंवर मे बैठे पांच नलो के परिचय मे दिखाई पड़ता है। प्रत्येक के परिचय में अनेक श्लोक कहे गये हैं। उदाहरणार्थ प्रत्येक का एक-एक श्लोक उद्धृत किया जाता है।

इन्द्र का परिचय देती हुई दमयन्ती किस युक्ति के साथ इन्द्र नल दोनो का परिचय दे डालती है—

---

१. अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे भृगुर्महान् यत् कुचशैलशीली।
नानारदाह्लादिमुखं श्रितोरुर्व्यासो महाभारतसर्ग-योग्यः॥ नै० ७।९६

२. स्मितेन गौरी हरिणीदृशेयं वीणावती सुस्वरकण्ठभासा।
हेमेव कायप्रभयाङ्गशेषैस्तन्वीमतिक्रामति मनकापि॥ नै० १०।१३४

इन्द्र-पक्ष में—"सुन्दरि, वल नामक शत्रु के विजयी पराक्रम वाले इनकी वीर सेना के सामर्थ्य का मै क्या वर्णन करू। स्वय भगवान् गजवदन तथा विष्णु इनकी सेना मे सैनिक के रूप मे रहते है। तभी तो इनका रण-पराक्रम दानवो को भयभीत किए हुए है।"

नल-पक्ष में—"सुन्दरि, मै यह क्या कहूँ कि ये महाराज वीरसेन के पुत्र है। इन्होने अपने पौरुष से सदा शत्रु-सैन्य की विजय की है, और रण-भूमि इनके सैन्य गजों के मद-जल की सुगन्ध से सुगन्धित हो उठती है।[1]"

यहाँ वीरसेनोद्भूति (१—वीरों की सेना का सामर्थ्य, वीरसेन नामक राजा से उत्पत्ति) द्विषद्वल-विजित्वर-पौरुषस्य (१—शत्रु वल नामक दैत्य के विजेता-पराक्रम वाले २—शत्रुसेना के विजेता पराक्रम वाले) मे अभङ्ग श्लेष तथा सेना-चरी-भवदिभानन-दानवारिवासेन (१—सैनिक के रूप मे इभाननगणेश और दान-वारि विष्णु के रहने से २—सेना के गजों के मुख-दान जल की गन्ध से) एवं जनिता-सुरभी (१—असुरो को भय देनेवाली २—जो सुगन्धित हुई हो) मे सभङ्गश्लेष है।

अग्नि का परिचय देती हुई देवी कहती है—

अग्नि-पक्ष में—'हे शोभनश्रवणे, इनकी उग्र ज्वालाये अपनी दक्षता से जिन पार्थिव द्रव्यों को अपना ग्रास बनाती है, उन्ही से बनी भस्म तपःशील महादेव के भी शरीर में लेप बनती है।'

नल-पक्ष में—'सुश्रवे, इनकी सम्पत्ति के लिए महाधन तथा तपस्वी लोग भी स्पृहा करते है। और वह सम्पत्ति है कैसी? रणभूमि मे अपने दारुण शस्त्रों के कुशल प्रयोग द्वारा शत्रु राजाओ का विनाश करने से उत्पन्न हुई है। वह क्षात्र तेज का ऐश्वर्य है।[2]'

यहाँ 'भूति' (१—भस्म २—ऐश्वर्य) महेश्वर (१—शिव २—महाधनिक) में अभङ्ग श्लेष एवं अत्यर्थहेतिपटुताकवलीभवत्तत्तत्पार्थिवाधिकरणप्रभव' (१—अति-शय ज्वालाओ के ग्रास बनने वाले पृथ्वी के पदार्थो के आधार से उत्पन्न २—अतिशय अस्त्र-कौशल द्वारा पराभूत शत्रु नरेशों के साथ किए गए रण से उत्पन्न); एवं अङ्गराग (१—शरीर का लेप २—शरीर मे मात्सर्य) मे सभङ्ग श्लेष है।

यम का परिचय देती हुई सरस्वती कहती है—

---

१. **ब्रूमः किमस्य वरवर्णिनि! वीरसेनोद्भूतिं द्विषद्वलविजित्वरपौरुषस्य।
सेनाचरीभवदिभाननदानवारिवासेन यस्य जनिनतासुरभीरणश्रीः ॥ नै० १३।३**

२. **अत्यर्थहेतिपटुताकवलीभवत्तत्तत्पार्थिवाधिकरणप्रभवास्य भूतिः।
अभ्यङ्गरागजननाय महेश्वरस्य सञ्जायते रुचिरकर्णि तपस्विनोऽपि॥ नै० १३।११**

यम-पक्ष में—और, महाराज यम के पिता मनोहर-मूर्ति साक्षात् सूर्यदेव हैं, जिनके प्रताप के सम्मुख चन्द्रदेव का समस्त तेज क्षीण हो जाता है। इनकी उत्क्रान्ति नाम की शक्ति (अस्त्रविशेष) भला किसके ऊपर नही चल सकती है। अन्य लोगों मे रोग उत्पन्न करने के कारण महाराज यम का वर्ण श्याम हो गया है।

नल-पक्ष मे—और, भगवान् सूर्य तथा कामदेव के समान मनोहर मूर्ति वाले तथा अपने प्रताप से समस्त राज-मण्डल के तेज को क्षीण करने वाले महाराज वीरसेन इनके पिता थे। इनका शक्तिशस्त्र किसके प्राणो को नही हर सकता? शत्रुओ पर गदा-प्रहार करने में ये स्वय कृष्ण ही है, या उत्कृष्ट बाणों की वेदना पैदा करने मे ये स्वयं अर्जुन ही है।[1]

यहाँ 'प्रभावनमिताखिलराजतेजा.' (१–अपनी प्रभा से सम्पूर्ण राज (चन्द्र) के तेज को पराभूत करने वाले २–अपने प्रभाव द्वारा सारे राजाओ के तेज को परास्त करने वाले) 'अम्बरमणीरमणीयमूर्ति·' (१–रमणीयमूर्ति वाले सूर्य २–अम्बर मणि (सूर्य) तथा कामदेव के समान सुन्दर शरीर वाले) तथा 'कृष्णत्वमस्यच परेषु गदान्नियोक्तु.' [१–दूसरो मे रोग उत्पन्न करने वाले इनकी कालिमा २–परेषु (उत्कृष्ट बाणों) की पीड़ा से उत्पन्न करने वाले इनका कृष्णत्व (अर्जुनत्व)] में सभङ्ग श्लेष, एवं देव (१–सूर्यदेव २–राजा) तथा शक्ति (१–शक्तिनामक अस्त्र २–सामर्थ्य) मे अभङ्ग श्लेष है।

वरुण का परिचय देती हुई सरस्वती कहती है—

वरुण-पक्ष में— देखो, शोणनद इनके चरणों का अनुरागी एक साधारण सेवक है। और की क्या, स्वयं सरस्वती नदी इनकी सेवा मे रहती है। तो सुन्दरि, तुम भी इन जलाधिपति को स्वीकार करो। क्या सभी कमलाशय (जलाशय) इनकी सेवा नही करते!

नल-पक्ष में—सौभाग्यशालिनि, देखो अरुण वर्ण स्वयं इनके चरणों का अनुरागी है। (इनके चरण अरुण है)। स्वयं सरस्वती इन्हे नही छोड़तीं। सुन्दरि, तुम इन लोकनाथ को स्वीकार करो। धन की आशा से इनकी सेवा कौन नही करता?[2]

---

१. किं च प्रभावनमिताखिलराजतेजा देवः पिताम्बरमणी रमणीयमूर्तिः।
उत्क्रान्तिदा कमनु न प्रतिभाति शक्तिः कृष्णत्वमस्य च परेषुगदान्नियोक्तुः॥
नै० १३।१८

२. शोणं पदप्रणयिनं गुणमस्य पश्य किं चास्य सेवन-परैव सरस्वती सा।
एनं भजस्व सुभगे! भुवनाधिनाथं किं वा भजन्ति तमिमं कमलाशया न॥
नै० १३।२५

यहाँ 'शोण' (१–सोन नदी २–रक्तवर्ण) 'सरस्वती' (१–सरस्वती नदी २–वाणी या विद्या) तथा 'भुवनाधिनाथ' (१–जलाधिप २–जगत्पति) मे अभङ्गश्लष और 'कमलाशया' (१–जलाशय २–लक्ष्मी या धन की आशा से) म सभङ्गश्लेष है।

फिर पाँचवे (वास्तविक) नल का परिचय चार श्लिष्ट श्लोकों मे दिया गया है, जिनमे नल के साथ क्रम से इन्द्र, अग्नि, यम तथा वरुण का भी बोध होता है। उदाहरणार्थ एक श्लोक पर्याप्त होगा। नल के साथ महेन्द्र का भी परिचय देती हुई देवी कहती है—

नल-पक्ष में—अनेक संग्रामों में विजय पाने वाले श्रीमान् महाराज नल को क्या तुम नही जानती? याचकों को दान देने में तत्पर रहने के कारण इन्हे कौन व्यक्ति साक्षात् जीमूतवाहन नही समझेगा?

इन्द्र-पक्ष में—क्या तुम महेन्द्र को नही पहिचानती? पुत्र विजय (अर्जुन, जयन्त) के द्वारा इनके वंश की वृद्धि हुई है। आप अत्यन्त तेजस्वी तथा उत्सव-शील है। सैकड़ों दानव शत्रुओ का संहार करने वाले इन्हे देखकर कौन इन्द्र न समझेगा?[1]

यहाँ 'अत्याजिलब्धविजयप्रसर' (१–जिसे संग्राम में विपुल विजय मिली है २–अनेक संग्रामों वाले तथा अर्जुन या जयन्त द्वारा वंश के विस्तार वाले) और 'प्रत्यर्थिदानवशताहितचेष्टया' (१–प्रत्येक याचक के प्रति अपने दानीपन के कारण की गई चेष्टा से २–सैकड़ों शत्रु दानवों का अहित करने से) में सभङ्ग श्लेष तथा महीमहेन्द्र (१–पृथ्वी का श्रेष्ठ राजा २–उत्सव वाले इन्द्र) एवं जीमूत-वाहन (विद्याधरो का प्रसिद्ध दानी राजा २–इन्द्र) मे अभङ्ग श्लेष है।

और अन्त में सरस्वती इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण चारों दिक्पालों तथा नल का भी क्रम से परिचय एक श्लोक के द्वारा ही देती है:—

देवः पतिर्विदुषि नैषधराजगत्या निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्या।
नायं नलः खलु तवातिमहानलाभो यद्येनमुज्झसि वरः कतरः परस्ते ॥[2]

इस श्लोक मे श्रीहर्ष ने अपने श्लेष-विलास को पूर्ण प्रदर्शित किया है। यही नही कि इसके केवल पाच नलों मे घटित होने वाले पाच ही अर्थ हों अपितु एक-

---

१. अत्याजिलब्धविजयप्रसरस्त्वया किं विज्ञायते रुचिपदं न महीमहेन्द्रः।
प्रत्यर्थिदानवशताहितचेष्टयासौ जीमूतवाहनधियं न करोति कस्य ॥ नै० १३।२८
२. नै० १३।३४

एक के प्रति भी अनेक अर्थ उन्ही पदों से सभङ्ग श्लेष द्वारा निकलते है। नारायण ने अपनी टीका में बड़े विस्तार के साथ अनेक अर्थ दिखाने का प्रयत्न किया है। यहाँ उदाहरणार्थ प्रत्येक के प्रति घटित होने वाला केवल एक-एक अर्थ प्रदर्शित किया जा रहा है, और चमत्कार के मूल मे सभङ्ग श्लेष होने के कारग प्रत्येक नये अर्थ के लिए नया अन्वय किया जा रहा है--

१. **इन्द्र-पक्ष में**--हे विदुषि, एष देव. धरा जगत्या (पृथ्वी के) पतिर्न, भवत्या किमु न निर्णीयते, न व्रियते। अयं खलु नलो न। (अयम्) तव नलाभः (नल के समान कान्तिशाली) (यतः) अतिमहा· (अतितेजस्वी)। यदि एनम् [अ (विष्णु) के इन (स्वामी) अर्थात् बड़े भाई को] उज्झसि, ते पर. कतरः वरः।

हे चतुरे, ये देव पृथ्वी के स्वामी नही है। आप क्या विचार नही कर रही हैं? इन्हें नहीं वर रही है? ये नल तो नही है (किन्तु) तुम्हारे नल के समान कान्तिवाले है। ये अत्यन्त तेजस्वी है। यदि विष्णु के बड़े भाई इनको त्यागोगी तो तुम्हारा दूसरा कौन वर होगा?

२. **अग्नि-पक्ष में**--हे विदुषि, धरा जगत्या (अपने वाहन अज की गति से) पति. (रक्षक) एष देव भवत्या न निर्णीयते (इति) न (र्ताहि) किमु न व्रियते अय खलु तव नलो न (अपि तु) अति महानलाभः (अत्यन्त महान अग्नि की कान्ति वाले) यदि एनम् उज्झसि ते पर. कतरः वर.।

हे कुशले, अपने वाहन अज (बकरे) की गति से उपलक्षित रक्षक इन देव को आप नही पहचान रही है यह बात नही है, फिर क्यों नही वर रही है? ये आप के नल तो नही है (किन्तु) अति महान् अग्नि की कान्ति वाले हैं। यदि इन्हें छोडोगी तो तुम्हारा दूसरा कौन वर होगा?

३. **यम-पक्ष में**--हे बिदुषि, एष धरा जगत्या (पर्वतों को उखाड फेकने वाले भैसे की गति से उपलक्षित) पतिः (धर्म रूप पालक)देवः न निर्णीयते (इति) न (पर) किमु न व्रियते। अय खलु नलो (गहन) न (वक्रोत्या, अपि तु धर्मरूपत्वात् गहन एव) यदि एनम् उज्झसि (तदा) तव अति महानलाभ· ते परः वर. कतरः।

हे कुशले, पर्वतों को उखाड फेंकने वाले भैसे की गति से धर्म के रक्षक इन देव को तुम नही पहिचान रही हो, यह बात नही है, फिर क्यों नही वर रही हो? ये धर्मरूप होने के कारण अत्यन्त गहन है। यदि इन्हे छोडा तो तुम्हारी बड़ी हानि होगी। तुम्हारा दूसरा वर ही फिर कौन होगा?

४. **वरुण-पक्ष में**--हे विदुषि, एष धरा जगत्या (पृथ्वी पर उत्पन्न होने वालों के जीवनोपाय जल के) पतिर्न देवः भवत्या किमु न निर्णीयते, न व्रियते, (अप तु निर्णेयः वरणीयश्च) अति महानलाभः (अति महत अति पूज्यस्य अनलस्य

अभा कान्त्यभावो यस्य—वरुणोहि जलरूपत्वादग्निविरोधीत्यर्थः) अय खलु नलो न। यदि एनम् उज्झसि (तदा) ते वर. (श्रेष्ठः) कः परः (शत्रु) (अपि तु अय-मेव शत्रुः)—

"हे कुशले, पृथ्वी पर उत्पन्न होने वालो के जीवनोपाय जल के पति को क्या तुम पहिचान रही हो? (क्या इन्हे) नही वर रही हो? ये अति महान् अग्नि की कान्ति के अभाव है। ये नल नही है। यदि इन्हें छोड़ा तो तुम्हारा (इनसे) बडा कौन शत्रु होगा?

५. **नल पक्ष में**—हे विदुषि, अयम् नैषधराजगत्या (निषध देश के राजा के ज्ञान द्वारा, रूप मे) पति. देवः ना (मनुष्यः) किमु न निर्णीयते (किमु वा) न व्रियते। खलु तव अति महानलाभ. [अति महान अस्य (विष्णो.) लाभ.] यदि एनम् उज्झसि (तर्हि) ते कतर वरः परः (अधिक.):—

हे विदुषि, इन नर-देव को निषध देश के राजा के रूप मे तुम नही पहिचान रही हो? क्या इन्हे नही वर रही हो? (इसमे) तुम्हे (साक्षात्) विष्णु का ही महान् लाभ होगा। यदि इन्हे छोड़ती हो तो तुम्हारा कौन वर इनसे वड़ा (या) अधिक होगा?

यहाँ श्लेष-वक्रोक्ति के द्वारा चारों दिक्पालो के न वरने की भी ध्वनि निकलनी है। नारायण मे इस श्लोक की उन देवों के पक्ष में पृथक्-पृथक् व्याख्या करते समय निषेधात्मक ध्वनि का भी उल्लेख किया है। विस्तार-भय से यहाँ उसका उद्धरण देना उचित नही समझ पड़ता, अस्तु।

नैषध मे अर्थ-श्लेष का भी पर्याप्त सौन्दर्य देखने को मिलता है। उदाहरणार्थ काव्य का प्रथम श्लोक ही प्रस्तुत है—

निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथास्तथाद्रियन्ते न बुधाः सुधामपि।
नलः सितच्छत्रित कीर्तिमण्डलः स राशिरासीन् महसां महोज्वलः॥

नल पक्ष में—जिस राजा की जीवन कथा का माधुर्यपान कर बुधजन अमृत का भी उतना आदर नहीं करते, तथा जिसकी दिङ्मण्डलव्यापिनी कीर्ति ही उसका श्वेतच्छत्र बनी थी—ऐसे तेज के महोज्जल पुञ्ज-स्वरूप महाराज नल हुए।

सूर्य पक्ष में—"जिन (वृष्टि आदि के द्वारा) पृथवी के रक्षक की कथा का पान कर बुधजन (चन्द्रमा के) अमृत का भी उतना आदर नही करते, जिनका कीर्ति से युक्त मण्डल (घेरा) श्वेतच्छत्र के आकार का है (इस प्रकार) तेज से देदीप्यमान् सूर्य देव थे।"

यहाँ उन्हीं अर्थों वाले अन्य पदों के भी प्रयोग में यह श्लोक नल तथा सूर्य दोनों के लिए समानरूप से घटित होता है, अत यदि मङ्गलाचरण के नाते सूर्य भी प्राकरणिक मान लिए जाँय तो यहाँ अर्थश्लेष माना जायगा (अन्यथा उपमा अलङ्कार ध्वनि हो जायगी)।

अर्थालङ्कार

आचार्य रुद्रट ने समस्त अर्थालङ्कारों को चार वर्गों में विभक्त किया है। उनके अनुसार अर्थालङ्कारों के चार मूल आधार हैं—(१) वास्तव (२) औपम्य (३) अतिशय और (४) श्लेष। शेष अलङ्कार इन्ही के विशेष रूप हैं। कुछ अलङ्कार वास्तव पर आधारित होते हैं, कुछ के मूल में औपम्य रहता है, कुछ अतिशय-मूलक होते हैं तथा कुछ श्लेष के ही रूपान्तर हैं।[1]

---

१. **अर्थस्यालङ्कारा: वास्तवमौपम्यातिशयश्लेषाः।**
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः॥ काव्यालंकार ७।९

वस्तु के यथावत् स्वरूप का चित्रण ही (वास्तव) है। उसमे विरुद्ध, समान, अतिशय अथवा श्लिष्ट बात कहे बिना ही इस ढंग की उक्ति होती है कि अर्थ की स्वतः पुष्टि हो जाती है।

वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तु स्वरूपकथनं यत्।
पुष्टार्थमविपरीतं निरुपममतिशयश्लेषम्॥ काव्यालंकार ७।१०

फिर रुद्रट ने इस 'वास्तव' पर आधारित, अथवा वास्तव के भेद इन अलङ्कारों को बताया—सहोक्ति, समुच्चय, यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्त, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित और एकावली।

इसी प्रकार जहाँ वक्ता किसी वस्तु का सम्यक् वर्णन करने के लिए उसी के समान दूसरी वस्तु का उल्लेख करे वहाँ 'औपम्य' माना जाता है।

सम्यक् प्रतिपादयितुं स्वरूपतो वस्तुतत्समानमिति।
वस्त्वन्तरमभिदध्याद् वक्ता यस्मिंस्तदौपम्यम्॥ का० लं० ८।१

उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमान्, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्व सहोक्ति, समुच्चय, साम्य, और स्मरण 'औपम्य' पर आधारित अलङ्कार हैं।

उपमा—

किन्तु परवर्ती आचार्यो ने अधिकतर अलङ्कारो के मूल मे उपमा की ही सत्ता मानी है। अप्पय दीक्षित ने तो अपनी चित्रमीमासा मे उपमा का प्रस्ताव करते हुए यहाँ तक कह दिया है कि—'उपमैका शेलूषी सप्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान। रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदा चेत ।'

और वस्तु के प्रसिद्ध स्वरूप से भी भिन्न अ-लोक-सामान्य ढंग से कहना 'अतिशय' कहा जाता है।

यत्रार्थधर्मानियमः प्रसिद्धबाधाद् विपर्ययं याति।
कश्चित् क्वचिदतिलोकं स स्यादित्यतिशयस्तस्य॥ का० लं० ९।१

अतिशय के भेद **पूर्व**, विशेष, **उत्प्रेक्षा**, विभावना, तद्‌गुण, अधिक, **विरोध, विषम** असङ्गति, पिहित, घात, तथा हेतु अलंकार है।

उसी प्रकार जहाँ अनेकार्थक पदो से रचित एक काव्य से अनेक अर्थ किए जायँ वहाँ निश्चय ही 'अर्थश्लेष' समझना चाहिए।

यत्रैकमनेकार्थेवाक्यं रचितं पदैरनेकस्मिन्।
अर्थेकुरुतेनिश्चयमर्थश्लेषः सविज्ञेयः॥ काव्यालंकार १०।१

इस 'अर्थश्लेष' के भेद अविशेष, **विरोध**, अधिक, वक्रोक्ति, व्याजोक्ति, उक्ति असम्भव, अवयव, तत्त्व, एव विरोधाभास अलकार है।

रुद्रट ने कुछ अलङ्कारों को एक से अधिक वर्गो मे दिखाया है। जैसे—विषम, वास्तव का भी भेद है तथा अतिशय का भी, विरोध, वास्तव, अतिशय एवं श्लेष तीनों मे परिगणित है, पूर्व और उत्प्रेक्षा औपम्य के साथ अतिशय में भी गिनाए गए है, हेतु का उल्लेख वास्तव तथा अतिशय दोनों में होता है, किन्तु इन उभय-निष्ठ तथा अनेकनिष्ठ अलङ्कारो के भिन्न-भिन्न वर्ग मे भिन्न-भिन्न लक्षण भी किए गए है। उदाहरणार्थ—'औपम्य' वर्ग की उत्प्रेक्षा का लक्षण इस प्रकार है—'जहा अत्यन्त सादृश्य के कारण सिद्ध उपमान में कुछ (अविद्यमान) गुण अथवा क्रिया का आरोप किया जाता है, वहाँ उत्प्रेक्षा होती है—

अतिसारूप्यादैक्यंविधाय सिद्धोपमानसद्भावम्।
आरोप्यते च तस्मिन्नतद्‌गुणादीति सोत्प्रेक्षा॥ का० लं० ८।३२

किन्तु अतिशय वर्ग मे वही उत्प्रेक्षा इस प्रकार दिखायी पडती है—जहाँ अतिशय के द्वारा किसी वस्तु को भिन्न रूप से कहकर फिर उसमें असम्भव क्रिया

"काव्य-रूपी नाटकशाला मे यह नटीरूप अकेली उपमा ही विभिन्न (चित्र) अलङ्कारो के रूपों को धारण कर अपना नृत्य दिखाती हुई सहृदयो के चित्त को आह्लादित करती है।"

यदि वस्तुत. देखा जाय तो उपमेयोपमा, अनन्वय, प्रतीप, स्मरण, रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, समासोक्ति, श्लेष, अप्रस्तुत-प्रशसा आदि सारे अलङ्कार उपमा के ही विवर्त (रूपान्तर) है। अत. अप्पयदीक्षित अन्त मे इस निष्कर्ष पर पहुँचते है—

"जैसे ब्रह्म ज्ञान हो जाने से समस्त विश्व का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार उपमा के ज्ञान से सम्पूर्ण चित्र-काव्य का ज्ञान हो जाता है। अत. सर्वप्रथम उसी (उपमा) का सभी भेदों सहित निरूपण किया जाता है।

तदिदं चित्रं विश्वं ब्रह्मज्ञानादिवोपमाज्ञानात्।
ज्ञातं भवतीत्यादौ निरूप्यते निखिलभेदसहिता सा॥

राजशेखर भी उपमा की प्रशसा करते हुए लिखते है—

"मै अलङ्कारो मे सर्वश्रेष्ठ तथा काव्य-वैभव की सब कुछ इस उपमा को कवि वश (कवियो) की माता के ही समान समझता हूँ।"

अलङ्कारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्।
उपमा कविवंशस्य मातेवेति मतिर्मम॥

सादृश्य का ही दूसरा नाम उपमा है। दण्डी ने "उपमेय और उपमान मे जिस किसी प्रकार के सादृश्य की प्रतीति को उपमा[1] कहा है"—

मम्मट ने उपमान मे भेद के साथ सादृश्य को उपमा कहा[2] है।

नैषध मे साम्य (उपमा) मूलक अलङ्कार ही अधिक प्रयुक्त हुए है। किन्तु उपमा अकेली तथा अनेक अलङ्कारो के सङ्कर एव ससृष्टि मे भी प्रयुक्त हुई है।

गुण आदि की सम्भावना की जाय, अथवा जिस वस्तु मे कोई क्रिया गुण नही है, उसमे उसकी सम्भावना की जाय वहाँ अतिशय-मूला उत्प्रेक्षा होती है—

यत्रातितथाभूते संभाव्येतक्रियाद्यसंभाव्यम्।
सम्भूतमतद्वति वा विज्ञेया सेयमुत्प्रेक्षा॥ का० लं० ९।११

१. यथा कथंचित्सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते। उपमा नाम सा...॥ काव्यादर्श २।१४
२. साधर्म्यमुपमाभेदे। का० प्र० १०।१२५

स्वतन्त्र पूर्णोपमा (आर्थी) का एक उदाहरण पके हुए बिल्व फल के इस वर्णन मे मिलता है—

"नल ने पवनान्दोलितशाखाग्रकण्टको रूपी विट-(रसिक) नखो से छिन्न तथा चन्दन की सुगध को उडाते हुए बेल के पके फलो को वेश्या के स्तनों के समान देखा[1]"

यहाँ एक ही वाक्य मे उपमेय 'मालूरफल', उपमान 'वारनारीकुच', वाचक शब्द 'उपमा' तथा सामान्य धर्म 'मरुल्ललत्पल्लव कण्टकै. क्षतम्' एवं,समुच्छल-च्चन्दन सारसौरभम्' है।

श्लेषोत्थापित श्रौती पूर्णोपमा का सौन्दर्य नल के विलास-भवन मे प्रवेश करते समय के वर्णन मे दिखायी देता है—

"इसके पश्चात् जैसे भगवान् विष्णु शयन की अभिलाषा से विद्रुमराग-रञ्जित मेघकान्ति सागर मे प्रवेश करते है, उसी प्रकार शान्ति की अभिलाषा से राजा नल ने किसलय-राग-चित्रित सघनच्छाया विहारवन मे प्रवेश किया[2]।"

यहाँ "प्रवालरागच्छुरित" तथा 'वनच्छायम्' पद श्लेष के कारण उपमा मे सामान्य धर्म का काम करते है।

लुप्तोपमा का उदाहरण गौडेन्द्र के वर्णन मे द्रष्टव्य है—

"कमल के समान रम्य पाणि वाले श्यामवर्ण ये (गौडेन्द्र) तुम से आलिङ्गित होकर उसी प्रकार सुशोभित होंगे, जैसे नूतन श्याम मेघ से सुमेरु की स्वर्णिम चोटी मिली हो। तुम्हारे अङ्गो से आलिङ्गित गौडेन्द्र उसी प्रकार लगेगे, जैसे मदन के मेचक केशो पर चम्पा की माला सुशोभित हो।[3]"

यहाँ 'चम्पक-स्रग्दाम इव त्वदङ्गरुचि.' मे 'वाचकलुप्ता' तथा 'धर्मलुप्ता" उपमा है। इसी प्रकार 'लुप्तोपमा' के अनेक उदाहरण देखे जा सकते है।

अनन्वय—

जहाँ एक ही वाक्य मे एक (धर्मी) के ही उपमान और उपमेय दोनों धर्म

---

१. मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः क्षतं समुच्छलच्चन्दनसारसौरभम्।
स वारनारी-कुच-सञ्चितोपमं ददर्श मालूरफलं पचेलिमम्॥ नै० १।९४

२. विवेश गत्वा स विलासकाननं ततः क्षणात् क्षोणिपतिर्धृतीच्छया।
प्रवालरागच्छुरितं सुषुप्सया हरिर्घनच्छायमिवार्णसां निधिम्॥ नै० १।७८

३. आलिङ्गितः कमलवत्करकस्त्वयाऽयं श्यामः सुमेरुशिखयेव नवः पयोदः।
कंदर्पमूर्धरुहमण्डनचम्पकस्रग्दामत्वदङ्गरुचिकञ्चुकितश्चकास्तु॥ नै० ११।९८

कहे जायं, वहाँ अनन्वय अलङ्कार होता है।[१] नल दमयन्ती के नेत्र-सौन्दर्य की प्रशसा करते हुए कहते हैं—

"मन्द मन्द उन्मीलन करने वाले पक्ष्मो (बरौनियों या पखुडियो) से युक्त अपने अपाङ्ग-प्रान्त की धवलिमा से चन्द्रमा को भी जीतने वाले तथा चञ्चल इन्द्र नील मणि के गोलक के समान निर्मल कनीनिका वाले इसके नयनकमल इसी के-से है।[२]"

यहाँ 'दमयन्ती के नेत्र उसी के-जैसे है' इस उक्ति मे अनन्वय अलङ्कार का सौन्दर्य है।

उत्प्रेक्षा—

कवियो ने किसी नई सूझ या कल्पना का चमत्कार दिखाने के लिए "उत्प्रेक्षा' अलङ्कार का सबसे अधिक आश्रय लिया है। सादृश्य के आधार पर प्रस्तुत वस्तु मे अनेकों (एक के बाद दूसरी) अप्रस्तुत वस्तुओ की योजना करना कल्पना-कुशल कवियों का प्रधान उद्देश्य रहा है। इसीलिए बाद के आचार्यो ने उत्प्रेक्षा का विवेचन बडे विस्तार के साथ किया। उसके अनेक भेद-उपभेद गिनाए। किन्तु भामह, दण्डी, आदिपूर्वाचार्यो ने उत्प्रेक्षा का बडे सक्षेप मे विवेचन किया है। मम्मट ने प्रकृत (उपमेय) के समान (उपमान) के साथ ऐक्य की सम्भावना को उत्प्रेक्षा कहा है।[३]

श्रीहर्ष ने उत्प्रेक्षा को भी बडा महत्त्व दिया था। सम्पूर्ण नैषध उत्प्रेक्षा की सुषमा से जगमगा रहा है। नूतन कल्पना करने में प्रवीण कवियों को उन्होंने 'उत्प्रेक्षा-कवि' की उपाधि दी है:—

"प्रिये, देखो उत्प्रेक्षा-कुशल-कवियो द्वारा यह कहना बड़ा सरल हो जाता है कि मानों विशाल मटके 'चन्द्रमा पर' 'शशक' नाम का नील मणियो का बना हुआ (श्याम-कलङ्करूपी) प्याला रक्खा हुआ है।[४]"

उत्प्रेक्षा के कुछ सुन्दर उदाहरण उद्धृत किए जाते है—

---

१. उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवेकवाक्यगे। अनन्वयः—का० प्र० १०।१३५

२. आघूर्णितं पक्ष्मलमक्षिपद्मं प्रान्तद्युतिश्वैत्यजितामृतांशु।
अस्या इवास्याश्चलदिन्द्रनील-गोलामलश्यामलतारतारम्॥ नै० ७।२९

३. सम्भावनमथोत्प्रेक्षाप्रकृतस्य समेन यत्॥ का० प्र० १०।१३७

४. प्रिये! पश्योत्प्रेक्षाकविभिरभिधानाय सुशकः।
सुधामभ्युद्धर्तुं वृतशशकनीलाश्मचषकः॥ नै० २२।१४४

१—नल के चरणों की उर्ध्वरेखा के प्रति श्रीहर्ष की उत्प्रेक्षा है—

"कमल तथा प्रवाल का तिरस्कार करने के कारण एवं समस्त नरेशों के सिर पर रक्खे जाने के कारण ये नल-चरण ऊर्ध्व-स्थान भागी होंगे। यह विचार मानो विधि ने पहले ही से कर लिया था। तभी तो नल के चरणों को ऊर्ध्व रेखा से अङ्कित कर दिया था।[१]"

यहाँ इति पर्यन्त वाक्य मे हेतूत्प्रेक्षा है जो किम् के प्रयोग के कारण वाच्य हो गई है।

२—नल के द्रुतगामी चरणों में लगी धूलि के कणों के प्रति कवि की उत्प्रेक्षा है—

"निरन्तर धरातल पर पटकने से उड़ती हुई धूलि से धूसरित चरणों वाले, जो धूलि इस प्रकार प्रतीत होती थी, मानों लोगों के मन परमाणु रूप धारण करके उस (अश्व) से वेगातिशय सीखने आए हुए है।[२]"

यहाँ 'चेतोभिरिव' में द्रव्य की इव द्वारा वाच्योत्प्रेक्षा है।

३—नल के सम्मुख दमयन्ती की चरण-सुषमा का वर्णन करते हुए हस कहता है—

"मानो, जिन कमलों ने सूर्य की सेवा करने के कारण दमयन्ती के चरणो की पदवी प्राप्त की है, उन्हे विधि-वाहन हंसों के दम्पती (जोड़ा) नूपुर-रूप मे आकर सुशोभित कर रहे है।[३]"

यहाँ 'रविसेवयेव' में क्रिया की वाच्योत्प्रेक्षा है तथा 'ध्रुवं सहंसकीकुरुत.' में श्लेषोत्थापित वाच्योत्प्रेक्षा है—

४—दमयन्ती के अ-लोक-सामान्य सौन्दर्य के प्रति नल विचारते है—

"विधाता की दमयन्ती से पूर्व की गई समस्त ललना-सृष्टि दमयन्ती की रचना के लिए अभ्यासरूप थी, और जो यह वर्तमान तथा भावी ललनानिर्माण है, और होगा यह दमयन्ती को विजय-कीर्ति देने के लिए है (कि विधाता दमयन्ती-सी सुन्दरी फिर न बना पाये।)[४]"

---

१. अधोविधानात्कमलप्रवालयो शिरःसु दानादखिलक्षमाभुजाम।
पुरेदमूर्ध्वं भवतीति वेधसा पदं किमस्याङ्कितमूर्ध्वरेखया॥ नै० १।१८

२. अजस्रभूमीतटकुट्टनोत्थितैरुपास्यमानं चरणेषु रेणुभिः।
रयप्रकर्षाध्ययनार्थमागतैर्जनस्यचेतोभिरिवाणिमाङ्कितैः॥ नै० १।५९

३. जलजे रविसेवयेव ये पदमेतत्पदतामवापतुः।
ध्रुवमेत्य रुतः स हंसकीकुरुतस्ते विधिपत्रदम्पती॥ नै० २।३८

४. पुराकृतिस्त्रैणमिमां विधातुमभूद्विधातुः खलु हस्तलेखः।
येयं भवद्भाविपुरन्ध्रिसृष्टिः सास्यै यशस्तज्जयजं प्रदातुम्॥ नै० ७।१५

यहाँ 'हस्तलेख.' में वाच्याद्रव्योत्प्रेक्षा तथा 'यश' प्रदातु' में प्रतीयमाना फलोत्प्रेक्षा है।

ससन्देह—

जहाँ (उपमेय के साथ उपमान के) सादृश्य-ज्ञान का सशय हो वहा ससन्देह अलङ्कार होता है। भेद के कथन करने अथवा न करने के कारण इस अलङ्कार के दो भेद होते हैं।[1] यह सन्देह भी तीन प्रकार का होता है—१—शुद्ध सन्देह २–निश्चयगर्भ सन्देह ३–निश्चयान्तसन्देह।[2] शुद्ध सन्देह मे संशय बना ही रहता है।[3]

इसका उदाहरण स्वयंवर सभा में बैठे राजाओं की नल के प्रति कही गई परस्पर की इस उक्ति में दिया जा सकता है—"क्या यह भूतल पर पहला चन्द्रमा अवतीर्ण हुआ है? अथवा, क्या यह दूसरा मदन है? या, तीसरा अश्विनी कुमार है? इस प्रकार ईर्ष्यालु उन राजाओं ने प्रशंसा के बहाने नल की निन्दा की।[4]"

यहाँ नल को कभी चन्द्रमा, कभी मदन तथा कभी अश्विनी कुमार होने का संदेह किया जाता है, और अन्त मे भी कोई ऐसा भेद नही उपस्थित किया जाता कि यह सन्देह दूर हो। सन्देह का पर्यवसान भी सन्देह मे ही होता है।

जहा संशय उठने पर बीच मे उसके संशयित रूप न होने का समर्थन हो जाय, किन्तु अन्त मे पुन' किसी न किसी रूप मे संशय ही रहे, वहाँ निश्चय-गर्भ सन्देह होता है।[5]

इसका उदाहरण दमयन्ती के अपने हृदय के प्रति इस उपालम्भ मे है—

"मेरे हृदय, यदि तू लौहमय है तो विरहाग्नि से इतना अधिक तप्त होकर भी क्यो नही विलीन हो जाता? पर मदन के पुष्प-बाणो से भेद्य होने के कारण तू वज्र भी तो नही है। फिर बोल हृदय, तू क्यो नहीं फट जाता?[6]"

---

१. ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः॥ का० प्र० १०।१३८

२. स च त्रिविधः। शुद्धोनिश्चयगर्भोनिश्चयान्तश्च॥ अलंकार सर्वस्व की जयरथ टीका—पृ० ४३ काव्यामालासिरीज, १८९३

३. शुद्धो यस्य संशय एव पर्यवसानम्॥ जयरथअलंकार सर्वस्व पृ० ४३

४. सुधांशुरेष प्रथमो भुवीति स्मरो द्वितीयः किमसावितीमम्।
दस्रस्तृतीयोऽयमिति क्षितीशाः स्तुतिच्छलान्मत्सरणो निनिन्दुः॥ नै० १०।४१

५. निश्चयगर्भोयः संशयोपक्रमोनिश्चयमध्यासंशयान्तश्च॥ वही, पृ० ४३

६. भृशं वियोगानलतप्यमान! किं विलीयसे न त्वमयोमयं यदि।
स्मरेषुभिर्भेद्य न वज्रमप्यसि ब्रवीषि न स्वान्त! कथं न दीर्यसे॥ नै० ९।८९

यहाँ हृदय को अयोमय होने का सदेह कर वियोगानल मे विलीन न होना इस निश्चय द्वारा उसे दूर किया, पर अन्त मे यह सन्देह बना ही रह जाता है कि हृदय क्या है, जो विदीर्ण नही हो जाता? अतः यह निश्चयगर्भ है, इससे भेद भी कह दिया गया है।

निश्चय-गर्भ सन्देह का एक अन्य उदाहरण दूतरूप नल के प्रति दमयन्ती की इस चाटु उक्ति से दिया जा सकता है—"आप मदन नही है, क्योंकि उसके तो शरीर ही नही है, और अश्विनीकुमार भी नही है, क्योकि वह अकेले नही रहते। अथवा अन्य चिह्नों से क्या करना, उनसे अधिक आपकी यह शोभा ही उनकी अपेक्षा आपका वैशिष्ट्य बताती है।" यहाँ दूत मे मदन तथा अश्विनीकुमार होने का सन्देह होता है। फिर कुछ कारणवश वह सन्देह तो दूर हो जाता है, किन्तु अन्त तक यह निश्चय नही हो पाता कि यह कौन है?

निश्चयान्तसन्देह वहाँ होता है जहाँ संशय से प्रारम्भ कर निश्चय मे पर्यवसान किया जाय।[1]

राजा भीम द्वारा नल को दिए गए पतद्ग्रह (पीकदान) के विषय में 'कवि-सन्निवेशित' निश्चयान्तसन्देह इस प्रकार है—

"उस पीकदान की रक्तकान्ति उदय होते हुए अरुण देव के समान दीप्तिमान् थी। जिस समय नल पान खाकर सुपारी आदि (खुज्झी) उसमें थूकते थे तो लोगों को उस पीकदान की जगमगाहट के कारण बड़ी देर तक यह नही समझ पडता था कि यह भरा है या नहीं।[2]"

यहाँ अन्त में कुछ विलम्ब के पश्चात् यह निश्चय होता है कि पीकदान भरा है या खाली।

रूपक—

जहाँ उपमान और उपमेय को एक दूसरे से नितान्त अभिन्न वर्णन किया जाय, वहाँ रूपक अलङ्कार माना जाता है।[3] राजा भीम द्वारा किए गए स्वयंवर में आए हुए नरेशो के स्वागत-वर्णन मे रूपक का एक सुन्दर उदाहरण यह है—

---

१. निश्चयान्तो यत्र संशय उपक्रमोनिश्चये पर्यवसानम्॥ जयरथ, अलंकार सर्वस्व—पृ० ४३

२. नलेन ताम्बूलविलासिनोज्झितैर्मुखस्य यः पूगकणैर्भृतो न वा।
इति व्यवेचि स्वमयूखमण्डलादुदञ्चदुच्चारुणचारुणश्चिरात्॥ नै० १६।२८

३. तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः॥ का० प्र० १०।१३९

"राजाओं के राज्यरूपी अन्त पुर मे, जहाँ उनकी कीर्तिरूपी पत्नी निवास करती है, चारो समुद्र जिसके परिखातुल्य हैं, दान, दया, प्रियसत्यवचन तथा अतिथि-सत्कार ये ही चार कञ्चुकी नियुक्त रहते है।[1]"

यहाँ अभेद के द्वारा समुद्र को परिखा, कीर्ति को दारा, तथा दान, दया, सुनृत और आतिथेयी को सौविदल्ल (कंचुकी) कहा गया है।

रूपक का एक अन्य अत्यन्त सुन्दर उदाहरण पाण्डच-नरेश के वर्णन-प्रसङ्ग मे सरस्वती की इस उक्ति मे देखा जा सकता है—

"कीर्ति एक नर्तकी की भाँति पहले समस्त भू-मण्डल मे व्याप्त होकर फिर आकाश मे विहार करने की अभिलाषा से इस महाकुलीन पाण्डच-नरेश का आश्रय लेकर सहर्ष लोकान्तरों मे नर्तन कर रही है।[2]"

यहाँ अभेद के द्वारा राजा को वंश (बास) तथा कीर्ति को नर्तकी कहा गया है।

अपह्नुति—

जहाँ प्रकृत (उपमेय) को असत्य सिद्ध करके उससे भिन्न उपमान की सत्यता का प्रतिपादन किया जाय वहाँ अपह्नुति अलङ्कार होता है।[3]

नल की वदान्यता की प्रशंसा में श्रीहर्ष अपह्नुति का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

"अपने सिर पर काले बालो की दो मांगों (सीमन्तों) को नल दो भारी अपयशों का बोझ ही समझते थे। प्रथम अपयश यह कि जो सुमेरु पर्वत को खण्डशः करके उसने याचकों को न दे दिया, और दूसरा यह कि जो दान सकल्प के लिए जलग्रहण कर सागर को भी मरुस्थल न बना दिया।[4]"

यहाँ नल के शिर पर दो भागों में विभक्त ये केश नही है, अपितु दो अपकीर्तियाँ हैं। इस प्रकार अपह्नुति है।

---

१. चतुःसमुद्री परिखे नृपाणामन्तःपुरे वासितकीर्तिदारे।
दानं दया सूनृतमातिथेयी चतुष्टयी रक्षणसौविदल्ला॥ नै० १०।२८

२. भुवि भ्रमित्वानवलम्बमम्बरे विहर्तुमभ्यासपरम्परा परा।
अहोमहावंशममुं समाश्रिता सकौतुकं नृत्यति कीर्ति-नर्तकी॥ नै० १२।१६

३. प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत् साध्यते सा त्वपह्नुतिः॥ का० प्र० १०।१४६

४. विभज्य मेरुर्न यदर्थिसात् कृतो न सिन्धुरुत्सर्गजलव्ययैर्मरुः।
अमानि तत्तेन निजायशोयुगं द्विफालबद्धाश्चिकुराः शिरःस्थितम्॥ नै० १।१६

कभी-कभी छल, व्याज आदि शब्दों द्वारा भी अपह्नुति निर्दिष्ट की जाती है।[1]

कुण्डिनपुर के वर्णन मे श्रीहर्ष स्थान-स्थान पर इसी प्रकार का अपह्नव करते हैं। उदाहरणार्थ यह वर्णन अवलोकनीय है—

'परिखा' (खाई) परिवेष्टित होने के कारण वह नगरी शत्रुओ की पहुच के बाहर थी, मानों पतञ्जलि ने भाष्य की पङ्क्तियो की रचना कर उसे, परिखा के रूप में अपनी फेटी से सुरक्षित कर दिया हो।[2]

यहाँ परिखावलय के रूप में (छल से) नगर के चारों ओर फणि की विषम कुण्डली फैली है।

२. अपह्नुति का एक और अत्यन्त सुन्दर उदाहरण मदनताप के प्रति कवि की इस उक्ति में प्राप्त है—

सती ने कामाग्नि से तप्त होकर ही हिमवान् (अतिशीतल) के यहाँ जन्म धारण किया था, न कि उसकी (हिमवान् की) महत्ता के प्रति आदरभाव से, इसी प्रकार शंकर के भाल-तल पर लिखित सती का विरह ही दहक रहा है, न कि यह उनका तीसरा नेत्र है।[3]

समासोक्ति—

उद्भट ने प्रस्तुत-परक वाक्य द्वारा, समान विशेषणों के कारण, किसी अप्रस्तुत के विषय में बोध होने को समासोक्ति अलङ्कार कहा है।[4] इसी प्रकार मम्मट के अनुसार जहाँ श्लिष्ट (द्वयर्थ) विशेषणों द्वारा प्रस्तुत मे अप्रस्तुत की बात कही जाय वहाँ समासोक्ति अलङ्कार होता है।[5]

जड़, तिर्यक् या अन्य मानवेतर प्राणियों में मानवीय क्रिया-व्यवहारो का यह आरोप उनको मानव-हृदय के और भी समीप मे ले आता है तथा भावों के बोध मे अधिक तीव्रता पैदा कर देता है।

---

१. छलादिशब्दैरसत्यत्वप्रतिपादकैर्वापह्नवनिर्देशः।। अलंकार-सर्वस्व

२. परिखावलयच्छलेन या न परेषां ग्रहणस्य गोचरः।
फणिभाषितभाष्यफक्किकाविषमा कुण्डलनामवापिता।। नै० २।९५

३. जनुरधत्त सती स्मरतापिता हिमवतो ननु तन्महिमादृता।
ज्वलति भालतले लिखितः सती विरह एव हरस्य न लोचनम्।। नै० ४।४५

४. प्रकृतार्थेन वाक्येन तत्समानैर्विशेषणैः । अप्रस्तुतार्थकथनंसमासोक्तिरुदाहृता।।
का० लं० संग्रह वर्ग २, श्लोक १०

५. परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः।। का० प्र० १०।१४८

नैषध में समासोक्ति के सुन्दर उदाहरण है। एकान्तविहार की इच्छा से उपवन मे नल के पहुचने पर वहाँ की लता का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

"वायु द्वारा चुम्बित, पराग कणो के रूप मे रोमाञ्चित, विकसित कलिकाओ द्वारा सुशोभित, ईषत् कम्पमान नूतन लताओं को नल भय तथा आदर के साथ नेत्रो से पी रहे थे।[1]"

यहाँ (प्रस्तुत) लता-विशेषण के साम्य से (अप्रस्तुत) नायिका की प्रतीति होती है। नारायण ने सभङ्ग श्लेष द्वारा लता के विशेषणों को नायिका पर भी घटित किया है।

समासोक्ति का एक अन्य उदाहरण बन्दीजनो के प्रभात वर्णन मे मिलता है। सूर्य की दीप्ति के प्रति उनकी उक्ति है—

"गत सन्ध्या के समय जब सूर्य देव अस्त हो गए थे तो उनकी अनुरक्ता (रक्त-वर्ण) प्रिया दीप्ति (प्रभा) अग्नि मे प्रविष्ट हो गई थी, और इस प्रकार अपने सतीव्रत के प्रभाव से उसने पाताल में गए हुए भी अपने पति सूर्य देव को बलात् देवेन्द्रपुरी (प्राची दिशा) मे प्रभात होते होते पहुंचा दिया।[2]"

यहाँ (प्रस्तुत) दीप्ति के विशेषणों से (अप्रस्तुत) सती की प्रतीति होती है।

निदर्शना—

'जहाँ वस्तुओं के असम्भव सम्बन्ध के कारण उपमा की कल्पना की जाय वहाँ निदर्शना[3] अलङ्कार होता है। इस अलङ्कार में एक वस्तु दूसरी के प्रतिबिम्ब के रूप में रहती है, और यह प्रतिबिम्बकरण उन दोनों वस्तुओं के सम्भव या असम्भव सम्बन्ध द्वारा व्यक्त किया जाता है, ऐसा रुय्यक का मत है।[4]

---

१. नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता करम्बिताङ्गी मकरन्दशीकरैः।
दृशा नृपेण स्मितशोभिकुड्मला दरादराभ्यां दरकम्पिनी पपे॥ नै० १।८५

२. दहनमविशद्दीप्तिर्यास्तगते गतवासर,
प्रशमसमयप्राप्ते पत्यौ विवस्वति रागिणी।
अधरभुवनात्सोद्धृत्यैषा हठात्तरणेः कृता
मरपति-पुरप्राप्तिर्धत्ते सतीव्रतमूर्तिताम्॥ नै० १९॥४४

३. निदर्शना—अभवन्वस्तुसम्बन्धउपमापरिकल्पकः॥ का० प्र० १०।१९४

४. सम्भवताऽसम्भवता वा वस्तुसम्बन्धेन गम्यमानं प्रतिबिम्बकरणं निदर्शना॥
—अलंकार सर्वस्व

इसका एक सुन्दर उदाहरण दमयन्ती की विरह-तप्तावस्था से उद्धृत किया जाता है—

"मदन-ताप से म्लान दमयन्ती का कमल-सुकुमार मुख सूर्य की प्रखर रश्मियों के कारण निस्तेज शशि की दिनोदिन बढनेवाली दक्षिण अवस्था को प्राप्त हो रहा था।"[1]

यहाँ 'मदनतापतप्त-मुख का प्रतिबिम्ब सूर्यतापतप्त-चन्द्रमा' सम्भव-सम्बन्ध द्वारा व्यक्त किया गया है।

अप्रस्तुत-प्रशंसा

यदि किसी अप्रासङ्गिक विषय का वर्णन प्रसङ्ग-प्राप्त विषय के वर्णन का कारण हो तो उसे, अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार कहते है।[2] स्वयंवर मे काशी नरेश की प्रशंसा करती हुई सरस्वती दमयन्ती से कहती है —

"कोयल तथा कौवे को समान रूप से फल देने वाले लाखों प्रकार के वृक्ष क्या संसार मे नही है? पर प्रशंसनीय तो कल्पवृक्ष ही है जो केवल अमृतभोगी देवों को ही अपने फल देता है।"[3]

यहाँ (अप्रस्तुत) कल्पवृक्ष की प्रशसा (प्रस्तुत) काशी नरेश की प्रशसा में घटित होती है।

अतिशयोक्ति

जैसा कि इस अध्याय के प्रारम्भ मे ही कहा गया है, अतिशयोक्ति नैषध के प्रमुख अलङ्कारों में है। भामह ने गुणातिशय के योग से विशेष ढग की कही हुई (लोकातिक्रान्तगोचर) बात को अतिशयोक्ति कहा है।[4] दण्डी ने प्रस्तुत के लोकातिशायी

---

१. कुसुमचापज-ताप-समाकुलं कमलकोमलमैक्षततन्मुखम्।
अहरहर्वहदम्यधिकाधिकां रविरुचिग्लपितस्य विधोर्विधाम्॥ नै० ४।६

२. अप्रस्तुत-प्रशंसा या सा सेव प्रस्तुताश्रया॥ का० प्र० १०।१५१

३. किं न द्रुमा जगति जाग्रतिलक्ष्यसंख्यास्तुल्योपनीतपिककाकफलोपभोगाः।
स्तुत्यस्तु कल्पविटपीफलसम्प्रदानं कुर्वन् स एव विबुधानमृतैकवृत्तीन्॥
नै० ११।१२५

४. निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा॥ भामहालङ्कार २।८१

(असामान्य) ढंग से वर्णन करने को अतिशयोक्ति नाम दिया है, और उसे उत्तम अलङ्कार माना है।[1]

बाद में मम्मट ने विस्तृत विवेचन के साथ अतिशयोक्ति के चार रूप निरूपित किए—१ जहा उपमान उपमेय को इस प्रकार छिपा लें कि उसकी पृथक् कोई सत्ता ही न प्रतीत हो। २. जहा वर्ण्यविषय का कथन प्रकारान्तर से किया जाय। ३. जहाँ 'यदि' या 'चेत्' आदि शब्दों द्वारा किसी असम्भव बात की कल्पना की जाय। ४. जहा पर कार्य और कारण के पूर्व-पश्चात् भाव के क्रम में उलट फेर हो।[2]

नैषध मे भामह दण्डी की अतिशयोक्ति तो भरी पडी है। साथ ही मम्मट द्वारा सूक्ष्म दृष्टि मे विवेचित अतिशयोक्ति के भी अत्यधिक उदाहरण मिलते हैं।

१. कुण्डिनपुर के आपण (बाजार) का वर्णन करते हुए कवि की उक्ति है.—

"नगर के बाजार मार्ग से घर के लिये उत्सुक पथिक जा रहे है। दूकानों मे रक्खे सत्तू की सुगन्ध ने उन्हे आकर्षित किया मानों उन्हे थोडा रुक कर स्वाद लेने के लिए पुकारा। पर मेघों ने घर पहुचने के लिए चञ्चल किया। मेघों की गरज सुनकर पथिक अधीर हो उठे। वहा सत्तू के जाँते भी चल रहे हैं। अपने घर्घर शब्दों द्वारा मानों उनकी मेघों के साथ झडप हो गयी, और वही कलह की घर्घर ध्वनि आज भी मेघों मे बनी है।'[3]

यहाँ मेघध्वनि (उपमेय) को कलहध्वनि (उपमान) ने इस प्रकार छिपा लिया है कि उसकी पृथक् सत्ता ही नही प्रतीत होती। अत. अध्यवसान के सिद्ध होने के कारण इसे अतिशयोक्ति अलङ्कार कहेगे।

२ हंस दमयन्ती से नल की प्रशंसा करते हुए कहता है:—

"हम लोगों ने नल की क्रीडावेलाओं में उसके सङ्गीत के माधुर्यादि गुणों का आस्वादन किया, और जब यहाँ से स्वर्ग-लोक गए तो इन्द्र के प्रसिद्ध गायक का

---

१. विवक्षया विशेषस्य लोकसीमातिवर्त्तिनी।
असावतिशयोक्तिः स्यादलङ्कारोत्तमोत्तमा ॥ काव्यादर्श २।२१४

२. निगीर्याध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत्।
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् ॥
कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः। विज्ञेयातिशयोक्तिः सा—का० प्र० १०।१५३

३. प्रतिहट्टपथे घरट्टजात्पथिकाह्वानदसक्तुसौरभैः।
कलहान्नघनाद् यदुत्थितादधुनाप्युज्झति घर्घरस्वरः॥ नै० २।८५

सङ्गीत सुनकर हमारे मुख से निन्दात्मक 'हाहा' निकल पडा, जिससे उस गायक का नाम ही 'हाहा' पड गया।"[१]

यहाँ 'हाहा आदि गन्धर्वों के गाने मे शोक का कोई सम्बन्ध न रहने पर भी उसके सम्बन्ध की कल्पना की गयी है।

३ हंस नल के गुणों के विषय मे कह रहा है :—

"यदि समस्त त्रैलोक्य गिनने मे लग जाय और उस (त्रैलोक्य) की आयु की समाप्ति कभी न हो तथा गणित की सख्याये परार्द्ध से भी ऊपर हों, तब कही नल के समग्र गुण गिने जा सकते हैं।"[२]

यहाँ गिनने योग्य भी गुणों को 'यदि' के द्वारा गणनातीत बताया गया है, अतः यहा अतिशयोक्ति अलङ्कार है।

४. अन्त पुर में नल के कटाक्ष-बाणों से दमयन्ती की विकलता का वर्णन श्रीहर्ष यों करते हैं :—

"दमयन्ती के प्रति साभिलाष नल की आँखों की ज्योति अपने अपाङ्गों तक भी न पहुँच पायी थी कि मदनबाण उस सुन्दरी के प्रत्यङ्ग में सम्पूर्णतया प्रविष्ट हो गया।"[३]

यहाँ कारण-रूप दृष्टिपात के पूर्व ही कार्य-रूप स्मरशरपात हो जाता है, अतः कारण-कार्य के पौर्वापर्य-विपर्यय के कारण अतिशयोक्ति अलङ्कार है।

५ स्वयंवर मे दमयन्ती के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए नृपतिगण परस्पर कहते हैं :—

"यह मदन की ही कृति है, विधि की नहीं। क्योंकि इसका शिल्पी अन्य शिल्पकारों से पराजित नही हो सकता। ब्रह्मा तो रूप-निर्माण के विषय मे (एक) मदनकिङ्कर यौवन से ही पराजित हो जाते हैं—(यौवन आने पर रूप मे जो सौन्दर्य आता है उसे ब्रह्मा किसी प्रकार नहीं बना सकते)।"[४]

---

१. स्वर्लोकमस्माभिरितः प्रयातैः केलीषु तद्गानगुणान्निपीय।
हाहेति गायन् यदशोचि तेन नाम्नैव हाहा हरिगायनोऽभूत्॥ नै० ३।२७

२. यदि त्रिलोकी गणनापरा स्यात् तस्याः समाप्तिर्यदिनायुषः स्यात्।
पारे-परार्धं गणितं यदि स्याद् गणेयनिःशेषगुणोपि स स्यात्॥ नै० ३।४०

३. अपाङ्गमप्याप दृशोर्न रश्मिर्नलस्य भैमीमभिलष्य यावत्।
स्मराशुगः सुभ्रुवि तावदस्यां प्रत्यङ्गमापुङ्खशिखं ममज्ज॥ नै० ८।३

४. कृतिः स्मरस्यैव न धातुरेषा नास्या हि शिल्पीतरकारुजेयः।
रूपस्य शिल्पे वयसापि वेधा निर्जीयते स स्मरकिङ्करेण॥ नै० १०।१३१

यहाँ प्रस्तुत धातृकृति को अन्य (स्मरकृति) बताया गया है, अतः अतिशयोक्ति अलङ्कार है।

अलङ्कारान्तर के साथ भी अतिशयोक्ति के अनेक उदाहरण नैषध मे मिलते हैं —नलयाविपनि का वर्णन करती हुई सरस्वती कहती है:—

"इनका धवल यश किस लोक मे नही फैला है ? स्वर्ग में शिव के भालस्थित एक कला वाले चन्द्रमा की शेष पन्द्रह कलाओं का वही पूरक है। पाताल मे भगवान् शेष के, जिनके एक सहस्र फण है, किन्तु एक ही शरीर है, वह नौ सौ शरीरों का पूरक है। पृथ्वी पर एक क्षीर-सागर का, अगत्स्य मुनि की अंजुलि में आने के भय को दूर करने के लिये वह अनेक रूप है।"[1]

यहाँ कीर्तिपूर को 'अध्याहार', 'काययष्टीनिकाय' आदि रूप देकर रूपक द्वारा अतिशयोक्ति की योजना की गयी है।

दृष्टान्त

जहाँ दो वाक्यों मे एक उपमेय वाक्य होता है और दूसरा उपमान वाक्य एवं दोनों वाक्यों में उपमान, उपमेय, साधारण धर्म आदि का परस्पर बिम्बप्रतिबिम्ब भाव प्रतीत हो, वहाँ 'दृष्टान्त' अलङ्कार समझना चाहिए।[2]

दमयन्ती के सम्मुख नल की प्रशंसा करते समय हस की इस उक्ति मे दृष्टान्त अलङ्कार का सौन्दर्य झलकता है —

"देवगण नल के इष्टापूर्त (यज्ञ, कूप आदि) पुण्य कार्यो के वशीभूत हो कर यही उसे स्वर्भोगों को उपस्थित करते हैं—वृक्ष भी तो दोहद-बल से असमय में कलियाँ लाते है।"[3]

यहाँ श्लोक का उत्तरार्द्ध उपमान-वाक्य पूर्वार्द्ध उपमेय-वाक्य का प्रतिबिम्ब रूप है, और इस (दृष्टान्त) मे 'सृजन्ति' और 'उद्गिरन्ति' मे धर्म एक न होकर साधर्म्य (धर्म-भेद मे समान-धर्मता) है।

---

१. अध्याहारः स्मरहर-शिरश्चन्द्रशेषस्य शेष-
स्याहेर्भूयः फणसमुचितः काययष्टीनिकायः।
दुग्धाम्भोधेर्मुनि चुलुकनत्रासनाशाभ्युपायः
कायव्यूहः क्व जगति न जागर्त्यदः कीर्तिपूरः॥ नै० १२।५७

२. दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम्॥ का० प्र० १०।१५५

३. इष्टेन पूर्तेन नलस्य वश्याः स्वर्भोगमत्रापि सृजन्त्यमर्त्याः।
महीरुहा दोहदसेकशक्तेराकलिकं कोरकमुद्गिरन्ति॥ नै० ३।२१

वैधर्म्य-विशिष्ट दृष्टान्त का उदाहरण यह है—दमयन्ती हंस से कहती है —

"जो नल की केवल दासी होना चाहती है उसकी उस पद से भी उत्कृष्ट किसी अन्य अभिलाषा को साधने की तुम्हारी इच्छा को धन्यवाद। पर अमृत से पूर्ण होकर भी चन्द्रमा कमलिनी के किस काम का क्योंकि कमलिनी को तो सूर्य चाहिए।"[1]

यहाँ द्वितीय (उपमान) वाक्य वैधर्म्य के द्वारा प्रथम (उपमेय) वाक्य का प्रतिबिम्ब बनता है।

दीपक

जहाँ प्रकृत (उपमेय) और अप्रकृत (उपमान) दोनों के क्रिया आदि धर्म का एक ही बार कथन किया जाय अथवा जहाँ अनेक क्रियाओं का एक ही कारक से सम्बन्ध हो, वहा दीपक अलङ्कार माना जाता है।[2] यहाँ पहले को क्रिया-दीपक तथा दूसरे को कारक-दीपक कहते हैं।

क्रिया-दीपक का सुन्दर उदाहरण स्वर्गङ्गा द्वारा किए गए देवर्षि के इस आतिथ्य से दिया जा सकता है—

"स्वर्गङ्गा ने उस अतिथि के लिए किनारे पर उगे कुशों का आसन, अपने जल का पाद्य, तीर के दलदल मे उत्पन्न तृणलताओं का अर्घ्य तथा कमलों के मकरन्द का मधुपर्क उपहृत किया।"[3]

यहाँ एक 'अदित'-क्रिया-रूप धर्म विष्टर, पाद्य, अर्घ्य तथा मधुपर्क चारों से सम्बद्ध है।

तुल्ययोगिता

जहाँ वर्णनीय विषयो (उपमेय अथवा उपमान) मे से एक ही के धर्म, गुण या क्रिया, का एक बार उल्लेख किया जाय वहाँ तुल्योगिता अलङ्कार होता है।[4]

---

१. तदेकदासीत्वपदादुदग्रे मदीप्सिते साधु विधित्सुता ते।
अहेलिना किं नलिनी विधत्ते सुधाकरेणापि सुधाकरेण ॥ नै० ३।८०

२. सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ॥ का० प्र० १०।१५६

३. विष्टरं तटकुशालिभिरद्भिः पाद्यमर्घ्यमथकच्छरुहाभिः।
पद्मवृन्दमधुभिर्मधुपर्कं स्वर्गसिन्धुरदितातिथयेऽस्मै ॥ नै० ५।७

४. नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता ॥ का० प्र० १०।१५८

तुल्योगिता मे सादृश्य (औपम्य) व्यङ्ग्य रहता है, वाच्य नही। इसमे केवल प्रस्तुतों (उपमेयों) अथवा केवल अप्रस्तुतों (उपमानों) का समान (एक ही) धर्म के साथ सम्बन्ध दिखाया जाता है।[1]

दमयन्ती के सम्मुख भावोद्रेक मे स्नेह-प्रलाप करते हुए नल की—

"सुन्दरि, तुम्हारे नेत्रों से निरन्तर प्रवाहित होने वाले इस अमङ्गल रूप अश्रुजल को सर्वप्रथम मैं अपने हाथों से पोंछ दूँ, फिर अपने मस्तक पर तुम्हारे दोनों चरण-कमलों की धूल लगाकर अपने अपराध का मार्जन करूँगा।[2]"

इस उक्ति मे तुल्योगिताका सुन्दर उदाहरण है। यहाँ नेत्रों के (अमङ्गल) जल तथा (अपने) अपराध दोनों प्रस्तुतों से सम्बद्ध एक (समान) क्रिया रूप धर्म 'परिमार्जन' का उल्लेख किया गया है।

व्यतिरेक

जहाँ उपमान की उपेक्षा उपमेय का उत्कर्ष कहा जाता है वहाँ व्यतिरेक अलङ्कार होता है।[3] इसमें कभी कभी उपमेय तथा उपमान दोनों पक्षों के क्रम से उत्कर्षापकर्ष के हेतु कहे जाते हैं। कभी एक का ही हेतु कहा जाता है, और कभी एक का भी नही कहा जाता। इसी प्रकार इस अलङ्कार में उपमानोपमेय–भाव भी कभी शब्द-द्वारा, कभी अर्थ-द्वारा और कभी आक्षेप-द्वारा प्रकट किया जाता है। इस प्रकटीकरण मे कभी श्लेष का सहारा लिया जाता है, कभी नहीं। इसलिए काव्य-प्रकाशकारने व्यतिरेक के उक्त चौबीस भेद बताये हैं।[4] इस अलङ्कार में उपमान और उपमेय मे वैलक्षण्य (भेद) रहता है। कभी उपमेय उपमान से अधिक रहेगा कभी कम, उनमें समता नही रहेगी।[5]

नल के सम्मुख दमयन्ती के केशों की प्रशंसा करता हुआ हंस व्यतिरेक द्वारा कहता है —

---

१. औपम्यस्य गम्यत्वे पदार्थगतत्वेन प्रस्तुतानामप्रस्तुतानां वा समानधर्माभिसम्बन्धे तुल्ययोगिता—अलङ्कार-सर्वस्व

२. दृशोरमङ्गल्यमिदं मिलज्जलं करेण तावत्परिमार्जयामि ते।
अथापराधं भवदङ्घ्रिपङ्कजद्वयीरजोभिः सममात्ममौलिना॥ नै० ९।१०६

३. उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः॥ का० प्र० १०।१५९

४. हेत्वोरुक्तावनुक्तीनां त्रये साम्ये निवेदिते।
शब्दार्थाभ्यामथाक्षिप्ते श्लिष्टे तद्वत् त्रिरष्ट तत्॥ का० प्र० १०।१६०

५. भेदप्राधान्ये उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः—अलङ्कारसर्वस्व

"राजन्, सर्वसुन्दर है वे केश, जिन्हे उस विदुषी ने अपने सिर पर धारण किया है। भला उनकी तुलना चामर से कौन करेगा, जिन्हे चमरी नामक पशु ने भी पूँछ रूप मे अपने पीछे की ओर करके तिरस्कृत कर रक्खा है ?"[१]

यहाँ 'उपमेय' केश 'उपमान' चमर से अधिक बताए गए है और इस भेद के दोनों हेतु भी, उपमेय का शिरस्थ होना तथा उपमान का अपुरस्कृत होना बता दिए गए है।

आक्षेप

जहाँ प्रकरणवश प्राप्त विषय के विशेष के कथन की इच्छा से उसका निषेध (कथन न) किया जाय, वहा आक्षेप अलङ्कार होता है। वह आक्षेप भी वक्ष्यमाण-विषय तथा उक्त-विषय के भेद से दो प्रकार का होता है।[२]

काशी-नरेश का वर्णन करती हुई सरस्वती कहती है—

"यदि मेरी बातों पर तुम्हे विश्वास नही है तो लो मै मौन हुई। तुम्हारी निज की अनुभूति ही स्वय इस विषय मे प्रमाण होगी कि इन्द्रपुरी (अमरावती) काशी से हीन है या नही ?"[३]

यहाँ काशी-नरेश के महत्त्व का वर्णन करना अभीष्ट है, जो मौन के द्वारा वक्ष्यमाण का निषेध करके विशेष रूप से कहा गया है।

अन्त पुर मे नल की आकृति वाले पुरुष को देखकर उसकी चाटुकारिता करती हुई दमयन्ती कहती है—

"मेरी बुद्धि सन्देह की दोला पर चढकर न जाने क्या क्या कहती है। अथवा इस व्यर्थ की संभावना से क्या लाभ ? पता नहीं किस धन्य व्यक्ति के घर के आप अतिथि है ?"[४]

यहाँ विशेष कहने के लिए उक्त विषय का निषेधरूप आक्षेप किया गया है।

---

१. **चिकुरप्रकरा जयन्ति ते विदुषी मूर्द्धनि सा बिभर्ति यान्।**
पशुनाप्यपुरस्कृतेन तत्तुलनामिच्छतु चामरेण कः॥ नै० २।२०

२. **निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।**
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः॥ का० प्र० १०।१६१

३. **न श्रद्दधासि यदि तन्मम मौनमस्तु कथ्या निजाप्ततमयेव तवानभूत्या।**
न स्यात्कनीयसितरा यदि नाम काश्या राजन्वतीमुदिरमण्डनधन्वना भूः॥
नै० ११।११९

४. **ब्रवीति मे किं किमियं न जाने सन्देह-दोलामवलम्ब्य संवित्।**
कस्यापि धन्यस्य गृहातिथिस्त्वम् अलीकसम्भावनयाऽथवाऽलम्॥ नै० ८।४८

विभावना

'हेतुरूप' क्रिया के बिना कहे ही जहाँ पर फल का प्रकट होना कहा जाता है वहाँ पर 'विभावना' अलङ्कार होता है।[1]

नारद के इन्द्र को देखने की इच्छा से स्वर्ग जाते समय के वर्णन से विभावना का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है—

"देवर्षि इन्द्र-भवनों के भी अभिमान को तोडने वाले विमानों को लाँघ गए। उन विमानों के चरणविनम्र स्वामियों द्वारा प्रार्थित होकर भी उन्होंने उनके आतिथ्य को न स्वीकार किया।"[2]

यहाँ 'विमानों को लाघना' रूप फल बिना किसी हेतु (साधन) के ही कहा गया है।

विशेषोक्ति

जहाँ सम्मिलित कारणों के उपस्थित रहते हुए भी कार्य के अभाव का कथन किया जाय वहाँ विशेषोक्ति अलङ्कार होता है।[3]

मानवीय सुन्दरियों का नल के प्रति अनुराग वर्णन करते हुए श्रीहर्ष विशेषोक्ति द्वारा कहते हैं—

"मानवीय सुन्दरियों को नल-दर्शन मे पलक गिरने से कोई विघ्नलेश भी न होता था, क्योंकि निरन्तर चिन्तन करने के कारण नेत्र निमीलन के समय भी वे नल को हृदय में देखती ही रहती थीं।"[4]

यहाँ कारण रूप-नेत्र-निमीलन के रहते हुए भी दर्शन में विघ्नलेश भी (कार्य) नही होता।

विशेषोक्ति का एक अन्य उदाहरण दमयन्ती द्वारा चन्द्रोपालम्भ से उद्धृत किया जाता है। दमयन्ती कहती है—

"अरे शशकलङ्क, जिस समय सागर मे मन्दराचल डाला गया उसी समय तू उससे दब कर चूर क्यों न हो गया? हाय, उस मुनि (अगस्त्य) ने जब

---

१. क्रियायाः प्रतिषेधेपि फलव्यक्तिर्विभावना॥ का० प्र० १०।१६२

२. खण्डितेन्द्रभवनाद्यभिमानाल्लंघते स्म मुनिरेष विमानान्।
अर्थितोऽप्यतिथितामनुमेने नैवतत्पतिभिरङ्घ्रिविनम्रैः॥ नै० ५।४

३. विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः॥ का० प्र० १०।१६३

४. विलोकयन्तीभिरजस्रभावनाबलादमुं नेत्रनिमीलनेष्वपि।
अलम्भिमर्त्याभिरमुष्यदर्शने न विघ्नलेशोऽपि निमेषनिर्मितः॥ नै० १।२९

सागर का पान किया था उस समय उनकी जठरज्वाला मे ही तू क्यों न जीर्ण हो गया।"[१]

यहा 'मन्दराचल का उदधि में प्रक्षिप्त किया जाना' इस हेतु के रहते हुए भी चन्द्रमा का चूर्ण न होना, तथा मुनि की जठराग्नि मे पयोनिधि के साथ पहुँच कर भी जीर्ण न होना विशेषोक्ति के ही उदाहरण है। यहा विद्याधर ने विभावना अलङ्कार माना है। (अत्र विभावनालङ्कारः, इति साहित्यविद्याधरी)[२] जो विशेषोक्ति के स्थान पर भ्रम से लिखा गया समझ पडता है।

यथासंख्य

जहा क्रमपूर्वक कहे गए पदार्थों के साथ क्रमपूर्वक कहे गए पिछले पदार्थो का यथोचित सम्बन्ध कहा जाय वहाँ यथासख्य अलङ्कार होता है।[३]

कुण्डिनपुर का वर्णन करते हुए कवि की उक्ति है—

"भवनों के अधो, मध्य, तथा ऊर्ध्व भाग क्रमश. पाताल, भूलोक तथा आकाश के सभी चिह्नों-सहित श्रेष्ठ अशों द्वारा आश्चर्यमय विनिर्मित किए गए थे।"[४]

यहा क्षितिगर्भ, धरा तथा अम्बर के चिह्न क्रम से तल, मध्य, तथा ऊपर के भागों से सम्वद्ध हैं, अतः यह यथासंख्य का उदाहरण हुआ।

अर्थान्तरन्यास

जहाँ साधर्म्य द्वारा अथवा वैधर्म्य द्वारा सामान्य से विशेष का अथवा विशेष से सामान्य का समर्थन किया जाय वहाँ 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार होता है।[५]

नल की मानशीलता का वर्णन करते हुए कवि की उक्ति है—

---

१. निपतताऽपि न मन्दरभूभृता त्वमुदधौ शशलाञ्छनचूर्णितः।
अपि मुनेर्जठरार्चिषि जीर्णतां बत गतोसि न पीतपयोनिधेः॥ नै० ४।५१

२. नै० ४।५१ की टिप्पणी में।

३. यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः॥ का० प्र० १०। १६४

४. क्षितिगर्भधराम्बरालयैस्तलमध्योपरिपूरिणां पृथक्।
जगतां किल या खिलाद्भुताजनि सारैर्निजचिह्नधारिभिः॥ नै० २।८१

५. सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेणवा॥ का० प्र० १०।१६५

"अतिशय काम-पीड़ित होकर भी नल ने विदर्भ-राज से उनकी तनया न माँगी। मानीपुरुष प्राण तथा सुख का परित्याग कर देते हैं पर एक अयाचन महाव्रत को कभी नहीं छोडते।"[१]

यहाँ सामान्य (मानी-जनों के व्यवहार-वर्णन) के द्वारा विशेष (नलगत मानरक्षा) का समर्थन हुआ है।

एक अन्य उदाहरण दूत-नल से नल की प्राप्ति न होने पर प्राण-त्याग रूप दमयन्ती की प्रतिज्ञा के समर्थन-वाक्य से प्रस्तुत किया जाता है—

"जब विपत्ति के समय शास्त्र-सगत उचित कार्य किसी प्रकार रक्षा न कर सकें तो वर्जित कर्म भी कर लेना चाहिए। जिस समय राज-मार्ग मेघजल से पङ्किल हो जाता है, उस समय विद्वान् लोग भी कहीं-कहीं अन्य (बुरे) रास्ते से चले जाते हैं।"[२]

यहा विशेष (विद्वानों के कुपथ पर जाने रूप) द्वारा सामान्य (आपत्ति में निषिद्धाचरण) का समर्थन होता है।

विरोधाभास

जहाँ वास्तव में विरोध न रहने पर भी दो वस्तुओं में परस्पर विरोध कहा जाय वहाँ विरोध या विरोधाभास[३] अलङ्कार होता है। विरोध का यह आभास दस प्रकार का होता है। कही जाति का जाति, गुण, द्रव्य एव क्रिया के साथ, कहीं गुण का गुण, क्रिया और द्रव्यों के साथ, कही क्रिया का क्रिया तथा द्रव्यों के साथ और कहीं द्रव्य का द्रव्य के साथ।[४]

राजा नल की विशेषता बताते हुए कवि की उक्ति है—

"नल अपने तेज से अमित्र (शत्रु) जित् होते हुए भी मित्र-(सूर्य) जित् थे तथा चार (दूत) दृष्टि होकर भी विचार-(विवेक) दृष्टि रहे। मानों विपक्षी राजाओं की भाँति विरुद्ध स्वभावों ने भी नल के भय से परस्पर विरोध त्याग दिया था।"[५]

---

१. स्मरोपतप्तोऽपि भृशं न स प्रभुर्विदर्भराजं तनयामयाचत।
त्यजन्त्यसूञ्शर्म च मानिनो वरं त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम्॥ नै० १।५०

२. निषिद्धमप्याचरणीयमापदि क्रिया सती नावति यत्र सर्वथा।
घनाम्बुना राजपथे हि पिच्छिले क्वचिद् बुधैरप्यपथेन गम्यते॥ नै० ९।३६

३. विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः॥ का० प्र० १०।१६६

४. जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद् गुणैस्त्रिभिः।
क्रियाद्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेतितेदश॥ का० प्र० १०।१६७

५. प्रतीपभूपैरिव किं ततो भिया विरुद्धधर्मैरपि भेत्तृतोज्झिता।
अमित्रजिन् मित्रजिदोजसा स यद् विचारदृक्चारदृगप्यवर्तत॥ नै० १।१३

रुद्रट ने स्वभावोक्ति का जाति नाम रक्खा है और उसका लक्षण इस प्रकार किया है, "जिस वस्तु की लोक मे जैसी चिर-प्रसिद्ध संस्थिति अवस्थिति या अन्य क्रियादि हो उसको ठीक उसी प्रकार से कहना जाति[१] अलङ्कार कहा जाता है।

नैषध मे इस स्वभावोक्ति या जाति का मनोरम सौन्दर्य देखने को मिलता है। उदाहरणार्थ एक दो चित्र पर्याप्त होंगे। नल के करपञ्जर से मुक्त होने पर हंस की कुछ विहङ्गोचित क्रियाओं का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं—

"हंस ने अपने उत्फुल्ल-रोम शरीर को अनेक बार कँपाया तथा नल की कर-यन्त्रणा मे पड़ने के कारण अपने दन्तुर (ऊंचे नीचे हुए) पखों को चञ्चुपुट के विलेखन (खँरोच) द्वारा सुव्यवस्थित किया।"[२]

यहाँ पखे फुलाकर सारा शरीर हिलाना, तथा चञ्चुपुट से पखों को खरोचकर सम करना पक्षियों की अत्यन्त स्वाभाविक क्रिया है।

एक और उदाहरण हंस की कुण्डिनपुर-यात्रा के वर्णन मे देखने योग्य है। उस समय—

"वेग के कारण उसके पखों की गति से झंकार हो रहा था, जिससे अध.स्थित पक्षियों को श्येननिपात (बाज के झपट्टे) की शङ्का होती थी। अत वे अपनी गर्दन शीघ्रता से झुकाकर ऊपर की ओर एक आँख से देखते।"[३]

यहाँ ऊपर की ओर पक्षी के वेगजनित झंकार को सुन नीचे की ओर तिरछा ताकना अत्यन्त स्वाभाविक है।

व्याजस्तुति

जहाँ निन्दा-मुखेन स्तुति अथवा स्तुति-मुखेन निन्दा की जाय वहाँ व्याजस्तुति[४] नामक अलङ्कार होता है।

स्वयंवर सभा मे दमयन्ती के सङ्केत से उसकी सखी कीकटाधिप की अकीर्ति का वर्णन कर रही है—

---

१. संस्थानावस्थानक्रियादियद्यस्य यादृशं भवति।
लोकेचिरप्रसिद्धं तत्कथनमन्यथाजातिः॥ रुद्रट—काव्यालङ्कार ७।३०

२. अधुनीत खगः स नैकधा तनुमुत्फुल्लतनूरुहीकृताम्।
करयन्त्रणदन्तुरान्तरे व्यलिखच्चञ्चुपुटेन पक्षती॥ नै० २।२

३. विनमद्भिरधः स्थितैः खगैर्झटिति श्येननिपातशङ्किभिः।
स निरैक्षि दृशैकयोपरिस्यदझाङ्कारितपत्रपद्धतिः॥ नै० २।७०

४. व्याजस्तुतिर्मुखेनिन्दास्तुतिर्वा रूढिरन्यथा॥ का० प्र० १०।१६९

"इस नरेन्द्र की परार्द्ध से भी अधिक संख्या मे गिनी दुष्कीर्तियाँ कच्छपी के दूध से बने सागर के तट पर गूँगों के परस्पर वार्तालाप के समय, वन्ध्या के पुत्रों द्वारा अष्टमस्वर में गायी जाती है, और उन अपकीर्तियों को जन्मान्ध पुरुष देखता है कि उनका रूप घोर अन्धकार के समान है।"[1]

यहाँ अवस्तुभूत (काल्पनिक) अपकीर्तियों (निन्दा) के वर्णन द्वारा राजा की स्तुति गाई गई है।

स्तुति के द्वारा निन्दा का अत्यन्त सुन्दर उदाहरण मदन के प्रति दमयन्ती की इस उक्ति मे देखिए—

"हरिणलाञ्छन, अपने यश की नयी डुग्गी पिटवा, अपने जलनिधि वंश को समुज्ज्वल कर, अबला की हत्या करके पौरूषशाली बन, पर मेरी यह दुर्दशा करनी तो छोड दे!"[2]

यहाँ प्रशंसा के सभी उपकरणों से निन्दा ही फैलेगी।

सहोक्ति

जहाँ पर एक ही पद सह आदि शब्दों के संयोग से अनेकार्थ का बोधक होता है, वहाँ सहोक्ति[3] अलङ्कार होता है। दूत रूप मे नल इन्द्र-वरण का समर्थन करते हुए कहते है—

"चन्द्रमुखि, महेन्द्र का तुममे अनुरागहोने के कारण समस्त स्त्रियों मे अवज्ञा के साथ मेरा तुम्हारे प्रति जो महान् आदर-भाव था उसे तुमने स्वयं अपने प्रत्यक्ष कल्याण के प्रति विमुख होकर नष्ट कर दिया है।"[4]

यहाँ (सह) शब्द के योग के कारण अवहेलना द्वारा उन युक्तियों मे अनुराग का अभाव व्यक्त होता है।

---

१. अस्य क्षोणिपतेः परार्धपरया लक्षीकृताः संख्यया,
प्रज्ञाचक्षुरवेक्षमाणतिमिरप्रख्याः किलाकीर्तयः।
गीयन्ते स्वरमष्टमं कलयता जातेन वन्ध्योदरा-
न्मूकानां प्रकरेण कूर्मरमणीदुग्धोदधे रोधसि॥ नै० १२।१०६

२. मुखरय स्वयशोनवडिण्डिमं जलनिधेः कुलमुज्वलयाधुना।
अपि गृहाण वधूवधपौरुषं हरिणलाञ्छन मुञ्च कदर्थनाम्॥ नै० ४।५३

३. सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम्॥ का० प्र० १०।१७०

४. सहाखिलस्त्रीषु वहेऽवहेलया महेन्द्ररागाद्गुरुमादरं त्वयि।
त्वमीदृशि श्रेयसिसम्मुखेपितं पराङ्मुखी चन्द्रमुखि न्यवीवृतः॥ नै० ९।४०

एक अन्य उदाहरण स्मरोपतप्त नल के कानन-विहार के लिये तैयार होने के वर्णन से प्रस्तुत किया जाता है—"कान्ति मे मदन से भी बढकर नल ने उस समय अपने अभिप्राय-वेदी कुछ मित्रों के साथ (समम्) नगर के समीप में स्थित उपवन को देखने की इच्छा से भृत्यों को सवारी लाने की आज्ञा दी।"[1]

"यहाँ (समम्) के अर्थ से रहस्यवेदी वयस्यों की भी उपवन-विहार की इच्छा प्रकट होती है।

एक और उदाहरण दमयन्ती के चन्द्रमा के प्रति एक उपालम्भ से प्रस्तुत किया जाता है—

"स्मर, तूने शङ्कर के प्रति जो बाण उठाया था, उस बाण के साथ तू स्वय भी तुरन्त भस्म हो गया। अब तुझे अनङ्ग का वह बाण भी कोकिल के (पञ्चम) स्वर के रूप में अनङ्ग ही हुआ है। कोकिल का स्वर (जो पञ्चम स्वर माना जाता है) तुम्हारा पञ्चम बाण ही है।"[2]

यहाँ "सह" के शब्द-योग से मदन का भस्म होना, तथा उसके अर्थयोग से बाण का भी भस्म होना कह दिया जाता है।

विनोक्ति

जहाँ एक के बिना दूसरा अच्छा न लगे, अथवा एक के बिना दूसरा अच्छा ही लगे, वहाँ विनोक्ति[3] अलङ्कार होता है।

"नल का रूप बनाकर इन्द्र आदि चारों दिक्पाल स्वयवर सभा मे पहुच गए। किन्तु—

"नल के बिना, उनकी शोभा वाले दिव्यरत्नधारी चार प्रतिनिधियों के होने पर ही स्वयवर-सभा ऐसी प्रतीत होती थी, जैसे पारिजात के सत्यभामा के आँगन मे अतिथि होकर चले जाने पर, अन्य चार देव-वृक्षों से युक्त स्वर्गपुरी हो।"[4]

यहाँ नल के बिना स्वयवर-सभा की शोभा ही नही होती। इस प्रकार इसे विनोक्ति कहा जायगा।

---

१. अथश्रिया भर्त्सितमत्स्यलाञ्छनः समं वयस्यैः स्वरहस्यवेदिभिः।
पुरोपकण्ठोपवनं किलेक्षिता दिदेश यानाय निदेशकारिणः॥ नै० १।५६

२. सह तया स्मर भस्म झटित्यभूः पशुपतिं प्रति यामिषुमग्रहीः।
ध्रुवमभूदधुना वितनोः शरस्तव पिकस्वर एव स पञ्चमः॥ नै० ४।९४

३. विनोक्तिः सा विनान्येन यत्रान्यः सन्न नेतरः॥ का० प्र० १०।१७१

४. सभानलश्रीयमकैर्यमाद्यैर्नलं विनाभूद्धृतदिव्यरत्नैः।
भामाङ्गण-प्राघुणिके चतुर्भिर्देवद्रुमैर्द्यौरिव पारिजातैः॥ नै० १०।२४

भाविक

जहाँ भूतकाल के तथा भविष्यकाल के पदार्थ वर्तमानकाल के प्रत्यक्ष पदार्थ के समान प्रकट किए जाँय वहाँ भाविक अलङ्कार होता है।[१]

नल हंस से कहते हैं—

"वह त्रिभुवनमोहिनी मुझे शतश कर्णगोचर हुई है, पर तुम्हारे इस वर्णन से तो मानों मैंने उसे दृष्टिगोचर ही कर लिया।"[२]

यहाँ भूत की बात प्रत्यक्ष वर्तमान की भांति प्रकट की गयी होने के कारण भाविक अलङ्कार कहा जायगा।

काव्यलिङ्ग

जहाँ हेतु का कथन वाक्यार्थ अथवा पदार्थ रूप से किया जाय वहाँ काव्यलिङ्ग[३] अलङ्कार होता है।

पदार्थ के हेतु होने का एक उदाहरण नल के प्रति दमयन्ती के इस प्रशसात्मक कथन मे दिया जाता है—

"अगस्त्य के चुल्लू मे समुद्र कैसे आ गया?. इस प्रकार की असम्भावना अब आप को सोचकर मेरे मन में नही रह गयी, क्योंकि आप द्वारा समुद्र की गम्भीरता तथा महत्ता के ले लिए जाने पर वह सरलता से अगस्त्य के चुल्लू मे आ गया होगा।"[४]

यहा समुद्र के चुल्लू मे समाने (ममौ) का हेतु समुद्र का विशेषण आत्तगाम्भीर्य (जिसकी गम्भीरता ले ली गयी) यह पद है।

वाक्यार्थ के हेतु होने का उदाहरण दूत नल की दमयन्ती से इन्द्रविषयक इस उक्ति में मिलता है।

"ऐरावत हाथी के कुम्भस्थल ही जिसके कठिन तथा पीन स्तन हैं, ऐसी पूर्व दिशा के स्वामी (इन्द्र) ही क्या तुम्हे अभीष्ट हैं? मेरे भी विचार से उस सहस्रनेत्र वाले के सिवा कोई अन्य तुम्हारी अङ्गशोभा को देने में समर्थ भी नही।"[५]

---

१. प्रत्यक्षा इव यद् भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः। तद्भाविकम्॥—का प्र० १०।१७३

२. शतशः श्रुतिमागतैव सा त्रिजगन्मोहमहौषधिर्मम।
अमुना तव शंसितेन तु स्वदृशैवाधिगतामवैमि ताम्॥ नै० २।५४

३. काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता॥ का० प्र० १०।१७४

४. सेयं न धत्तेऽनुपपत्तिमुच्चैर्मच्चित्त-वृत्तिस्त्वयि चिन्त्यमाने।
ममौ सभद्रं चुलुके समुद्रस्त्वयात्त-गाम्भीर्य-महत्त्वमुद्रः॥ नैः ८।४५

५. मतः किमैरावतकुम्भकैतव-प्रगल्भपीनस्तन-दिग्धवस्तव।
सहस्र-नेत्रान्न पृथङ्ग मते मम त्वदङ्गलक्ष्मीमवगाहितुं क्षमः॥ नै० ९।५२

यहाँ श्लोक का उत्तरार्द्धरूप वाक्यार्थ पूर्वार्द्धरूप वाक्यार्थ का समर्थन करने के कारण हेतु रूप है।

उदात्त

जहाँ किसी वस्तु की सम्पत् (बडप्पन) का वर्णन किया जाय, अथवा जहां किसी अन्य वर्ण्य विषय के प्रसङ्ग मे किसी अन्य महापुरुष के महत्त्व का गौण रूप से वर्णन किया जाय वहाँ उदात्त अलङ्कार होता है।[1]

नैषध में उदात्त अलङ्कार के अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं, क्योंकि विषय ही महान् वर्णन करने का है। कुण्डिनपुर मे राज-समाज के एकत्र होने पर श्रीहर्ष की उक्ति है:—

"जिस प्रकार सागर अगस्त्य के हाथ मे, तथा समस्त विश्व विष्णु के उदर मे समा गया, उसी प्रकार इसकी शङ्का ही नही की जा सकती कि वह विशाल राज-समाज विदर्भराज के उस नगर में न समाया।"[2]

यहां विदर्भेन्द्रपुर की महत्ता का वर्णन किया गया है।

एक अन्य उदाहरण नल के विलास-भवन के वर्णन मे मिलता है।

"प्रासाद का मणिखचित भूपृष्ठ सर्वप्रथम कर्पूर-सुवासित जल से धोया गया, फिर उस पर कुङकुम तथा कस्तूरी का लेप किया गया, और अन्त मे नल-दमयन्ती के चलने वाले मार्ग पर पर्वतीय सुगन्धित पुष्पों की मालाये फैलायी गई।"[3]

भवन की महती समृद्धि का वर्णन होने के कारण यहाँ उदात्त अलङ्कार है।

समुच्चय

जहाँ प्रस्तुत कार्य की सिद्धि के हेतु के उपस्थित रहने पर भी (उसकी सिद्धि के लिए) और भी अनेक कारण कहे जायं, वहाँ समुच्चय अलङ्कार होता है।[4]

दमयन्ती के लिए भूलोक पर आये हुए देवों को जिस समय नल दिखायी पडे, उस समय "वैसी (अद्भुत) सुन्दरी वधू के वरने योग्य (नल के) वे

---

१. उदात्तं वस्तुनः सम्पत्, महतां चोपलक्षणम्॥ का० प्र० १०।१७६, १७७

२. अङ्के विदर्भेन्द्रपुरस्य शङ्के न संममौ नैष तथा समाजः।
यथापयोराशिरगस्त्य-हस्ते यथा जगद्वा जठरे मुरारेः॥ नै० १०।३०

३. कुङ्कुमैणमदपङ्कलेपिताः क्षालिताश्च हिमबालुकाम्बुभिः।
रेजुरध्वततशैलजस्रजो यस्य मुग्धमणि-कुट्टिमा भुवः॥ नै० १८।७

४. तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत् तत्करं भवेत्॥ समुच्चयोऽसौ॥ का० प्र० १०।१७८

अलङ्कार, वह (स्वयवर का) समय, तथा रथ का वह कुण्डिनपुर की ओर ले जाने वाला मार्ग, इन सब ने नल के कार्य का उन देवों से स्पष्ट विवरण दे दिया (कि ये नल है, और स्वयवर मे जा रहे हैं)।"[1]

यहाँ नल के स्वयवर मे जाने के उद्योग के लिये प्रमाण उनका भूषण, वह अवसर तथा कुण्डिनपुर की ओर जाने वाला रास्ता, इनमे से किसी एक ही को देखने से मिल सकता है, फिर यहा तो अनेक है। अतः यह समुच्चय अलङ्कार हुआ।

पर्याय

यदि एक ही वस्तु क्रमशः अनेक में पाई जाय, अथवा उत्पन्न की जाय, एव अनेक वस्तुएँ एक ही (आधार) मे क्रमपूर्वक (काल-भेद) से मिले, अथवा की जायं तो पर्याय अलङ्कार होता है।[2]

दूत रूप मे गुप्त नल ने कुण्डिनपुर के अन्त पुर मे जिस समय प्रथम बार दमयन्ती को देखा उस समय—

"नल की आखे सर्वप्रथम प्रिया के प्रत्यवयव पर गई, जहा उन्हे आनन्द-सुधाब्धि लहराता मिला, और जहा अवगाहन करके उनमे प्रमोदाश्रु की झड़ी लग गई।"[3]

यहा नल के नेत्र क्रम से दमयन्ती के प्रत्यङ्ग मे, आनन्द-सुधासागर मे तथा प्रमोदाश्रु में निमग्न होते है। अतः इसमे एक का अनेक में पाया जाने वाला पर्याय अलङ्कार होगा।

एक अन्य उदाहरण, जिसमें अनेक का एक में कथन किया जाय, दमयन्ती के स्वयंवर-मण्डप में प्रवेश करने के वर्णन से दिया जा सकता है—

"दर्शकों का कौतूहल-सागर सर्व-प्रथम आगे चलने वाली दासियों को देखकर उत्पन्न हुआ, फिर क्रमानुसार दृष्टि-पथ पर आने वाली दूसरी सखियों को देखकर और बढा, तथा अन्त में दमयन्ती के अङ्गों के सौन्दर्य को देखकर उमड़ पडा।"[4]

---

१. तेषु तद्विधवधूवरणार्हं भूषणं, स समयः, स रथाध्वा।
तस्य कुण्डिनपुरं प्रतिसर्पन् भूपतेर्व्यवसितानि शशंसुः॥ नै० ५।६७

२. एकं क्रमेणानेकस्मिन् पर्यायोऽन्यस्ततोऽन्यथा॥ का० प्र० १०।१८०,१८१

३. प्रतिप्रतीकं प्रथमं प्रियायामथान्तरानन्दसुधासमुद्रे।
ततः प्रमोदाश्रुपरम्परायां ममज्जतुस्तस्य दृशौ नृपस्य॥ नै० ७।२

४. दासीषु नासिरचरीषु जातं स्फीतं क्रमेणालिसु वीक्षितासु।
स्वाङ्गेषु रूपोत्थमथाद्भुताब्धिमुद्वेलयन्तीमवलोककानाम्॥ नै० १०।९३

यहाँ अद्‌भुत-रस के सागर (एक ही वस्तु) मे क्रम से जातत्व, स्फीतत्व तथा रूपोत्थत्व तीनों कार्यो का कथन किया गया है। विद्याधर ने तो इस श्लोक मे केवल अतिशयोक्ति अलङ्कार माना है, किन्तु मल्लिनाथ ने पर्याय अलङ्कार भी माना है।[1]

अनुमान

जहाँ साध्य (सिद्ध करने योग्य वस्तु) और साधक (सिद्ध करनेवाले हेतु) का कथन किया जाय, वहाँ अनुमान-नामक अलङ्कार होता है।[2]

हस दमयन्ती के मुख-सौन्दर्य का वर्णन करता हुआ कहता है :—

"सुषमा की परीक्षा के समय दमयन्ती के मुख से समस्त कमल परास्त हो गए। स्पष्ट है कि आज भी वे कमल, उसी पराजय के कारण जल से बाहर नही निकलते।"[3]

यहाँ पद्मों का सलिलोन्मज्जन देखकर दमयन्ती-मुख से पराजय का अनुमान किया जाता है।

मदनव्यथिता दमयन्ती की दशा का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष अनुमान अलङ्कार का उपयोग करते है :—

"योषित् (स्त्री)-हृदय मृदु होता है—यह सहज धर्म दमयन्ती मे क्यों न हो? कुसुमों से ही उसके हृदय को पीडित कर चतुर कामदेव ने उसे स्पष्ट कर दिया।"[4]

यहाँ हृदय को कुसुमपीडित देखकर उसके सहजस्वरूप (कुसुम से भी मृदु होने) का अनुमान किया जाता है।

अनुमान अलङ्कार की न्यायदर्शन के अनुमान की भाति पूरी बन्दिश स्वयंवर मे पुष्कर-द्वीप के स्वामी राजा सवन के वर्णन को सुन चुकने के बाद दमयन्ती की प्रतिक्रियात्मक चेष्टाओं के इस चित्रण मे मिलती है।

"अत्यन्त कुशल दमयन्ती ने अपनी भ्रूलताओं के स्पन्दन तथा मुख-मुद्रा के परिवर्तन द्वारा राजा सवन के प्रति अपनी अवज्ञा को व्यक्त कर दिया। इधर उस नरेश की भी कान्ति अत्यन्त धूमिल हो गयी। मानों दमयन्ती को न पा सकने

---

१. अत्रैकस्मिनद्‌भुताब्धौ क्रमेणानेकेषां जातत्वस्फीतत्वोद्वेलत्वानां वृत्तिकथनात् पर्यायालङ्कार-भेदः इति जीवातुः॥ नै० १०।९२ की टिप्पणी।

२. अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयोर्वचः॥ का० प्र० १०।१८२

३. सुषमाविषये परीक्षणे निखिलं पद्ममभाजि तन्मुखात्।
अधुनापि न भङ्गलक्षणं सलिलोन्मज्जनमुज्झति स्फुटम्॥ नै० २।२७

४. प्रकृतिरेतुगुणः स न योषितां कथमिमां हृदयं मृदु नाम यत्।
तदिषुभिः कुसुमैरपि दुन्वता सुविवृतं विबुधेन मनोभुवा॥ नै० ४।२३

के कारण राजा के हृदय में जो सन्ताप हुआ वह धूमिलता उसी आग का बाह्य चिह्न थी।"[1]

यहाँ दमयन्ती का भ्रू-स्पन्दन तथा मुखाकृति-भङ्गी से राजा के प्रति अनादर का तथा राजा की मुख-मलिनता से उसके हृदयस्थ ताप का अनुमान सहज मे हो जाता है।

परिकर

जहाँ अभिप्राय-विशिष्ट विशेषणों के साथ (विशेष्य) की उक्ति की जाती है, वहाँ परिकर नामक अलङ्कार होता है।[2]

इस उक्ति मे परिकर का सुन्दर उदाहरण देखिए :—

"शस्त्र एव शास्त्र मे पारङ्गत मदन की कान्तिवाले, श्री मे कुबेर को भी पराजित करने वाले, सत्कुलोत्पन्न (कुलज) राजकुमार (कुमार) रथों पर स्वयंवर में आने लगे।"[3]

इसमे राजाओं के लिए 'कुलज', 'कुमार' आदि जितने विशेषण प्रयुक्त हुए है वे सभी उनकी वर-रूप योग्यता को ही सिद्ध करते है।

एक अन्य अत्यन्त सुन्दर उदाहरण सरस्वती द्वारा स्वयवर मे मथुराधिनाथ के किए गए वर्णन से इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है:—

"सुन्दरि, वृन्दावन मे महाराज पृथु के साथ निर्भय वन विहार का आनन्द लो। समीप मे ही गोवर्धन पर्वत पर रहने वाले मयूरों के कारण वहा सापो का कोई भय नहीं रह गया है। सुगन्धित पुष्पों से वृन्दावन अत्यन्त आमोदित हो रहा है।[4]"

यहाँ श्लोकार्ध मे वृन्दावन के तीनों विशेषण (१ मयूरों के कारण सर्प रहित २. सघन, तथा ३. सुगन्धित पुष्पों से पूर्ण) निःशङ्क विहार-सुख करने में अत्यन्त सार्थक है।

---

१. भ्रूवल्लिवेल्लितमयाकृतिभङ्गिमेषा लिङ्गं चकार तदनादरणस्यविज्ञा।
राज्ञोऽपि तस्य तदलाभज-तापवह्निश्चिह्नी बभूव मलिनच्छविभूमधूमः॥
नै० ११।३३

२. विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः॥ का० प्र० १०।१८३

३. रथैरथायुः कुलजाः कुमाराः शस्त्रेषु शास्त्रेषु च दृष्टपाराः।
स्वयंवरं शम्बरवैरिकायव्यूहश्रियः श्रीजितयक्षराजाः ॥ नै० १०।१

४. गोवर्धनाचलकलापिचयप्रचारनिर्वासिताहनि घने सुरभिप्रसूने।
तस्मिन्ननेन सह निर्विश निर्विशङ्कं वृन्दावने वनविहारकुतूहलानि॥

व्याजोक्ति

जहाँ कोई वस्तु प्रकट तो हो गई हो, किन्तु छल से उसको छिपाया जाय, वहाँ व्याजोक्ति अलङ्कार होता है[१]—

विवाह के पश्चात् नववधू के साथ कुण्डिनपुर से नल की विदाई के प्रसग मे कवि नल द्वारा दमयन्ती को रथ पर बैठाये जाने का वर्णन इस प्रकार करता है—

"वधू को छूने का अधिकार दूसरे को है नही, यह छोटी है, और रथ ऊचा है—यह कहते हुए नल ने दमयन्ती को स्वय उठाकर रथ में चढ़ाया। लोगों की दृष्टि मे मानों (उठाने में) उसका आलिङ्गन नही किया।"[२]

यहाँ वधू को कोई छू नहीं सकता, वधू छोटी पड़ती है, रथ ऊचा है, सारी उक्ति (उठाने मे होने वाली) आलिङ्गन-क्रिया को छिपाने का बहाना-मात्र है।

परिसंख्या

जो कोई वात पूछी गयी हो, या न पूछी गई हो, परन्तु शब्दों द्वारा प्रकट की गई हो तथा किसी अन्य प्रयोजन के न होने से उसके तुल्य किसी अन्य वस्तु के अपलाप रूप में परिणित हो वहाँ परिसख्या नामक अलङ्कार होता है।[३]

स्वयवर मे दमयन्ती से मलय-नरेश का परिचय देती हुई सरस्वती कहती है—

"सौ वीरों को एक साथ मारने वाले शस्त्र को धारण करने वाले इस राजेन्द्र के सम्मुख सौ सशस्त्र राजाओं की भी क्या चल सकती है? लक्षभेद करने वाले इसका एक लाख भी क्या कर सकते है? नेत्रों से ही पद्मों को जीतने वाले के सामने पद्मसंख्या-परिमित भी शत्रु क्या वीरता दिखा सकते है? शत्रु-मात्र का उन्मूलन करने वाले का शत्रुओं को परार्ध संख्या भी कुछ नही बिगाड़ सकती है। अतः

---

१. व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम्॥ का० प्र० १०।१८४

२. परस्य न स्प्रष्टुमिमामधिक्रिया प्रिया शिशुः प्रांशुरसाविति ब्रुवन्।
रथे स भैमीं स्वयमध्यरूरुहत्तत्किलाश्लिक्षदिमां जनेक्षितः॥ नै० १६।११४

३. किञ्चित्पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत् प्रकल्प्यते।
तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता॥ का० प्र० १०।१८५

शत्रुओं को परार्ध सख्या के भी आगे की किसी सख्या की शरण लिए विना कोई चारा नही।"[१]

यहाँ विना प्रश्न किए वस्तु का शब्दों द्वारा अपलाप किया गया है।

सार

जहाँ अनेक वस्तुओं मे क्रम से एक के बाद एक का उत्कर्ष बताया जाय, एवं प्रत्येक वस्तु को अपने समुदाय में भी श्रेष्ठ बताया जाय, वहाँ सार अलङ्कार होता है।[२] रुय्यक ने सार का नाम 'उदार' रक्खा है, तथा पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर का उत्कर्ष बताना इसका लक्षण किया है।[३]

दमयन्ती के प्रति इन्द्र के लिए प्रस्ताव करती हुई दूती की इस उक्ति मे सार का अत्यन्त मनोरम उदाहरण देखने को मिलता है—

"चौदहों लोकों मे स्वर्ग सर्वोपरि है। स्वर्ग मे भी अदितिपुत्र देवगण सर्वश्रेष्ठ है। उन आदितेयों मे भी महेन्द्र सबसे महान् है। सुन्दरि, ऐसे महेन्द्र भी जब अनुरागवश तुम्हारे किङ्कर बनने की प्रार्थना करते है, तो क्या इससे भी बडे महत्त्व का कोई पद होगा?"[४]

यहाँ लोकों मे स्वर्ग को, स्वर्ग मे अदितिपुत्र देवगण को, देवों में महेन्द्र को उत्तरोत्तर उत्कृष्ट बताया गया है।

समाधि

जहाँ कतिपय अन्य कारणों के योग से कार्य का होना सुगम हो जाय, वहाँ समाधि अलङ्कार होता है।[५]

---

१. राज्ञामस्य शतेन किं कलयतो हेतिं शतघ्नीं कृतं।
लक्षैर्लक्षभिदो दृशैव जयतः पद्मानि पद्मैरलम्॥
कर्तुं सर्वपराच्छिदः किमपि नो शक्यं परार्द्धेन वा।
तत्संख्यापगमं विनास्ति न गतिः काचिद्वतैतद्द्विषाम्॥ नै० १२।५८

२. यत्र यथा समुदायाद् यथैकदेशं क्रमेण गुणवदिति।
निर्धार्यते परावधि निरतिशयं तद् भवेत् सारम्॥ रुद्रट—का० लं० ७।९६

३. उत्तरोत्तरमुत्कर्षणमुदारः—अ० सर्वस्व

४. लोकस्रजि द्यौर्दिवि चादितेया अप्यादितेयेषु महान् महेन्द्रः।
किं कर्तुमर्थी यदि सोऽपि रागाज्जागर्ति कक्षा किमतः परापि॥ नै० ६।८१

५. समाधिः सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगतः॥ का० प्र० १०।१९२

नल के विवाहोचित शृङ्गार का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं —

"नल ने समस्त शरीर में पहिने हुए आभूषणों के रत्नों में अपना स्वरूप-प्रतिबिम्ब देखा था, अतः सेवाकुशल भृत्यों द्वारा रूप देखने के लिए दर्पण लाना व्यर्थ ही रहा।"[१]

नल के अपने अलंकृत रूप को देखने का कार्य मणिमण्डल के द्वारा ही सुकर हो जाता है। अतः यहां समाधि अलंकार है।

सम

जहाँ दो वस्तुओं का संयोग यथोचित जानकर स्वीकार कर लिया जाय वहाँ सम अलङ्कार होता है।[२]

हंस दमयन्ती को नल की वधू होने के सर्वथा उपयुक्त बताते हुए कहता है —

"निशा से शशी का, उमा से शिव का, तथा रमा से विष्णु का संयोग कराने से यह सिद्ध है कि परस्पर योग्य का संयोग कराने में विधि का प्रयास सर्वथा स्वारसिक (स्वयं समुचित) ही होता है।"[३]

यहाँ निशा-शशाङ्क का, शिवा-गिरीश का तथा श्री-हरि का संयोग अत्यन्त उचित हुआ है।

सम का एक अन्य उदाहरण हंस की इस उक्ति में पाया जाता है :—

"हे कृशाङ्गि, नल के महान् कौशल (वैदग्ध) की ज्ञापक पत्रावली आदि की सुन्दर रचना, तुम्हारे पीन-पयोधरों पर ही पूर्ण विकसित होगी।"[४]

यहाँ पत्र-रचना तथा पीन-पयोधरों का संयोग अत्यन्त उचित प्रतीत होता है।

विषम

जहाँ १—अति-वैधर्म्य के कारण पूरा पूरा सम्बन्ध ही न बैठे, अथवा २—कर्ता की इष्ट-सिद्धि न हो, प्रत्युत एक अनर्थ खडा हो जाय, या फिर ३—कार्य

---

१. घने समस्तापघनावलम्बिनां विभूषणानां मणिमण्डले नलः।
स्वरूपलेखामवलोक्य निष्फलीचकार सेवाचणदर्पणार्पणाम्॥ नै० १५।७०

२. समं योग्यतया योगो यदि सम्भावितः क्वचित्॥ का० प्र० १०।१९३

३. निशा शशाङ्कं शिवया गिरीशं श्रिया हरिं योजयतः प्रतीतः।
विधेरपि स्वारसिकः प्रयासः परस्परं योग्यसमागमाय॥ नै० ३।४८

४. स्तनद्वये तन्वि! परं तवैव पृथौ यदि प्राप्स्यति नैषधस्य।
अनल्प-वैदग्ध्य-विवर्धिनीनां पत्रावलीनां वलनासमाप्तिम्॥ नै० ३।११८

के गुण से कारण का गुण विरुद्ध पडे, अथवा ४—कार्य को क्रिया के साथ कारण की क्रिया का विरोध हो, तो इन चार दशाओं मे 'विषम' नामक अलङ्कार होता है[१]—

हस के इस करुण विलाप मे तृतीय प्रकार के विषमालङ्कार का सुन्दर उदाहरण मिलता है—

"हे विधे! तुम्हारे जिन कर-कमलों ने प्रिया की शीतलता तथा मृदुलता को बनाया उन्हीं से मेरे विषय में, 'अपनी प्रिया से वियुक्त होओगे,' इस प्रकार की क्रूर निष्ठुराक्षरा लिपि कैसे निकली?"[२]

यहाँ मृदुत्व और शीतत्व के जनक पाणि-पङ्कज (कारण) से विरुद्ध दाहक एवं कठिन लिपि (कार्य) की उत्पत्ति होती है, जो "कारणगुण" कार्य-गुणों के जनक होते है", इस सिद्धान्त के विरुद्ध पडती है।

विषम के प्रथम भेद का उदाहरण दमयन्ती से प्रेमोद्रेक में सोन्माद कही हुई नल की इस उक्ति मे द्रष्टव्य है—

"इतनी अधिक प्रभुता के साथ मेरे ऊपर अनुग्रह करो, या न करो, पर मेरे प्रणाम मात्र को स्वीकार करने मे तुम्हे क्या श्रम पड़ता है? कहाँ तो याचकों के लिए कल्पलता बनती हो और कहा मेरी ओर दृष्टि डालने में भी कंजूसी?"[३]

यहाँ "कहा कल्पलता और कहाँ यह बद्धमुष्टिता (कंजूसी)" दोनों का अति-वैधर्म्य होने के कारण कोई सम्बन्ध ही नहीं बैठता है।

द्वितीय प्रकार के विषम का एक अन्य उदाहरण नल के राज्य मे पहुँचे हुए कलि की आकुलताओं से उद्धृत किया जाता है—

"कलि किसी जिन-मतावलम्बी की खोज मे था, और पाया ब्रह्मचारी का अजिन (मृगचर्म), चाहता था बौद्ध-क्षपणक और पाया राजसूय-यज्ञ के पासे में दांव पर रक्खा हुआ धन (अक्षपण)।"[४]

---

१. क्वचिद्यदति-वैधर्म्यान्नश्लेषोघटनामियात्।
कर्तुः क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद् भवेत्॥
गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये।
क्रमेण च विरुद्धे यत् स एष विषमो मतः॥ का० प्र० १०।१९४

२. कथं विधातर्मयि पाणिपङ्कजात्तवप्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः।
वियोक्ष्यसे वल्लभयेति निर्गता लिपिर्ललाटन्तपनिष्ठुराक्षरा॥ नै० १।१३८

३. प्रभुत्वभूम्नानुगृहाण वा न वा प्रणाममात्राधिगमेऽपि कः श्रमः।
क्व याचतां कल्पलतासि मां प्रति क्व दृष्टिदाने तव बद्धमुष्टिना॥ नै० ९।१०९

४. अपश्यज्जिनमन्विष्यन्नजिनं ब्रह्मचारिणाम्।
क्षपणार्थी सदीक्षस्य स चाक्षपणमैक्षत॥ नै० १७।१८९

यहाँ कर्ता (कलि) को अपनी अन्वेषणक्रिया का फलरूप अभीष्ट पदार्थ (जिन, क्षपण) तो मिलता नहीं, प्रत्युत अनर्थ रूप (अजिन, अक्षपण) से मुठभेड़ हो जाती है।

इसी का एक अत्यन्त सुन्दर उदाहरण नल से दमयन्ती की सखी द्वारा कहे गए दमयन्ती के विरह प्रलापों से उद्धृत किया जाता है--

"चन्द्रमा अपनी किरणों से जलाकर मेरे शरीर के भस्म से व्यर्थ ही अपने कलङ्क को माजना चाहता है। क्या इसी से वह तुम्हारे मुख का पद पा जायगा? स्त्रीवध का एक अन्य कलङ्क तो उसे लग ही जायगा।"[1]

यहाँ कर्ता (चन्द्रमा) अपना कलङ्क तो दूर न कर सकेगा, ऊपर से उसे स्त्रीवध का पाप लग जायगा।

प्रत्यनीक

जहाँ कोई अपने शत्रु को हानि पहुँचाने मे तो असमर्थ हो, किन्तु किसी अन्य सम्बन्धी का तिरस्कार करे, जिससे फलत. प्रतिपक्ष की बलवत्तारूप स्तुति सिद्ध होती है, वहाँ प्रत्यनीक नामक अलङ्कार होता है।[2]

दमयन्ती की सखी नल को उनके प्रति कहे गए दमयन्ती के अनुराग-वचन सुना रही है —

"तुम्हारे मुख ने चन्द्रमा को जीत लिया है, तथा तुम्हारी कान्ति से काम पराजित है। तो क्या तुम्हारी समझ कर ही वे (चन्द्रकाम) मेरे वध की प्रतिज्ञा किए है। तब तो मेरी बाजी है। देवगण जो मन में सोचते हैं वह कभी निष्फल नहीं होता—देवों ने यदि मुझे तुम्हारी समझा तो मैं तुम्हारी होकर रहूँगी?"[3]

यहाँ चन्द्र तथा मदन अपने प्रति-पक्षी नल का तो कुछ अपकार कर नहीं सकते, अतः उनकी अपनी दमयन्ती का ही वध करने मे तत्पर हुए हैं।

---

१. निजांशु-निर्दग्धमदङ्गभस्मभिर्मुधा विधुर्वाञ्छति लाञ्छनोन्मृजाम्।
त्वदास्यतां यास्यति तावतापि किं वधूवधेनैव पुनः कलङ्कितः॥ नै० ९।१४६

२. प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्तुं तिरस्क्रिया।
या तदीयस्य तत्स्तुत्यै प्रत्यनीकं तदुच्यते॥ का० प्र० १०।१९६

३. जितस्त्वयास्येन विधुः स्मरः श्रियाकृतप्रतिज्ञौ मम तौ वधे कुतः।
तवेति कृत्वा यदि तज्जितं मया न मोघसङ्कल्पधराः किलामराः॥ नै० ९।१४५

मीलित

जहाँ अपने सहज अथवा कारण-विशेष से उत्पन्न किसी साधारण गुण से एक वस्तु किसी अन्य वस्तु से छिपा दी जाय, वहाँ मीलित नामक अलङ्कार होता है।[1]

नल-दमयन्ती के विवाह का वर्णन करता हुआ कवि वर-वधू का चित्रण करता है—

"सात्त्विक भाव के उदय होने के कारण वर-वधू दोनों के हाथ पसीज उठे थे, जिससे बड़ी लज्जा हो रही थी, किन्तु सकल्प के जल से वह पसीना छिप गया, और धूमपङ्क्ति पहुंच कर स्वय उनके स्नेह के आँसुओं का कारण बन गयी।"[2]

यहाँ सहज स्वेद तथा अश्रुका क्रमश आगन्तुक दानजल से तथा धूम से उत्पन्न अश्रुसे तिरोधान हो जाता है।

स्मरण

जहाँ पूर्वानुभूतपदार्थ की, उसी के समान अन्य पदार्थ के दिखायी पडने पर, स्मृति हो आती है वहाँ स्मरणालङ्कार होता है।[3]

हस नल के सम्मुख दमयन्ती की प्रशसा करते हुए कहता है—

"राजन्, तुम्हारे इस परम सौन्दर्य ने आज मेरे उस पूर्वसस्कार को पुन. प्रबुद्ध कर दिया, जिससे चिर अवलोकित भी वह सुहासिनी पुन· मेरे स्मृति-पथ पर आ गई।"[4]

---

१. समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते।
निजेनागन्तुना वापि तन्मीलितमितिस्मृतम्॥ का० प्र० १०।१९७

२. अपह्नुतः स्वेदभरः करे तयोस्त्रपाजुषोर्दान-जलैर्मिलन्मुहुः।
दृशोरपिप्रस्नुतमस्यसात्त्विकं घनैः समाधीयत धूमलङ्घनैः॥ नै० १६।४२

३. यथानुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः—स्मरणम्॥ का० प्र० १०।१९९

४. अनया तव रूपसीमया कृतसंस्कारविबोधनस्य मे।
चिरमप्यवलोकिताद्य सा स्मृतिमारूढ़वती शुचिस्मिता॥ नै० २।४३

(वस्तुतः यह पद्य काव्य-प्रकाश, अ० सर्वस्व और साहित्यदर्पण के लक्षणानुसार तो स्मरण का उदाहरण नहीं होगा, और न अप्पयदीक्षित के लक्षण मे 'सादृश्यमूला' विशेषण भी उसके लिए पर्याप्त होगा, जैसा कि उनके दोनों उदाहरणों के विषय मे दिए गए विचार से समझ पड़ता है। यह तो 'कृत-संस्कारविबोधनस्य में' के वाच्य के अनुसार पण्डितराज के 'सादृश्यज्ञानोद्‌बुद्ध संस्कारप्रयोज्यं स्मरणं स्मरणालङ्कारः' इस लक्षण तथा अप्पयदीक्षित, अलं० सर्वस्व और रत्नाकर के पण्डितराजकृत खण्डन के अनुसार ही स्मरण का उदाहरण होता है।)

यहाँ नल की रूप-पराकाष्ठा को देखकर दमयन्ती के सर्वोत्तम रूप का स्मरण हो आता है। स्मरण का एक अन्य उदाहरण स्वयंवर में सरस्वती-कृत कुशद्वीप-वर्णन से दिया जाता है—

"सुन्दरि, मन्दराचल तुम्हारे स्तनों को देखकर ऐरावत के गण्डस्थलों की याद करेगा, तुम्हारे मृदुल करों को देखकर कल्पवृक्ष के कोमल किसलयों को सोचेगा तथा तुम्हारे अभिराम मुख को देखकर वह चन्द्रमा का ही रह रह कर स्मरण करेगा—क्योंकि उसने इन वस्तुओं को सागर-मन्थन के समय ही देखा था।"[१]

यहाँ पर कवि ने दमयन्ती के विशेष अङ्गों को देखकर मन्दराचल द्वारा समुद्र-मन्थन के समय उत्पन्न 'इभकुम्भ', 'कल्पवृक्षपल्लव' तथा चन्द्रमा का स्मरण किया जाना कल्पित किया है, अतः इसे स्मरणालङ्कार कहा जायगा।

भ्रान्तिमान्

जहाँ अप्रस्तुत पदार्थ के तुल्य किसी प्रस्तुत पदार्थ को देखकर उस अप्रस्तुत का (भ्रान्तिपूर्ण) ज्ञान हो वहाँ भ्रान्तिमान् अलङ्कार होता है।[२] इसका एक अत्यन्त सुन्दर उदाहरण स्वयंवर में सरस्वती-कृत वासुकि के वर्णन को सुनते समय दमयन्ती तथा वासुकि के भृत्यों की शारीरिकी प्रतिक्रिया के इस वर्णन में मिलता है—

"वासुकि के फनफनाते हुए फणों से भय के कारण दमयन्ती के कम्प तथा रोमाञ्च को देखकर उसे सात्त्विक भाव का उदय समझ कर प्रसन्नता से नृत्य करने वाले अपने भृत्यों को सर्पराज ने लज्जित होकर नाचने से मना किया।"[३]

यहाँ दमयन्ती के भय-मूलक कम्प तथा पुलक को वासुकि के भृत्यों ने सात्त्विक (शृङ्गारमूलक) भाव समझने की भ्रान्ति की।

भ्रान्ति का एक अन्य उदाहरण जम्बूद्वीप के प्रसिद्ध विशाल जम्बू वृक्ष के वर्णन में मिलता है—

---

१. ऐतेन ते स्तनयुगेन सुरेभकुम्भौ पाणिद्वयेन दिविषद्द्रुमपल्लवानि ।
आस्येन स स्मरतु नीरधिमन्थनोत्थं स्वच्छन्दमिन्दुमपि सुन्दरि मन्दराद्रिः ॥
नै० ११।६३

२. भ्रान्तिमान् अन्यसंवित् तत्तुल्यदर्शने ॥ का० प्र० १०।२०४

३. तद्विस्फुरत्फणविलोकनभूतभीतेः कम्पं च वीक्ष्य पुलकं च ततोऽनुतस्याः ।
सञ्जातसात्त्विकविकारधियः स्वभृत्यान्नृत्यान्नयषेधदुरगाधिपतिर्विलक्षः ॥
नै० ११।२१

"नवयौवने, जम्बूद्वीप का प्रधान जम्बूवृक्ष अत्यन्त मनोहर है। उसके विशाल शिलाखण्ड-सदृश काले फलों को देखकर सिद्धाङ्गनाएँ भ्रम से अपने स्वामियों से पूछती है कि, ये हाथियों के झुण्ड किस मार्ग से इस वृक्ष पर चढ गए है।"[1]

यहाँ सिद्धस्त्रियों को जम्बू-फल मे दन्ती (हाथी) की भ्रान्ति होने के कारण भ्रान्तिमान् अलङ्कार है।

भ्रान्तिमान् का अत्यन्त मनोरम उदाहरण कलिङ्गाधिपति के इस वर्णन मे है—

"इन कलिङ्ग-राज के भय से शत्रुरमणी सारा दिन पर्वत कन्दरा मे व्यतीत करती। रात्रि होने पर रमणी अपने शिशु के साथ कन्दरा के बाहर आती है। आकाश में स्वच्छ चन्द्रमा प्रकाशमान् है, बालक समझता है वह उसके खिलौने का हस है। वह अपने खिलौने के लिए हठ करने लगता है। रमणी शिशु के हठ से तथा अपनी विपत्ति को सोचकर बहुत रोती है। कपोलों पर बहती अश्रुधारा मे बालक को अपने चन्द्र-हस का प्रतिबिम्ब दिखायी पडता है, वह अपने खिलौने को समीप मे पाकर प्रसन्न हो जाता है। रमणी शिशु के इस मिथ्या प्रबोध से अवकाश तो पाती है पर अपनी दुर्दशा तथा अकिन्चनता को सोचकर लम्बी आहे भरती है।"[2]

यहाँ शिशु चन्द्रप्रतिबिम्ब को हस समझने की भ्रान्ति करता है।

प्रतीप

जहाँ उपमान की निन्दा की जाय, अथवा उसके अनादर के लिये उपमान से हटाकर उसे उपमेय कल्पित किया जाय, वहाँ, इन दोनों दशाओं, में प्रतीप अलङ्कार होता है।[3]

दमयन्ती के अन्त पुर मे अदृश्यरूप दूत नल दमयन्ती के सौन्दर्यामृत का पान करते हुए अपने आप कहते है —

---

१. एतत्तरुस्तरुणि! राजति राजजम्बूः स्थूलोपलानिव फलानि विमृश्य यस्याः।
सिद्धस्त्रियः प्रियमिदं निगदन्ति दन्तियूथानि केन तरुमारुरुहुः पथेति॥
नै० ११।८५

२. एतद्भीतारिनारी गिरिबिलविगलद्वासरा निःसरन्ती
स्वक्रीडाहंसमोहग्रहिलशिशुभृशप्रार्थितोत्रिद्रचन्द्रा
आक्रन्दद्भूरि यत्तन्नयनजलमिलच्चन्द्रहंसानुबिम्ब
प्रत्यासत्तिप्रहृष्यत्तनयविहसितैराश्वसीन्न्यश्वसीच्च ॥ नै० १२।२८

३. आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता।
तस्यैव यदि वा कल्प्यातिरस्कारनिबन्धनम्॥ का० प्र० १०।३०१

"दमयन्ती के अङ्ग, सादृश्य रहने पर भी, अन्य सभी समान वस्तुओं से किसी न किसी अन्य गुणों के कारण उत्कृष्ट हो गए हैं। अतः इनकी समानता तो अन्य पदार्थों मे किसी प्रकार सम्भव हो सकती है, किन्तु इन अङ्गों की उपमा के लिए किसी अन्य को इनका उपमान बताना तो उनका अपमान ही होगा।"[1]

यहाँ उपमानों को तिरस्कार के साथ उपमेय के पद पर रक्खा गया है। अतः इसे प्रतीप अलङ्कार कहा जायगा।

सामान्य

जहाँ प्रधानतया वर्णनीय वस्तु के साथ अप्रस्तुत वस्तु का योग इस प्रकार की गुण-समता करके दिखाया जाय कि वे दोनों एक ही से प्रतीत हों, वहाँ सामान्य नामक अलङ्कार होता है।[2]

कुण्डिनपुर के आपण (बाजार) की समृद्धि का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं —

"आपण (दूकान) में सौरभ-लोभ से निस्पन्द स्थित श्याम भ्रमर को विक्रेता, मृगमद (कस्तूरी) के साथ तौल देता है। जन-रव के कारण वह भ्रमर का गुञ्जार भी नही सुन पाता।"[3]

यहाँ कस्तूरी के साथ भ्रमर के रग का साम्य कहा गया है। अत यह सामान्य अलङ्कार का उदाहरण हुआ।

सामान्य का एक अन्य सुन्दर उदाहरण स्वयवर मे प्लक्षद्वीप के अधिपति मेधातिथि के यशो-वर्णन से प्रस्तुत किया जाता है—

"हे सुन्दरि, महाराज मेधातिथि के धवल-यश मे (विश्व के) जल-मात्र को श्वेत कर दिया है। अब दूध और जल मे कोई भेद ही न रहा। अब बेचारे हस नीर-क्षीर का पृथक् विवेचन ही नहीं कर सकते। नानार्थवाची कोष में पय शब्द के दूध तथा जल दोनों अर्थ होते हैं। किन्तु वह अब झूठा हो गया, क्योंकि जल नामक कोई भिन्न पदार्थ रहा ही नही, अब तो सभी दूध हो गए।"[4]

---

१. सत्येव साम्ये सदृशादशेषाद् गुणान्तरेणोच्चकृषेयदङ्गैः।
अस्यास्ततः स्यात्तुलनापिनाम वस्तु त्वमीषामुपमापमानः॥ नै० ७।१४

२. प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया ।
ऐकात्म्यं बध्यते योगात् तत्सामान्यमिति स्मृतम्॥ का० प्र० १०।२०२

३. समम्रेणमदैर्यदापणे तुलयन् सौरभलोभनिश्चलम्।
पणिता न जनारवैरवैदपिगुञ्जन्तमलिं मलीमसम्॥ नै० २।९२

४. एतद्यशोभिरखिलेऽम्बुनि सन्तु हंसा दुग्धीकृते तदुभयव्यतिभेदमुग्धाः।
क्षीरे पयस्यपि पदे द्वयवाचि भूयं नानार्थकोषविषयोऽद्यमृषोद्यमस्तु॥ नै० ११।७८

यहा सभी जल को यश के रग में धवलदुग्ध बना दिया गया है।

व्याघात

जहाँ किसी वस्तु को किसी कर्ता ने एक उपाय से सिद्ध किया हो और कोई दूसरा कर्ता, प्रथम को जीतने की इच्छा से, उसी उपाय द्वारा उस वस्तु को दूसरे रूप मे कर दे, वहाँ व्याघात अलङ्कार होता है।[1]

इसका एक अत्यन्त सुन्दर उदाहरण दमयन्ती के सम्मुख अग्नि के लिए नल द्वारा किए गए इस प्रस्ताव मे मिलता है—

"त्रिपुरारि के नेत्र में रहने वाले अग्नि ने जिस मदन को पहले भस्म किया था, अब आपके नेत्रों मे निवास करते हुए वही मदन उन अग्निदेव को जलाते हुए अपने वैर का प्रतिशोध लेकर अनृण हो रहा है।"[2]

अग्नि ने शिव-नेत्र मे निवास कर जिस काम को भस्म किया था, वही काम अब दमयन्ती नेत्र मे निवास लेकर अग्नि को जलाएगा।

आशीः

आचार्य मम्मट ने आशी. नाम का कोई अलङ्कार नही माना है। किन्तु पूर्वाचार्यों ने इसकी गणना अलङ्कारों में की है। भामह का कहना है—"कुछ लोग आशी. को भी अलङ्कार मानते हैं। जब सुहृद्भाव के अनुकूल बात कही जाय तो आशीः का प्रयोग होता है।"[3]

दण्डी ने अभिलषित वस्तु के विषय मे शुभ प्रार्थना करने को आशीः अलङ्कार माना है।[4]

नैषध में आशी. की अनेक उक्तियाँ मिलती है। उदाहरणार्थ हस को कुण्डिनपुर भेजते हुए नल की उक्ति है—

---

१. यद्यथासाधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा।
तथैव यद्विधीयेत स व्याघात इतिस्मृतः॥ का० प्र० १०।२०६

२. अदाहि यस्तेन दशार्धबाणः पुरा पुरारेर्नयनालयेन।
न निर्दहस्तं भवदक्षिवासी न वैरशुद्धेरधुनाधमर्णः॥ नै० ८।७३

३. आशीरपि च केषांचिदलङ्कारतया मता।
सौहृदस्या विरोधोक्तौ प्रयोगोस्याश्च....भामह का का० लं० ३।५५

४. आशीर्नामाभिलषिते वस्तुन्याशंसनम्—काव्यादर्श २।३५७

"मित्र, तुम्हारा मार्ग मङ्गलमय हो। शीघ्र ही तुम फिर यही मिलो। साथी, जावो मेरे अभीष्ट को पूरा करो। पक्षिराज ! कभी कभी हमे भी याद कर लेना।"[१]

आशी. का एक और सुन्दर उदाहरण नारद की इन्द्र के प्रति कही गयी इस उक्ति में है —

"तुम्हारे स्वभाव-मधुर अनुभावों (भावप्रकाशन) से हम सचमुच द्रवित हो गए हैं। हे महेन्द्र, तुम निरवधि समय तक स्वर्ग का शासन करो। तुम धन्य हो। तुम्हारी जय हो।"[२]

स्वयवर-मण्डप में तो सरस्वती की अनेक उक्तियों मे आशी.अलकार का सौन्दर्य देखने को मिलता है। उदाहरणार्थ एक चित्र पर्याप्त होगा—काशी-नरेश का वर्णन करती हुई देवी सरस्वती दमयन्ती से कहती है —

"मृगनयने, तू काशीनरेश की साक्षात् रति बनो, और ये तुम्हारे मूर्तिमान् मदन। मानो पहले के क्रुद्ध भगवान् शकर को प्रसन्न करने के लिए रति और मदन ने उनकी नगरी काशी में अवतार धारण किया है।"[३]

अर्थापत्ति

जहाँ दण्डापूपिका (अर्थात् मूषक जब डण्डे को खा गया तो मालपुआ तो निश्चय ही खा गया होगा) न्याय के अनुसार एक अर्थ की सिद्धि के साथ उसी के बल से दूसरा अर्थ भी सिद्ध हो जाय वहाँ अर्थापत्ति अलङ्कार होता है।[४]

इसका उदाहरण हस की इस उक्ति से दिया जा सकता है :—

"मन के अतिसूक्ष्म मार्ग (गली) मे भी रहने वाली वस्तु जब प्राप्त कर ली जाती है तो फिर आप को वह वस्तु दुर्लभ कैसे होगी जहाँ पर मन के लिए भी

---

१. तव वर्त्मनि वर्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः।
अयि साधय साधयेप्सितं स्मरणीयाः समये वयं वयः॥ नै० २।६२

२. आः स्वभावमधुरैरनुभावैस्तावकैरतितरां तरलाः स्मः।
द्यां प्रसाधि गलितावधिकालं साधुसाधु विजयस्व बिडौजः॥ नै० ५।२४

३. भूभर्तुरस्य रतिरेधि मृगाक्षि मूर्ता सोयं तवास्तु कुसुमायुध एव मूर्तः।
भार्तं च ताविव पुरा गिरीशं विराद्धमाराद्धुमाशु पुरि तत्र कृतावतारौ॥
नै० ११।१२१

४. दण्डापूपिकयार्थान्तरापतनमर्थापत्तिः॥ रुय्यक—अलङ्कार-सर्वस्व

अँधेरा है—जो मन को भी गोचर नहीं—वह ब्रह्म भी निरालस योगियों द्वारा सुलभ हो जाता है।"[1]

यहाँ, "जब (सबसे दुरूह) चित्त में छिपी वस्तु प्राप्त हो जाती है" यह कहने से "तो अन्य किसी भी वस्तु के प्राप्त होने मे कठिनाई क्या होगी?" इस प्रकार अर्थान्तर का बोध होता है। अत. उसे अर्थापत्ति कहेगे।

विकल्प

जहाँ समान प्रमाण से युक्त दो विरुद्ध वस्तुओं का एक स्थान पर एक साथ अन्वय हो, वहाँ विकल्प अलङ्कार होता है। विरुद्ध होने के कारण उनका एक स्थान पर अन्वय असम्भव था।[2]

हंस नल से दमयन्ती की विरहदशा का चित्रण करते हुए कहता है —

"रात मे शय्या पर लेटे नल के मन को मुग्ध करती हुई, तथा आलिङ्गन कर उसके नेत्रों का चुम्बन करने वाली न तो निद्रा ही उसके पास है और न इस प्रकार तुम्हारे सिवा अन्य कोई रमणी ही।"[3]

यहाँ नल के विषय में निद्रा तथा अङ्गना (दो विरुद्ध वस्तुओं) के अपने अपने समान अधिकार है, किन्तु इस समय दोनों का अभाव रूप सम्बन्ध में एकत्र अन्वय हुआ है।

हेतु

जहाँ कार्य के साथ कारण का अभेद के साथ प्रतिपादन किया जाय, वहाँ हेतु

---

१. अवाप्यते वा किमियद् भवत्या चित्तैकपद्यामपि विद्यते यः।
यत्रान्धकारः किल चेतसोपि जिह्मेतरैर्ब्रह्म तदप्यवाप्यम्॥ नै० ३।६३

२. तुल्यबलविरोधो विकल्पः—अलङ्कार सर्वस्व
विरुद्धयोस्तुल्यप्रमाणविशिष्टित्वात्तुल्ययोरेकत्र युगपत् प्राप्तौ विरुद्धत्वादेव योगपद्यासम्भवे विकल्पः॥ (पूर्वोक्त सूत्र पर जयरथ की टीका)
विश्वनाथ ने भी, जहां दो तुल्यबलवाली वस्तुओं में कवि-कौशल से विरोध दिखाया जाय वहां विकल्प अलङ्कार माना है। विकल्पस्तुल्यबलयोर्विरोधश्चातुरीयुतः॥ सा० द० १०।८४

३. स्थितस्य रात्रावधिशय्य शय्यां मोहे मनस्तस्य निमज्जयन्ती।
आलिङ्ग्य या चुम्बति लोचने सा निद्राधुना न त्वदृतेङ्गना वा॥ नै० ३।१०८

अलङ्कार होता है। यह अन्य अलङ्कारों से विलक्षण है।[१] चन्द्रमा के प्रति दमयन्ती की इस उक्ति मे हेतु का सुन्दर उदाहरण है—

"ऋजुबुद्धि इतिहासवेत्ता विष्णु को राहु का शिरश्छेत्ता कहते है, विरहियों का शिरश्छेत्ता नहीं कहते। यदि राहु बेचारे को जठराग्नि ही होती तो यह चन्द्रमा रहने पाता ?"[२]

यहाँ विष्णु राहुशिरश्छित् (राहु का सिर काटने वाला) होने के कारण ही विरहि-मूर्धभित् (विरहियों का सिर काटने वाला) बनते है। अत राहुशिरश्छित् रूप कारण का विरहिमूर्धभित् कार्य के साथ अभेद स्थापित हुआ है।

विचित्र

जहाँ हेतु के ही विरुद्ध फल की सिद्धि के लिए प्रयत्न किया जाय वहाँ विचित्र अलङ्कार होता है।[३]

दूत नल के तर्कों से विवश होकर दमयन्ती अपने अभागे मन से कहती है —

"मेरे मन, न तो तुम्हारे अभिलषित प्रिय को ही पा रही हू, और न मृत्यु को ही। तुम जिस वस्तु की अभिलाषा करते हो वही मेरी नहीं हो पाती। तो अब प्रिय के साथ वियोग की ही इच्छा करो, स्यात् तुम्हारी कृपा से मुझे वह न मिले।"[४]

यहाँ वियोग न होने के लिए ही वियोग की इच्छा की जाती है—अत इसे विचित्रालङ्कार कहा जायगा।[५]

लेश

जहाँ दोष को गुण तया गुण को दोष कहा जाय, वहाँ उस प्रकार के कथन का निमित्त लेश कहा जाता है और उसे लेश अलङ्कार कहते है।[६]

---

१. हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदकृद् भवेद् यत्र सोऽलङ्कारो हेतुःस्यादन्येभ्यः पृथग्भूतः रुद्रट—काव्यालङ्कार० ७।८२

२. ऋजुदृशः कथयन्ति पुराविदो मधुभिदं किल राहुशिरश्छिदम्।
विरहिमूर्धभिदं निगदन्ति न क्व नु शशी यदि तज्जठरानलः॥ नै० ४।६६

३. स्वविपरीतफलनिष्पत्तये प्रयत्नो विचित्रम्॥ रूय्यक—अलङ्कार सर्वस्व

४. प्रियं न मृत्युं न लभे त्वदीप्सितं तदेव न स्यान्मम यत्वमिच्छसि।
वियोगमेवेच्छ मनः प्रियेण मे तव प्रसादान्न भवत्वसौ मम॥ नै० ९।९२

५. साहित्यविद्याधरी ने इसे भी हेतु का उदाहरण माना है।

६. दोषीभावो यस्मिन् गुणस्य दोषस्य वा गुणीभावः।
अभिधीयते तथाविधकर्मनिमित्तः स लेशः स्यात्॥ रुद्रट—काव्यालङ्कार ७।१००

चन्द्रोपालम्भ करने वाली दमयन्ती के प्रति कवि की उक्ति है—

"इस प्रकार प्रिय के अधर-पान के लिए पिपासु दमयन्ती का मुख कुछ ही बातों से शीघ्र अति शुष्क हो गया, मानों उसके अप्रिय वचनों से क्रुद्ध मदन ने शोषण बाण का प्रहार किया हो।"[1]

यहाँ प्रियाधर-पिपासुरूपी गुण पांशुलता (शुष्कता) रूपी दोष बन जाता है।

अलङ्कार-संसृष्टि

जब दो या अधिक अलंकार कहीं एक स्थान पर परस्पर निरपेक्ष (तिल-तण्डुल) भाव से स्थित हों, तो इस संयोग को ससृष्टि कहते हैं।[2]

नल के रोम-सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कवि की उक्ति है—

"क्या ब्रह्मा ने रोमावलियों के बहाने करोड़ों रेखाएँ बनाकर नल के गुणों को तो नहीं गिना था? तथा जगत्-स्रष्टा ने रोम-छिद्रों के रूप मे दोषों के शून्य (दोष रहित)-बिन्दु तो नही बनाए थे?"[3]

अलङ्कार ससृष्टि का एक और उदाहरण दूतनल के दमयन्ती के अन्तःपुर में पहुँचने के वर्णन से प्रस्तुत किया जाता है—

"अन्त.पुर मे तरुणियों का भङ्गीसहित नृत्यगीत आदि गुणों से सम्पन्न अपना विस्तृत जाल फैलाकर भी मदन नल के सुन्दर श्याम नयन-हरिणों को बाँधने में समर्थ न हुआ।"[4]

यहाँ विशेषोक्ति, रूपक, तथा श्लेष इन तीन अलङ्कारों की संसृष्टि है।

अलङ्कार-संकर

जहाँ दो या अधिक अलङ्कार एकत्र स्थित होकर भी निरपेक्ष न हों, किन्तु

---

१. इतिकियद्-वचसैव भृशंप्रियाधरपिपासु तदाननमाशु तत्।
अजनि पांशुलमप्रियवाग्ज्वलमन्दनशोषणबाणहतेरिव॥ नै० ४।१००

२. सैषासंसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः॥ का० प्र० १०।२०७

३. किमस्य लोम्नां कपटेन कोटिभिः विधिर्नलेखाभिरजीगणद्गुणान्।
न रोम-कूपौघमिषाज्जगत्कृता कृताश्च किं दूषणशून्यबिन्दवः॥ नै० १।२१

४. अन्तः पुरेविस्तृतवागुरोपि बालावलीनां वलितैर्गुणौघैः।
न काल-सारं हरिणं तदक्षिद्वयं प्रभुर्बद्धुमभून्मनोभूः॥ नै० ६।१९

अङ्गाङ्गिभाव इत्यादि तीन प्रकार मे से किसी एक प्रकार से स्थित हों, वहाँ अलङ्कार-सङ्कर माना जाता है।[१]

नैषध मे अलङ्कारों का मनोरम सङ्कर स्थान स्थान पर दिखायी पडता है। उदाहरणार्थ नल हस से अपने दमयन्ती-विषयक स्नेह का विवरण देते हुए कहते हैं —

"जैसे ऋचा से यज्ञ की अग्नि-प्रदीप्त की जाती है, उसी प्रकार लोगो से सुनी हुई दमयन्ती की चर्चा रूपी मधु मेरी कामाग्नि को प्रदीप्त कर रही है। हस, धिक्कार है हम अधीर पुरुषों को।"[२]

यहां अतिशयोक्ति, रूपक तथा परिणाम अलङ्कारों का सङ्कर है।

दीपक तथा स्वभावोक्ति अलङ्कारों का सङ्कर नल के हाथ से छूटने पर हस के प्रति कवि की इस उक्ति मे देखा जाता है —

"हस कभी पखों को हिलाते हुए उड़ता, कभी ऊपर की ओर जाने के कारण दुर्लक्ष्य हो जाता, तथा कभी पंखों को फैलाकर नि.स्पन्द गति से जाता। इस प्रकार वह दर्शकों में कौतूहल उत्पन्न करता हुआ जा रहा था।"[३]

साङ्ग रूपक तथा असङ्गति अलङ्कारों के सङ्कर का एक अतिशय सुन्दर उदाहरण हंस द्वारा नल के तप कल्पवृक्ष के निरूपण मे मिलता है। हस दमयन्ती से कहता है —

"सुन्दरि, नल का यह तपोरूप कल्पवृक्ष कितना अदभुत है? तुम्हारी अंगुलियों के सुन्दर नख उसके अङ्कुरपत्र हैं, तुम्हारी भृकुटियाँ उसके दो पत्ते हैं। तुम्हारा अधर उसका मध्यदल है, तुम्हारे मृदुल पाणि उसके नूतन पल्लव हैं,

---

१. अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गाङ्गित्वे तु सङ्करः॥ का० प्र० १०।२०८-२११

एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावादनिश्चयः।
स्फुटमेकत्र विषये शब्दार्थालङ्कृति-द्वयम्
व्यवस्थितं च तेनाऽसौ त्रिरूपः परिकीर्तितः॥

२. अमितं मधु तत्कथा मम श्रवणप्राघुणिकीकृता जनैः।
मदनानल-बोधने भवेत् खगधाय्या धिगधैर्यधारिणः॥ नै० २।५६

३. स ययौ धुतपक्षतिः क्षणं क्षणमूर्ध्वायन-दुर्विभावनः।
विततीकृतनिश्चलच्छदः क्षणमालोककदत्तकौतुकः॥ नै० २।६८

तुम्हारी मुस्कान उसकी कलिका है, तुम्हारे शरीर की मृदुता उसका पुष्प है तथा तुम्हारे सुन्दर उरोज ही उसके फल हैं।"[1]

यहाँ तप को कल्पवृक्ष तथा दमयन्ती के नख आदि अङ्गों को उस कल्पवृक्ष के विभिन्न अवयव का रूप दिया गया है। और अवयवी कल्पवृक्ष अवयव नखाङ्कुर आदि के, जिनका परस्पर कार्यकारण सम्बन्ध है, भिन्न-देशस्थ होने के कारण असगति भी है।

अलङ्कारों के सङ्कर का एक सुन्दर उदाहरण दमयन्ती से इन्द्रविषयक प्रेमावस्था का दूत नल द्वारा किए गए चित्रण से प्रस्तुत किया जाता है।[2]

"मदन के कुसुमबाण अपने परागों से दिशाओं को अन्धकारमय कर के इन्द्र की आखों के लिए 'कुहू, कुहू' कूकने वाली कोकिल के चचु (चञ्चु) को पूर्णिमा की रात्रि मे भी सत्य बोलने वाली सिद्ध करते है।"

यहा काव्यलिङ्ग श्लेष, अतिशयोक्ति, विरोध तथा भ्रान्तिमान् अलङ्कारों का सुन्दर सङ्कर हुआ है।

---

१. अहोतपः कल्पतरुर्नलीयस्त्वत्पाणिजाग्रत्स्फुरदङ्कुरश्रीः,
त्वद्भ्रूयुगं यस्य खलु द्विपत्री तवाधरोरज्यति यत्कलम्बः।
यस्ते नवः पल्लवितः कराभ्यां स्मितेनं यः कोरकितस्तवास्ते,
अङ्ग म्रदिम्नातव पुष्पितोयः स्तनश्रिया यः फलितस्तवैव॥ नै० ३।१२०-१२१

२. तमोमयीकृत्य दिशः परागैः स्मरेषवः शक्रदिशां दिशन्ति।
कुहूगिरश्चञ्चुपुटं द्विजस्य राकारजन्यामपिसत्यवाचम्॥ नै० ८।६५

दशम अध्याय

व्युत्पत्ति--वेद-वेदाङ्ग

(व्युत्पत्ति तथा अभ्यास द्वारा परिष्कृत प्रतिभा काव्य-समुद्भव का हेतु मानी गई है।[1] इसी व्युत्पत्ति को क्षेमेन्द्र ने 'परिचय' कहा है, जिसके बिना कोरा पद्य-निर्माता विदग्ध-गोष्ठी में उतना ही अज्ञ प्रतीत होता है, जितना कोई नवागन्तुक किसी बड़े नगर की बीहड़ गली में।[2] (प्रतिभा और व्युत्पत्ति के इस मणि-काञ्चन-सयोग से ऐसे काव्यालङ्कार की रचना होती है जो सदा विदग्धकण्ठाभरण बनता है। व्युत्पत्ति के अन्तर्गत विश्व का सारा ज्ञान-भण्डार आ जाता है। विभिन्न आचार्यों ने परिगणन के लिए कुछ प्रधान विभिन्न विद्याओं का उल्लेख कर दिया है। राजशेखर ने काव्यार्थयोनि प्रकरण मे श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, प्रमाण-विद्या, समय-विद्या, राजसिद्धान्तत्रयी, लोकविरचना, प्रकीर्णक, उचित-सयोग, योक्तृसंयोग, उत्पाद्य-सयोग, तथा सयोग-विकरण इन सोलह का परिगणन किया है।[3] क्षेमेन्द्र ने तर्क, व्याकरण, भरत, चाणक्य, वात्स्यायन, भारत, रामायण, मोक्षोपाय, आत्म-ज्ञान, धातुवाद, रत्न-परीक्षा, वैद्यक, ज्यौतिष, धनुर्वेद, गजतुरग-पुरुष-लक्षण, द्यूत, इन्द्रजाल तथा अन्य विविध विषयों के परिचय को कवि-साम्राज्य का द्योतक बताया है।[4] (उसी प्रकार (मम्मट ने स्थावर-जङ्गमात्मक लोकवृत, छन्द, व्याकरण, अभिधान-कोश, कला चतुर्वर्ग, गज-तुरग-खड्गादि-लक्षण, काव्य तथा इतिहास आदि की व्युत्पति को काव्यहेतुभूतनिपुणता के अन्तर्गत गिनाया है।[5] इसी प्रकार वाग्भट (१५वी शताब्दी) ने, स्थावर-जङ्गम-रूप लोक में, तथा लक्षण-प्रमाण-साहित्य छन्दोलङ्कार-श्रुति-स्मृति-पुराणेतिहासागम-नाट्याभिधान कोष-

---

१. व्युत्पत्त्यभ्याससंस्कृता प्रतिभास्य हेतुः। (काव्यानुशासन, प्रथम अध्याय)

२. न हि परिचयहीनः केवले काव्यकष्टे कुकविरभिनिविष्टः स्पष्टशब्दप्रविष्टः।
विबुधसदसिपृष्टःक्लिष्टधीर्वेत्ति वक्तुं नव इव नगरान्तर्गह्वरे कोप्यधृष्टः॥
क्षेमेन्द्र--कविकण्ठाभरण-पञ्चमसन्धि

३. काव्यमीमांसा, अध्याय ८।

४. कविकण्ठाभरण, पञ्चम सन्धि।

५. काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास।

कामार्थ-योगादि शास्त्रों मे, निपुणता को व्युत्पत्ति माना है। किन्तु वह केवल लाक्षणिक ही कही जा सकती है, वास्तव मे कवि-ज्ञान की इयत्ता निर्धारित ही नही की जा सकती। अपने क्षेत्र की इस वृहत्ता के कारण ही कवि को ब्रह्म के पर्यायवाची 'कवि' की उपाधि मिली।

श्रीहर्ष ने नैषध की रचना पूर्ण व्युत्पत्ति के साथ की है। अपने समस्त ज्ञान भण्डार का उन्होंने इस ढग से परिचय दिया है कि नैषध केवल काव्य ही न रहकर विभिन्न विषयों के ज्ञान का एक वृहत् कोश बन गया है। इसके विषय मे प्रसिद्ध लोकोक्ति "नैषध विद्वदौषधम्" सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होती है। चिर काल से संस्कृत-विपश्चितों मे इस महाकाव्य की सर्वोच्च प्रतिष्ठा का यह सबसे बडा कारण है।[1] डा० सुशीलकुमार दे जैसे तीक्ष्ण समालोचक को भी विवश होकर कहना पडा था—"इसे तो मानना ही पड़ेगा कि नैषध-चरित केवल एक वैदुष्यपूर्ण काव्य ही नही है, अपितु अनेक प्रकार से परम्परागत ज्ञान का भण्डार है, और (किसी व्यक्ति को) उस समस्त ज्ञान से पूर्ण मुसज्जित होकर ही इसमे (नैषध मे) प्रवेश करना चाहिए।"[2]

श्रीहर्ष ने स्वय भी अपने अगाध पाण्डित्य का परिचय दिया है। जैसा पूर्व अध्याय मे कहा जा चुका है, दमयन्ती-स्वयवरमे राज-परिचय के लिए जिस सरस्वती का आवाहन उन्होंने किया है, वह वास्तव में उनकी अपनी सरस्वती है। उसके स्वरूप-वर्णन के व्याज से श्रीहर्ष ने अपनी व्युत्पत्ति का परिचय दे दिया है। उनकी सरस्वती का रूप इस प्रकार का है—

---

१. सत्रहवें सर्ग के अन्त में प्रसिद्ध टीकाकार विद्याधर ने श्रीहर्ष की सर्वज्ञता के विषय मे इस प्रकार लिखा है।
"अनेन सर्गेण श्रीहर्षकविराजेन आत्मसर्वज्ञता अभिव्यञ्जिता। इतस्ततत्सदृशेन अन्येनाप्यस्य सर्गस्यार्थरत्नाकरस्य पारं प्राप्तुं शक्यते।

अष्टौ व्याकरणानि तर्कनिवहः साहित्य-सारो नयौ।
वेदार्थावगतिः पुराणपठितिर्यस्यान्यशास्त्राण्यपि॥
नित्यं स्युः स्फुरितार्थदीपविहताज्ञानान्धकाराण्यसौ।
व्याख्यातुं प्रभवत्यमुं सुविषमं सर्गं सुधीः कोविदः॥

मया तु निजमत्यनुसारेणायं सर्गो व्याख्यातो विचक्षणैर्विशेषव्याख्ययाबोद्धव्यः।
२. दे० का संस्कृत-साहित्य का इतिहास, पृ० ३२९-३३०

"गन्धर्व-विद्या जिसकी कण्ठनाल, त्रयी (वेद) जिसकी त्रिवली, तथा साहित्य-शास्त्र जिसके कटाक्ष-विक्षेप थे।[१] त्रिवली-रूप त्रिवेदी से निकल कर प्रसरित मारण-मोहन-उच्चाटन आदि अभिचारोचित श्यामप्रभा वाली नाभि से निकलने वाली जिसके उदर की रोमरेखा अथर्व-वेद रूप थी।[२] जिसका चरित्र साक्षात् शिक्षाशास्त्र के रूप में, मण्डनरूप अलङ्कारविधि कल्पशास्त्र के रूप मे, तथा समस्त अर्थ-निर्वचन निरुक्त-शास्त्र के रूप में परिणत हुआ था।[३] जाति (मात्रिक) तथा वृत्त (वर्णिक) इन दो भेदों मे विभक्त छन्द (पद्य) जिसके दो बाहु थे, और श्लोक के अर्ध पर जो विराम अवसान होता है, वही जिसके दोनो बाहुओं के पूर्व और उत्तर भागों की सन्धि के सुन्दर रेखा रूप चिह्न थे।[४] और जिसकी साड़ी के (पट्ट) सूत्रों की दीर्घता से जनित विस्तार को धारण करती (थामती) हुई एव मधुर शिञ्जितरूप शब्द-परम्पराओं को उत्पन्न करती हुई मेखला गुण, दीर्घ भाव, प्रत्ययों और कृत्प्रत्ययों के विस्तार से युक्त एवं राम-कृष्णादि तथा भवति इत्यादि शब्दों की लड़ियों को सिद्ध करने वाले—व्याकरण शास्त्र की बनी थी।[५] नक्षत्र तारा आदि के वर्णन से युक्त, शिक्षा-कल्प आदि षडगों में रक्खी गई (सख्यात) ज्योतिष-विद्या देवी की सेवा के लिए उनके कण्ठ मे स्थित होती हुई, मानो प्रकाशमान मध्य-मणि वाली हार-लता के रूप मे परिणत हो गयी थी।[६] मेरी समझ मे जिसके अधरोष्ठ ही प्रसिद्ध 'पूर्वपक्ष,' और 'उत्तरपक्ष' शास्त्ररूप बने थे, जिनका राग (रक्तवर्ण)

---

१. मध्यैसभं सावततार बाला गन्धर्वविद्याधरकण्ठनाला।
त्रयीमयीभूतवलीविभङ्गासाहित्यनिर्वर्तित-दृक्तरङ्गा॥ नै० १०।७४

२. आसीदथर्वा त्रिवलित्रिवेदीमूलाद्विनिर्गत्य वितायमाना।
नानाभिचारोचितमेचकश्रीः श्रुतिर्यदीयोदररोमरेखा॥ नै० १०।७५

३. शिक्षैव साक्षाच्चरितं यदीयं कल्पश्रियाकल्पविधिर्यदीयः।
यस्याः समस्तार्थनिरुक्तिरूपैर्निरुक्तिविद्या खलु पर्यणंसीत्॥ नै० १०।७६

४. जात्या च वृत्तेन च भिद्यमानं छन्दो भुजद्वन्द्वमभूद्यदीयम्।
श्लोकार्धविश्रान्तिमयीभविष्णु-पर्वद्वयीसन्धिसुचिह्न मध्यम्॥ नै० १०।७७

५. असंशयं सा गुणदीर्घभावकृतां दधाना विततिं यदीया।
विधायिका शब्दपरम्पराणां किं चारचि व्याकरणेन काञ्ची॥ नै० १०।७८

६. स्थितैव कण्ठे परिणम्य हारलता बभूवोदिततारवृत्ता।
ज्योतिर्मयी यद्भजनाय विद्या मध्येऽङ्गमङ्केन भृताविशङ्के॥ नै० १०।७९

ही वादी और प्रतिवादी के अपने अपने पक्ष का दृढ सिद्धान्त अनुराग था।[१] ब्रह्म-काण्ड तथा कर्मकाण्ड नामक वेद के दो भाग होने के कारण अपने शरीर को बौद्ध, वैशेषिक आदि अन्य सिद्धान्तों के निराकरण के कारण रमणीय, एव स्वसिद्धान्त-स्थापन के विचार मे परिपुष्ट पूर्व-मीमासा और उत्तर-मीमांसा इन दोनों रूपों में विभक्त करके स्थित हुई मीमासा द्वारा जिस देवी के उत्तम वस्त्र के कारण सुन्दर और मासल जङ्घायुगल बने थे।[२] जिसकी सोलह-सोलह दांतों के पदार्थों के रूप में दो प्रकार से उदित हुई—मुखस्थान मे निकली हुई तथा (सामुद्रिकनाम) लक्षण (शास्त्र), में कही हुई दन्त-पङ्क्ति की जोडी ही नाम-कथन के अवसर मे तथा लक्षण-निरूपण मे भी ऐसे दो प्रकार से कहे हुए (प्रमाण-प्रमेयादि) सोलह पदार्थों से उपलक्षित और मुक्ति (निःश्रेयस) की कामना करने वालों के द्वारा अभ्यस्त, वह (प्रसिद्ध) तर्क विद्या थी।[३] व्यास, पराशर, (इन दो मुनियों) द्वारा प्रणीत होने के कारण (महापुराण और उपपुराण के) दो रूपों को प्राप्त तथा (आख्यानो-पाख्यानों के) विस्तार से युक्त "मत्स्य" "पद्म" आदि नाम-पदों से निर्दिष्ट, वह (प्रसिद्ध) पुराण ही जिस के किसलय-सदृश, तथा रेखारूप मत्स्य, पद्म आदि सामुद्रिक लक्षणों से लक्षित होते हुए, दोनों हाथ बन गए थे।[४] श्रुति (वेद) रूप मूल से सुशोभित होने वाला धर्मशास्त्र-समूह ही जिसका कर्णमूलों से सुशोभित होनें वाला शिरोभाग था।[५] सोमसिद्धान्त नामक कापालिक-दर्शन जिसका मुख था, शून्यात्मवाद-रूप माध्यमिक-बौद्ध-दर्शन जिसका उदर था, विशिष्ट ज्ञान की सम्पूर्णता से जिसका हृदय बना हुआ था, एव विज्ञान की साकारता-सिद्धि-रूप सौत्रान्तिक दर्शन से जिसका समस्त स्वरूप-सौन्दर्य निष्पन्न हुआ था।"[६]

---

१. अत्रैमि वादिप्रतिवादिगाढस्वपक्षरागेण विराजमाने।
ते पूर्वपक्षोत्तरपक्षशास्त्रे रदच्छदौ भूतवती यदीयौ॥ नै० १०।८०

२. ब्रह्मार्थकर्मार्थकवेदभेदाद्द्विधा विधाय स्थितयात्मदेहम्।
चक्रे पराच्छादनचारु यस्या मीमांसया मांसलमूरुयुग्मम्॥ नै० १०।८१

३. उद्देशपर्वण्यपि लक्षणेपि द्विधोदितैः षोडशभिः पदार्थैः।
आन्वीक्षिकीं यद्दशनद्विमालीं तां मुक्तिकामाकलितां प्रतीमः॥ नै० १०।८२

४. सपल्लवं व्यासपराशराभ्यां प्रणीतभावादुभयीभविष्णु।
तन्मत्स्यपद्माद्युपलक्ष्यमाणं यत्पाणियुग्मं ववृते पुराणम्॥ नै० १०।८४

५. आकल्पविच्छेद-विवर्जितो यः स धर्मशास्त्र-व्रज एव यस्याः।
पश्यामि मूर्धा श्रुतिमूलशाली कण्ठस्थितःकस्य मुदे न वृत्तः॥ नै० १०।८५

६. या सोमसिद्धान्तमयाननेव शून्यात्मतावादमयोदरेव।
विज्ञानसामस्त्यमयान्तरेव साकारतासिद्धिमयाखिलेव॥ नै० १०।८०

वेद

ऋषि, शास्त्रकार तथा कवि-गण सभी आवश्यकतानुसार ज्ञान की राशि वेदों का उपयोग करते आ रहे हैं। अतएव राजशेखर ने एक प्राचीन उक्ति उद्धृत की है—

नमोऽस्तु तस्यैश्रुतये यां दुहन्ति पदे पदे।
ऋषयः शास्त्रकाराश्च कवयश्च यथामति॥[१]

वैदिक वाङ्मय का नैषध मे अनेक स्थलों पर उल्लेख हुआ है। स्वप्न के विषय मे श्रुति का कहना है:—

"चैतन्य रूप ज्योति के स्वभाव वाला, (जाग्रत्, स्वप्न, इहलोक, परलोकादि में) अकेला जाने वाला, अमरण धर्म वाला (आत्मा) निकृष्ट (शरीर रूप) घोंसले की (पांचरूपों—प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान–मे चलने वाले) प्राण के द्वारा परिपालना करता हुआ, घोंसले के बाहर घूमकर, जहा जहा इच्छा होती है (वहां वहा स्वप्न में) जाता है (शतपथ ब्रा० काण्ड १४)।"[२]

वेद के इस सिद्धान्त के आधार पर श्रीहर्ष दमयन्ती द्वारा स्वप्न मे नलदर्शन का समाधान देते हैं—"निद्रा दमयन्ती के निमीलित नेत्रों से, तथा बहिरिन्द्रियों के सुप्त हो जाने पर सम्पुटित हृदय से छिपाकर कभी न देखे हुए भी नल को बड़े रहस्य के रूप में दिखाती।"[३]

वेद की इसी 'हिरण्मयःपुरुष एकहस.' उक्ति की ओर श्लेष के द्वारा उल्लेख करते हुए श्रीहर्ष नल द्वारा हंस के देखे जाने का वर्णन करते हैं—"नल ने क्रीड़ा-सरोवर के तट पर रमणेच्छु हसियों के कलरव मे अनुरक्त समीप मे चरते हुए एक अद्भुत् स्वर्णिम हस को देखा—जैसे योगी अपने शरीर मे ही विद्यमान परमात्मा (हंस) का बोध करता है।"[४] (यहा कवि ने अदर्शि न कह-कर 'अबोधि' कहा है जिससे स्पष्टतया पूर्वोक्त मन्त्र की ओर सकेत समझ पड़ता है।)

---

१. काव्य मीमांसा, अध्याय ७।

२. प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा।
स ईयतेऽमृतो यत्र कामं हिरण्मयः पुरुषः एकहंसः॥बृहदारण्यकोप० ४।३।१२

३. निमीलितादक्षियुगाच्च निद्रया हृदोपि बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात्।
अदर्शि सङ्गोप्य कदाप्यवीक्षितो रहस्यमस्याः स महन्महीपतिः॥ नै० १।४०

४. पयोधिलक्ष्मीमुषिकेलिपल्वले रिरंसुहंसीकलनादसादरम्।
स तत्र चित्रं विचरन्तमन्तिके हिरण्मयं हंसमबोधि नैषधः॥ नै० १।११७

ईश्वरानुग्रह से भव-बन्धन-मुक्ति मे मिलने वाले ब्रह्मानन्द के प्रति श्रुति का कहना है—

'मन के साथ वाणिया (इन्द्रिया) जिस तक न पहुच कर, जहा से लौट पड़ती है, ब्रह्म के उस आनन्द (स्वरूप) को जानने वाला (अर्थात् ज्ञानी) किसी से भय नही करता है।"[1]

इसी आनन्द की ओर सङ्केत करते हुए श्रीहर्ष नल के कर-पञ्जर से मुक्ति पाने वाले हस का वर्णन करते हुए कहते हैं—जैसे भगवान् पुरुषोत्तम की कृपा से मुक्ति-साधन-भूत ज्ञान को पाकर कोई द्विज अवाङ्मनसगोचर रूप ब्रह्म का अनुभव करता है उसी प्रकार नल से मुक्ति पाने पर उस पक्षी को जो आनन्द हुआ उसका वर्णन मन तथा वाणी द्वारा नही किया जा सकता।[2]

अग्निहोत्रादि मे अग्नि को प्रज्ज्वलित करने के लिए जो मन्त्र पढ़े जाते हैं[3] उन्हें सामधेनी कहते हैं। ये मन्त्र कई होते हैं[4] तथा एक साथ पढ़े जाते हैं और इनका एक साथ प्रवचन होता है[5]। इन्ही सामधेनी मन्त्रों मे कुछ अन्य मन्त्र भी यथावसर जोड़ दिए जाते हैं जिन्हे धाय्या[6] कहते है, वे भी सामधेनी ही हैं।

नैषध मे श्रीहर्ष हंस से नल के सवाद के प्रसङ्ग मे इसकी ओर सङ्केत करते हैं—

---

१. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेत्ति कदाचनेति ॥ तैति० उप० २।४

२. अधिगत्य जगत्यधीश्वरादथ मुक्तिं पुरुषोत्तमात्ततः।
वचसामपि गोचरो न यः स तमानन्दमविन्दत द्विजः॥ नै० २।१

३. इध्मेनाग्निं तस्मादिध्मो नाम समिन्धे।
सामिधेनीभिर्होता तस्मात्तत्सामिधेन्योनाम॥
शतपथ ब्राह्मण १।३.।५।१ अच्युतग्रन्थमाला काशी सं १९९४

४. अथसामिधेन्यः प्रवोवाजा अभिधवो (ऋ० सं० ३।२७।१) ऽग्नमायाहिवीतये गृणानः। (६।१६।१०)।
ईडेन्यो नमस्यस्तिरो (३।२७।१३) ग्निं दूतं वृणीमहे (१।१२।१) समिध्य-मानोध्वरे (३।२७।४) समिद्धो अग्नआहुतेति द्वे (५।२८।५-६) आश्वलायन श्रौतसूत्र १।२।७)

५. ता एकश्रुतिसन्ततमनुब्रूयात् (आश्वालायनश्रौतसूत्र) ॥ १।२।८

६. तस्मादुपरिष्टादेव ध्याय्येदध्यात्—शतपथब्राह्मण १।४।१।३७

"जैसे ऋचा से यज्ञ की अग्नि प्रदीप्त की जाती है, उसी प्रकार लोगों से सुनी हुई दमयन्ती की चर्चा-रूप-मधु मेरी कामाग्नि को प्रदीप्त कर रहा है। हंस! धिक्कार है हम अधीर पुरुषों को"।[१]

श्रुति ने देव-सुरभियों का उतान चलना बताया है।[२] श्रीहर्ष इसका उल्लेख कुण्डिनपुर का वर्णन करते हुए इस प्रकार कहते हैं—दमयन्ती के क्रीड़ा-पर्वत की हरित रश्मियां बहुत ऊंचाई तक आकाश मे चमकती हैं, मानों नगरी ने गो-ग्रास देने का जो पुण्य किया था वह वैदर्भी के क्रीड़ास्थल के मरकत-शिखर से अंशु-दर्भ (किरण-रूपी कुश) के रूप मे उत्पन्न होकर ऊपर उठा, और उठता गया। अन्त मे किसी अन्य ब्रह्माण्ड से जा टकराया, और इस प्रकार उसका वेगजनित मद चूर्ण हो गया जिससे वह लज्जा-वश अधोमुख हो लौटने लगा और लौटते समय रास्ते में ऊपर मुख करके चलने वाली देव-गौ के मुख मे जा पड़ा।[३]

नैषध मे इसका एक बार और उल्लेख हुआ है—दमयन्ती चन्द्रवर्णन के प्रसङ्ग में कहती है—चन्द्रमा मे रहने वाले इस खरगोश का पेट, जो श्वेत होता है, दिखायी नहीं पड़ता। अत. यह अनुमान लगाया जाता है कि वह चित्त पड़ा है। और इसी प्रत्यक्ष प्रमाण के कारण ही मैं वेद के 'उत्ताना वै देवगवश्चरन्ति' इस वाक्य में भी आस्था करने लगी हूँ।[४]

✓ जिसने सर्वात्मा को अपना आत्मा समझ लिया है, श्रुति उसको सर्वात्मा होने के कारण ही सर्वावाप्ति रूप फल का यों वर्णन करती है—

"जिस जिस (पितृ आदि) लोक का (आत्मज्ञानी) मन से सकल्प करता है, और विशुद्ध सत्व (क्षीण-क्लेश) अर्थात् निर्मलान्तःकरण) होता हुआ जिन भोगों की कामना करता है, उस लोक को प्राप्त करता है, और उन भोगों को पाता है। इसलिए जो अपनी भूति (वैभवावस्था) चाहे वह ऐसे सत्य-सङ्कल्प

---

१. अनृतं मधु तत्कथामम श्रवणप्राघुणकीकृता जनैः।
मदनानलबोधने भवेत् खग! धाय्या धिगधैर्यधारिणः॥ नै० २।५६

२. उत्ताना हि देवगवा वहन्ति (आपस्तम्बश्रौतसूत्र) ११।७।६

३. वैदर्भीकेलिशैले मरकतशिखरादुत्थितैरंशुदर्भै
र्ब्रह्माण्डाघातभग्नस्यदजमदतया ह्रीधृतावाङ्मुखत्वैः।
कस्या नोत्तानगाया दिवि सुरसुरभेरास्यदेशं गताग्रै-
र्यद् गोग्रासप्रदानव्रतसुकृतमविश्रान्तमुज्जृम्भते स्म॥ नै० २।१०५

४. उत्तानमेवास्य बलक्षकुक्षिं देवस्य युक्तिः शशमङ्कमाह।
तेनाधिकं देवगवेष्वपि स्यां श्रद्धालुरुत्तानगतौ श्रुतायाम्॥ नै० २२।८०

और आत्म-ज्ञान से विशुद्ध (निर्मल) अन्त करण वाले का (पाद-प्रक्षालन शुश्रूषा, नमस्कारादि से) पूजन करे।[१]

नल की चिन्ता करते ही हस को सेवा मे उपस्थित देखकर श्रीहर्ष को वेद की पूर्वोक्त घोषणा का स्मरण हो आता है, और वे कह उठते है —'सुकृती पुरुषों को अपनी प्रिय वस्तु के लिए केवल इच्छा करने भर की देर होती है।'[२]

आत्मा की व्याख्या करते हुए याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से साराश रूप से अन्त में कहा है —

"अरे मैत्रेयि, प्रथमतः आचार्य से और आगम से आत्मा का श्रवण करना चाहिए, पश्चात् तर्क से मनन करना चाहिए, तब निदिध्यासन (निश्चय से ध्यान) करना चाहिए। इस प्रकार इन तीनों साधनों के हो चुकने पर ही आत्मा का दर्शन होता है, अर्थात् जब तीनों ही एकत्व को पहुच जाते है तभी ब्रह्मैकत्व-विषयक सम्यक् दर्शन विशद् होता है, अन्यथा श्रवणमात्र से नहीं। अतः इन तीनों उपायों से पूर्ण अभ्यास-पूर्वक आत्मा को दर्शन (साक्षात्कार) का विषय बनाना चाहिए। अरे मैत्रेयि, आत्मा का श्रवण-मनन-निदिध्यासन (पुरःसरदर्शन) होने पर यह सब प्रतीयमान विश्वप्रपञ्च विदित होता है (जैसे रस्सी के जान लेनें पर उस में अध्यस्त सर्प।)"[३]

दमयन्ती ने भी नल की प्राप्ति के लिए उनके श्रवण मानसिक भावनात्मक दर्शन अथवा मनन तया एकाग्रतापूर्वक ध्यान के क्रमिक उपाय का अवलम्बन किया। वह हंस से कहती है :—

"मैने उन्हे लोगों से सुना, उन्मादवश उन्हे चारों ओर देखा, तथा एकाग्रचित्त से उनका ध्यान किया। अब मुझे या तो उनकी प्राप्ति या अपने प्राणों का नाश, दो में से एक होना है—और हस वह तुम्हारे हाथ है।"[४]

---

१. यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्वः कामयते यांश्चकामान्।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः॥
मुण्डको० ३।१।१०

२. प्रियमनु सुकृतां हि स्वस्पृहाया विलम्बः॥ नै० ३।१३४

३. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो। वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्॥ बृह० उप० २।४।५

४. श्रुतः स दृष्टश्चहरित्सुमोहाद्ध्यातः स नीरन्ध्रितबुद्धिधारम्।
ममाद्यतत्प्राप्तिरसुव्ययो वा हस्ते तवास्ते द्वयमेकशेषः॥ नै० ३।८२

छान्दोग्य श्रुतिवाक्य (५। १०।४–५) और उसके शङ्करभाष्य के अनुसार—केवल इष्ट (अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म) पूर्त (वापी, तडाग, आरामादि बनवाने) और दत्त (पात्रों को यथाशक्ति दान) का धर्म पालन करने वाले गृहस्थ जीव चन्द्रलोक में जाकर चन्द्रत्व (आप्य शरीर) को प्राप्त करके उस चन्द्रमण्डल में उस (इष्टापूर्त तथा दत्त रूप शुभ) कर्म के क्षयकाल तक निवास करके पुन एक क्षण भी न रुक सकने से जिस मार्ग से गए थे उसी से लौट कर पुनः मर्त्यलोक में आते हैं।[1]

वेद की इस उक्ति का ध्यान कर दमयन्ती चन्द्रमा को उपालम्भ देती है—

"अरे जड क्या तू यह समझता है कि प्राणों के निकलने पर दमयन्तीका मन (अन्त.करण) मुझमे लीन हो जायगा। विद्वान् स्मर ने तो उस ऋचा को मेरे विषय मे नल-मुख-चन्द्र-परक बताया है, अर्थात् वहा चन्द्र शब्द नल के मुखचन्द्र के लिए आया है, तेरे लिए नहीं।"[2]

वेद मे ब्राह्मण का वध पॉच महापातकों मे गिनाया गया है।[3]

दमयन्ती प्रलाप मे राहु के प्रति अपनी सखी द्वारा सन्देश भेज रही है—"सखि तुम राहु से मेरी ये बातें कहना कि राहु क्या तुम चन्द्रमा को ब्राह्मण समझकर छोड देते हो। अरे यदि यह ब्राह्मण होता तो वारुणी—(मदिरा, पश्चिम दिशा) सेवन से पतित होकर भी स्वर्ग कैसे पहुँचता?"[4]

ब्रह्म के स्वरूप के प्रति श्रुति का कहना है—ब्रह्म आनन्द रूप है।[5]

श्रीहर्ष नारद के इन्द्र-लोक पहुँचने के प्रसङ्ग मे वेद के पूर्वोक्त मन्त्र की ओर सङ्केत करते हैं—जैसे योगी अनादि भवसिन्धु को पारकर आनन्दस्वरूप ब्रह्म

---

१. तस्मिन् यावत्सम्पात मुषित्वा (छा० उप० ५।१०।४-५)।

२. किमसुभिर्ग्लपितैर्जडमन्यसे मयि निमज्जतु भीमसुतामनः।
ममकिल श्रुतिमाह तदर्थिकां नलमुखेन्दुपरां विबुधः स्मरः॥ नै० ४।५२

३. स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन्।
ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरंस्तैरिति॥ छान्दोग्योप० ५।१०।९

४. वद विधुन्तुदमालि मदीरितैस्त्यजसि किं द्विजराजधियारिपुम्।
किमुदिवं पुनरेति यदीदृशः पतित एष निषेव्य हि वारुणीम्॥ नै० ४।७०

५. आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् (तैत्तिरीय आरण्यक, ९ प्रपाठक, ६ अनुवाक विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (बृह० उप० ३।९।२८) (बृ० उ० ४।३।३२, ३३, तथा तै० उप० ब्रह्मानन्दवल्ली अनुवाक ५, ९ भी द्रष्टव्य हैं।)।

को प्राप्त करता है उसी प्रकार देवर्षि नारद अनन्त आकाश के बीच से जाते हुए इन्द्र निकेतन मे पहुँच गए।[1]

पाप-प्रशमन के लिए अघमर्षण सूक्त प्रसिद्ध है।[2]

इन्द्र नारद से वार्तालाप करते हुए कहते है—जिस प्रकार वेदोक्त श्रेष्ठ अघमर्षण ऋचाये पाप का प्रशमन करती है, उसी प्रकार आज मेरे श्रवण गोचर आप के—वचन मेरे इस सदेह-मूलक दुख का उन्मूलन करे।[3]

शुक्लयजुर्वेदीय शतपथब्राह्मणे के चतुर्दशकाण्डात्मक बृहदारण्यकोपनिषद् (४।३।२०—२३) के अनुसार स्वप्नावस्था में अविद्या की वृत्ति से पुरुष की अति सूक्ष्म हिता नाम नाड़िया शुक्ल नील पिङ्गल हरित लोहित रूप रस-विशेषों से पूर्ण होती है, जिनमे भेद (द्वैत) और भय की वासना रहती है। परन्तु अद्वयावस्था का सर्वात्मभावानुभव इसका परम लोक और अभय आप्तकाम, और अकाम रूप जिस स्वयज्योति आत्मस्वरूप मे पिता, माता, पुण्य-पापादि सभी भेद नष्ट हो जाते है, उस अवस्था मे उससे अन्य द्वितीय कुछ होता ही नही है। जिसे द्रष्टा अपने से पृथक् विभक्त देखे।[4]

जैसे कोई द्विजकुलोत्पन्न बटु भिक्षाटन करते हुए किसी द्विज-श्रेष्ठ से "हे सौम्य, जो अब द्वैत प्रपञ्च रूप से प्रतीत हो रहा है, वह पहले सत् (ब्रह्म) ही, एकही,

---

१. स व्यतीत्य वियदन्तरगाधं नाकनायकनिकेतनमाप।
सम्प्रतीर्य भवसिन्धुमनादिं ब्रह्म शर्मभरचारु यतीव॥ नै० ५।८

२. ऋतं च सत्यंचाभीद्धात्तपसो ध्यजायत। इत्यादि। ऋ० सं० १०।१९०।१-३

३. तद्विमृज्यमम संशयशिल्पि स्फीतमत्रविषये सहसाघम्।
भूयतां भगवतः श्रुतिसारैरद्य वाग्भिरघमर्षणऋग्भिः॥ नै० ५।१८।

४. ता वा अस्यैता हिता नाम नाडयो यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तावताणिम्ना तिष्ठंति शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णा अथ—यदेव जाग्रदभयं पश्यति तदत्राविद्यया मन्यतेथ यत्र—सर्वोस्मीतिमन्यते सोऽस्य परमो लोकः॥२०॥ तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्काभयं रूपम्...तद्वा अस्मै तदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम्॥२१॥ अत्र पितापिता भवति। तापसो तापसौ नन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति॥२२॥

—न हि द्रष्टर्दृष्टेर्विपरिलोको विद्यते विनाशित्वात्।
न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोन्यद् विभक्तं यत्पश्येत्॥२३॥

और अद्वितीय था"[१] इस अद्वैत-प्रतिपादक उपनिषद् (वचन) का अध्ययन करता है, उसी प्रकार "वृक्षों से पुष्प फल-रूपी भिक्षा प्राप्त कर अपनी वृत्ति चलाने वाले कोकिल पक्षी क्या दमयन्ती के मुखरूपी श्रेष्ठ ब्राह्मण से कामदेव के अद्वैतवाद का प्रतिपादन करने वाली कोई उपनिषद्-विद्या तो नही सीख रहा है।[२]

छान्दोग्योपनिषद् '(६।१५।१—२) के अनुसार अन्तकालिक रोगी की जब तक वाणी मन मे नहीं लीन हो जाती है, मन प्राण में, प्राण तेज मे और तेज पर-देवता मे तब तक उसे जानने-पहचानने का होश रहता है। और जब इसकी वाणी मन में, मन प्राण तेज मे और तेज पर-देवता मे प्रविष्ट हो जाता है, तब यहां मरता हुआ कुछ नही जानता है।[३]

बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार आत्मा के शरीर से उत्क्रमण करने पर प्राण वायु तथा उसके साथ ही अपान, उदान आदि वायु भी उत्क्रमण कर जाते हैं।[४]

दूतरूप नल के सम्मुख निराश दमयन्ती के उस उन्मुक्त विलाप में हमें वेद के पूर्वोक्त सिद्धान्त का आभास मिलता है। 'हाय, ये तो युग बीत रहे हैं, क्षण नहीं। कब तक वेदना सहूगी। मुझे तो मृत्यु भी नही है, क्योंकि प्रिय मेरे अन्त.करण से अलग नही हो रहे है, मन प्रिय को नही छोड रहा है, तथा प्राण मन को नहीं त्याग रहे हैं।[५]

देवों का मुख अग्नि है, यह बात श्रुति-प्रमाणित है।[६]

---

१. सदेवसोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्॥ छा० ६।२।१

२. प्रसूनबाणाद्वयवादिनी सा काचिद्द्विजेनोपनिषत् पिकेन।
अस्याः किमास्य-द्विजराजतो वा नाधीयते भैक्षभुजा तरुभ्यः॥ नै० ७।४८।

३. पुरुषं सौम्योपतापिनं ज्ञातयः पर्युपासते जानासि मां जानासि मामिति। तस्य यावन्न वाङ्मनसि सम्पद्यते मनःप्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायां तावज्जानाति॥१॥

अथ यदास्य वाङ्मनसि सम्पद्यते मनःप्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायामथ न जानाति॥२॥

४. तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमुत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा उत्क्रामन्ति॥
बृह० उप० ४।४।२

५. अमूनिगच्छन्ति युगानि न क्षणः कियत्सहिष्ये न हि मृत्युरस्तिमे।
स मां न कान्तः स्फुटमन्तरुज्झिता न तं मनस्तच्च न कायवायवः॥ नै० ९।९४

६. अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानाम्—(ऐतरेय ब्राह्मण, प्रथम अध्याय, चतुर्थखण्ड)।

इन्द्रादि चारों दिक्पाल अपने मुख से नल-मुख की शोभा प्राप्त करने में असमर्थ हो' अनलानन (अग्निमुख तथा नलविसदृशमुख) के पुनरुक्त दोष को न दूर कर सके।[1]

गङ्गा यमुना के सङ्गम पर मृत्यु पाने वाले के विषय में श्रुति कहती है :—

"जहां श्वेत (गङ्गा) तथा श्याम (यमुना) नदियाँ मिलती हैं वहाँ स्नान करने वाले स्वर्ग जाते हैं, और जो धीर जन (वहां) शरीर त्यागते हैं वे अमृतत्व के भागी होते हैं।"[2]

वेद के पूर्वोक्त वचन का उपयोग सरस्वती के इस वर्णन में हुआ है—

"संग्रामभूमि में महाराज ऋतुपर्ण की बाहुओं की धवल कीर्ति रूप गङ्गा तथा शत्रुओं की श्याम अपकीर्ति रूप यमुना का सङ्गम बनता है। इस प्रकार प्रयाग की भाँति इस अभिनव सङ्गम में प्राण त्यागकर वर-वीर-क्षत्रिय नन्दन वन में रम्भा आदि अप्सराओं के साथ आनन्दक्रीड़ा का उपभोग करते हैं।"[3]

---

१. तेषां तदा लब्धुमनीश्वराणां श्रियं निजास्येन नलाननस्य।
नालं तरीतुं पुनरुक्तिदोषं बर्हिर्मुखानामनलाननत्वम्॥ नै० *१०।२१

२. सितासिते सरिते यत्र सङ्गते (थे) तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति।
ये वै तन्वं विसृजन्ति धीरास्ते जनासौ अमृतत्वं भजन्ते॥
ऋ० वे० खिलसूक्त, मैक्समूलर द्वारा प्रकाशित २१।

मोक्षमूलर—मुम्बापुरी-आउफ्रेख्ट - सातवलेकर (औंध) प्रकाशित ऋग्वेदसंहिता पुस्तकों में ९।११३।११ के पूर्व वाले खिलमन्त्र—यत्र गङ्गा च यमुना यत्र प्राचीसरस्वती। यत्रसोमेश्वरो देवस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव। में (प्रयागस्थ) गङ्गा, यमुना, प्राची सरस्वती और सोमेश्वर देव का उल्लेख मिलता है। तथा १०।७५।५ के अनन्तर पठनीय परिशिष्ट सितासिते—इत्यादि मन्त्र में।

आउफ्रेख्ट-प्रकाशित - (१६) मुम्बापुरी तथा सातवलेकर (औंध) प्रकाशित ऋ० सं० एवं जुनागढ़ और अलवरवाली हस्तलिखित ऋ० सं० पुस्तकों तथा मुम्बा प्रकाशित ऋग्वेद मन्त्रपाठ और इंडिया आफिस वाली लिखित पुस्तकों में सं० ३७८ और ३७९ वाली आश्वलायन-मन्त्र संहिता में पठित।

३. द्वेष्याकीर्तिकलिन्दशैलसुतया नद्यास्य यद्दोर्द्वयी।
कीर्तिश्रेणिमयी समागममगाद् गङ्गा रणप्राङ्गणे।
तत्तस्मिन् विनिमज्य बाहुजभटैरारम्भि रम्भापरी-
रम्भानन्दनिकेतनन्दनवनक्रीडादराडम्बरः॥ नै० १२।१२

आत्मा का परिचय देते समय वेद "तुम वही हो"[१] तथा "वह आत्मा महान् और अजन्मा है।"[२] आदि महावाक्यों द्वारा उसका स्वरूप निर्धारित करता है। वेद के इस सिद्धांत का उपहास करता हुआ देहात्मवादी चार्वाक कहता है—

"मनुष्य जानता है कि यह शरीर ही मै हू, किन्तु वेद उसे बताता है—नहीं, तुम यह शरीर नहीं हो, अपितु 'तत्त्वमसि'। यह कितनी बड़ी धूर्तता है?"[३]

परलोक के विषय मे एक स्थान पर वेद का कहना है—"उसे कौन जानता है कि उस लोक (परलोक) में रहता है या नहीं।"[४]

चार्वाक वेद के इसी वाक्य को लेकर परलोक की सत्ता पर शब्द-प्रमाण द्वारा ही आघात कर रहा है—"जब स्वय वेद ही परलोक के विषय मे संशय-ग्रस्त हैं, तो उनको प्रमाण मानने वाला ससार परलोक मे कैसे विश्वास करे।"[५]

वेद मे इन्द्र को 'शतक्रतु' कहा गया है।[६] उसी प्रकार प्रसिद्ध पुरुष-सूक्त के मन्त्र द्वारा ब्राह्मण को मुखज, क्षत्रिय को बाहुज, वैश्य को ऊरुज तथा शूद्र को पादज या अन्त्यज कहा गया है।

वरुण वेदों की पूर्वोक्त युक्तियों को लोकप्रसिद्धियों के साथ सङ्गत दिखाते हुए वेदों की प्रामाणिकता सिद्ध करते हैं—"अरे नास्तिको शतक्रतु आदि देवगण तथा ऊरुज आदि जातियों की संसार में जो प्रसिद्धि है वह वेदगत वर्णनों से सङ्गत ही तो है—अर्थात् जैसे वेद मे इन्द्र शतक्रतु कहे जाते हैं तथा वैश्य क्षत्रिय आदि ऊरूद्भव एवं बाहुज कहे जाते हैं, ठीक वैसे ही लोक मे उनके पर्याय प्रसिद्ध हैं, फिर भी तुम्हे वैदिक विधानों पर आश्चर्य नही होता।"[७]

---

१. तत्त्वमसि—छा० उ० ६।८।७

२. स वा एष महनजआत्मा ॥ बृहदा० उ० ४।४।२२।२५

३. जनेन जानतास्मीति कायं नायं त्वमित्यसौ।
त्याज्यते ग्राह्यते चान्यदहो श्रुत्यातिधूर्तया ॥ नै० १७।५४

४. को हि तद्वेद यदमुष्मिल्लोकेऽस्तिनानवा (नै० १७।६२ की टीका में नारायण द्वारा उद्धृत)।

५. को हि वेदास्त्यमुष्मिन् वा लोक इत्याह या श्रुतिः।
तत्प्रामाण्यादमुं लोकं लोकः प्रत्येतु वा कथम् ॥ नै० १७।६२

६. शतक्रतुमर्णवं शाकिनं नरं गिरो म इन्दमुपयन्ति विश्वतः ॥ ऋ० सं० ३।५१।२ तथा ३।३७।२, ३, ६, ८, ९ इत्यादि शतशः स्थल द्रष्टव्य हैं।

७. शतक्रतूरुजाद्याख्याविख्यातिर्नास्तिकाः कथम्।
श्रुतिवृत्तान्तसंवादैर्न वश्चमदचीकरत् ॥ नै० १७।१९४

कलि को नलपुर में कहीं ब्राह्मण सुरापान करता दिखायी पडा, अत. (कहीं) ब्राह्मण को मदिरा लेते देखता हुआ कलि बडा प्रसन्न हुआ। किन्तु उस ब्राह्मण को सौत्रामणी-याग मे (मदिरा स्वीकार की विधि का पालन) करता हुआ देखकर वह बड़ा व्यथित हुआ ।[१]

वामदेव्य सामोपासना के अङ्ग रूप से वेध का यह विधान है--

समागम-प्रयोजन वाली तथा अपनी शय्या पर प्राप्त हुई स्त्री का परित्याग न करे।[२]

वहाँ (नैषधपुर मे एक स्थान पर) स्वयम् आकर उपस्थित हुई (गम्या, अथवा अगम्या) सभी प्रकार की स्त्री के कामुक को देखकर वह (कलि) बडा सन्तुष्ट हुआ। (कि इस व्यभिचारी का आश्रय लेकर मै यहा रह सकूगा) किन्तु (दूसरे ही क्षण) उसको वामदेव्य साम नाम की ब्रह्मविद्या का उपासक जानकर मुरझा गया।[३]

वेदविधान है कि किसी यज्ञ के अनुष्ठान मे दीक्षित होने पर यजमान अनुष्ठान काल तक दान, होम (सन्ध्या-स्नानादि) और (ग्रहणस्नानादि) नित्य-नैमित्तिक कर्मो से मुक्त रहता है।[४]

(नल नगरी में) वह (कलि) किसी ब्राह्मण को अपने नित्य और नैमित्तिक कर्म न करते हुए देख अतीव प्रसन्न हुआ, कि चलो, यही मेरे यहा रहने का आश्रय मिला। किन्तु उस ब्राह्मण के यज्ञ मे दीक्षित (होने के कारण दान होमादि नित्य नैमित्तिक कर्मों का त्यागी) जान कर निराश हो जाने के कारण तो उसका मुँह लटक गया। और वहाँ से उसे दूर ही भाग जाना पडा।[५]

यमश्विना नमुचेरासुरादधि सरस्वत्यसुनोदिन्द्रियाय।
इमं तं शुक्रं मधुमन्तमिन्दुं सोमं राजानमिह भक्षयामि॥ वही, १९।३४
यदत्र रिप्तं रसिनः सुतस्य यदिन्द्रो अपिबच्छचीभिः।
अहं तदस्य मनसा शिवेन सोमं राजानमिह भक्षयामि॥ वही, १९।३५

१. मुमुदे मदिरादानं विदन्नेष द्विजन्मनः। दृष्ट्वा सौत्रामणीमिष्टिं तं कुर्वन्तमदूयत॥ नै० १७।१८२

२. न काञ्चन परिहरेत् तद्व्रतम्॥ छान्दो० २।१३

३. कत्रं तत्रोपनम्रायां विश्वस्यावीक्ष्य तुष्टवान्।
स मम्लौ तं विभाव्याथ वामदेव्यास्युपासकम्॥ नै० १७।१९४

४. "दीक्षितो न ददाति न जुहोति" इत्यादिश्रुतेः--नैषधीय प्रकाशः १७।२०१ की टीका में नारायण द्वारा उद्धृत।

५. हृष्टवान् स द्विजं दृष्ट्वा नित्यनैमित्तिकत्यजम्।
यजमानं निरूप्यैनं दूरं दीनमुखोऽद्रवत्॥ नै० १७।२०१

सर्वस्वार अथवा सर्वमेघ नामक यज्ञ में ब्रह्म-स्वयंभू आत्महत्या करता है।[1]
"निषधपुर में कलि ने किसी व्यक्ति को आत्महत्या करते देखा। उसे बड़ी प्रसन्नता हुई, किन्तु जब उसे ज्ञात हुआ कि यह सर्वस्वार नामक वैदिक यज्ञ कर रहा है जिसमे आत्महत्या वैध है तो वह बडा दुःखी हुआ।"[2]

अघमर्षण सूक्त द्वारा[3] चुलुक मे जल लेकर नासिका से स्पर्श किया जाता है।

मध्याह्न सन्ध्यानुष्ठान के प्रसङ्ग में पूर्वोक्त क्रिया करते समय नल का वर्णन श्रीहर्ष करते हैं—"अधमर्षण मन्त्र का उच्चारण करते हुए नल ने हाथ में लिये जल को नासिका से लगाया। जल निर्मल श्वेत था, जिसे देखकर नेत्र प्रसन्न हो रहे थे; शीतल था, जिसे छूकर त्वगिन्द्रिय आनन्दित हो रही थी; मन्त्रोच्चार के साथ था, जिसे सुनकर श्रवणेन्द्रिय हृष्ट हो रही थी तथा स्वादिष्ट था, जिसके स्वाद से रसना प्रमुदित हो रही थी। इस प्रकार चारों इन्द्रियों को सन्तुष्ट देखकर मानों नासिका भी सुन्दर सुगन्ध पाने की दुराशा से उस जल को सूंघ रही थी।"[4]

ऋग्वेद के प्रसिद्ध विष्णु-सूक्त[5] का जप करते समय राजा नल का वर्णन इस प्रकार किया गया है—विष्णु-सूक्त का जप करने के लिये राजा ने अपने कर-कमल में पद्म-बीजों की बनी पद्माक्ष माला ली। मानो वे बीज पुन. अपने निवास-स्थान कमल में ही पहुँच गए हों।[6]

---

१. सोऽन्त्येष्टौ सर्वस्वाराख्ये यज्ञे आत्मानमेव पशुमन्त्रैः संस्कृतं घातयित्वा यज्ञभागमर्पयति, इति श्रुतिः—नै० प्रकाश १७।२०२ की टीका मे नारायण द्वारा उद्धृत (हिलेब्रां महोदय का मत है कि इस यज्ञ मे राजा अपना सर्वस्व त्याग कर संन्यास ग्रहण करता है, जैसा बुद्ध ने किया। यह (यज्ञ) उपाख्यानों पर ही आधारित है, और केवल पुरोहितों की कल्पना ही समझ पड़ता है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि इसका उल्लेख सबसे बाद मे लिखे गए सूत्रों में ही हुआ है)—कीथ-रेलिजन एंड फिलासफ़ी आफ दी वेद, द्वितीय भाग, पृ० ३४८।

२. आननन्द निरीक्ष्यायं पुरे तत्रात्मघातिनम्।
सर्वस्वारस्य यज्वानमेनं दृष्ट्वाथविव्यथे॥ नै० १७।२०२

३. ऋतं च सत्यंचाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत इत्यादि—ऋ० सं० १०।१९०

४. श्वैत्यशैत्यजलदैवतमन्त्रस्वादुताप्रमुदितां चतुरक्षीम्।
वीक्ष्यमोघधृतसौरभलोभं घ्राणमस्य सलिलघ्रमिवासीत्॥ नै० २१।१७

५. विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचम्, इत्यादि।—ऋ० सं० १।१५४।१-६

६. अक्षसूत्रगतपुष्करबीजश्रेणिरस्य करसङ्करमेत्य।
शौरिसूक्तजपितुः पुनरापत् पद्मसद्मचिरवासविलासम्॥ नै० २१।४८

पुरुष-सूक्त के अनुसार क्षत्रिय वर्ण की उत्पत्ति विराट्-पुरुष के बाहु से हुई मानी जाती है।[1]

परशुराम-अवतार की स्तुति करते समय नल वेद के पूर्वोक्त वर्णन की ओर संकेत करते हैं—"प्रभो, सृष्टि करते समय आपने अपनी भुजाओं से जिस क्षत्रिय जाति को उत्पन्न किया, फिर परशुराम का रूप धारण कर उन्ही भुजाओं में उस जाति को लीन भी कर लिया, आपकी उन वीर भुजाओं को यह उचित ही था, क्योंकि कारण मे ही कार्य का लय होता है।"[2]

वेद-वचन के अनुसार दक्षिणायन के समय शरीर त्यागने वाले (कर्मी गृहस्थ) क्रम से मासाभिमानिनी देवताओं, पितृलोक तथा आकाश प्राप्त करते हुए चन्द्रमा को प्राप्त करते हैं। यह चन्द्रमा सोम-राज देवों का अन्न है, जिसका देव-गण भक्षण करते हैं—(छा०)। वे इस चन्द्र को प्राप्त होकर अन्न बन जाते हैं। और जैसे ऋत्विज् यज्ञ में सोम का आप्यायन और अपक्षय करके भक्षण करते हैं वैसे ही देव भी सोम (चन्द्र) लोक मे शरीरपाने वाले कर्मियों का उपयोग करते हैं (बृह०)। इस प्रकार चन्द्रमा के सायुज्य और सालोक्य प्राप्त लोगों की गति होती है—(नारायणोपनिषद्)[3]।

चन्द्रमा के लाल रङ्ग को देखकर पूर्वोक्त श्रुतिवचन के सहारे नल दमयन्ती से कहते हैं—परशुराम ने सहस्रार्जुन का सिर काट कर उसके जिस रक्त से पितरों का तर्पण किया था, उसी रक्त ने मानों इस पितृलोक (चन्द्रमा) में पहुच कर इसे लाल वर्ण कर दिया है।[4]

---

१. बाहू राजन्यः कृतः। ऋ० सं० १०।९०।१२

२. क्षत्रजातिरुदियाय भुजाभ्यां या तवैव भुवनं सृजतः प्राक्।
जामदग्न्यवपुषस्तव तस्यास्तौ लयार्थमुचितौ विजयेताम्॥ नै० २१।६५

३. मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशम्‌।काशाच्चन्द्रमसमेषसोमो राजा तद्देवा नामन्नं तं देवा भक्षयन्ति॥ छान्दो० ५।१०।४
मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति ताँस्तत्रदेवा। यथा सोम राजानमाप्यायस्वापक्षीस्वेत्यवमेनाँस्तत्र भक्षयन्ति। बृहदा० ६।२।२६
अथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितृणामेव महिमानंगत्वा चन्द्रमसः सामुज्यंसलोक-तामाप्नोति—नारायणोप० ८०

४. तानीवगत्वा पितृलोकमेनमरञ्जयन्यानि स जामदग्नयः।
छित्वा शिरोऽस्त्राणि सहस्रबाहोर्विस्राणि विश्राणितवान्पितृभ्यः॥नै० २२।४६

चन्द्रमा के कलङ्क के प्रति भी वेद की उसी उक्ति के प्रमाण से एक दूसरी कल्पना करते हैं—पुत्रों ने अपने पितरों को श्रद्धासहित जो तिलाञ्जलि दी वह पितरों के लोक चन्द्रमण्डल मे चली जाती है, और वहाँ वे तिल एकत्रित होकर कलङ्करूप मे श्यामवर्ण दिखायी देते हैं, तथा वह जल चन्द्रमा का अमृत बन जाता है।[1]

श्रुति ने (जैसा अभी उद्धृत किया गया है) चन्द्रमा को देवों का अन्न बताया है तथा उसे देवों का भक्ष्य कहा है। नैषध में पूर्वोक्त वेद-वचन का दो बार उल्लेख हुआ है। एक बार दमयन्ती चन्द्रमा को उपालम्भ देती हुई कहती है—सागर से उत्पन्न होने वाले इस श्वेत विष का देवगण पीकर क्षय कर देते हैं, तो भी यह फिर से नया ही उदय होता है।[2] फिर वही दमयन्ती प्रिय के साथ एकान्त मे सौधशिखर पर बैठी हुई चन्द्रमा की प्रशंसा करती हुई कहती है—"सुधा-भोजी देवगण इस (सुधामय) चन्द्रमा को पीकर जो रिक्त कर देते हैं वह उचित ही है, इसके पूर्व इस चन्द्रमा के पिता सिन्धु को भी अगस्त्य मुनि ने पीकर रिक्त कर दिया था।[3]

शिक्षा

वेदाङ्गों मे शिक्षा का प्रथम स्थान माना गया है तथा उसे वेद का घ्राण कहा गया है।[4] शिक्षा का प्रतिपाद्य विषय है वर्णों की सख्या, उत्पत्ति, उच्चारण-विधि इत्यादि।[5]

---

१. स्वधाकृतं यत्तनयैः पितृभ्यः श्रद्धापवित्रं तिलचित्रमम्भः।
चंद्रं पितृस्थानतयोपतस्थे तदङ्करोचिः रवचिता सुधेव॥ नै० २२।११९

२. —एषविधुर्विशदं विषम्।
अपि निपीय सुरैर्जनितक्षयं स्वयमुदेति पुनर्नवमार्णवम्॥ नै० ४।६१

३. सुधाभुजो यत्परिपीय तुच्छमेतं वितन्वन्ति तदर्हमेव।
पुरा निपीयास्य पितापि सिन्धुरकारि तुच्छः कलशोद्भवेन॥ नै० २२।६७

४. शिक्षाघ्राणं तु वेदस्य। पा० शि० ३

५. वर्णो की संख्या के विषय में शिक्षा-शास्त्र का मत है—
त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णः शम्भुमते मताः।
प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयंभुवा॥३॥
स्वराः विंशतिरेकश्चस्पर्शानां पञ्चविंशतिः।
यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः॥४॥
अनुस्वारोविसर्गश्च ᳲक ᳲपौ चापि पराश्रितौ।
दुस्पृष्टश्चेतिविज्ञेयः लृकारः प्लुत एव च॥५॥

कुण्डिनपुरी के वर्णन प्रसङ्गों में एक स्थान पर शिक्षा-शास्त्र के पूर्वोक्त सम्पूर्ण

वर्णोत्पत्ति की अन्तःक्रिया के विषय में शिक्षा का मत है—

आत्मा बुध्या समेत्यार्थान् मनोयुङ्क्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्। मारुतस्तूरसि चरनान्द्रं जनयति स्वरम्॥ इत्यादि ॥८॥

वर्णो का विभाग पांच प्रकार से किया गया है—

सोदीर्णमूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।
वर्णाञ्जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः॥९॥
स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः।
इति वर्णविदः प्राहुर्निपुणं तन्निबोधत॥१०॥

१. उदात्तश्चानुदात्तश्चस्वरितश्चस्वरास्त्रयः।
ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति कालतो नियमा अचि॥११॥
उदात्तेनिषादगान्धारावनुदात्तऋषभदैवतौ।
स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपञ्चमाः॥१२॥

३. अष्टौ स्थानानि वर्णनामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकौष्ठौ च तालु च॥१३॥
ओभावश्च विवृत्तिश्च शषसा रेफ एव च।
जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्मणः॥१४॥
यद्योभावप्रसन्धानमुकारादिपरं पदम्।
स्वरान्तं तादृशं विद्याद्यदन्यद्व्यक्तमूष्मणः॥१५॥
हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तस्थाभिश्च संयुतम्।
औरस्यं तं विजानीयात् कण्ठ्यमाहुरसंयुतम्॥१६॥
कंठ्यावाहा विचुयशास्तालब्या ओष्ठजावुपू।
स्युर्मूर्धन्या ऋटुरषा दन्त्या लृतुलसाः स्मृता॥१७॥
जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तो दन्त्योष्ठ्यो वः स्मृतो बुधैः।
ए ऐ तु कण्ठतालव्या ओ औ कण्ठोष्ठजौस्मृतौ॥१८॥

४. अर्द्धमात्रा तु कण्ठ्या स्यादेकैरकारयोर्भवेत्।
ओकारौकारयोर्मात्रा तयोर्विवृतसंवृतम्॥१९॥
संवृतं मात्रिकं ज्ञेयं विवृतं तु द्विमात्रिकम्।
घोषा वा संवृता सर्वे अघोषा विवृताः स्मृताः॥२०॥
स्वराणामूष्मणां चैव विवृतं करणं स्मृतम्।
तेभ्योपि विवृतावैङौ ताभ्यामैचौ तथैव च॥२१॥

सिद्धान्त विमल दर्पण में प्रतिबिम्बित-से समझ पड़ते हैं, "जहाँ समस्त वर्ण

अनुस्वारयमानां च नासिकास्थानमुच्यते।
अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः॥२२॥
अलाबुवीणानिर्घोषो दन्त्यमूलस्वराननु।
अनुस्वारस्तु कर्तव्यो नित्यं ह्रा शषसेषु च॥२३॥
अनुस्वारे विवृत्यां तु विरामे चाक्षरद्वये।
द्विरोष्ठ्यौ तु विगृह्णीयाद्यत्रौकारवकारयोः॥२४॥
व्याघ्री यथा हरेत्पुत्रान् दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत्।
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद्वर्णान् प्रयोजयेत्॥२५॥
यथा सौराष्ट्रिकानारी तक्रं इत्यभिभाषते।
एवंरङ्गाः प्रयोक्तव्याः खेअरां इव खेदया॥२६॥
रङ्गवर्णं प्रयुञ्जीरन्नो ग्रसेत्पूर्वमक्षरम्।
दीर्घस्वरः प्रयुञ्जीयात् पश्चान्नासिक्यमाचरेत्॥२७॥
हृदये चैकमात्रस्त्वर्धमात्रस्तुमूर्धनि।
नासिकायां तथार्धं च रङ्गस्यैव द्विमात्रता॥२८॥
हृदयादुत्करे तिष्ठन् कांस्येनसमनुस्वरन्।
मार्दवं च द्विमात्रं च जघन्वां इति निदर्शनम्॥२९॥
मध्ये तु कम्पयेत्कम्पमुभौपार्श्वौ समौभवेत्।
सरगंकम्पयेत्कम्पंरथीवेतिनिदर्शनम्॥३०॥
एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या नाव्यक्ता न च पीडिताः।
सम्यग् वर्णप्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते॥३१॥
गीती शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखितपाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः॥३२॥
माधुर्यमक्षर व्यक्तिः पदच्छेदस्तुसुस्वरः।
धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका (के) गुणाः॥३३॥
शङ्कितंभीतमुद्घृष्टमव्यक्तमनुनासिकम्।
काकस्वरं शिरसिगतं तथा स्थान-विवर्जितम्॥३४॥
उपांशुदष्टं त्वरितं निरस्तं विलम्बितं गद्गदितं प्रगीतम्।
निष्पीडितं ग्रस्तपदाक्षरं च वदेन्न दीनं न तु सानुनास्यम्॥३५॥
प्रातःपठेन्नित्यमुरः स्थितेन स्वरेणशार्दूलरुतोपमेन।
मध्यंदिने कण्ठगतेन चैव चक्राह्वसंकूजित-सन्निभेन॥३६॥

(ब्राह्मण आदि जातियां, अथवा नील, पीत आदि रङ्ग, अथवा अकारादि वर्ण) मर्यादाशील हों, वह नगरी चित्रमयी (आश्चर्यमयी अथवा रग-विरगी) क्यों न हो? जहाँ अनेक मुख शब्द करते हों, वहाँ विभिन्न स्वर-भेद क्यों न हों?"[1]

इस एक श्लोक में श्रीहर्ष ने पूर्ण विद्वत्ता के साथ शिक्षा-शास्त्र के वर्णस्वरादि-विषयक समस्त सिद्धान्तो की ओर सङ्केत कर दिया है।

तारं तु विद्यात् सवनं तृतीयं शिरोगतं तच्च सदा प्रयोज्यम्।
मयूरहंसान्यमृतस्वराणां तुल्येन नादेन शिरःस्थितेन ॥३७॥

अचोऽस्पृष्टायणस्त्वेषीन्नेमिस्पृष्टाः शलः स्मृताः।
शेषाः स्पृष्टाहतः प्रोक्ता निबोधानुप्रदानतः ॥३८॥

अमोऽनुनसिकानह्रोनादिनोह्झषः स्मृताः।
ईषन्नादा यणोजश्च श्वासिनस्तु खफादयः ॥३९॥

ईषच्छ्वासांश्चरोविद्या, गोधनैतत प्रचक्षते।
दाक्षीपुत्रपाणिनिना येनेदं व्यावितं भुवि ॥४०॥

उदात्तमाख्याति वृषोङ्गलीनां प्रवेशिनी मूलनिविष्टमूर्धा।
उपान्तमध्ये स्वरितंधृतं च कनिष्ठिकायामनुदात्तमेव ॥४३॥

उदात्तं प्रवेशिनींविद्यात्प्रचयंमध्यतोङ्गुलिम्।
निहतं तु कनिष्ठिक्यां स्वरितोपकनिष्ठिकाम् ॥४४॥

अन्तोदात्तमाद्युदात्तमुदात्तं नीचस्वरितम्।
मध्योदात्तं स्वरितं द्युदात्तं त्र्युदात्तमितिनवपदशय्या ॥४५॥

अग्निः सोमः प्रवो-वीर्यं हविषां स्वबृहस्पतिरिन्द्राबृहस्पतिः।
अग्निरित्यन्तोदात्तंसोमइत्याद्युदात्रंप्रेत्युदात्तंवाइत्युदात्तंवीर्यंनीचस्वरितम् ॥४६॥
हविषां मध्योदात्तं स्वरिति स्वरितम्।
बृहस्पतिरिति द्युदात्तमिन्द्राबृहस्पति इति त्र्युदात्तम् ॥४७॥

अनुदात्तोहृदि ज्ञेयो मूर्ध्न्युदात्त उदाहृतः।
स्वरितः कण्ठमूलीयः सर्वास्ये प्रचयः स्मृतः ॥४८॥

चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रं त्वेव वायसः।
शिखीरौति त्रिमात्रं तु नकुलस्त्वर्धमात्रकम् ॥४९॥

१. स्थितिशालिसमस्तवर्णतां न कथं चित्रमयी बिभर्तु या।
स्वरभेदमुपैतु या कथं कलितानल्पमुखा न वा ॥ नै० २।९८

व्याकरण

नैषध व्याकरण शास्त्र के गूढ एवं सूक्ष्म सिद्धान्तों से ओत-प्रोत है। टीकाकार विद्याधर की उस उक्ति में कि आठों व्याकरणों तथा अन्य अनेक विषयों का ज्ञाता ही नैषध की टीका कर सकता है, किसी प्रकार की अतिरञ्जना नही है। विद्याधर, चाण्डू-पण्डित, मल्लिनाथ, नारायण आदि धुरीण टीकाकारों ने नैषधीय श्लोकों की व्याख्या मे पदे-पदे व्याकरण के गूढ नियमों की ओर सङ्केत किया है। पाणिनीय तथा कातन्त्र दोनों व्याकरणों का अवलम्ब लेकर विद्याधर एवं चाण्डू पण्डित-जैसे विद्वानों ने स्थान-स्थान पर मिलने वाली व्याकरणात्मक ग्रन्थियों को सुलझाने का प्रयत्न किया है। अतः श्रीहर्ष की व्याकरण-विषयक विशेषज्ञता समालोचना की इस पद्धति से स्वल्प-मात्र भी नही प्रदर्शित की जा सकती। उसके लिए तो सस्कृत-साहित्य की टीका-पद्धति ही समर्थ हो सकती है। इस प्रकरण मे नैषध के केवल उन्हीं स्थलों को उद्धृत किया जाता है, जिनसे श्रीहर्ष का व्याकरण-शास्त्र मे प्रेम एवम् अन्त.प्रवेश तथा उसके सूक्ष्म सिद्धान्तों से पूर्ण अभिज्ञता का पता चलता है। इससे उनका भाषा पर पूर्णाधिकार एव भाव व्यक्त करने का अद्भुत सामर्थ्य दोनों का प्रमाण मिल जाता है।

पाणिनीय व्याकरण मे प्रथमा विभक्ति केसु, औ, जस्, को लेकर हंस दयमन्ती के सम्मुख नल की प्रशसा करते हुए (श्लेष द्वारा) अपनी कल्पना का चमत्कार दिखाता है। "यदि महापुरुषों को श्रेणियों मे विभक्त किया जाय, तो वह व्यक्ति प्रथम माना जायगा, जोकि अपने ओजो-बल से असख्य शत्रुओं के पदों को अपने अधीन करने में पूर्ण समर्थ हुआ है।"

पक्षान्तर मे—"यदि सम्यक्रूप में विभक्तियों का विचार किया जाय, तो वह प्रथमा नाम की विभक्ति है, जो अपने सु-औ-जस् रूप एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन प्रत्ययों के कार्य-बल से अनेक प्रातिपदिक शब्दों को सिद्ध करने मे नितान्त समर्थ होती है।"[१]

व्याकरण शास्त्र में आदेश (किसी शब्द या वर्ण के स्थान पर किया गया अन्य शब्द या वर्ण) स्थानी के (जिसके स्थान पर किया गया है उसके) तुल्य होता है, किन्तु स्थानी के किसी अल् (वर्ण) के आश्रय से यदि कोई (व्याकरण सम्बन्धी) विधान करना होता है तो आदेश स्थानिवद्भाव को प्राप्त नही होता है।"[२]

---

१. क्रियेत चेत्साधुविभक्तिचिन्ता व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया।
या स्वौजसां साधयितुं विलासैस्तावत्क्षमा नामपदं बहु स्यात्॥ नै० ३।२३

२. स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ—पा० १।१।५६

श्रीहर्ष ने स्वयवर मे नल का रूप धारणकर पहुँचे हुए इन्द्र के प्रति कहे गए श्लोक मे उक्त सूत्र का अर्थ किस कौशल के साथ व्यञ्जित किया है ? इन्द्र पक्ष मे —"कार्यसाधन के लिए नैषध का रूप बनाकर, साक्षात् नल बनकर भी इन्द्र ने किस प्रकार अपने वास्तविक नीच भाव को धारण किया था—जिससे उन्हे अपनी ही बात की व्याख्या करनी पडी।" पक्षान्तर मे "प्रसिद्ध व्याकरण शास्त्र के निर्माता होकर भी विद्वान् इन्द्र ने भी अनल्विधि मे क्या दूषित स्थानिवद्भाव न किया।"[१] 'अनल', 'कार्य' आदि पदों मे श्लेष के बल से श्रीहर्ष ने इस श्लोक मे उक्त सूत्र का अर्थ अद्भुत चमत्कार के साथ सन्निवेशित किया है।

व्याकरण के अनुसार आर्धधातुक प्रत्यय के कार्यकाल मे अस् धातु को भू-आदेश हो जाता है।[२] अत अद्यतन भूत अर्थ में होने वाले लुङ्लकार में भी अस् के स्थान पर भू आदेश ही हो जाता है। व्याकरण के नियम का श्रीहर्ष काशी वर्णन के प्रसङ्ग मे श्लेष चमत्कार के साथ प्रयोग करते हैं। "हे दमयन्ति, जिस प्रकार अद्यतन भूत अर्थ मे अस् धातु भू का स्वरूप बन जाती है, उसी प्रकार काशी नगरी मे पहुँचकर ससार-सागर के जीव पार्वती-पति के ही रूप मे मिल जाते है (तारक मत्र के उपदेश से उन्हे शिव का सायुज्य प्राप्त हो जाता है)।[३]

कारक-प्रकरण मे एक नियम है कि जितने समय अथवा दूरी मे कोई कार्य पूरा हो जाता है, उस (समय एव दूरी वाचक शब्द) में तृतीया विभक्ति होती है।[४] चार्वाक शब्दच्छल द्वारा इस सूत्र को अपने मत के समर्थन मे किस प्रकार प्रयुक्त करता है—"मुनीश्वर पाणिनि ने सूत्र बनाया 'अपवर्गे तृतीया' जिससे उनका यही अभिप्राय है कि ससार में तीन प्रकृतिया होती हैं—पुरुष, स्त्री तथा नपुसक।[५] इसमें अपवर्ग (मोक्ष) के लिए तो केवल तृतीय प्रकृति अर्थात् नपुसक लोगों को प्रयत्न

---

१. स्वं नैषधादेशमहो विधाय कार्यस्य हेतोरपिनानलः सन्।
किं स्थानिवद्भावमधत्तदुष्टं तादृक् कृतव्याकरणः पुनः सः॥ नै० १०।१३६

२. अस्तेर्भूः—पा० २।४।५२

३. सायुज्यमृच्छति भवस्य भवाब्धियादस्तां पत्युरेत्य नगरीं नगराजपुत्र्याः।
भूताभिधानपटुमद्यतनीमवाप्य भीमोद्भवे भवति भावमिवास्तिधातुः॥
नै० ११।११७

४. अपवर्गे तृतीया—पा० २।३।६

५. तृतीयाप्रकृतिः षण्ढः—अमरकोष

करना चाहिए। शेष जो पुरुष-स्त्री-रूप दो प्रकृतिया है उन्हे भर-पेट काम में रत होना चाहिए।[1]

व्याकरण में लोट् लकार मे 'तु' और 'हि' के स्थान पर 'तातङ' आदेश होता है।[2] प्रभात वर्णन के प्रसंग मे वैतालिक लोग पूर्वोक्त सूत्र को लेकर अद्भुत कल्पना करते है :—

उष.काल (प्रभात) में कौवे ने प्रश्नवाचक 'किम्' 'शब्द' के प्रथमा द्विवचन के (द्विरुक्त) रूप (कौ, कौ) का उच्चारण करते हुए प्रश्न किया "बोलो पतञ्जलि (व्याकरण)-शास्त्र मे "तानङ" आदेश के स्थानी दो कौन है?" "कोकिल ने तुरंत उत्तर दिया "तुहि तुहि" ।[3]

दा तथा धा की तरह रूप वाली (दाप् दैप के अतिरिक्त) धातुओं की 'घु' सज्ञा की गई है।[4] प्रभात वेला मे कपोत की बोली सुनकर कवि कल्पना करता है, "कबूतर भी पाणिनीय शास्त्र का अध्ययन करने वाला हुआ है। शब्दों को साधते समय उसने जो तमाम खड़िया-मिट्टी खर्च की उसके कारण उसके कण्ठ मे अब भी सफेद निशान बना हुआ है। पर दैववश उसे सारा पढा हुआ पाठ विस्मृत हो गया है। केवल "दाधाघ्वदाप्" वाली "घु" संज्ञा याद रह गई है। अब उष काल मे उठकर वह उसी घु-सज्ञा को घोख रहा है। (घु घु कर रहा है) और पूर्व सस्कार के कारण सिर हिलाता जा रहा है।[5]

श्रीहर्ष पद-(शब्द) प्रयोग में व्याकरण शास्त्र की अपेक्षा लोक-प्रयोग को अधिक बलवान् बताते हुए उदाहरण के लिए, "अकारान्त शब्द से 'इन' तथा 'ठन्'

---

१. उभयीप्रकृतिः कामे सज्जेदितिमुनेर्मनः।
अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि॥ नै० १७।७०

२. तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्॥ पा० ७।१।५३

३. इह किमुषसि पृच्छाशंसि किं शब्द-रूपप्रतिनियमितवाचा वायसेनैव पृष्टः।
भण फणिभवशास्त्रे तातङः स्थानिनौ काविति विहिततुहीवागुत्तरः कोकिलोभूत्॥
नै० १९।६०

४. दाधाघ्वदाप्—पा० १, १, २०

५. दाक्षीपुत्रस्य तन्त्रे ध्रुवमयमभवत्कोप्यधीती कपोतः।
कण्ठे शब्दौघसिद्धिक्षतबहुकठिनी शेषभूषानुयातः।
सर्वं विस्मृत्य दैवात्स्मृतिमुषसि गतां घोषयन्यो घुसंज्ञां।
प्राक्संस्कारेण संप्रत्यपि धुवति शिरः पट्टिकापाठजेन॥ नै० १९।६१

प्रत्यय होता है"[१]—इस नियम का उल्लेख करते हैं। "वास्तव मे शब्दों के प्रयोग में लोक-व्यवहार व्याकरण के नियमों की कोई अपेक्षा नही करता, अपितु उनका अपमान-सा करता है। शश (खरगोश) पास में होने से चन्द्रमा को शशी तो कहते हैं, पर मृग भी तो चन्द्रमा के पास है किन्तु उसे मृगी नही कहते।"[२]

ज्यौतिष

नैषध मे ज्यौतिष-शास्त्र के सिद्धान्तों का अनेक स्थलों पर सुन्दर सकेत हुआ है, जिनसे श्रीहर्ष का उस शास्त्र मे गहन प्रवेश प्रमाणित होता है। यहाँ उदाहरणार्थ कुछ स्थल प्रदर्शित किए जाते हैं—

ज्यौतिष शास्त्र में—बुध को उत्तर दिशा का, सूर्य को पूर्व दिशा का तथा शुक्र को दक्षिण-पूर्व (आग्नेयकोण) का स्वामी कहा गया है।[३]

इस प्रकार सदा सूर्योदय के समय या (जब तक सूर्य पूर्व-दिशा से दूर नहीं चले जाते) सूर्य को बुध शुक्र का सामीप्य मिलता है।

श्रीहर्ष राजा नल का वर्णन करते समय श्लेष के सहारे ज्योतिष के पूर्वोक्त सिद्धान्त को सुन्दर ढग से व्यक्त करते हैं—

"कान्तिमान् कुशल राजा नल कवि तथा बुधों (विद्वानो) के साथ काव्य एव शास्त्र का सानन्द अभ्यास करते हुए दिन प्रति दिन उसी प्रकार अभ्युदय को प्राप्त कर रहे थे जैसे, बुध ओर शुक्र से युक्त भगवान् भास्कर प्रतिदिन उत्कर्ष को प्राप्त करते हैं।"[४]

(वैसे बुध-शुक्र के साथ सूर्य का योग बड़ा उत्पात कारक माना जाता है। उसमें धान्य—महर्घता तथा अल्पवृष्टि का भय होता है और ताप की मात्रा बढ़ती है।[५]

---

१. अत इनिठनौ—पा० ५।२।११५

२. भङक्तुं प्रभुर्व्याकरणस्य दर्पपदप्रयोगाध्वनि लोक एवः।
शशो यदस्यास्ति शशी ततो ऽयमेवं मृगो स्यास्ति मृगीति नोक्तः॥ नै० २२।८२

३. दिगीशाःसूर्यशुक्रार् राह्वर्केन्दुज्ञसूरयः—बृहद्दैवज्ञरञ्जन,
पृ० २८२ मे उद्धृत नारद मत

४. अजस्रमभ्यासमुपेयुषासमं मुदैव देवः कविना बुधेन च।
दधौ पटीयान् समयं नयन्नयं दिनेश्वरश्रीरुदयं दिने दिने॥ नै० १।१७

५. एकराशिस्थिताह्येते सौम्यशुक्रदिनाधिपाः।
सर्वधान्य महार्घत्वं मेघाः स्वल्पजलप्रदाः॥ बृ० नै० र० पृ० १६ में उद्धृत—
मयूरचित्रक

ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीहर्ष को यह ग्रह-योग केवल श्लेष की पूर्ति के लिए अभीष्ट था।)[१]

यात्रा के समय जलपूर्ण कलश आम्रफल तथा गज का दर्शन शुभ एवं सर्प तथा श्वापद का दर्शन अशुभ माना जाता है।

हंस को कुण्डिनपुर जाते समय सर्वप्रथम जलपूर्ण कलश ही दृष्टिगोचर होता है—मार्ग मे सर्वप्रथम राजहस को पथिक की प्रार्थित सिद्धि का द्योतक एक जलपूर्ण कलश दिखायी पडा।[२] फिर हस को थोड़ी देर तक आकाश से राजा के उपवन को देखने की अभिलाषा हुई। अतः कौतुकवश मन्द गति से उडते हुए उसने उस विलास-वन मे फल-विनम्र आम्र-वृक्षों को देखा।[३] फिर पक्षीन्द्र ने वहाँ एक पर्वत देखा, जो आकाश के मेघखण्ड रूपी करिशावकों से संयुक्त था, जहाँ विशाल वृक्षों के नीचे व्याघ्र-सर्प आदि (भयावह अपशकुन-कारी जीव) छिपे पडे थे, तथा जो छोटे पादपों से भरा हुआ था।[४]

ज्यौतिष सिद्धान्तानुसार प्रत्यादित्य (सूर्य के ललाटस्थ रहने पर ललाटी योग में) यात्रा प्रशस्त नही मानी गयी है।[५] जिस समय दमयन्ती हंस को पकड़ने के लिए उसके पीछे लगती है, उस समय सखियाँ शब्दच्छल द्वारा उसका उपहास करती हैं, जिसमें ज्यौतिष के पूर्वोक्त सिद्धान्त की ओर सङ्केत रहता है—'सखियों ने (शब्द) छलपूर्वक उपहास किया—"सुन्दरि, तुम्हारी यह हसाभिमुख (हसपक्षी तथा सूर्य

१. श्वेताःसुमनसःपृष्ठापूर्णकुम्भस्तथैवच। गावस्तुरङ्गमोनागोवृद्धएकः पशुस्त्वजः।
घृतं दधि पयश्चैव फलानि विविधानि च....। बृ० दै० रं०, पृ० २८६-२८७
सितवस्त्रं प्रसन्नाम्भः फली वृक्षो नभोऽमलम्। अग्निपुराण, २३०।१
गोधासर्पःशशकोजाहकश्चयानेदृष्टःकृकलासो पिनेष्टः॥ बृ० दै० रं०, पृ० २८६

२. प्रथमं पथि लोचनातिथिं पथिक-प्रार्थितसिद्धिशंसिनम्।
कलसं जलसम्भृतं पुरः कलहंसः कलयाम्बभूव सः॥ नै० २।६५

३. अवलम्ब्य दिदृक्षयाम्बरे क्षणमाश्चर्यरसालसंगतम्।
स विलासवनेऽवनीभृतः फलमैक्षिष्टरसालसंगतम्॥ नै० २।६६

४. नभसः कलभैरुपासितं जलदैर्भूरितरक्षुपन्नगम्।
स ददर्श पतङ्गपुङ्गवो विटपच्छन्नतरक्षुपन्नगम्॥ नै० २।६७

५. क—दिगीशाः सूर्यशुक्रार राह्वर्केन्दुज्ञसूरयः।
दिगीश्वरे ललाटस्थे यातुर्न पुनरागमः॥
ख—दिशामधीशा रविशुक्रभौमतमोयमेन्द्विन्दुजसूरयः स्युः।
ललाटगेनप्रवसेद्दिगीशे गन्तव्यमस्मिन् खलु कण्ठकस्थे।
बृहद्दैवज्ञरंजन में उद्धृत (क) नारदमत तथा (ख) श्रीपतिमत पृ०-२८२

की ओर) यात्रा प्रशस्त नही।" दमयन्ती ने उनको उत्तर दिया—"सखियो, यह हंस मेरा अपशकुन-रूप नहीं, किन्तु मेरे भावीप्रिय (शुभवार्ता अथवा पति) का सूचक है।"[1]

ज्यौतिष शास्त्र ने मनुष्य, देवता तथा ब्रह्मा के काल का परस्पर सम्बन्ध निकाला है।[2] विरहवेदना की असह्यता व्यक्त करती हुई दमयन्ती कहती है—"गणित शास्त्र में मनुष्य देवता तथा ब्रह्मा का जिस काल परिणाम से युगनिर्माण होता है (एक का क्षण दूसरे के युग के बराबर होता है) उसी प्रकार सयोगियों के क्षण के बराबर ही वियोगियों का युग क्यों न बनाया गया?"[3]

ज्यौतिष शास्त्र के अनुसार पूर्णचन्द्र को शुभग्रह तथा क्षीणचन्द्र को पापग्रह माना जाता है।[4] विरहव्यथिता सुन्दरी दमयन्ती पूर्ण चन्द्र के प्रति क्रुद्ध होकर कहती है—"सखि, विरहीवर्ग के वध मे निरत इस सम्पूर्ण चन्द्र को ही तुम पापग्रह समझो। देवों ने जिसका अमृत पी लिया है वह अमावस्या का चन्द्र तो निष्पाप है। पर इन ज्यौतिषियों की कैसी उलटी बाते होती है?"[5]

---

१. शस्ता न हंसाभिमुखीपुनस्ते यात्रेति ताभिश्छलहस्यमाना।
साह स्म नैवाशकुनी भवेन्मे भाविप्रियावेदक एष हंसः॥ नै० ३।९

२. मासैर्द्वादशभिर्वर्ष दिव्यं तदहमुच्यते। सुरासुराणामन्योन्यमहोरात्रं विपर्ययात्।
तत्षष्टैः षड् गुणा दिव्य-वर्षमासुरमेवच। तद्द्वादशसहस्राणि चातुर्युगमुदाहृतम्॥
....४३२००००

युगानांसप्ततिःसैकामन्वन्तरमिहोच्यते।
कृताब्दसंख्या (१७२८०००) स्तस्यान्तेसन्धिःप्रोक्तोजलप्लवः॥
ससन्धमस्ते मनवो कल्पेज्ञेयाश्चतुर्दश।
कृतप्रमाणं कल्पादौ सन्धिः प्रोक्तोजलप्लवः॥
इत्थं युगसहस्रेण भूतसंहारकारकः।
कल्पो ब्राह्ममहः प्रोक्तं शर्वरी तस्यतावती॥
परमायुः शतं तेषां तयाहोरात्रसंख्यया।
आयुषोर्द्धगतं तस्य शेषात्कल्प्योयमादितः।

(सूर्यसिद्धान्त-बृ० द० र० में उद्धृत पृ० ५)

३. नरसुराब्जभुवामिव यावता भवति यस्य युगं यदनेहसा।
विरहिणामपि तद्वतवद्युवक्षणमितं न कथं गणितागमे॥ नै० ४।४४

४. अर्द्धेनिद्वर्क सौराराः पापा, ज्ञस्तद्युतोपरे।
शुभाः पापोतमः केतू विष्णुर्धर्मोस्तिरोदितौ॥ बृ० दै० र०, ३२।२४

५. विरहिवर्गवधव्यसनाकुलं कलयपापमशेषकलं विधुम्।
सुरनिपीतसुधाकमपापकं ग्रहविदोविपरीतकथाः कथम्॥ नै० ४।६२

ज्यौतिष-सिद्धान्त है कि सूर्य-रश्मियों के प्रतिबिम्ब पडने से ही चन्द्रमा प्रकाशित होता है।[1] देव-दौत्य स्वीकार कर नल जब कुण्डिनपुर के समीप पहुचे उस समय जैसे भानुमण्डल से निकलकर रश्मिजाल चन्द्रमण्डल मे प्रवेश करता है, उसी प्रकार सारथि-सनाथ रथ से उतरकर राजा ने नगर मे प्रवेश किया।[2]

यात्रा का विचार करते समय ज्यौतिष का सिद्धान्त है कि चित्रा और स्वाती मे यात्रा करने वाले मनुष्य न सुख पाते हैं और न कुशल से लौटते हैं।[3] दमयन्ती से उसके प्रति वरुण के अनुरागातिशय का वर्णन करते हुए नल कहते हैं—"सुन्दरि, सन्ध्या वेला मे जो दिशा अपने शरीर मे अङ्ग-राग लगाने की बडी शौकीन है उसी के पति वरुण ने तुम्हारे प्रति अपने चित्त को उस समय भेजा, जिस मुहूर्त मे निकला हुआ पथिक फिर लौटकर नहीं आता।"[4]

जन्मकुण्डली बनाते समय ज्यौतिषी जन्मकालीन शुभाष्टक वर्ग लिखते हैं।[5] दमयन्ती के अधर पर सुन्दर आठ रेखाओं के प्रति नल उत्प्रेक्षा करते हैं—प्रिये, तुम्हारे जिस बिम्बारुण अधर पर मनोज का शुभ अष्टकवर्ग लिपिबद्ध किया गया है, वही बिम्बारुण अधर मेरे द्वारा की गई दन्तक्षत पंक्ति के रगों से भूर्जपत्र बने।[6]

विवाहमुहूर्त गुणों सहित तथा ग्रहों के उदयास्त दोषों से रहित होना चाहिए।[7] महाराज भीम ने दमयन्ती के विवाह के लिए इसी प्रकार का अत्यन्त प्रशस्त मुहूर्त

---

१. बृहत्संहिता ४।१-४

२. रथादसौ सारथिनासनाथाद्राजावतीर्याथ पुरं विवेश।
निर्गत्य बिम्बादिव भानवीयात् सौधाकरं मण्डलमंशुसङ्घः॥ नै० ६।७

३. कृत-प्रयाणमष्टासुनकदाचिन्निवर्तते। चित्रात्रयमघाश्लेष तथार्द्राभरणीद्वयम्॥
बृ० दै० रं०, यात्राप्रकरण मे गर्गमत उद्धृत, पृ० २७८

४. यस्तन्विभर्ता घुसृणेन सायं दिशः समालम्भन-कौतुकिन्याः।
तदा स चेतः प्रजिधाय तुभ्यं यदा गतो नैति निवृत्य पान्थः॥ नै० ८।८०

५. जातकाभरण, दृष्टिशीलाध्याय, श्लो० १३

६. शुभाष्टवर्गस्त्वदनङ्गजन्मनस्तवाधरेऽलिख्यत यत्र लेखया।
मदीयदन्तक्षतराजिरञ्जनैः स भूर्जतामर्जतु बिम्बपाटलः॥ नै० ९।११९

७. इष्टोदयांशे निजपत्यदृष्टवरस्य मृत्युस्तदसंयुते च।
अस्तांशकेप्येवमदृष्टयुक्ते स्वस्वामिना नाशमुपैति कन्या॥
वसिष्ठ—बृ० दै० रं०, पृ० २३४ पर उद्धृत श्रीपति।
उदयगतनवांशः स्वेशदृष्टो युतो वा न भवति यदि मृत्युः स्यात्तदानीं वरस्य।
परिणयसमये चैवमस्तोदयांशः स्वपतिसहितदृष्ट्वः (१) मृत्युकारी च वध्वाः॥ वही

विचरवाया—"बाहर आकर राजा भीम ने ज्यौतिषियों की सभा की जिसमें उन लोगों ने राजा से गुरु, शुक्र आदि ग्रहों के उदय-अस्त दोषों से निर्मुक्त तथा जामित्र आदिगुणों से संयुक्त मुहूर्त बताया। अत· राजा ने उसी मुहूर्त में कन्यादान का उपक्रम (प्रारम्भ) किया।"[१]

चन्द्रमा के साथ गुरु-शुक्र के योग को दुरुधर योग कहते हैं।[२]

आचार्य बराहमिहिर ने दुरुधर योग का लक्षण इस प्रकार बताया है—चन्द्रमा से दूसरे तथा बारहवे दोनों स्थानों में सूर्य को छोडकर अन्य ग्रहों के रहने पर दुरुधर योग होता है।[३]

इसी को कल्याण-वर्मा ने तथा श्रीनाथ भट्ट ने कोष्ठी-प्रदीप मे स्पष्ट किया है—"सूर्य को छोडकर जब दो ग्रह चन्द्रमा से द्वादश एवं द्वितीय स्थान में हों तो उसे दुरुधर योग कहते हैं।[४] जिसके जन्म-समय में दुरुधर योग होता है वह व्यक्ति अत्यन्त भाग्यशाली माना जाता है। ज्यौतिष के इस योग का उल्लेख दमयन्ती के कानों में कुण्डल पहनाती हुई उसकी सखी कहती है—"कानों मे कुण्डल पहनाकर सखी ने कहा—सुन्दरि, जैसे गुरु शुक्र के साथ चन्द्रमा के दुरुधर नामक योग मे उत्पन्न होने वाला बालक वृद्धिशाली होता है, उसी प्रकार इन कुण्डलों के साथ तुम्हारे मुख-चन्द्र का सम्पर्क तुम्हारे प्रिय नल में निश्चय ही अतिशय काम उत्पन्न करेगा तथा उसे सदा बढाएगा।"[५]

---

१. निरीय भूपेन निरीक्षिताननः शशंस मौहूर्तिकसंसदंशकम्।
गुणैररीणैरुदयास्तनिस्तुषं तदा स दातुं तनयां प्रचक्रमे॥ नै० १५।८

२. गुरुभार्गवयोर्योगश्चन्द्रेणैव यदा भवेत्। तदा दुरुधरायोगः।

३. हित्वार्कं सुनफानफा दुरुधराः स्वान्त्योभयस्थैर्ग्रहैः शीतांशोः। बृहज्जातक, १३।३

४. रविवर्जं द्वादशगैरनफाचन्द्राद्द्वितीयगैः सुनफा।
उभयस्थितैर्दुरुधरा केमद्रुम-संज्ञकोऽतोन्यः।

५. अवादि भैमी परिधाप्य कुण्डले वयस्ययाभ्यामभितः समन्वयः।
त्वदाननेन्दोः प्रियकामजन्मनि श्रयत्ययं दौरुधरीं धुरं ध्रुवम्॥ नै० १५।४२

एकादश अध्याय

व्युत्पत्ति—दर्शन

नैषध विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों के मार्मिक विषयोल्लेखों से भरा पड़ा है। श्रीहर्ष समस्त दर्शनों के अद्वितीय विद्वान् थे—उनके तर्क अप्रत्याख्येय होते थे।[1]- उन्होंने दर्शनों का केवल शास्त्रीय ज्ञान ही नहीं प्राप्त किया था, अपितु श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन द्वारा दर्शन को अपने जीवन का ही अङ्ग बना लिया था। उनकी अपने प्रति "जो समाधि में आनन्दसागर परब्रह्म का साक्षात्कार करता है (यः साक्षात्कुरुते समाधिषुपरब्रह्म प्रमोदार्णवम्-[2])" केवल गर्वोक्ति ही नहीं तथ्योक्ति भी थी। क्योंकि ब्रह्म के सत् चित् (ज्ञान) तथा आनन्द तीनों प्रकार के स्वरूप का साक्षात्कार हुए बिना किसी मेधावी पुरुष से भी समस्त ज्ञान कोष का ऐसा स्फुरण (प्रकाश) असम्भव था। अपने अधृष्य तर्कों के बलसे श्रीहर्ष ने "खण्डन-खण्ड-खाद्य" में प्रतितन्त्र-सिद्धान्तों का उन्ही की युक्तियों से खण्डन करते हुए वेदान्त-सम्मत अद्वैत-ब्रह्म की स्थापना की है। नैषध में प्रायः सभी दर्शनों के विभिन्न सिद्धांतों का उल्लेख हुआ है, जिससे कभी कभी ऐसा प्रतीत होता है मानों श्रीहर्ष नैषध को विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों का एक परिचय-ग्रन्थ बनाना चाहते थे।[3]

प्रस्तुत अध्याय में नैषधोल्लिखित विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों का ही विवेचन किया जायगा। यहा संक्षेप में कौन-सा सिद्धान्त किस दर्शन का है तथा उसका पूर्ण स्वरूप क्या है, केवल इतना ही दिखाना अभीष्ट है। विस्तार के भय से और अधिक विवेचन में नही पड़ना है।

न्याय-वैशेषिक

नैषध में न्याय-वैशेषिक सिद्धान्तों का अत्यधिक उल्लेख हुआ है। न्याय दर्शन के अनुसार कार्य की उत्पत्ति में तीन कारण होते हैं: (१) समवायि अथवा

---

१. धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः॥ नै० २२।१५३

२. नैः २२।१५३

३. हान्दिकी—नै० पृ० ४९३

उपादान कारण' (२) असमवायि अथवा सहकारि कारण तथा (३) निमित्त कारण। उदाहरणार्थ घट की उत्पत्ति में मृत्तिका समवायि-कारण है, दण्ड, चक्र सूत्र आदि असमवायि कारण तथा कुम्भकार अथवा अन्य कोई अदृष्ट वस्तु निमित्त कारण है। समवायिकारण के गुण, कार्य मे समवेत नित्यसम्बन्ध-रूप (समवाय से प्राप्त)[1] होते हैं, किन्तु असमवायि तथा निमित्त कारण के गुण समवेत नहीं होते। दण्डचक्र आदि के हरित या पीत होने का तथा कुम्भकार के गौर या श्याम होने का घट के रग पर कोई प्रभाव नहीं पडेगा।

हंस नल से दमयन्ती के अद्भुत सौन्दर्य की प्रशंसा करता हुआ कहता है—"सम्भवतः कलश मे यह चक्र के समान घुमाने का गुण उसके कारणरूप दण्ड से प्राप्त हुआ है, क्योंकि वह कलश दमयन्ती के उन्नत स्तनों का रूप धारण कर अपने कान्ति-प्रवाह से चक्र-भ्रम[2]- उत्पन्न कर देता है।[3]

कलश (घट) ने जब सुन्दरी के स्तनों का रूप धारण किया तो इस अभिनव रूप मे उसने अपने असमवायि कारण दण्ड के (चक्र-भ्रमकारिता) गुण को अपना लिया। दण्ड का कार्य चक्के को घुमाना (चक्रभ्रमकारिता) है। कुचकलश भी अपने चारों ओर प्रभाधारा का चक्र-सा घुमा रहा है। नारायण ने चक्रभ्रम-कारिता का अर्थ इस प्रकार किया है—

---

१. उत्पत्तिधर्मकस्य द्रव्यस्य गुणाः कारणाद् उत्पद्यन्ते—न्यायसूत्र ३।१।२५ पर वात्स्यायनभाष्य। स्थाल्यादिषु च तुल्यजातीयानामेककार्यारम्भदर्शनाद् भिन्न जातीयानामेककार्यारम्भानुपपत्तिः—न्या० सू० ३।१।३१ पर भाष्य। कारण-भावात्कार्यभावः। वै० सू० ४।१।३॥ रूपादीनां कारणैः सद्भावात् कार्यं सद्भावः। कारणगुणपूर्वका हि कार्यगुणाभवन्तिघटपटादौ तथा दर्शनात्। उक्त-सूत्र पर उपस्कार। पृथिव्यां—रूपरसगन्धस्पर्शाः—कारणगुणपूर्वका इति रूपाश्रयस्य घटादैर्यत्समवायि कारणं कपालादि तद्गुणपूर्वकाः। तथा च कपालरूपं कारणैकार्थ समवायप्रत्यासत्याघटरूपाद्यसमवायिकारणम्, एवं रसादावपि—वै० सू० ७।१।६ पर उपस्कार।

२. यहां चक्र-भ्रम शब्द मे श्लेष है, जिससे इसका यह भी अर्थ होता है कि कुचकलश अपनी प्रभाधारा में दो चक्रवाकों का भ्रम पैदा करते हैं। युवती के कुचों की उपमा चक्रवाक-युगल से दी भी जाती है। किन्तु इसे श्लिष्टार्थ में कुचकलश से अपने हेतुभूत दण्ड का कोई सम्बन्ध नहीं। अर्थात् हेतुदण्ड पद का प्रयोग ही अभिप्राय रहित (व्यर्थ) हो जाता है।

३. कलशे निज-हेतुदण्डजः किमु चक्र-भ्रम-कारितागुणः।
स तदुच्च-कुचो भवन्प्रभा-झर-चक्र-भ्रममातनोति यत्॥ नै० २।३२

"प्रभाङ्करेण दीप्ति-समूहेन चक्रभ्रमं कुलाल-चक्रभ्रमणमर्थाद्दृष्टेः करोति । सुन्दरवस्तुदर्शनेन दृष्टेर्भ्रमणं भवति ।"

उन्होंने दण्ड को घट का निमित्त-कारण माना है—

अत्र तु निमित्तगुणः कार्य-गुणमारभते—इत्यादि ।

नरहरि ने भी दण्ड को घट का निमित्त कारण बताया है। उन्होंने इस श्लोक की व्याख्या में कहा है—

घटे चक्रभ्रमकारितागुणो दृश्यते । स निजस्य घटस्य हेतुभूताद्दण्डाज्जातः किमु । अन्यत्र समवायिकारणगताद्गुणात् कार्यगुणोत्पत्तिः अत्र निमित्तकारणाद्दण्डादपि गुणोत्पत्तिराशङ्क्यते । इत्यादि ।

किन्तु चाण्डूपण्डित ने दण्ड को घट का असमवायिकारण ही माना है। उन्होंने असमवायि तथा निमित्ति दोनों को असमवायि नाम दिया है। उनकी इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार है—

अयमर्थः—कार्यं यदुत्पद्यते तत्र जायमाने कारणत्रयम् भवति । एकं समवायिकारणं मृत्तिका । उपादान-कारणमपि तदेवोच्यते । द्वितीयमसमवायिकारणं दण्डचक्रचीवरदोरकादिसहकारिकारणमपितदेवोच्यते । तृतीयं निमित्तकारणं कुलालादि अदृष्टादिक च । तत्र उपादानकारणस्य मृत्तिकादेः-गुण.श्यामत्वादि घटे कार्ये समवैति । ततो घटोऽपिश्यामो भवति परम् असमवायिनः सहकारिकारणस्य चक्रदण्डीचीवरादेःगुणो न घटे समवैति । निमित्त-कारण कुलालादेश्चगुणो न कार्ये समवैति । गौरेण कुम्भकारेण कृतो घटो गौरो न भवति श्वेतेन दण्डकाष्ठेन कृत.श्वेतेन दोरकेण चोत्तारित घटः श्वेतो न भवति । निमित्त-कारण-सहकारिकारणस्य च द्वयस्याप्यसमवायित्वात् । अत्र घटे चक्रभ्रमकारिता-लक्षणौ गुणो दृश्यते स च असमवायिकारणाद्दण्डाज्जात. इत्यादि ।

कार्य में उसके समवायिकारण के गुणों की सत्ता के इस सिद्धान्त का उल्लेख नैषध में अन्यत्र भी हुआ है।

(१) वहीं हंस दमयन्ती से अपने सुवर्णमय-शरीर की रूप-समृद्धि का हेतु बताता है—"स्वर्गगा की स्वर्णकमलिनियों के मृणालाग्र खानेवाले हम हंसों ने उस भोजन के अनुरूप ही रूप-सम्पत्ति भी पायी है। कार्य अपने गुणों को अपने कारण से ही प्राप्त करता है।"[1]

(२) नल के दिगन्त-व्यापी यश के वर्णन में भी हस न्यायदर्शन के पूर्वोक्त सिद्धान्त का उपयोग करता है—युद्धस्थल मे कण्डूयनशील (लड़ने के लिए खुजलाती

---

१. **स्वर्गापगाहेममृणालिनीनां नालामृणालाग्रभुजो भजामः ।**
अन्नानुरूपां तनुरूप-ऋद्धिं कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते ॥ नै० ३।१७

हुई) नल की भुजाओं ने जो यश पैदा किया, उस यश में भी हेतु-रूपी भुजाओं का[1] कण्डूयन गुण आ गया, जिससे वह (यश) दिशाओं रूपी नदियों के किनारे को (खुज-लाहट वश रगड़ने के कारण) काटते हुए दिगन्त तक बढ़ गया।

न्याय-शास्त्र ने मन को प्रतिशरीर एक तथा अणु-परिमाण बताया है[2]—

नल के अत्यन्त वेगशाली अश्व के चरण में लगी धूल के प्रति श्रीहर्ष की उत्प्रेक्षा है—

"निरन्तर धरातल पर पटकने से उठी हुई धूल से धूसरित चरणों वाले—जो धूलि इस प्रकार प्रतीत होती थी मानों लोगों के मन परमाणु रूप धारण करके उस (अश्व) से वेगातिशय सीखने आए हुए है।"[3]

हंस नल के अति शीघ्रगामी अश्वों की प्रशंसा में उन्हें मन के समान बताता हुआ न्यायशास्त्र के पूर्वोक्त सिद्धान्त का स्मरण करता है—"नल के अश्व पंखहीन गरुण हैं, दृष्टिगोचर पवन हैं, तथा महापरिमाण (अणुरूप नहीं) मन हैं। उन अश्वों ने भला कौनसी दिशा न नापी?"[4]

नारद इन्द्र से दमयन्ती के पुरुष-विशेष में अनुराग की चर्चा करते हुए मन के इस परमाणु-स्वरूप का उल्लेख करते हैं—"सुन्दरी ने उस प्रिय को अपने परमाणु रूप मन की लज्जारूपी गुफा में प्रसुप्त सिह की भाति छिपा रक्खा है। इसी कारण हम योगियों की बुद्धि भी उसे नही जान सकती, क्योंकि इसकी पहुँच तो परमाणु तक ही है (परमाणु के भीतर नहीं)।"[5]

वैशेषिक के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार है—दो परमाणुओं के संयोग से पहले द्वयणुक बनता है, इस द्वयणुक-कार्य में वे दो परमाणु समवायिकारण हैं, उनका संयोग असमवायिकारण है तथा अदृष्ट (ईश्वरेच्छा) आदि निमित्ति कारण हैं। फिर तीन द्वयणुकों के संयोग से एक त्र्यणुक की रचना होती है। इस

---

१. यशो यदस्याजनि संयुगेषु कण्डूलभावं भजता भुजेन।
हेतोर्गुणादेव दिगापगालीकूलङ्कषत्वव्यसनं तदीयम्॥ नै० ३।३९

२. "ज्ञानायौगपद्यादेकं मन" तथा "यथोक्त हेतुत्वाच्चाणु" न्यायसूत्र—
३।२।५६, ५९

३. अजस्रभूमीतटकुट्टनोत्थितैरुपास्यमानं चरणेषु रेणुभिः।
रयप्रकर्षाध्ययनार्थमागतैर्जनस्य चेतोभिरिवाणिमाङ्कितैः॥ नै० १।५९

४. विनापतत्रं विनतातनूजैः समीरणैरीक्षणलक्षणीयैः।
मनोभिरासीदनणुप्रमाणैर्न लङ्घिता दिक्कतमा तदश्वैः॥ नै० ३।३७

५. यत्पथावधिरणुः परमः सा योगिधीरपि न पश्यति यस्मात्।
बालया निजमनः परमाणौ ह्रीदरीशयहरीकृतमेनम्॥ नै० ५।२९

त्र्यणुक के वे तीन द्वयणुक समवायिकारण होते हैं। इसी प्रकार चार त्र्यणुकों से चतुरणुक बनता है। इसके आगे उन अणुकों के परस्पर संयोग से स्थूल, स्थूलतर, स्थूलतम रूप होता जाता है। इसी क्रम से महती पृथ्वी, महती आपस्, महत्तेज, तथा महान् वायु की उत्पत्ति होती है। कार्यभूत इन द्रव्यों के रूप आदि गुण उनके आश्रय-भूत समवायिकारण के रूप आदि से उत्पन्न होते हैं—"क्योंकि कारणगत गुण कार्य के गुणों का आरम्भ करते हैं"[1] इसी प्रकार उन परमाणुओं के विभाग से प्रलय का क्रम होता है।

श्रीहर्ष ने सृष्टि के पूर्वोक्त सिद्धान्त को लेकर एक अत्यन्त मनोरम कल्पना की है। हंस नल दमयन्ती के दो परमाणु-रूप मनों के मिलने से एक नष्ट सृष्टि का पुन: निर्माण कर रहा है। वह दमयन्ती से कहता है—"इस समय परस्पर मिलकर नल के और तुम्हारे दोनों के मन अपनी विलास-कलाओं को व्यक्त करते हुए सुशोभित हों। मानों मनसिज (कामदेव) के शरीर का पुन: निर्माण करने के लिए द्वयणुक बनाने में दो परमाणु प्रवृत्त हुए हैं।[2]

केशव मिश्र ने कार्य-कारण के इस लक्षण तथा सम्बन्ध को और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जो नियत रूप में कार्य से पहले (पूर्वभावी) हो, तथा जिसकी सत्ता अनावश्यक एवम् आकस्मिक (अन्यथासिद्ध) न हो, उसे कारण कहते हैं।[3]

---

१. तत्रपृथिव्यादीनां चतुर्णां कार्याणामुत्पत्तिविनाशक्रमः कथ्यते। द्वयोः परमाण्वोः क्रियया संयोगे सति द्व्यणुकमुत्पद्यते। तस्यपरमाणू समवायिकारणम। तत्-संयोगोऽसमवायिकारणम्। अदृष्टादिनिमित्तकारणम्। ततस्त्रयाणां द्व्यणुकानां क्रियया संयोगे सति त्र्यणुकमुत्पद्यते। तस्य द्व्यणुकानि समवायिकारणम्। शेषं पूर्ववत्। एवं चतुर्भिस्त्र्यणुकैश्चतुरणुकम्। अतः परं तैः स्थूलतमम्। एवं क्रमेण महापृथ्वी महत्यापो महत्तेजो महांश्च वायुरुत्पद्यते। कार्यगता रूपादयः स्वाश्रयसमवायिकारणगतेभ्यो रूपादिभ्यो जायन्ते। कारण-गुणा हि कार्य-गुणानारभन्ते इति न्यायात्। इत्यादि तर्कभाषा पृ० ७१-७२
उक्त उद्धरण—"प्राणिनो भोगभूतये महेश्वरस्य सिसृक्षानन्तरं–महांस्तेजो राशिर्देदीप्यमानस्तिष्ठति। एवं समुत्पन्नेषु चतुर्षु महाभूतेषु–महदण्डामारम्भते" इस द्रव्यपदार्थ शीर्षकान्तर्गत प्रशस्तपादभाष्य तथा कारण-गुण-पूर्वक कार्यगुणो दृष्टः—वै० सू० २।१।२५ इस कणाद-सूत्र का विस्तार (व्याख्यान) रूप है।

२. अन्योन्यसङ्गमवशादधुनाविभातांतस्यापितेऽपिमनसीविकसद् विलासे।
स्रष्टुं पुनर्मनसिजस्य तनुं प्रवृत्तमादाविव द्व्यणुककृत् परमाणुयुग्मम्॥ नै० ३।१२५

३. अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वकारणत्वम् (तर्कभाषा पृ० १३) कारणमिति—ज्ञानेतरे कार्यनियतपूर्ववर्तित्वातीयवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वम्। विवक्षितम्—वै० सू० १।१।८ पर उपस्कार।

उसी प्रकार जो नियतरूप से कारण के बाद में (पश्चाद्भावी) हो तथा जिसकी सत्ता अनावश्यक एवं आकस्मिक न (अनन्यथासिद्ध) हो उसे कार्य कहते हैं।[१]

नैषध में कारण-कार्य के इस सम्बन्ध की ओर अत्यन्त सरस ढग से सकेत किया गया है—प्रेम विकल दमयन्ती की अधीरता के प्रति श्रीहर्ष की कल्पना है—द्व्यणुक[२] के समान क्षीण कटिवाली दमयन्ती ने रमणी-मर्यादा विरोधी उस अधीरता (चञ्चलता) को निश्चय ही प्रिय के दूतपक्षी हंस के गमनवेग से ही सीखा, क्योंकि जो जिसके बाद बिना किसी व्यवधान के होता है, वह उसी से उत्पन्न माना जाता है।[३]

न्यायादि शास्त्रों मे घट का उदाहरण अति प्रसिद्ध है। अनेक प्रकार से निदर्शन रूप मे इस शब्द का प्रयोग किया गया है। जैसे अनित्यत्वानुमान का (अन्वय व्यतिरेक व्याप्तियों मे) उदाहरण—"यत्कृतकं तदनित्य, यथा घट." और "यन्नित्य न तदकृतकमपि न, यथा घटः।" एवं सन्निकर्षादिका उदाहरण—"घटाभाववद् भूतलम्" तथा अनुपलब्धि प्रमाण के खण्डन का उदाहरण—"यद्यत्र घटोऽभविष्यत् तदा भूतलमिवाद्रक्ष्यत इत्यादि।" इसी प्रकार गौडपाद के आगमशास्त्र[४]

---

१. अनन्यथासिद्धनियतपश्चाद्भावित्वं कार्यत्वम्—(तर्कभाषा पृ० १३) कार्यमिति-प्रागभावप्रतियोगिवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वं विवक्षितम। वै० सू० १।१।८ पर उपस्कार।

२. यहाँ उपमा देने मे भी न्याय-वैशेषिक-दर्शनशास्त्र मे ही प्रसिद्ध वस्तु को लिया है। ऐसे स्थलों में—यदि वह अनुकरण के न हों अथवा यदि वक्ता और श्रोता दोनों उस शास्त्र के ज्ञाता न हों तो अप्रतीतत्व दोष होता है।

३. ध्रुवमधीतवतीयमधीरतां दयितदूतपतद्गतवेगतः।
स्थितिविरोधकरीं द्व्यणुकोदरी तदुदितः स हि यो यदनन्तरः॥ नै० ४।३

४. आत्मा ह्याकाशवज्जीवैर्घटाकाशैरिवोदितः।
घटादिवच्च सङ्घातैर्जातावेतन्निदर्शनम्॥३॥
घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा।
आकाशे सम्प्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहात्मनि॥४॥
यथैकस्मिन् घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते।
न सर्वे सम्प्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः॥५॥
नाकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा।
नैवात्मनः सदाजीवो विकारावयवौ तथा॥ गौ० का० प्रकरण॥३

में आत्मा के लिए महाकाश और जीवों के लिए घटाकाश का उदाहरण प्रसिद्ध है। श्रीहर्ष ने घट की इस प्रकार की शास्त्र-गत प्रसिद्धि पर भी अपनी कल्पना की है। दमयन्ती के सौन्दर्य-निरूपण प्रसग में नल सोचते हैं—"इस सुन्दरी के स्तनों के साथ स्पर्धा करने के कारण ही प्रसिद्ध होकर घट शास्त्रों में निदर्शन (उदाहरण) बन गया और मटका आदि अनेक मिट्टी के बर्तनों को बनानेवाले ने भी दमयन्ती के स्तन-स्पर्धी कुम्भों को बनाने के कारण ही अपना प्रसिद्ध नाम कुम्भकार प्राप्त किया।[१]

न्यायदर्शन के मत से नेत्र इन्द्रिय में रश्मियां होती हैं, उन रश्मियों का जब किसी वस्तु (पदार्थ) के साथ सन्निकर्ष (संयोग) होता है तब उस वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।[२]

पूर्वोक्त सिद्धान्त की ओर संकेत करते हुए श्रीहर्ष लिखते हैं—"दमयन्ती के प्रति साभिलाष नल की आंखों की रश्मि (ज्योति) अपने अपाङ्गों तक भी न पहुँच पाई थी कि 'मदन-बाण' उस सुन्दरी के प्रत्यङ्ग मे सम्पूर्ण प्रविष्ट हो गया।"[३]

गौतम ने न्याय दर्शन के प्रथम सूत्र मे प्रमाण आदि षोडश पदार्थों का नामोल्लेख करते हुए उनके तत्त्वज्ञान से नि.श्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति बताई है।[४] उन पदार्थों के सम्यक् ज्ञान के लिए भाष्यकार[५] ने तीन उपाय बताये हैं। १—उद्देश अर्थात् नामोल्लेख, २—लक्षण अर्थात् असाधारण धर्म ३—परीक्षा अर्थात् उस पदार्थ-विशेष का लक्षण उपयुक्त है या नही इसका विचार।[५]

---

१. एतत्कुचस्पर्धितया घटस्य ख्यातस्य शास्त्रेषु निदर्शनत्वम्।
तस्माच्च शिल्पान्मणिकादिकारी प्रसिद्धनामाजनि कुम्भकारः॥ नै० ७।७५

२. न्यायसूत्र ३।१।३४-४६ पर वात्स्यायनभाष्य तथा बृहदारण्यकोपनिषद्—तद्यत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषास्तावेतावन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितो रश्मिभिरेषोऽस्मिन्। प्रतिष्ठितः प्राणैरयममुष्मिन् स यदोत्क्रमिष्यन् भवति शुद्धं मेवैतन् मण्डलं पश्यति नैनमेते रश्मयः प्रत्यायन्ति। बृ० ५।५।२

३. अपांगमप्यस्यदृशोर्न रश्मिर्नलस्य भैमीमभिलष्य यावत्।
स्मराशुगः सुभ्रुवि तावदस्यां प्रत्यंगमापुंखशिखं ममज्ज॥ नै० ८।३

४. प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः॥ न्या० सू० १।१।१

५. त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः—उद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति। तत्र नामधेयेन पदार्थमात्रस्याभिधानमुद्देशः। तत्रोद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम्। लक्षितस्य यथालक्षणमुपपद्यतेनवेति प्रमाणैरवधारणं परीक्षा इत्यादि। न्या० सू० १।१।३ पर वात्स्यायन भाष्य की उत्थानिका।

श्रीहर्ष ने न्याय के उन षोडश पदार्थों उनके ज्ञान का प्रयोजन अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति एवं ज्ञान-प्राप्ति के उद्देश तथा लक्षण, (दो) उपायों का उल्लेख देवी सरस्वती की दन्तपंक्तियों के वर्णन में किया है—

"जिसकी दांतों रूप पदार्थों की सोलह सोलह करके दो प्रकार से उदित हुई—मुख स्थान में निकली हुई तथा (सामुद्रिक) लक्षण (शास्त्र) में कही हुई दन्त पंक्तियों की जोड़ी ही नाम-कथन के अवसर में तथा लक्षण-निरूपण में भी दो प्रकार से कहे हुए (प्रमाण-प्रमेयादि) सोलह पदार्थों से उपलक्षित और मुक्ति (निःश्रेयस) की कामना करनेवालों के द्वारा अभ्यस्त वह प्रसिद्ध तर्क विद्या थी।"[1]

न्याय-दर्शन दुःख की अत्यन्त निवृत्ति को मोक्ष कहता है।[2] यह दुःख इक्कीस प्रकार का बताया गया है जिसमें मनुष्य की सभी प्रकार की अनुभूतियाँ (ज्ञान तथा सुखरूप भी) आ जाती हैं।[3] वात्स्यायन ने शान्त-दशा को मोक्ष कहा है, जिसमें सभी उपाधियों तथा अनुभवों का अभाव रहता है।[4] वात्स्यायन का मत है कि मोक्ष-दशा में आत्यन्तिक दुःखभाव के अतिरिक्त किसी अन्य नित्यसुख का अनुभव नहीं होता है[5], और वह सुख जो दुःख के अनुषङ्ग वाला है, उस मधु के समान है जो विषमिश्रित अन्नरूप है, अथवा मद्य-विष-मिश्रित अन्न के समान है।[6] अतः मुमुक्षु को उसे भी त्यागना ही चाहिए। उद्योतकर तथा वाचस्पति आदि प्रामाणिक न्याय-मनीषियों का भी यही मत है।[7]

---

१. उद्देशपर्वण्यपि लक्षणेऽपि द्विधोदितैः षोडशभिः पदार्थैः।
आन्वीक्षकीयद्दशनद्विभाली तां मुक्तिकामाकलितां प्रतीमः॥ नै० १०।८२

२. तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः। न्या० सू० १।१।२२

३. उद्योतकर-न्यायवार्तिक का प्रारम्भ।

४. शान्तः खल्वयं सर्वविप्रयोगः सर्वोपरमोऽपवर्गः। १।१।२

५. सुखस्यापि नित्यत्वं प्रमाणविरुद्धं कल्पयितुमशक्यमिति .... यद्यपि कश्चिदागमः स्यान्मुक्तस्यात्यन्तिकं सुखमिति सुखशब्द आत्यन्तिके दुःखाभावे प्रयुक्त इत्येवमुपपद्यते॥ न्या० सू० १।१।२२ पर वात्स्यायनभाष्य।

६. तद्यथा मधुविषसम्पृक्तान्नमनादेयमित्येवं सुखं दुःखानुषक्तमनादेयमिति।
न्या० सू० १।१।२२ पर वा० भा०

७. न्यायसूत्र १।१।२२, वात्स्यायन-भाष्य का न्यायवार्तिक पृ० ८४ (बनारस प्रकाशन), न्यायवार्तिक-तात्पर्य-टीका (के० एस० एस०, पृ० २३९)

परवर्ती विद्वानों ने मोक्ष के विषय में न्याय तथा वैशेषिक के भिन्न मत माने हैं। उनके अनुसार न्यायमत से मोक्ष दशा में विषयरहित आनन्द की अनुभूति रहती है, किन्तु वैशेषिक मत से नहीं रहती। सर्वसिद्धान्त-सग्रह[1] ने स्पष्ट शब्दों में दोनों के इस मतभेद को उपस्थित किया है।[2] किन्तु पूर्ववर्ती मनीषियों ने मोक्ष के विषय में न्याय तथा वैशेषिक का ऐकमत्य माना। दोनो ने मोक्ष को दुःख का अत्यन्ताभाव माना है। उदयन ने किरणावली[3] मे मोक्षको अनिष्टकी आत्यन्तिक-निवृत्ति बताया है। तथा वहाँ आनन्द की अनुभूति मानने वालों को बुरे ढग से फटकारा है। वैशेषिक दर्शनकी इस मोक्ष-दशा पर पाषाण-सदृश कहकर आक्षेप भी किया है, जिसका समाधान श्रीधर ने अपनी न्यायकन्दली में पूर्व-पक्ष के रूप में रखकर किया है।[4] किन्तु इन आचार्यों के अनेक समर्थन देने पर भी उस मोक्ष-दशा को, जिसमें सुख और दुःख तथा अन्य सभी प्रकार की उपाधियों की अनुभूति का अभाव हो, पाषाण दशा (शिलात्व) ही कहा जाने लगा। प्रपञ्च-हृदय ने तो स्पष्ट कह दिया कि वैशेषिक मत से मोक्ष पाषाण-सदृश दशा है, जिसका लक्षण दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति है।[5]

नैषध मे न्याय-वैशेषिक के मोक्षविषयक पूर्वोक्त सिद्धान्त का उपहास किया गया है, इन्द्रियसेवी चार्वाक को भला उस मोक्ष में क्या मिलता जिसमें किसी प्रकार के सुख या आनन्द का अवकाश ही नहीं। श्रीहर्ष स्वयं वेदान्ती होने के कारण न्याय के इस मोक्ष सिद्धान्त के विरुद्ध थे। वेदान्त मतानुसार शाश्वत (नित्य) आनन्द का नाम मोक्ष है।[6]

---

१. राव बहादुर एम० रंगाचार्य द्वारा प्रकाशित मद्रास, १९०९ ई०।
२. उसमें न्याय मतानुसार—नित्यानन्दानुभूतिः स्यान्मोक्षे तु विषयादृते—पृ० २८, श्लोक ४५ तथा वैशेषिक-मतानुसार—
करणोपरमेत्वात्मापाषाण वदवस्थितः।
दुःखसाध्यसुखोच्छेदो दुःखोच्छेदवदेबनः। पृ० २३, श्लोक ३६
३. तस्मादनिष्टनिवृत्तिरात्यन्तिकीनिःश्रेयसम्। किरणावली, बनारस प्रकाशन, पृष्ठ८
४. न्यायकन्दली झा—अनुवाद पृ० ६१०
५. आत्यन्तिकदुःखानिवृत्तिलक्षणः पाषाणसदृशो मोक्षो भवतीति वैशेषिकमतम् —प्रपञ्चहृदय, षड्वर्ग प्रकरण, पृ० ६५ (त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज १९१५)
६. नैयायिकों को वस्तुतः वेदान्तियों के आक्षेप का ध्यान था, किन्तु वे मोक्ष-विषयक श्रुति-वाक्य में (आनन्द) का अर्थ केवल दुःखाभाव करते हैं, जिससे उनके अपने मत में कोई बाधा ही नहीं पड़ती। वाचस्पति अपनो न्याय-वार्त्तिक-तात्पर्य-टीका में कहते हैं "नित्यानन्द-प्रतिपादक-श्रुतिरात्यन्तिके दुःख-वियोगे भावतीतियुक्तमिति भाव—१।१।१ के० एस० एस० पृ० २४१

चार्वाक कहता है—"गौतम मुनि ने सचेत प्राणियों को मुक्ति पाने के लिए अपना न्याय-शास्त्र कहा। मुक्ति का लक्षण किया—सुख दुःख किसी का कुछ अनुभव न होना। पाषाण-शिला की भाति जड अवस्था। फिर उनका नाम भी तो गौतम (बड़ा बैल) है। आप उन्हें देखकर जैसा समझते हैं, वे वास्तव में वैसे ही हैं।"[1]

न्याय-मतानुसार परमात्मा विभु, सर्वज्ञ तथा नित्य है।[2]

चार्वाक नैयायिकों के पूर्वोक्त ईश्वरवाद का उपहास करता है, "यदि सर्वज्ञ करुणामय तथा सत्यभाषी परमात्मा की सत्ता वास्तव में है तो वह भुक्ति-मुक्ति चाहने वाले हम लोगों को अपनी स्वीकृति के दो शब्दों द्वारा ही क्यों पूर्ण मनोरथ नहीं करता।[3]

जिस हेत्वाभास में प्रतिपक्ष (विरोधी) रूप से दूसरा भी हेतु बना हो, उसे सत्प्रतिपक्ष या प्रकरणसम हेत्वाभास कहते हैं। जैसे यदि कहा जाय शब्द 'अनित्य' है, क्योंकि उसमें नित्य धर्म नहीं मिलता, तो यह भी कहा जा सकता है कि शब्द नित्य है क्योंकि उसमे अनित्य धर्म नहीं मिलता।[4]

चार्वाक तर्क का उपहास करता हुआ न्याय-शास्त्र-प्रसिद्ध सत्प्रति-पक्ष हेत्वाभास का उल्लेख करता है "फिर तर्कों की तो कोई इति ही नहीं, एक तर्क दूसरे को काटता है, और इस प्रकार दोनों परस्पर तुल्यबल है। किसे प्रमाणित माना जाय किसे नहीं। फिर समान विरोध उपस्थित करने पर किसका मत अप्रमाणित नहीं हो जाता।"[5]

---

१. मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमतमवेक्ष्यैव यथावित्थ-तथैव सः॥ नै० १७।७५

२. तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परमात्मा एक एव। तर्कभाषा, पृ० ३१, चौ० सं० सि०१९३४ आप्तकल्पश्चायम् यथापिताऽपत्यानांतथापितृभूत ईश्वरो भूतानाम्-आगमाच्चद्रष्टाबोद्धा सर्वज्ञाता ईश्वर इति। न्या० सू० पर वास्या० भा० ४।१।२१

३. देवश्चेदस्ति सर्वज्ञकरुणाभागवन्ध्यवाक्।
तत्किं वाग्व्ययमात्रान्नः कृतार्थ यतिनार्थिनः॥ नै० १७।७७

४. न्या० सू० १।२।७ और ५।१।१६ तथा इन पर वात्स्यायनभाष्य—यस्यप्रतिपक्षभूतंहेत्वन्तरमस्ति स प्रकरणसमः स एव सत्प्रतिपक्षइत्युच्यते। तद्यथा शब्दोऽनित्यःनित्यधर्मानुपलब्धेः, शब्दोनित्यः अनित्यधर्मानुपलब्धेः।
तर्कभाषा पृष्ठ १०८

५. तर्काप्रतिष्ठयासाम्यादन्योन्यस्य व्यतिघ्नताम्
नाप्रामाण्यंमतानांस्यात् केषां सत्प्रतिपक्षवत्॥ नै० १७।७९

न्याय-वैशेषिक में अनुभव दो प्रकार का माना गया है—पहिला यथार्थ, दूसरा अयथार्थ। (१) वस्तु के सत्यरूप का ज्ञान यथार्थ अनुभव प्रमा या प्रमिति कहा जाता है, जैसे रजत मे 'यह रजत है' यह ज्ञान। (२) किसी वस्तु को कोई दूसरी वस्तु जो वह नही है, समझ लेना अयथार्थ अनुभव है। इसी को अप्रमा या विभ्रम कहते हैं, जैसे सीपी मे 'यह रजत है' यह ज्ञान।[1]

अयथार्थ अनुभव या विभ्रम तीन प्रकार का होता है:—(१) संशय (विकल्पात्मक ज्ञान), (२) विपर्यय (मिथ्याज्ञान) तथा (३) तर्क।[2]

नैषध मे न्याय-वैशेषिक के पूर्वोक्त सिद्धान्तों की ओर संकेत मिलता है। कलि को इन्द्र साग्रह समझाते हैं जैसे "अयथार्थ ज्ञान द्वारा यथार्थ ज्ञान पीड़ित नही किया जाता, उसी प्रकार व्यर्थ मे अनिष्ट करने पर उतारू तुम लोगों को अत्यन्त विनय-सम्पन्न दमयन्ती को किसी प्रकार पीड़ित नहीं करना चाहिए।"[3]

वैशेषिक दर्शन में तमस् को अभाव मात्र कहा गया है, क्योंकि द्रव्य, गुण, क्रिया में किसी से इसकी निष्पत्ति नही होती, और किसी द्रव्यान्तर द्वारा तेज के अवरुद्ध होने पर ही इसकी सत्ता दृष्टिगोचर होती है।[4]

श्रीहर्ष के पूर्व वैशेषिक दर्शन के व्योमशिवाचार्य, श्रीधर तथा उदयन ये तीन मनीषी तमस्तत्त्व पर अपने विचार व्यक्त कर चुके थे।

व्योमशिवाचार्य ने इस मत का विरोध किया है कि तमस् या छाया एक द्रव्य है, क्योंकि इसमे गति (क्रिया) है तथा शैत्य आदि गुण हैं। उनका कहना है कि छाया मे जो गति है वह उसकी नहीं, अपितु उस पदार्थ की है जो तेज को ढके रहती

---

१. सद्विविधः यथार्थोऽयथार्थश्च, तद्वतितत्प्रकारकोऽनुभवोयथार्थः यथा रजते, इदंरजतम् इति ज्ञानम्, सैव प्रमा इत्युच्यते। तदभाववति तत्प्रकारको ऽनुभवो ऽयथार्थः। यथाशुक्तौ इदं रजतम् इति ज्ञानम् व "अप्रमा" इत्युच्यते—तर्क संग्रह, प्रत्यक्षपरिच्छेद पृ० ५०–५३ चौ० सं० सी० १९३४

२. अयथार्थानुभवस्त्रिविधः संशयविपर्ययतर्कभेदात्। एकस्मिन्धर्मणि विरुद्धनानाधर्म-वैशिष्ट्यावगाहिज्ञानं संशयः यथास्थाणुर्वापुरुषो वेति। मिथ्याज्ञानं विपर्ययः, यथा शुक्ताविदं रजतमिति॥ व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः यथा यदि वह्निर्नस्यात्तर्हिधूमोऽपि न स्यात्। तर्क संग्रह, पृ० १७३-१३९

३. साविनीततमा भैमी व्यर्थानर्थग्रहैरहो।
कथं भवद्भिर्वधैर्बाध्या प्रमितिर्विभ्रमैरिव ॥ नै० १७।१४५

४. द्रव्य-गुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः—वैशे० सू० ५।२।१९ तथा तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च वैं० सू० ५।२।२०

है तथा शैत्य आदि गुण भी छाया के गुण नहीं, किन्तु उपचार से उसमें आरोपित हैं। क्योंकि जहाँ तेज नहीं रहता वहीं शैत्य का अनुभव होता है ।[1]

अपनी न्याय-कन्दली में श्रीधर ने भी तमस् पर विस्तृत विवेचन किया है। उनका भी मत है कि तमस् द्रव्य नहीं है। द्रव्य केवल नव ही हैं। किन्तु इस मत मे उनका अपना हेतु है। तमस् को तेजस् का अभाव मात्र कहना, उनके विचार से, ठीक नहीं, क्योंकि तमस् का अपना नील (कृष्ण) रग होता है, जो अभाव का हो ही नहीं सकता। किन्तु फिर भी तमस् द्रव्य नहीं है। क्योंकि इसकी उत्पत्ति परमाणुओं से सिद्ध ही नहीं की जा सकती। और जो तमस् रूप में दृष्टिगोचर होता है वह केवल कृष्णिमा है।[2] अन्त में श्रीधर इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि जो अन्धकार समझ पड़ता है वह तेजस् के अभाव में चारों ओर आरोपित एक प्रकार का रूप या रङ्ग है।[3] फलतः श्रीधर तमस् को द्रव्य नहीं अपितु गुण मानते-से प्रतीत होते हैं।

किरणावली में उदयनाचार्य ने तमस् पर विस्तार सहित विचार किया है, पहले तो इन्होंने सिद्ध किया है कि तमस् तेजस् का अभाव ही है। क्योंकि सामान्य विशेष, समवाय, क्रिया, गुण, दिक्, काल, मन, आत्मा, आकाश तथा वायु मे कही भी तम का अन्तर्भाव नही हो सकता।[4] फिर श्रीधर के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए उन्होंने अपना मत स्थापित किया है कि तमस् का न कोई ऐसा रङ्ग है न कोई रूप, जो तेज के अभाव में दृष्टिगोचर होता हो, क्योंकि तेज के बिना नेत्र कुछ ग्रहण कर ही नहीं सकता। और यह भी नहीं कहा जा सकता कि अन्धकार का ग्रहण करना स्वप्न की भाँति एक मानस प्रत्यक्ष है, जिसमे नेत्र क्रिया की कोई अपेक्षा नहीं। क्योंकि यदि हम अपने नेत्र बन्द कर ले तो हमें अपने मन से इसका पता ही नहीं चल सकता कि कमरे में अन्धकार है या प्रकाश। श्रीधर ने तर्क दिया था कि

---

१. यच्चेदभागमान्माधुर्यं शैत्यंवा छायायास्तप्युपचारात्——प्रशस्तपादभाष्य व्योमवती सहित के० एस० एस०,——नै० ३१६ पृष्ठ ४७

२. आरम्भानुपपत्तेः नीलिमात्रप्रतीतेश्च द्रव्यमिदं न भवतीति ब्रूमः। तर्हि भासामभाव एवायं प्रतीय न तस्यते नीलाकारेण प्रतिभासनायोगात्। हान्दकी नैषध पृ० ४८७ पर उद्धृत

३. तस्मात् रूप-विशेषोऽयमत्यन्ततेजोऽभावे सति सर्वतः समारोपितस्तम इति प्रतीयते तदुक्तम्——
न च भासामभावस्य तमस्त्वं वृद्धसम्मतम्। छायायाः कार्ष्ण्यमित्येवं पुराणे भूगुणश्रुतेः॥
दूरासन्नप्रदीपार्चिर्महदल्पचलाचला। देहानुवर्तिनीछाया न वस्तुत्वाद्विना भवेत्॥
इति हैन्दिकी नै० पृ० ४८८ पर उद्धृत

४. किरणावली (बनारस) पृ० १५

यदि तमः अभाव मात्र है तो उसमें कृष्णिमा आदि नियत गुणों का आरोप भी असम्भव है, उदयन ने इसका उत्तर देते हुए कहा है कि "यह आरोप असंभव नहीं"। हम दुःख के अभाव की दशा में सुख का आरोप ही तो करते हैं, उदाहरणार्थ—बोझा ढोनेवाला समझता है कि जब मैं कन्धे से बोझ उतारूँगा उस समय मुझे बड़ा सुख मिलेगा। अतः उदयन का मत है कि तमः कृष्ण (नील) हो सकता है किन्तु कृष्णिमा (नीलिमा) चाहे आरोपित हो या वास्तविक तमः नहीं हो सकती।[1] क्योंकि यदि कृष्णिमा को तम मान ले तो हम कृष्ण वस्त्र तथा कृष्ण चर्म को भी तम. मान लेने की भूल कर बैठेगे, अत. अन्त मे उदयन ने अपना मत प्रकट करते हुए कहा कि "हमे तमः के विषय में व्यक्तिगत अनुभव का सहारा लेना पड़ेगा, और यह भी मानना ही पड़ेगा कि तमः तेज का अभाव मात्र है।"

तमः के विषय में अन्य दर्शनों ने भी अपने विचार प्रकट किए हैं। वेदान्तियों तथा मीमासकों (कुमारिलमतानुयायियों) ने तमः को एक द्रव्य माना है, तथा प्रभाकर मत के कुछ मीमासकों ने उसे रूप-दर्शन का अभाव कहा है।[2]

और कुछ ने आलोक-(तेज) ज्ञान का अभाव कहा है।[3]

किन्तु श्रीहर्ष को तम. के विषय में वैशेषिकों का मत सबसे उचित समझ पड़ा। तदनुसार सन्ध्या वेला मे तमः का वर्णन करते हुए नल-प्रिया दमयन्ती से कहते हैं। "सुन्दरि, इस तमः के विषय में मुझे वैशेषिकों का सिद्धान्त अत्यन्त रुचिकर प्रतीत होता है, क्योंकि वे ही तमः के निरूपण में समर्थ हैं और यही उचित भी है क्योकि वैशेषिक दर्शन को औलूक-दर्शन कहते भी तो हैं। बिना उलूक के तम. का उचित निरूपण कर ही कौन सकता है?"[4]

पूर्व-मीमांसा

(नैषध मे मीमासा-दर्शन के अनेक सिद्धान्तों का स्थान-स्थान पर उल्लेख हुआ है। वेद के कर्मकाण्ड तथा ब्रह्मकाण्ड दो भाग हैं। कर्मकाण्ड की व्याख्या

---

१. तमो नीलं न तु नीलिमा तम इति, न चारोपितेन वास्तवेन। वा नीलिमा तमोबुद्धिव्यपदेशो समानार्थो—हैन्दिकी—नै० पृ० ४९५ टिप्पणी

२. विवरणप्रमेयसंग्रह बी० एस० एस०, पृ० १० तथा सर्वमतसंग्रह टी० एस० एस० पृ० ३१

३. आलोकज्ञानाभावः, सर्वदर्शनसंग्रह—हैन्दिकी द्वारा नै० पृ० ४९६ में उद्धृत

४. ध्वान्तस्य वामोरु विचारणायां वैशेषिकं चारुमतं मतं मे।
औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत् क्षमं तमस्तत्त्व-निरूपणाय॥ नै० २२।३५

करने वाले दर्शन को पूर्वमीमासा या केवल मीमासा कहते हैं। तथा ब्रह्मकाण्ड की व्याख्या करने वाले को उत्तर मीमासा या वेदान्त कहते हैं।

नैषध में श्रीहर्ष ने सरस्वती के रूप का वर्णन करते समय मीमासा के इन दो विभागों का उल्लेख किया है। "ब्रह्मकाण्ड तथा कर्मकाण्ड नामक वेद के दो भेदों के कारण अपने शरीर को दो भागों मे——पूर्वमीमासा, उत्तरमीमासा——मे विभक्त करनेवाले तथा बौद्ध "वैशेषिक" आदि अन्य सिद्धान्तों के निराकरण करने के कारण रमणीय एवं परिपुष्ट मीमासा शास्त्र जिस (सरस्वती) के उत्तम वस्त्र परिवेष्टित पीन-जघायुगल बने थे"।[१]

मीमासा के अनुसार ज्ञान स्वत. प्रमाण माना गया है, क्योंकि यदि एक ज्ञान अपनी यथार्थता सिद्ध करने के लिए दूसरे ज्ञान को प्रमाण माने तो दूसरे को भी अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए एक तीसरा ज्ञान प्रमाण रूप मे ढूँढना पड़ेगा, जिससे भारी अनवस्था हो जायगी, तथा वस्तु ज्ञान असम्भव हो जायगा। अत: मीमासकों ने ज्ञान को स्वत. प्रमाण माना[२], (साथ ही उन्होंने ज्ञान करानेवाली शक्ति (बुद्धि) को भी प्रमाण माना)[३] तथा एक ज्ञान को अन्य ज्ञान से प्रमाणित हुए बिना स्वत ही प्रमाण-रूप मान लिया।[४]

श्रीहर्ष मीमासा के पूर्वोक्त सिद्धान्त का उल्लेख करते हैं। हस से दमयन्ती के प्रेम की भीख मागने वाले नल कहते हैं "अथवा आपको इस प्रकार अपनी भलाई के लिए मेरा प्रेरित करना पिष्ट-पेषण ही करना होगा, क्योंकि सज्जन तो स्वयं परार्थ-रत होते हैं, जैसे ज्ञानो की प्रामाणिकता स्वतः होती है।'[५]

मीमासकों के मत से जिस मन्त्र से जिस देवता का आमन्त्रण या आवाहन होता है, उससे पृथक् उस देवता की कोई सत्ता नहीं।[६] अतएव मीमांसक देवताओं का

---

१. ब्रह्मार्थकर्मार्थक-वेदभेदाद्द्विधा विधाय स्थितयात्मदेहम्।
चक्रेपराच्छादनचारु यस्या मीमांसया मांसलमूरुयुग्मम्॥ नै० १०।८१

२. स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्।
न हि स्वतोऽसतीशक्तिः कर्तुमन्येनशक्यते॥ श्लोक वार्तिक २।४७

३. तस्माद्बोधात्मकत्वेन प्राप्तबुद्धेः प्रमाणता——श्लो० वा० २।५३

४. तस्माद्दृढं यदुत्पन्नं नापिसंवादमृच्छति।
ज्ञानान्तेरणविज्ञानं तत् प्रमाणं प्रतीयताम्॥ श्लो० वा० २।८०

५. अथवा भवतः प्रवर्तना न कथं पिष्टमियं पिनष्टिनः।
स्वतएव सतांपरार्थता ग्रहणानां हि यथा यथार्थता॥ नै० २। ६१

६. मन्त्रमयी० देवता

कभी प्रत्यक्ष न दिखाई पडने के कारण कोई स्थूल रूप मानते ही नही। उनका कहना है कि यदि किसी देवता का कोई एक स्थूल रूप मान ले तो वह देवता अनेक स्थानों पर एक ही समय मे किए जानेवाले स्वाधिष्ठातृक यज्ञों में उपस्थित हो हविर्ग्रहण नहीं कर सकता, क्योंकि अपने एक रूप से वह एक समय मे एक ही यज्ञ में उपस्थित हो सकता है। अत. अन्य सभी यज्ञों का विधान व्यर्थ ही होगा। जिससे उन यज्ञों का फल बताने वाले वेद की बात भी असत्य होगी। फलत: वेद भी अप्रमाणिक हो जायगे। और कोई प्रमाण न मिलने के कारण यह भी नही कहा जा सकता कि देवता अपने ऐश्वर्य से एक होते हुए भी श्रीकृष्ण भगवान् की भाँति अनेक रूप धारण कर एक ही समय मे सर्वत्र उपस्थित हो जाते हैं, फिर जो चेतन शरीर वाले देवता हैं उनमे तो ऐश्वर्य की सम्भावना की भी जा सकती है, किन्तु जो अचेतन पदार्थ भी कभी-कभी देवता माने जाते हैं उनमे वह ऐश्वर्य कैसे सम्भव होगा। अतएव अनुक्रमणीकार ने कहा है—

"या काचित्तेन मन्त्रेणोच्यते सा देवता चेतनाऽचेतना वा भवतु क्वचिद् बाण: क्वचिद् धनु: क्वचिन् मौर्वी इति"।

शंकराचार्य तथा रामानुज दोनों ने मीमासकों के उक्त सिद्धान्त का घोर विरोध किया है।[1] उनके मतानुसार देवों के निर्धारित रूप होते हैं, क्योंकि बिना रूप के भक्त उनका ध्यान ही नहीं कर सकते है।

श्री हर्ष ने मीमासा के इस मन्त्ररूप देवतावाद का दो बार उल्लेख किया है:

१. इन्द्र नारद से स्वर्ग में युद्धवार्त्ता के अभाव का कारण बताते हुए कहते हैं—"विश्वरूप धारण करनेवाले मेरे अनुज विष्णु के एकरूप जैमिनि मुनि भी हैं, जिन्होंने देवताओं के विग्रह (स्थूलरूप, युद्ध) को न सहकर मेरे वज्र को भी व्यर्थ कर दिया। (जब देवता का कोई स्थूल रूप ही नहीं तो कौन वज्र धारण करे अत: वज्र का कोई उपयोग ही न रहा)"[2]

२. स्वयंवर के अन्त मे नल को वरदान देते हुए वही इन्द्र एक बार फिर मीमांसा के उस कठोर सिद्धान्त का प्रत्याख्यान-सा करते हुए कहते हैं—"यज्ञ मे तुम्हारी आहुतियों को मैं प्रत्यक्ष रूप धारण कर स्वीकार करूगा—क्योंकि हम देवों द्वारा

---

१. वेदान्त सूत्र १।३।२७ का शांकर भाष्य तथा श्री भाष्य।

२. विश्वरूपकलनादुपपन्नं तस्य जैमिनिमुनित्वमुदीये।
विग्रहं मखभुजामसहिष्णुर्व्यर्थतां मदशनिं स निनाय॥ नै० ५।३९

यज्ञ का प्रत्यक्ष भोग किया जाना न देखकर ही लोग मन्त्रों से पृथक् देवों की सत्ता में सन्देह करते हैं।"[1]

मीमांसकों में प्राभाकर-मतानुयायियों के अनुसार ज्ञान (प्रभा) स्वयं प्रकाश है तथा इन्द्रियाँ अपने विषयों का यथार्थ ही ज्ञान ग्रहण करती हैं।[2] किन्तु प्राभाकरों के इस मत से एक नया वाद अख्यातिवाद निकल पडा। प्राभाकर-इन्द्रिय ज्ञान मे भ्रान्ति मानते ही नहीं। अतः शुक्ति में 'इद रजतम्' इस ज्ञान की वे लोग इस प्रकार व्याख्या करते हैं—यहाँ 'इदं रजतम्' यह प्रातिभासिक ज्ञान नहीं अपितु सत्य ज्ञान है, क्योंकि यह रजत है, इसका नेत्रेन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान तथा स्मरण द्वारा ज्ञान दोनों ही सत्य हैं। जिसने पहले कभी रजत देखा है उसने शुक्ति में उसी के समान चमक देखकर पूर्वसंस्कार के उद्‌बुद्ध होने पर उसे रजत ही मान लिया। उसका यह प्रत्यक्ष रजत-(रजत की जैसी चमकवाली वस्तु का) ज्ञान भी सत्य है तथा पूर्वानुभव से स्मरण किया हुआ ज्ञान भी सत्य है।

दमयन्ती के अन्तःपुर में प्रच्छन्न रूप से पहुँचे नल इतने अधिक प्रेम-विह्वल थे कि उन्हे भ्रान्तिवश दमयन्ती चारों ओर दिखाई पड़ती थी। दमयन्ती भी वहाँ उसी प्रकार अपने प्रिय नल को उन्माद मे सर्वत्र देख रही थी। वहाँ एक ही स्थान पर रहते हुए भी वे अपने को परस्पर समीपस्थ समझते ही नहीं थे अतः सदा की भाँति एक दूसरे के भ्रान्ति कल्पित (अलीक) रूप का, सत्य समझते हुए आलिङ्गन कर रहे थे। श्रीहर्ष[3] ने प्रभाकर के पूर्वोक्त अख्यातिवाद के आधार पर नल दमयन्ती के उस आलीक आलिङ्गन को भी सत्य बताया है। चाण्डू पण्डित ने इस श्लोक की पूर्ण पाण्डित्य के साथ प्राभाकर मत के अनुसार व्याख्या की है।[4]

---

१. प्रत्यक्षलक्ष्यामवलम्ब्य मूर्ति हुतानि यज्ञेषु तवोपभोक्ष्ये।
संशेरतेऽस्माभिरवीक्ष्य भुक्तं मखं हि मन्त्राधिक-देवभावे॥ नै० १४।७३

२. स्वत एव यदुपपद्यते न तत्र परापेक्षा युक्ता मेयानांमातुश्च स्वतःप्रकाशोनोपपद्यत इति मुक्ता तयोः परापेक्षा। मितौ च काचिदनुपपत्तिर्नास्तीति स्वयंप्रकाशैव मितिः—प्रकरणपञ्चिका, पृ० ५७

३. अन्योन्यमन्यत्रवदीक्षमाणौ परस्परेणाध्युषितेऽपिदेशे।
आलिङ्गितालीकपरस्परान्तस्तथ्यं मिथस्तौ परिषस्वजाते॥ नै० ६।५१

४. अयमर्थः...तत्पूर्वमन्यत्र नले न क्वापि सत्यालिङ्गनमनुभूतं गृहीतम्। दमयन्त्या च सखीभिः सहालिङ्गनमनुभवगृहीतम्। तदेवेदम् अध्युषित देशेस्मृतम्। अतोन्योन्यालिङ्गनग्रहणज्ञानं स्मरणज्ञानं चोभयमपि तथ्यमेव न तु मिथ्या। अतस्तथ्यो मिथः परिष्वंगः स्मरणज्ञानस्य अबाधितत्वात् इति मीमांसकैक

न्याय तथा वेदान्त दर्शनों मे मनुष्य की बुद्धि को ईश्वराज्ञा का वशवर्ती बताया गया है।[1] किन्तु मीमासा के मत से वह (बुद्धि) अपने कर्मों के अनुसार विविध गति पाती है।[2] मीमासा का सिद्धात है कि 'अपूर्व' के द्वारा जीव के कर्मो का फल सञ्चित होता रहता है, जिससे जन्म तथा मरण का क्रम जारी रहता है। अतः जीव के कर्मो का फल देने के लिए पृथक् ईश्वर की सत्ता मानना व्यर्थ है। यह सृष्टि-चक्र अनादि एवम् अनन्त है तथा 'अदृष्ट' के अनुसार सदा चलता रहता है, अतः इसका एक पृथक् कर्त्ता माननने के लिए न कोई अवकाश है न आवश्यकता।[3] कुमारिल ने तो यहाँ तक कह डाला है कि यदि ईश्वरेच्छा या अन्य किसी चेतन सत्ता को सृष्टि का मूल मानते है तो सृष्टि कार्य जीवों की क्रियाओं से ही हो सकता है जो प्राय. सभी चेतन कर्त्ता है।[4] किन्तु कर्म के इस सामर्थ्य का न्याय तथा वेदान्त ने निषेध किया है। उद्योतकर का कहना है कि बिना किसी बुद्धिशील कारण से प्रेरित हुए न तो परमाणु और न कर्म ही अपने कार्य में प्रवृत्त हो सकते हैं।[5]

शङ्कराचार्य ने मीमासकों के अपूर्व 'को एक लकडी के टुकडे' या मिट्टी के ढेले

देशिनां प्राभाकराणामाशयः। अतोन्योन्यपरस्परमिथश्शब्दानामपौनरुक्त्यम्। अन्योन्यशब्दः एकः पूर्वानुभूताश्लेषवाची। अपरः परस्परशब्दः पुरोवर्तिनि देशे स्मरण-ज्ञान-वाचकः। तृतीयः अपरवादिनां संप्रतिपन्नाम् अलीकतां भ्रान्तिसंज्ञामनूद्य ग्रहणस्मरणज्ञानयोरेकत्रमेलकः चतुर्थोमिथः शब्दः प्राभाकरसिद्धान्तसिद्धां प्रतिज्ञां प्रतिपादयति। अतः सर्वप्रकारेण तथ्यं मिथस्तौपरिषस्वजाते।

१. किं करोतिसुधीरस्मिन्नीश्वराज्ञा वशंवदः।

२. किं करोति नरः प्राज्ञः प्रेर्यमाणः स्वकर्मभिः।

३. लब्धपरिपाकादृष्टवत् क्षेत्रज्ञसंयोगादेव क्षित्यादि लक्षणकार्योत्पत्तावेकस्यापीश्वरस्यानुमाने तुल्यैवानवस्थेत्यर्थः॥ (विधिविवेक की न्याय कर्णिका टीका पृष्ठ २२३ बनारस)।

४. कस्य चिद्धेतुमात्रत्वं यद्यधिष्ठातुतेष्यते। कर्म्मभिः सर्वजीवानां तत्सिद्धेः सिद्धसाधनम्॥ इच्छापूर्वकपक्षेपि तत्पूर्वत्वेन कर्मणाम्। इच्छानन्तरसिद्धिस्तु दृष्टान्तेपि न विन्द्यते॥ मीमांसा-श्लोकवार्तिक सम्बन्धाक्षेपपरिहार श्लोक ७५।७६ चौ० सं० सी० बनारस।

५. बुद्धिमत कारणाधिष्ठिताः परमाणवः कर्माणि च प्रवर्तन्त इति। न्यायवार्तिक पृ० ४६० चौ० सी० सी०, बनारस।

के समान माना है।[१] न्याय तथा वेदान्त दोनों ने ईश्वर की सत्ता मानते हुए तदधीन कर्म अथवा अदृश्य की गति को स्वीकार किया है। वास्तव में तो वे दोनों ईश्वर एव कर्म के सहयोग को मानने वाले हैं, और ईश्वर को जीवों के कर्मों के अनुसार फल देने वाला मानते हैं।[२] वात्स्यायन केवल ईश्वर को कर्म-फल-विधाता नही मानते[३]। उनका कहना है कि ईश्वर व्यक्ति के पौरुष मे केवल सहायक होता है।[४] शङ्कराचार्य ने भी इसी मत को पुष्ट किया है।[५]

मीमासकों ने ईश्वर तथा कर्म की इस द्वैत सत्ता पर आक्षेप किया है। कुमारिल का कहना है, कि यदि सृष्टिक्रम का कारण ईश्वरेच्छा है तो कर्म की कल्पना ही करनी व्यर्थ है, और यदि जगत्-प्रवृत्ति कर्मवश मानी जाय तो मानो ईश्वरेच्छा से पृथक् एक कर्त्ता माना गया है।[६] तथापि वेदान्ती तथा विशेष रूप से नैयायिक दोनों ईश्वर की प्रधानता स्वीकार करते हैं तथा इस विषय में महाभारत का यह श्लोक उद्धृत करते हैं—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितोगच्छेत् स्वर्गंवाश्वभ्रमेव वा ॥

---

१. अपूर्वस्यचेतनस्य काष्ठलोष्ट समस्य चेतने नाप्रवर्तितस्य प्रवृत्यनुपपत्तेः। शांकरभाष्य ब्रह्मसूत्र ३।२।३८

२. कारुणिकोप्ययं वस्तुस्वभावमनुविधीयमानो धर्माधर्मसहकारी जगद्वैचित्र्यं विधत्ते। वाचस्पति की तात्पर्य टीका, पृ० ५९६; का० सं० सी०।

३. ईश्वराधीना चेत् फलेनिष्पत्तिः स्यादपितर्हि पुरुषस्य समीहामन्तरेण फलनिष्पद्येतेति॥ न्यायसूत्र ४।२० का वात्स्यायन भाष्य।

४. पुरुषकारमीश्वरोऽनुगृह्णाति फलाय पुरुषस्य यतमानस्मेश्वरः फलं सम्पादयतीति॥ न्या० सूत्र ४।१।२१ का० वा० भाष्य।

सापेक्षो हीश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते। किमपेक्षत इति चेत्। धर्माधर्मावपेक्षेत इति वदामः। अतः सज्यमानप्राणिधर्माधर्मापेक्षा विषमा सृष्टिरितिनायमीश्वरस्यापराधः॥ ईश्वरस्तुपर्जन्यवद्द्रष्टव्यः सू० २।१।३४ तथा कुर्वन्तं हि तमीश्वरः कारयति २।३। ४२ तथा, तदेव चेश्वरस्य फलहेतुत्वं यत् स्वकर्मानुरूपाः प्रजाः सृजतीति ३।२।४१ पर शंकर भाष्य।

६. ईश्वरेच्छा यदीष्यते सैवस्याल्लोककारणम्।
ईश्वरेच्छावशित्वे हि निष्फलाकर्मकल्पना॥
स्वाधीनत्वाच्च धर्मादेस्तेन क्लेशो न युज्यते।
तद्वशेन प्रवृत्तौ वा व्यतिरेकः प्रसज्यते॥

श्लोकवार्त्तिक, सम्बन्धाक्षेपपरिहार, श्लो० ७२।८३

नैषध मे श्रीहर्ष न मीमांसा तथा न्याय वेदान्त दर्शनों के बीच कर्म एव ईश्वर के विषय में पूर्वोक्त विवाद की ओर सकेत करते हुए सक्षेप मे दोनों पक्षों के सिद्धातों का उल्लेख किया है। दमयन्ती अपनी सखियों को उत्तर देती हुई कहती है—प्रिय बुद्धिमती सखियो! जब मानव-बुद्धि अनादि काल से प्रवर्तमान इस जन्म-मरण की परपरा के कारण-भूत अपने शुभाशुभ कर्मो के अधीन है, या ईश्वर के वशीभूत है तो फिर (बेचारा) मानव अपने किसी कार्य मे उत्तरदायी कैसे कहा जा सकता है? वह जो कुछ करता है वह कर्मवश या ईश्वरवश।[1]

ईश्वर की सत्ता के सबसे प्रबल समर्थक न्यायदर्शनानुयायी हैं। न्याय के प्रायः अधिकाश मनीषी शैव थे।[2] भासर्वज्ञ ने तो शिव तथा परमेश्वर को एक ही बताया है तथा शिव के दर्शन से ही मोक्षप्राप्ति बतलाई है।[3] न्याय दर्शन के ईश्वरविषयक सिद्धान्त का विवेचन करते हुए बोधिचर्यावतारपञ्जिका मे कहा है—ईश्वर शकर का ही नाम है।[4]

श्रीहर्ष ने भी काम के स्वरूप-वर्णन के प्रसग मे शिव को अशरीर ईश्वर तथा लोककर्ता आदि माना है।[5]

---

१. अनादिधाविस्वपरम्परायाः हेतुस्त्रजः स्रोतसि वेश्वरे वा।
आयत्तधीरेषजनस्तवबार्याः! किमीदृशः पर्यनुयोगयोग्यः॥ नै० ६।१०२

२. शास्त्रेषु नैयायिकाः सदाशिवभक्तत्वाच्छैवा इत्युच्यन्ते तेननैयायिकशासनं-शैवमाख्यायते, इत्यादि। हरिभद्रके षड्दर्शनम्समुच्चयपर गुणरत्न की टीका पृ० ५१, एशियाटिक सोसायटी प्रकाशन, १९०४ ई०।

३. (क) एकोरुद्रो न द्वितीययायतस्थे य इमाल्लोकानीशतईशनीधिरित्याद्याग-माच्चेति—न्याय सार, आगम परिच्छेद पृ० १२५ त्रि० सं० सी०।
(ख) एवमेतानि योगाङ्गानि मुमुक्षुणा सर्वेषु ब्रह्मादिस्थानेष्वनेकप्रकारदुःख-भावमानयानभिरतिसञ्ज्ञितं परं वैराग्यं महेश्वरे च परां भक्तिमाश्रित्यात्यन्ताभि-योगेनसेवितव्यानि। ततोऽचिरेणैव कालेन भगवन्तमनौपम्यस्वभावं शिवमवितथं-प्रत्यक्षतः पश्यति। तं दृष्ट्वा निरतिशयं श्रेयः प्राप्नोति। तथा चोक्तं—

यदाचर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा शिवमविज्ञाय दुःखस्यान्तोभविष्यति॥

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति इत्यादि च। तस्माच्छिवसन्देशनादेव मोक्ष इति।
वही, आगम परिच्छेद पृ० १४०, १४१

४. ईश्वर इति शंकरस्याख्या पृ० ५४४

५. विभर्तिलोकजिद्भावं बुद्धस्य स्पर्धयेव यः। यस्येशतुलयेवात्र कर्तृत्वमशरीरिणः॥
नै० १७।१६

ईश्वर के विषय में न्याय तथा मीमांसा मे बडा मत-विरोध रहा है। मण्डन मिश्र ने अपने 'विधि-विवेक' मे ईश्वर-सत्ता-समर्थक सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए उन्हे केवल वार्ता, (गप्प) कह कर उडा दिया है। वाचस्पति ने भी अपनी न्याय-कणिका नामक विधि-विवेक की टीका मे छ विशेष गुणों वाले ईश्वर की सत्ता का प्रतिषेध किया है।[१] किन्तु उदयन ने अपनी न्यायकुसुमाञ्जलि मे ईश्वर की सत्ता मानी है, जिसका नाम उन्होंने भव या शिव कहा है। उन्होंने मीमासकों के ईश्वर विषयक मत का विस्तार के साथ खण्डन किया है।[२]

नैयायिकों ने ईश्वर को परानुग्रहस्वभाव अर्थात् भक्तों पर कृपाशील स्वभाव वाला कहा है।[३] मीमांसकों ने ईश्वर के इस स्वभाव का भी खण्डन किया है।[४] इन्ही सब कारणों से नैयायिकों ने मीमासा को नास्तिक की उपाधि दी है। सायण माधव ने 'सर्वदर्शनसग्रह' में कुमारिल के ईश्वर-विषयक मत का उल्लेख करते हुए उन्हे नास्तिकशिरोमणि तक कह डाला है।[५] सर्वमत-सग्रह का तो यहाँ तक कहना है कि मीमांसक न नैयायिकों के और न ही उपनिषदों के ईश्वर को स्वीकार करते हैं।[६]

श्रीहर्ष ने न्याय-मीमासा के ईश्वर-विषयक इस मतभेद का अत्यन्त पाण्डित्य के साथ उल्लेख किया है। स्वयंवर-सभा में कुश द्वीप के अधिपति ज्योतिष्मान्

---

१. न तावत्—युगपदसंख्येयस्थावरादिलक्षणकार्यदर्शनादखिलविषयनित्यविज्ञान-मात्रशाळी षड्गुण ईश्वरः सेद्धुमर्हति। पृ० २१६

२. न्याय कुसुमांजलि, स्तबक ५

३. वाचस्पति की तात्पर्य टीका, पृ० ५९७, का० सं० सी०।

४. स्वार्थेपरानुग्रहे वा दुःखोत्तरसर्गदर्शनात् प्रयोजनाभावनिराकृतापि चैतन्यमात्र-सिद्धिः स्यात्॥ मंडन मिश्र—विधि विवेक, पृ० २२५

तदुक्तम् भट्टाचार्यः प्रयोजनमनुद्दिश्यनमन्दोपि प्रवर्तते। जगच्च सृजतस्तस्य किं नाम न कृतं भवेत्, इति॥ अत्रोच्यते नास्तकशिरोमणे तावदीर्ष्याकषायिते। चक्षुषी निमील्य परिभावयतु भवान्। पृ० २२५ पूना प्रकाशन।

६. अथ तैस्तार्किकाभिमत ईश्वर एव निरस्तो नोपनिषद्भिमतः क्षेत्रज्ञस्वरूप इतिचेत्, तन्न। कर्मैवदेहिनामिष्टानिष्ट फलदं नेश्वर इति वदतां वेदस्य धर्मैकनिष्ठतां चाभ्युपगच्छतां क्षेत्रज्ञस्वरूपस्येश्वरस्याकिञ्चित्करत्वात् प्रमाणप्रतिपन्नत्वाभावाच्च॥ सर्वमतसंग्रह प्रभाकरमीमांसा, त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सिरीज ६।

की सरस्वती द्वारा बड़ी प्रशसा सुनकर भी दमयन्ती का उस पर कोई अनुराग न देखकर कवि की उक्ति है—"समस्त वेदों ने शिव का यशोगान किया है। बिना कारण के भी भगवान् आशुतोष भक्तों का कार्य सिद्ध कर देते हैं, किन्तु जिस प्रकार ऐसे भगवान् चन्द्रशेखर मे मीमांसा कोई आस्था नहीं रखती, उसी प्रकार राजा ज्योतिष्मान् में, जिसकी सच्ची कीर्ति गायी जाती थी तथा जो स्वयं भी निःस्वार्थ परोपकारी था, दमयन्ती का कोई अनुराग न हुआ"[1]। नारायण ने नैषध के उक्त श्लोक की टीका मे कहा है कि मीमांसा ईश्वर को वेद का कर्तामात्र मानती है, उसकी सत्ता का एकदम निषेध नहीं करती, और इस विषय मे उन्होंने 'श्लोक-वार्तिक' का प्रथम श्लोक उद्धृत किया है, जिसमें कुमारिल शिव को नमस्कार करते प्रतीत होते हैं।[2] किन्तु पार्थ-सारथि मिश्र ने कुमारिल के इस श्लोक का यज्ञपरक अर्थ लगाया है न कि शिव-परक।[3] फिर कुमारिल का सिद्धान्त देखने से स्पष्ट पता चलता है कि वे ईश्वर की सत्ता को मानते ही नही थे।

चाण्डू पण्डित ने उक्त नैषध-श्लोक की टीका मे कहा है कि—"मीमासा-दर्शन ईश्वर की सत्ता को नही मानता, क्योंकि यदि वह ऐसा माने तो उसे (ईश्वर को) वेदों का कर्त्ता मानना पडेगा, जो उसके अपने सिद्धान्त के प्रतिकूल पड़ेगा, क्योंकि मीमासा वेद को सनातन तथा अजन्मा मानती है

सांख्ययोग

कार्य कारण के सम्बन्ध के विषय में साख्य का प्रसिद्ध सिद्धान्त सत्कार्यवाद है। अर्थात् कारण ही, जिसमें उत्पत्ति के पूर्व कार्य की सत्ता विद्यमान रहती है, कार्यरूप मे अभिव्यक्त होता है। ईश्वरकृष्ण ने साख्यकारिका मे इसके पक्ष में पाँच हेतु

---

१. वेदैर्वचोभिरखिलैः कृतकीर्तिरत्ने हेतुं विनैवधृतनित्यपरार्थयत्ने।
मीमांसयेव भगवत्यमृतांशुमालौ तस्मिन्महीभुजितयानुमतिर्न भेजे।।
नै० ११।६४

२. मीमांसापि वेदं प्रति कर्तृत्वमात्रेणेश्वरभंगीकृतवती न तु सर्वथानास्तीति।
विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे।
श्रेयः प्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्धधारिणे।।
मार्क० की० १ इति नमस्कार श्रवणात्।

३. सोमस्य अर्धं स्थानं ग्रहचमसादि तद्धारिणे इति। यज्ञेपक्षेपि संगच्छते।

दिए हैं[1]। वाचस्पति ने अपनी तत्त्वकौमुदी में इस विषय में बौद्धों, नैयायिकों, वैशेषिकों तथा वेदान्तियों के मत का विस्तार के साथ खण्डन किया है।[2]

श्रीहर्ष ने सांख्य के पूर्वोक्तवाद की ओर सकेत किया है। इन्द्र आदि दिक्-पालों को याचकरूप में सामने खड़े देखकर आनन्दातिरेक में राजा नल कहते हैं—"जन्य जनक मे भेद नहीं होता। मनुष्य देह सचमुच ही अन्न से उत्पन्न है। आपके अमृतभोजी शरीर को देखकर मेरी दृष्टि अमृत मे मज्जन-सा कर रही है।"[3]

योगविभूति का वर्णन करते हुए पातञ्जलि ने समाधि सिद्ध योगी का दूसरे के शरीर में प्रवेश करना भी बताया है।[4] व्यास ने इसका भाष्य करते हुए लिखा है "योगी अपने चित्त के प्रचरणज्ञान के कारण उस चित्त को अपने शरीर से खीचकर दूसरे शरीर में डाल देता है। उस चित्त के पीछे पीछे इन्द्रिया भी वहाँ जा पहुँचती हैं। जैसे मधु-मक्खिया अपने राजा के पीछे पीछे छत्ते से उड़ती है वा छत्ते पर फिर जा बैठती हैं, वैसे ही इन्द्रिया पर-शरीर मे प्रविष्ट होने वाले चित्त का पीछा नही छोडती है।"[5]

१. दमयन्ती के अन्त पुर मे अदृश्यरूप से भ्रमण करते हुए राजा नल में श्रीहर्ष उसी योगविभूति की उत्प्रेक्षा करते हुए कहते हैं—"वियोग-व्यथित राजा योगी की भाँति अदृश्य होकर दूसरे के पुर (शरीर या नगर) मे प्रवेश कर मणिजटित भूमियों मे अपने प्रतिविम्व रूप कार्य-समूह का विस्तार करते हुए सुशोभित थे।"[6]

---

१. असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥ कारिका ९

२. सांख्यतत्व कौमुदी ९ म कारिका ३, नै० ५।९४

३. नास्तिजन्य-जनकव्यतिभेदः सत्यमन्नजनितो जनदेहः।
वीक्ष्य वः खलु तनूममृतादं दृङनिमज्जनमुपैति सुधायाम्॥ नै० ५।९४

४. बन्ध-कारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्यपरशरीरावेशः—
—यो० सू० ३।३८

५. स्वचित्तस्य प्रचारसंवेदनाच्च योगी चित्तं स्वशरीरान्निष्कृष्य शरीरान्तरेषु निक्षिपति निक्षिप्तं चित्तञ्चेन्द्रियाण्यनूत्पतन्ति। यथा मधुकरराजानं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति निविशमानमनुनिविशन्ते। तथेन्द्रियाणि परशरीरावेशे चित्तमनुविधीयन्ते।

६. भवन्नदृश्यः प्रतिविम्बदेहव्यूहं वितन्वन्मणिकुट्टिमेषु।
पुरं परस्य प्रविशन्वियोगी योगीवचित्रं स रराज राजा॥ नै० ६।४६

द्वारा रक्षित अवस्था मे छोड़कर इधर-उधर स्थानों मे नूतन देह धारण करते हुए स्वप्नकाल के विषयों का भोग करके पुनः पूर्व "स्थूल" शरीर मे प्रविष्ट हो जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् का स्वप्न के विषय मे यही मत है।[१] शङ्कराचार्य ने बृहदारण्यकमत्र का भाष्य करते हुए लिखा है कि "स्वयम्प्रकाश आत्मा इन्द्रियों के उपरत हो जाने पर स्वप्न देखा करता है।'

स्वप्न विषयक पूर्वोक्त सिद्धान्त का प्रयोग नैषध में किया गया है। दमयन्ती को साक्षात् कभी न दिखाई पड़े हुए भी नल स्वप्न में दिखाई पड़ जाते थे। इस रहस्य की व्याख्या करते हुए श्रीहर्ष लिखते हैं—"निद्रा दमयन्ती के निमीलित नेत्रों से तथा बाह्येन्द्रियों के सुप्त हो जाने पर सम्पुटित हृदय से छिपाकर कभी न देखते हुए भी उस राजा को बडे रहस्य के रूप में "दमयन्ती को" दिखाती"।[३]

नरहरि ने इस श्लोक में स्वप्न के परे सुषुप्ति अवस्था की ध्वनि पाई है।

ब्रह्मप्राप्ति अथवा आत्मदर्शन के उपाय, विधि तथा साक्षात्कार दशा का विस्तृत विवेचन ही विशेषतया वेदान्त दर्शन का प्रतिपाद्य विषय है। अत. इस विषय में उपनिषदों से लेकर वेदान्त के टीका-ग्रन्थों तक इस पर पर्याप्त लिखा है।

श्रीहर्ष ने ब्रह्म साक्षात्कार की इस पद्धति का कई बार उल्लेख किया है—

---

१. प्राणेनरक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा।
स ईयते मृतो यत्र काम हिरण्मयः पुरुष एक हंसः॥ ४।३।१२

२. उपरतेषु हीन्द्रियेषु स्वप्नान पश्यति इत्यादि।

३. निमीलितादक्षियुगाच्च निद्रया हृदोपिऽबाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात्।
अवर्शि संगोप्य कदाप्यवीक्षितो रहस्यमस्याः स महन्महीपतिः॥ नै० १।४०

पूर्वोक्त श्लोक का तथा अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात्करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम्--(नै० १।३९) की भी व्याख्या प्रशस्तपादभाष्य में बुद्धि एवं स्वप्नज्ञानलक्षणा अविद्या शीर्षक में की गई व्याख्या के आधार पर की गई प्रतीत होती है। वह अंश यहां उद्धृत किया जाता है--

तत्तु त्रिविधम् संस्कारपाटवाद् धातुदोषाद् अदृष्टाच्च। तत्र...। अदृष्टात् यत् स्वयमनुभूतेष्वननुभूतेषु प्रसिद्धेष्वप्रसिद्धेषु च शुभावेदकं गजारोहणच्छत्रलाभादि तत्सर्वं संस्कार धर्माभ्यां भवति। विपरीतं तु तैलाभ्यंजनोष्ट्रारोहणादि संस्कारा धर्माभ्यां भवति। अत्यन्ताप्रसिद्धेष्वदृष्टादेव भवति। स्वप्नान्तिकं यद्यप्युपरतेन्द्रियग्रामस्य भवति तथाप्यतीतज्ञानप्रबन्धस्यप्रत्यवेक्षणात् स्मृतिश्चेति चतुर्विधा भवत्यविद्येति॥

१. स्वर्णिम हंस के अकस्मात् उपवन मे दमयन्ती के पास उतरने पर दमयन्ती की सखियों के नेत्र अपनी उस दृश्यमान् वस्तुओं को त्यागकर उस वर्णनातीत रूप वाले हस मे ऐसे जा लगे जैसे योगियों के चित्त सभी विषयों को त्यागकर अवाङ्मनस-गोचर ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।[१]

२. फिर जैसे अपने शरीर में ही सन्निहित ब्रह्म का आदरातिशय के साथ साक्षात्कार करने के लिए मुनि की मनोवृत्ति निश्चल हो जाती है, उसी प्रकार पास में चरते हुए उस हस को डरते हुए हाथ से पकड़ने की अभिलाषा से दमयन्ती भी प्रयत्नपूर्वक निश्चल बन गयी।[२]

३. नारद के आकाशमार्ग को पारकर इन्द्रपुरी में पहुँचने का वर्णन श्री हर्ष करते हैं—"देवर्षि अनन्त आकाश को पारकर इन्द्र भबन में पहुँच गए, जैसे योगी अनादि भव-सागर को पारकर आनन्द निर्भर ब्रह्म को प्राप्त करता है।"[३]

४. दमयन्ती के करुणरोदन को सुनकर भावोद्रेक मे अपने को प्रकट कर नल जब प्रकृत दशा मे आते हैं, उस समय जैसे कोई मुनि आत्मज्ञान प्राप्त कर अपने प्रकाशस्वरूप को तथा प्रकृति को पृथक् जानता है, उसी प्रकार प्रबोध आने पर नल ने अपने वास्तविक रूप को प्रकट करते हुए जाना तथा दमयन्ती को सुस्त देखकर कहना प्रारम्भ किया[४]।

आत्मज्ञान होने पर मुनि को आत्मा तथा प्रकृति की पृथक् सत्ता का ज्ञान हो जाता है। उसका अनुभव वामदेव ऋषि के समान इस प्रकार का होता है—

अह मनुरभवसूर्यश्चाह कक्षीवा ऋषिरस्मि विप्रा।[५] अहं कुत्समार्जुनेयंन्यंजे हं कविरुशना पश्यताभा, इत्यादि तथा प्रकृति या माया की पृथक् सत्ता भी जानता है। वेद-निर्देश है "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य प्रकृतितोविवेक्तव्यः" बृ० उप० २।४।५।

---

१. नेत्राणि वैदर्भसुतासखीनां विमुक्ततत्तद्विषयग्रहाणि।
प्रापुःस्तमेकं निरुपाख्यरूपं ब्रह्मेव चेतांसियतव्रतानाम्॥ नै० ।३।३

२. हंसं तनौ सन्निहितं चरन्तं मुनेर्मनोवृत्तिरिव स्विकायाम्।
ग्रहीतुकामादरिणा शयेन यत्नादसौ निश्चलतां जगाहे॥ नै० ३।४

३. स व्यतीत्य वियदन्तरगाधं नाकनायकनिकेतनमाप।
सम्प्रतीर्य भवसिन्धुमनादिं ब्रह्म शर्मभरचारुयतीव॥ नै० ५।८

४. मुनिर्यथात्मानमथप्रबोधवान् प्रकाशयन्तं स्वमसावबुध्यत।
अपि प्रपन्नां प्रकृतिं विलोक्य तामवाप्तसंस्कारतयासृजद्गिरः॥ नै० ९।१२१

५. ऋग्वेदसंहिता, ४।३।२६।१ मैक्समूलर द्वारा सम्पादित १८५६ ई०।

वेदान्त में सासारिक दशा को मोहदशा तथा मुक्त 'मोक्ष' दशा को आनन्द दशा कहा है।

नल को अकस्मात् अन्त.पुर में देखकर दमयन्ती को कुछ ऐसा ही अनुभव होता है। नल को देखकर आनन्द परिपूर्ण हो तथा इस सुरक्षित अन्त.पुर में नल कैसे (आए) ? इसलिए अनिर्वचनीय भ्रान्तिपूर्ण हो, दमयन्ती उस समय मुक्त तथा ससारी दोनों प्रकार के व्यक्तियों की दशा का माधुर्य अनुभव कर रही थी[१]।

वेदान्त मे स्थूल शरीर के अतिरिक्त लिङ्ग शरीर का वर्णन हुआ है, जिसकी रचना इस प्रकार बताई गई है—

बुद्धीन्द्रियाणि खलु पञ्च तथापराणि कर्मेन्द्रियाणि मन आदिचतुष्टयं च।
प्राणादिपञ्चकमथो वियदादिकं च कामश्च कर्मच तमः पुनरष्टमी पूः॥
शाङ्करभाष्य बृहदारण्यकोपनिषद् ४।३।२०

इन सब में मन के एक प्रधान तत्व होने के कारण कभी-कभी मन को ही लिङ्ग शरीर के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं।[२] मरण के समय सर्वप्रथम आत्मा शरीर से निकलता, है फिर प्राण, फिर सारी इन्द्रिया निकलती हैं। उसके निकल जाने पर स्थूल शरीर व्यर्थ (मृत) हो जाता है।

वृहदारण्यक उपनिषद् मे इस प्रणाली का विवेचन किया गया है[३]।

वेदान्त की इस प्रणाली का उल्लेख श्री हर्ष ने इस प्रकार किया है—इन्द्र आदि दिक्पालों के पक्ष में दिए गए दूत नल के तर्कों से अधीर हो उन्मुक्त कण्ठ से रोदन करती हुई दमयन्ती कहती है—"हाय ये क्षण नही युग बीत रहे हैं, कब तक वेदना सहूंगी। मुझे तो मृत्यु ही नहीं है। क्योंकि मेरे प्राण हृदय को नही छोड़ रहे हैं, मन प्रिय को नहीं छोड़ता है तथा प्राण उस मन को नहीं त्याग रहे हे।"[४]

छान्दोग्य उपनिषद् के सप्तम अध्याय में सनत्कुमार मन्त्रविद् नारद को आत्मा

---

१. **तत्कालनानन्दमयी भवन्ती भवत्तरा निर्वचनीयमोहा।**
सामुक्तसंसारिदशारसाभ्यां द्विस्वादमुल्लासमभुक्तमिष्टम्॥ नै० ८।१५

२. अतएव भगवान् शङ्कराचार्य ने कहा है **लिङ्गमनः, मनः प्रधानत्वात् लिङ्गस्य मनः लिङ्गमित्युच्यते—शा० भा० बृ० उप० ४।४।६**

३. **तमुत्क्रामन्तं प्राणोनूत्क्रामति, प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वेप्राणा अनूत्क्रामन्ति बृ० ४।४।२**

४. **अमूनि गच्छन्ति युगानि न क्षणः कियत्सहिष्ये न हि मृत्युरस्ति मे।**
स मां न कान्तः स्फुटमन्तरुज्झिता न तं मनस्तच्च न कायवायवः॥ नै० ९।९४

के वास्तविक रूप का परिचय देते हैं और विस्तार के साथ बताते हैं कि किस प्रकार आत्मा सारे भौतिक पदार्थों तथा मानसिक कार्यकलापों से परे है। वाक्, मनस्, संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, आप्, तेजस्, आकाश, स्मृति, आशा, प्राण, सबसे आत्मा उत्कृष्ट है, तथा आत्मा से ही इन सब की सत्ता है, वह ऊपर नीचे इधर उधर सर्वत्र है।[1] उपनिषद् के पूर्वोक्त सम्पूर्ण अध्याय के भाव को नैषध में बड़े पाण्डित्य के साथ एक ही श्लोक में निहित किया गया है—"दमयन्ती उस समय उपनिषद् विद्या के समान हो गई थी, जिस प्रकार उपनिषद् विद्या पृथ्वी, अप् तेज, वायु, आकाश, काल, दिक् तथा मन इन आठों द्रव्यों की सत्ता का एक साथ निराकरण करती है, उसके अभिप्राय बड़े गूढ़ होते हैं। वह व्याकरण आदि छः शुभ अङ्गों से युक्त होती है तथा अनिर्वचनीय रूप वाले ज्ञान-निधि, असीम आनन्दमय एक परम पुरुष में ही तल्लीन रहती है उसी प्रकार दमयन्ती ने वैभवसम्पन्न, दमयन्ती-प्राप्ति की आशा लिए अद्वितीय गुणों वाले असख्य तेजस्वी देवताओं तथा राजाओं को त्यागा। अपने अभिप्राय को छिपाए वह सुन्दरी भी अवर्णनीय सौन्दर्य वाले, ज्ञान-राशि, असीम उत्साहयुक्त किसी पुरुष विशेष मे तल्लीन थी।"[2]

आत्मा के विषय में गौड़पादकारिका मे एक स्थान पर दर्शनों की चार कोटियों का उल्लेख हुआ है।[3] इस पर शंकराचार्य कृतभाष्य के टीकाकार आनन्दगिरि ने पूर्वोक्तकारिका में (१) अस्ति, (२) नास्ति, (३) अस्ति-नास्ति, (४) नास्ति-नास्ति इन चारों वादों को क्रम से वैशेषिक, विज्ञानवादी बौद्ध, दिगम्वर "जैन" तथा शून्यवादी बौद्ध का मत वताया है।[4] वेदान्त दर्शन आत्मा को सर्वथा निष्प्रपञ्च

---

१. छान्दोग्य उपनिषद् अध्याय ७

२. सानन्तानाप्यतेजः सखनिखलमरुत्पार्थिवान् दिष्टभाज—
श्चित्तेनाशाजुषस्तान्समसमगुणान्मुञ्चती गूढभावा।
पारेवाग्वर्तिरूपं पुरुषमनु चिदम्भोधिमेकं शुभाङ्गी—
निःसीमानन्दमासीदुपनिषदुपमा तत्परीभूय भूयः॥ नै० ११।१२९

३. अस्तिनास्त्यस्तिनास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः,
चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येव वालिशः।
कोट्यश्चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदावृतः,
भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक्॥ ४।८३, ८४

४. प्रमातादेहादिव्यतिरिक्तोऽस्तीत्यादौ वैशेषिकादिपक्षः। देहादिव्यतिरिक्तो ऽपिनासौ बुद्धेर्व्यतिरिच्यते क्षणिकस्यविज्ञानस्येव आत्मत्वादिति द्वितीयो विज्ञानवादिपक्षः। तृतीयो दिगम्बरपक्षः। चतुर्थे तु शून्यवादिपक्षेशून्यस्यात्यन्तिकत्वद्योतनार्था वीप्सा।

"सर्व विकल्पना वर्जित" अर्थात् अद्वैत बताता है। अत. उसे पञ्चमवाद "कोटि" कह सकते है।

वेदान्त के अद्वैतवाद से मिलता-जुलता ही माध्यमिकों "बौद्धों" का भी अद्वैत-वाद है। बुद्ध को अद्वयवादी कहा भी जाता है।[१]

परमतत्व के विषय मे माध्यमिकों का भी मत वेदान्तियों की भाति पूर्वोक्त चार कोटियों से परे है।

नसन्नासन्नसदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका जगुः॥

स्वयवर समाज मे पाच नलो को देखकर दमयन्ती को सत्य नल का निश्चय ही न हो सका। कवि ने सुन्दरी की उस अवस्था के प्रति उत्प्रेक्षा की है "जैसे मतों के भेद होने पर लोगों को पञ्चम कोटि अद्वैततत्त्व पर भी, यद्यपि वह अत्यन्त सत्य है, विश्वास नही होता, तथा अन्य चार "लोगों के" विश्वास न होने देने के लिए यत्नशील रहते है, उसी प्रकार दमयन्ती को भी कई नल होने के कारण नल विषयक सन्देह होने पर पाचवे स्थान मे बैठे हुए वास्तविक नल मे भी विश्वास न हुआ, क्योंकि दमयन्ती को पाने की अभिलाषा से चार समान रूप वाले नल उस विश्वास को होने ही नहीं देते थे।"[२]

वेदान्तियों को माया के कारण जगत् मे बाह्यत भेद दिखाई पडता है। इसे ही विष्णु की इच्छा का विलास कहते है।

श्रीहर्ष ने वेदान्त तथा वैष्णव मत के पूर्वोक्त मतों का समन्वय किया है। विष्णु पूजा करते हुए नल स्तुति करते है, "युक्तिसङ्गत शास्त्रों तथा उपनिषदों के

---

१. अद्वयवादी विनायकः—अमरकोषः।

२. साप्तुं प्रयच्छतिन पक्षचतुष्टये तां तल्लाभशंसिनि न पञ्चमकोटिमात्रे।
श्रद्धां दधे निषधराड्विमतौ मतानामद्वैततत्त्वइव सत्यतरेऽपि लोकः॥नै० १३।३६

माध्यमिकों तथा वेदान्तियों की अद्वैततत्व विषयक समानता को देख कर ही नैषध के टीकाकार ईशानदेव ने इस श्लोक के व्याख्यान्तर मे इसे बौद्ध मत के अनुसार बताया है—"यद्वा अद्वैततत्त्वे बौद्धमते यथालोकः श्रद्धां न दधाति। कीदृशे पञ्चमकोटिमात्रे। यदुक्तम्। नसन्नासन्नसदसन्नचाप्यनुभया-त्मकम्, चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिकाविदुः। पक्षचतुष्टये तां मुक्तिं न प्रयच्छतीत्यादियोज्यम्। अद्वैतवादिनश्च बौद्धाः। यदुक्तम् अद्वयवादी... जिन इति" हान्दिकी नैषध में उद्धृत पृ० ४३६।

सर्वखल्विदं ब्रह्म इत्यादि प्रमाणों से जगत् की समस्त वस्तुओं में एक ही सत्ता भासमान् होती है, अत. उनमे कोई भेद नहीं माना जा सकता, किन्तु आपकी इच्छा के कारण, जो अनिर्वाच्य अनाद्य अविद्यारूप है, प्रत्येक वस्तु पृथक् ही प्रतीत होती है।[1]

वेदान्तियों ने मुक्ति की अवस्था में केवल ब्रह्म की सत्ता मानी है। चार्वाक ऐसी मुक्ति का उपहास करते हुए कहता है—

"जब तक मनुष्य संसार में है, तब तक उसे जीव रूपी अपनी तथा ब्रह्म की भावनाओं का पृथक् भान होता है, किन्तु मुक्ति मिलने पर अकेला ब्रह्म ही शेष रह जाता है, इस प्रकार अपनी सत्ता का उच्छेद कर इन वेदान्तियों ने मुक्ति की स्थापना की है। वाह री बुद्धि ?"[2]

बौद्ध-दर्शन

श्रीहर्ष के समय से शताब्दियों पूर्व से ही बौद्ध सम्प्रदाय का ह्रास प्रारम्भ हो गया था, किन्तु उसके दार्शनिक सिद्धांत बहुत समय तक स्थिर रहे। प्रारम्भ मे बौद्धधर्म केवल एक सम्प्रदाय "पाषड" के रूप मे था किन्तु बाद में इस सम्प्रदाय में होने वाले अनेक उच्चकोटि के विद्वानों ने अपने सिद्धान्तों को दार्शनिक रूप दिया। हिन्दू "वैदिक" दर्शनों का भी बौद्ध सिद्धान्तों पर बडा प्रभाव पडा, और बौद्धों ने बहुत कुछ उनसे लिया भी। दार्शनिक विचारधारा मे बौद्धदर्शन का बहुत प्रधान स्थान रहा। अत: प्रायः सभी हिन्दू दार्शनिक विद्वानों को अपने मत की पुष्टि मे यथावसर बौद्ध सिद्धान्तों का आख्यान-प्रत्याख्यान करना पडा। 'खण्डनखण्डखाद्य' में श्रीहर्ष ने बौद्धों के सिद्धान्तों का अनेक स्थानों पर बडे कठोर शब्दों में खण्डन किया है।

नैषध मे बौद्ध दर्शन के अनेक सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है। महायान सम्प्रदाय के माध्यमिकों का शून्यवाद और योगाचारों का विज्ञानवाद तथा हीनयानावलम्बी सौत्रान्तिकों का साकारवाद बौद्धदर्शन के प्रधान सिद्धान्त हैं।[3]

---

१. वस्तु वास्तु घटते न भिदाना यौक्तनैकविधबाधविरोधैः।
तत्त्वदीहितविजृम्भिततत्तदभेदमेतदिति तत्त्वनिरुक्तिः ॥ नै० २१।१०७

२. स्वञ्च ब्रह्म च संसारे मुक्तौतु ब्रह्मकेवलम्।
इति स्वोच्छित्तिमुत्युक्ति वैदग्धी वेदवादिनाम् ॥ नै० १७।७४

३. अद्वय वज्रसंग्रह, पृ० १४

शून्यवाद के अनुसार जगत् के पदार्थों की स्वप्नवत् सत्ता है। जैसे जादूगर जादू के बल से नई वस्तुओं को बनाता है और दर्शक उसे सत्य मान लेते हैं, उसी प्रकार का यह समस्त वस्तुजात जादू के समान है।[१] सभी गोचर वस्तुए प्रतिबिम्ब के समान हैं[२] और यह भी निश्चय नहीं कि इन अलीक पदार्थों का कहाँ से उद्गम और कहाँ विलय होता है ?[३] शून्यवादियों के अनुसार जगत् की वास्तव मे न कोई उत्पत्ति होती है, और न विनाश ही।[४] माध्यमिकों ने तत्त्व को चार कोटियों 'प्रकारों' से परे 'विनिर्मुक्त' बताया है।[५] उनका यह शून्यवाद ही अद्वैतवाद या अद्वयवाद भी कहा जाता है।[६] बौद्धों के इस माध्यमिक दर्शन (शून्यवाद) की ओर श्रीहर्ष ने कई स्थलों पर सङ्केत किया है।

१. प्रथम तो कवि ने सरस्वती की रूप कल्पना मे उनके उदर का वर्णन करते हुए उसे बौद्धों के शून्यात्मतावाद (शून्यवाद) से निर्मित बताया है।[७]

२. फिर विष्णु के बुद्धावतार की स्तुति के प्रसङ्ग में नल ने उन्हे अद्वयवादी तथा 'विधुत-कोटिचतुष्क' बताया है.. "प्रभो आप का वह बुद्धरूप मेरी रक्षा करे जिसने चित्त को क्षणिक माना है, जिसने केवल ज्ञानरूप वस्तु की सत्ता सत्य मानी (अद्वयवादी) है, वेद का प्रामाण्य न मानते हुए भी जो ज्ञानी है, जिसने चारों कोटियों का निराकरण कर दिया, जो कामविजयी था, तथा जिसकी अभिज्ञा छः प्रकार की थी[८]।"

---

१. बोधिचर्यावतार, पृ० ३७४

२. यदन्यसन्निधाने न दृष्टं न तदभावतः।
प्रतिबिम्बसमेतस्मिन् कृत्रिमे सत्यता कथम्॥ बो० च० ९।१४५

३. बोधिचर्यावतार, ९।१४४

४. एवं च न निरोधोस्ति न च भावोस्ति सर्वदा।
अजातमनिरुद्धं च तस्मात् सर्वमिदं जगत्॥ बो० च० ९।१५०

५. नसन्नासन्नसदसन्नचाप्यनुभवात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिकाविदुः॥ बोधिचर्यावतार पञ्जिका, पृ० ३५९

६. भिन्नापि देशनाभिन्ना शून्यताद्वयलक्षणा। ब्र० सू० २।२।१८ पर वाचस्पति द्वारा भामती में उद्धृत।

७. शून्यात्मतावादभयोदरेव—नै० १०।८८

८. एकचित्ततितिरद्वयवादिन्नत्रयीपरिचितोथबुधस्त्वम्।
पाहि मां विधुतकोटिचतुष्कः पञ्चबाण-विजयी षडभिज्ञः॥ नै० २१।८७
बुद्ध को अद्वयवादी कहा भी जाता है...अद्वयवादी विनायकः—अमर कोष, १।१।१४

३. एक बार फिर दमयन्ती से सन्ध्यावर्णन करते समय नल ने प्रातः तारिकाओं के लुप्त हो जाने के विषय में शून्यवाद का और साथ ही विज्ञानवाद का भी स्मरण किया है।[१] "शून्यवादिनी बौद्ध योगिनी की भाति रात्रि तारों का दृष्टान्त देती हुई कहती है कि जैसे जागरण के समय दिन होते ही ये सारे आकाश-कुसुम तारे लुप्त हो जाते हैं उसी भाति प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने वाला सारा बाह्यजगत् असत्य है।" 2

चार्वाक बौद्धदर्शन के अस्थिरवाद (जगत्पदार्थों के क्षणभंगुरवाद) का उल्लेख करता हुआ कहता है—"किसी बोधिसत्त्व ने वेदों की पोल खोलने के लिए जन्म लिया, क्योंकि समस्त जगत् को सत्त्व हेतु द्वारा (यत्सत् तत्क्षणिकम् यथा घटः इत्यादि रूप से) क्षणभंगुर बताया।[२] 3

विज्ञानवादी योगाचार सम्प्रदायवालों के मतानुसार ज्ञान से पृथक् गोचर वस्तु की कोई सत्ता नहीं। वस्तु का बाह्यरूप ज्ञान-द्वारा कल्पित है। वास्तव में पदार्थ तथा उसका ज्ञान दोनों एक ही वस्तु है जो बाहर नहीं किन्तु भीतर है।[४]

श्रीहर्ष ने सरस्वती के चित्त की रचना इसी विज्ञानवाद से कल्पित की है।

बाह्यास्तित्ववादी सौत्रान्तिक बौद्ध साकारवादी कहे जाते हैं।[५] उनके अनुसार सर्वप्रथम हमारे ज्ञान या बुद्धि पर पदार्थ (वस्तु) का आकार पड़ता है जिससे हम उस वस्तु की सत्ता का अनुमान लगाते हैं।[६] जैसे शरीर की पुष्टि देखकर भोजन

"यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद् बहिर्वदवभासते" के अनुसार विज्ञानवादी विज्ञानव्यतिरिक्त बाह्यार्थ रूप जगत् को मिथ्या कहते हैं॥ ब्रह्मसूत्र २।२।२८ पर शाङ्करभाष्य द्रष्टव्य है।

१. प्रबोधकालेऽहनि बाधितानि ताराः खपुष्पाणि निदर्शयन्ती।
निशाह शून्याध्वान योगिनीयं मृषा जगद् वृष्टमपि स्फुटाभम्॥ नै० २१।२४

३. नै० १७।३८

४. वाचस्पति ने ब्रह्मसूत्र २।२।२८ के शाङ्करभाष्य पर अपनी भामती में स्पष्ट कहा है—

यद्यप्यनुभवात् नान्योनुभाव्योऽनुभविताऽनुभवनं तथापि... बुद्धिपरिकल्पितेन रूपेण अन्तःस्थ एवैष प्रमाणप्रमेयफलव्यवहार : प्रमातृव्यवहारश्चेत्यपि द्रष्टव्यं न पारमार्थिक इत्यर्थः।

५. विज्ञानसामस्त्यमयान्तरेव—नै० १०।८८

६. इन्द्रियसन्निकृष्टस्यविषयस्योत्पाद्येज्ञाने स्वाकारसमर्पकतया समर्पितेन चाकरेण तस्यार्थस्यानुभूयतोपपत्तेः..। सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ३६ बी० ओ० आर० आई०।

का, बोली सुनकर देश का तथा सम्भ्रम से स्नेह का अर्थापत्ति द्वारा अनुमान लगा लिया जाता है उसी प्रकार ज्ञान या बुद्धि पर पडे पदार्थ के प्रतिबिम्ब से उस पदार्थ की सत्ता का अनुमान लगा लिया जाता है।[1] दूसरे शब्दों में जैसे दर्पणगत प्रतिबिम्ब को देखकर मुख की सत्ता का ज्ञान होता है उसी प्रकार ज्ञान में पड़े ज्ञेय वस्तु के प्रतिबिम्ब से उसकी सत्ता का ज्ञान होता है, प्रत्यक्ष किसी पदार्थ का ज्ञान नहीं होता।[2]

श्रीहर्ष ने सरस्वती देवी का समस्त रूप ही साकारतावाद से कल्पित किया है।[3]

जैन-दर्शन

जैन-दर्शन में—(१) सम्यक्ज्ञान, (२) सम्यक्दर्शन तथा (३) सम्यक्चरित्र को त्रिरत्न कहा गया है। जैन कवियों ने बाद के काव्यों मे इस त्रिरत्न को बड़ी प्रधानता दी है। जैन ग्रन्थों में प्रतिपादित सिद्धान्तों के पूर्ण ज्ञान का नाम सम्यक् ज्ञान है, उनमे पूर्णश्रद्धा (आस्था) को सम्यक्दर्शन कहते हैं।[4] तथा पाप कार्यों से विमुखता का नाम सम्यक्चरित्र है। इसमे पञ्चमहाव्रत (अहिंसा, सूनृत, अस्तेय, ब्रह्म, तथा अपरिग्रह) भी आ जाते हैं।[5] इस त्रिरत्न के द्वारा ही निर्वाण की प्राप्ति होती है। जो तीनों का एक साथ अभ्यास करता है उसे इनका फल शीघ्र ही प्राप्त होता है।[6]

दमयन्ती दूत नल से देवों को वरने में अपने चरित्र की दुहाई देती हुई जैनों के इसी त्रिरत्न का उल्लेख करती है—"जिस सम्यक् चरित्ररूपी धर्मचिन्तामणि को जिन ने सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चरित्र रूप त्रिरत्न मे रक्खा है उसे जिस स्त्री ने शंकर की कोपाग्नि में भस्म हुए मदन के लिए त्यागा, उसने मानों अपने कुल मे ही वह राख उड़ाई।"[7]

---

१. सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ३६१

२. ज्ञाने ज्ञेयप्रतिबिम्बो बिम्बपुरः सरः, प्रतिबिम्बत्वात्, दर्पणगतमुखप्रतिबिम्बवदिति। एवञ्च प्रत्यक्षग्राह्यो बाह्यार्थो नास्ति। सर्वमत संग्रह, पृ० २१ त्रि० सं० सी०, १९१८ ई०।

३. साकारतासिद्धिमयाखिलेव—नै० १०।८८

४. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यक् दर्शनम्—तत्त्वार्थाधिगमसूत्र १।२

५. सर्वदर्शनसंग्रह, बी० ओ० आर० आई०, प्रकाशन पृ० ६५

६. सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ६६

७. न्यवेशि रत्नत्रितये जिनेन यः स धर्मचिन्तामणिरुज्झितो यया।
कपालिकोपानलभस्मनः कृते तदेव भस्म स्वकुले स्तृतं तया॥ नै० ९।७१

चार्वाक या लोकायत

नैषध में चार्वाक-सिद्धान्तों का बड़े विस्तार के साथ शास्त्रार्थ ढंग से आख्यान प्रत्याख्यान हुआ है। "चार्वाकों का अनात्मवाद नास्तिकदर्शनों मे सर्वप्रथम तथा सर्वप्रधान माना जाता है। यद्यपि अश्लील ऐन्द्रियपरता के कारण भारत में इसको स्थायी सत्ता बनाने में सफलता नहीं मिली फिर भी कुछ लोगों की रुचि इसके प्रति अवश्य ही रही। वह रुचि भी विचित्र प्रकार की थी। कुछ लोग तो इसके सिद्धान्तों को जानने का कौतूहल रखते थे। तथा कुछ थोडे ऐसे भी हुए जिन्होंने उन सिद्धान्तों का जीवन में प्रयोग भी किया। इनके सिद्धान्तो की (यद्यपि वे कोई सिद्धान्त नहीं कहे जा सकते) वैदिक तथा अवैदिक दोनों प्रकार के दर्शनों ने बडी निर्दयता के साथ धज्जियाँ उडाई हैं। अब तक उन चार्वाक मतों की जो कुछ भी सत्ता बनी है वह उसी प्रकार है जैसे अनेक विचार-धाराए विवेकहीन होती हुई भी चलती रहती है।"[1]

इस आत्मवाद का प्रवर्तक बृहस्पति को माना जाता है। ये बृहस्पति कौन थे इस विषय में निश्चय ढग से कुछ नहीं कहा जा सकता। बृहस्पतिनीति के कर्त्ता भी यही रहे इसका निर्णय करना कठिन है। भास ने अपने प्रतिमा नाटक (५वें अंक) में तथा कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में बृहस्पति को अर्थशास्त्र-रचयिता कहा है। कौटिलीय अर्थशास्त्र के समुद्देशखण्ड (मैसूर प्रकाशन, पृ० ६) में बृहस्पति के मत से केवल वार्ता तथा दंडनीति ही अध्येतव्य विद्याएँ कही गई हैं। आन्वीक्षिकी तथा त्रयी गौण मानी गई हैं। इससे भी पता चलता है कि बृहस्पति का मत भौतिकवाद की ओर है। अतएव बार्हस्पत्य सिद्धान्त चार्वाक का अनुयायी भी कहा जाता है।[2] बृहस्पति कोई पौराणिक व्यक्ति नहीं थे क्योंकि चार्वाक सूत्रों का उल्लेख उन्हीके द्वारा विरचित होने के रूप में किया जाता है।[3] चार्वाक का मुख्य सिद्धान्त यह है कि "इन्द्रियोपलब्धि ही सत्ता का एकमात्र प्रमाण है ..अतः यन्नोपलभ्यते तन्नास्ति" इस मत से स्वभावतया अश्रद्धा या नास्तिकवाद का प्रादुर्भाव होता है।[4] चार्वाक ईश्वर को नहीं मानता। "ईश्वरवाद के पक्ष में दिये गए तर्कों में उसे अधिक मान्यता नहीं दिखाई पड़ती। अदृष्ट या भौतिक हेतुवाद का तो वह तिरस्कार करता ही है। फिर यह कहना निष्प्रयोजन है कि ईश्वर संसार का नियन्ता है,

---

१. सरस्वतीभवन स्टडीज, भाग ३, पृ० ६७-७७ म० म० डा० गोपीनाथ कविराज।

२. विवरण प्रमेय संग्रह, पृ० २१०-१८, सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ४ पूना प्रकाशन।

३. सरस्वती भवन स्टडीज, भाग ३ पृष्ठ ६७-७७ म० म० डा० गोपीनाथ कविराज।

४. वही

जो कि जीवों के कर्मो की व्यवस्था करता है तथा वही विश्वकर्ता है। और जो वेद की प्रामाणिकता मानता ही नही, उससे वेद के आधार पर ईश्वर की सत्ता सिद्ध करना भी व्यर्थ ही है। सब से बडी बात तो यह है कि चार्वाक अनुमान को प्रमाण मानता ही नही। ईश्वर इन्द्रियों का गोचर ही नही, और शब्द-प्रमाण भी अनुमान ही की कोटि मे होने के कारण एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् सत्ता को सिद्ध करने का कोई साधन ही नहीं रह जाता। अत. चार्वाको के यहाँ ईश्वर की नही, स्वभाव की प्रतिष्ठा है।[1] "अत. इन्द्रादि देवों से न्याय वेदान्त प्रतिपादित ईश्वर सत्ता के प्रति अनास्था प्रकट करता हुआ चार्वाक प्रत्यक्ष तर्क देता है—"यदि सर्वज्ञ करुणा-मय तथा सत्यभाषी परमात्मा की सत्ता वास्तव मे है तो वह भुक्ति-मुक्ति चाहने वाले हम लोगों को अपनी स्वीकृति के दो शब्दों (एवमस्तु) आदि द्वारा ही क्यों पूर्णमनोरथ नहीं करता ?"[2] तथा "यदि हम अपने कर्मो के अनुसार ही सुख-दुख पाते है, और ईश्वर का उसमें कोई हाथ नही तो हमे उन सुख दुखों का अनुभव करने के लिये उसका यह बलात् हस्तक्षेप अवश्य उसको हमारा अकारण शत्रु बनाता है। और अन्य से शत्रुता का तो कुछ कारण भी होता है।"[3]

विवरण-प्रमेय-सग्रह में लोकायतिक सिद्धान्तों को सक्षेप मे इस प्रकार कहा है:—

'पृथ्वी, अप, तेज, वायु ये ही चार भूत तत्त्व है, प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है, स्वभाववाद ही परम सत्य है।"[4]

नैषध में सर्वप्रथम चार्वाक वेद की प्रामाणिकता पर ही आक्षेप करता है तथा बल के साथ स्वेच्छाचारिता का समर्थन करता हुआ कहता है.—

"जैसे पत्थर का पानी पर तैरना कभी सत्य नहीं, उसी प्रकार यज्ञ के फल (स्वर्गादिप्राप्ति) के प्रति वेद-वचन को भी सत्य नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार अन्य वेद वाक्यों में भी क्या आस्था की जाय, जिसके कारण से यह स्वेच्छा-

१. वही

२. देवश्चेदस्ति सर्वज्ञः करुणाभागवन्ध्यवाक्।
तत्किं वाग्व्यय-मात्रान्नः कृतार्थयतिनार्थिनः॥ नै० १७।७७

३. भविनां भावयन् दुःखं स्वकर्मजमपीश्वरः।
स्यादकारणवैरी नः कारणादपरेपरे॥ नै० १७।७८

४. भूतचतुष्टयमेवतत्त्वं, प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणं, स्वभाववाद एव पारमार्थिकः पृ० २११, सरस्वती भवन स्टडीज, भाग ३, पृ० ७७ की टिप्पणी में म० म० डा० गोपीनाथ कविराज द्वारा उद्धृत।

चारिता आप लोगों ने त्याग दी।"[1] वह वेद की प्रामाणिकता का विरोध करने के कारण ही बुद्ध की प्रशंसा करता है।[2] बृहस्पति ने अग्निहोत्र, वेद, दडधारण करने तथा भस्म आदि लगाने को बुद्धि-पौरुष-रहित व्यक्तियों की जीविका का साधन मात्र कहा है।[3] "नैषध मे भी चार्वाक उसी उक्ति को दुहराते हुए कहता है—"बृहस्पति ने तो कहा है कि अग्निहोत्र, तीनों वेद, त्रिदड धारण करना, भस्म लगाना, तिलक देना, ये सब बुद्धिहीन दरिद्रों की जीविका के साधन हैं।"[4]

चार्वाक मत केवल काम को परम पुरुषार्थ मानता है।[5] अङ्गनालिङ्गन में जो सुख मिलता है उसे ही चार्वाक-दर्शन मे पुरुषार्थ कहते हैं तथा कांटे आदि के गड़ने से जो पीड़ा या दुःख होता है उसे नरक मानते हैं।[6] नैषध में चार्वाक ने काम पुरुषार्थ का अनेक बार तथा अनेक विधि से समर्थन किया है। वह उसे सारे पुण्य कर्मो से अधिक श्रेयस्कर बताता हुआ कहता है—"व्रत आदि पुण्य कार्य मे आप लोगो की इतनी आस्था क्यों है और स्त्री-सभोग में क्यों नहीं है ? अरे, मनुष्य को वही करना चाहिए जिससे अन्त में उसे सुख प्राप्त हो (पुण्यफल तो जन्मान्तर मे मिलेगा जो स्वय सन्देहास्पद है, पर सुरतफल तो स्वयं सुरत-वेला मे ही मिल जाता है।)।"[7] वह कामाज्ञा को सबसे अधिक गरीयसी बताता है, "आप लोग भगवन् कामदेव की आज्ञा माने जिसका कि ब्रह्मा शिव आदि समर्थ देव भी उल्लङ्घन नहीं कर सकते। अरे मूर्खो, वेद देवाज्ञा होने के कारण ही तो मान्य है। तो क्या कामदेव देव नहीं ? फिर दोनों

---

१. ग्रावोन्मज्जनवद्यज्ञफलेपि श्रुतिसत्यता।
का श्रद्धा तत्र धीवृद्धाः कामाध्वा यत्खिलीकृतः।। नै० १७।३७

२. केनापि बोधिसत्त्वेन जातं सत्त्वेन हेतुना।
यद्वेदमर्मभेदाय जगदेजगदस्थिरम्।। नै० १७।३८

३. अग्निहोत्रं अयोवेदास्त्रिदण्डं भस्मगुंठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति वृहस्पतिः।। सर्वदर्शन संग्रह, पृ० १३

४. अग्निहोत्रं त्रयीतन्त्रं, त्रिदण्डं भस्मपुंड्रकम्।
प्रज्ञापौरुषनिःस्वानां जीविकेति वृहस्पतिः।। नै० १७।३९

५. कामएवैकः पुरुषार्थ ......(गीता १६।११ के भाष्य मे मधुसूदन नीलकंठ तथा धनपति द्वारा उल्लिखित) म० म० कविराज सर० भ० स्टडीज।

६. अङ्गनालिङ्गाज्जयन्यसुखमेवपुमर्थता।
कंटकादिव्यथाजन्यं दुःखं निरय उच्यते।। सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ६

७. सुकृते वः कथं श्रद्धा सुरते च कथं न सा।
तत्कर्म पुरुषः कुर्यात् येनान्ते सुखमेधते।। नै० १७।४८

में अधिक किसी को क्या माने ? दोनों ही आज्ञाये समान है।"[१] उसे सारी क्रियाओं के फलरूप मे काम पुरुषार्थ की प्राप्ति ही समझ पड़ती है—"यज्ञ के समय जो चित्त शात रखते है तथा स्त्री-भोग की भावना का त्याग करते है उस विडम्बना की क्या प्रशंसा की जाय? आखिर उनकी उस यज्ञ में शान्त-चित्तता किस बात की लिप्सा से है? यही न कि स्वर्ग जाकर भी मृगनयनियों का सम्भोग सुलभ हो?"[२]

बृहस्पति ने वर्णाश्रम आदि कुछ भी नहीं माना है।[३]

चार्वाक भी नैषध में जातिशुद्धि का उपहास करते हुए कहता है "यदि माता पिता दोनों के वंशो के पितरों को एक एक करके देखा जाय तो किसी वश में शुद्धता शायद ही मिले। क्योंकि एक वंश की असख्य शाखाएँ होने के कारण दोष कहीं न कहीं सबमे होगा ही। अतः कौन सी जाति भला निर्दोष कही जा सकती है।"[४]

लोकायत दर्शन मे देह को ही आत्मा मानते है तथा देहनाश (मृत्यु) को ही मोक्ष या अपवर्ग कहते हैं।[५]

चार्वाक उक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए देवों से कहता है, यदि देह ही आत्मा है तो इसके जल जाने पर कुछ शेष ही नहीं बचता, फिर पाप का फल भोगने वाला कोई बचता ही नहीं। और यदि आत्मा इस शरीर से भिन्न कोई वस्तु है

---

१. कुरुध्वं कामदेवाज्ञां ब्रह्माद्यैरप्यलङ्घिताम्।
वेदोऽपि देवकीयाज्ञा तत्राज्ञाः काधिगर्हणा॥ नै० १७।५९

२. साधुकामुकता मुक्ता शान्तस्वान्तैर्मखोन्मुखैः।
सारङ्गलोचनासारां दिवं प्रेत्यापि लिप्सुभिः॥ नै० १७।६८

३. नैववर्णाश्रमादीनां क्रियाश्चफलदायिकाः—सर्वदर्शन संग्रह, पृ० १३

४. शुद्धिर्वंशद्वयीशुद्धौ पित्रोःपित्रोर्यदेकशः।
तदानन्तकुलादोषाददोषा जातिरस्ति का॥ नै० १७।४०

५. चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः (शाङ्कर भाष्य में ब्रह्मसूत्र ३।३।५३ पर) तथा मरणमेवापवर्गः।

क. (अद्वैतब्रह्मसिद्धि में) म० म० डा० कविराज द्वारा स० भ० वृ० स्टडीज, भाग ३ पृ० ६९ पर उद्धृत।

ख. देहःस्थौल्यादियोगाच्च स एवात्मा न चापरः।
मम देहोयमित्युक्तिः संभवेदौपचारिकी॥ स० द० सं०, पृ० ६

ग. तथा...देहस्यनाशःमुक्तिस्तु न ज्ञानान्मुक्तिरिष्यते—सर्वदर्शन सं०, पृ० ६

जिसकी वेद आदि दूसरा कोई गवाही दे, तब तो सभी आत्मा समान है, फिर एक का किया दूसरा क्यों नही भोगता ?[1]

फिर "तत्त्वमसि" आदि आत्मबोध विषय वाक्यों का उपहास करता हुआ देहात्मवाद का समर्थन करता है "मनुष्य जानता है कि यह शरीर मैं ही हूं, किन्तु वेद बताता है कि नही, तुम यह शरीर नहीं हो बल्कि 'तत्त्वमसि'। कितनी बड़ी धूर्तता है।[2]

लोकयतिकों ने श्राद्ध का बड़ा तीव्र खण्डन किया है। अभ्यङ्कर शास्त्री ने सर्वदर्शन संग्रह की टीका में श्राद्ध-विषय मे बृहस्पति के वचनों का उद्धरण दिया है। "यदि मेरे प्राणी के लिए श्राद्ध तृप्ति कारण है तो बुझे हुए दीप की भी ज्योति-शिखा को तेल प्रज्वलित कर सकता है, पथिक को पाथेय लेने की भी आवश्यकता नहीं। घर पर कोई श्राद्ध कर दे रास्ते मे उसकी निश्चित तृप्ति हो जायगी। यदि स्वर्ग गया हुआ प्राणी यहाँ के दान से तृप्ति प्राप्त करता है तो महल के ऊपर स्थित लोगों के लिए नीचे क्यों नही दिया जाता।" अत. अन्त में बृहस्पति ने यही सारांश निकाला कि इन श्राद्धादि प्रेत-कार्यों को ब्राह्मणों ने अपनी जीविका का एक साधन बनाया है।[3]

चार्वाक देवों से पूर्वोक्त मत के अनुसार श्राद्ध के प्रति उपहास करते हुए कहता है "यह कहना कितनी बड़ी धूर्तता है कि मरने पर प्राणी अपने पूर्व जन्मों का स्मरण करता है, मरने पर उसे अपने पूर्व कृत कर्मो की फल परम्परा को भोगना पड़ता है, तथा ब्राह्मणों को खिला दे तो मृत आत्मा तृप्त हो जायगी।"[4]

---

१. यस्मिन्नस्मीति धीर्देहे तद्दाहे वः किमेनसा।
क्वापि तत्किं फलं न स्यादात्मेतिपरसाक्षिके॥ नै० १७।५२

२. जनैर्नजानतास्मीति कायं नायं त्वमित्यसौ।
त्याज्यते ग्राह्यते चान्यदहोश्रुत्यातिधूर्तया॥ नै० १७।५४

३. मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्।
निर्वाणस्य प्रदीपस्य स्नेहः समवर्धयेच्छिखाम्॥
गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थंपान्थेय-कल्पनम्।
गेहस्थकृतश्राद्धेन पथितृप्तिखारिता ॥
स्वर्गस्थिता यदा तृप्तिं गच्छेयुस्तत्रदानतः।
प्रासादस्यौपरिस्थानामत्र कस्मान्नदीयते॥
ततश्चजीवनोपायो ब्राह्मणैर्विहितस्त्विह।
मृतानां प्रेत-कार्याणि न त्वन्याद्विद्यतेक्वचित्॥ सर्व द० सं०, पृ० १३

४. मृतः स्मरति जन्मानि मृते कर्मफलोर्मयः।
अन्यभुक्तैर्मृते तृप्तिरित्यलं धूर्तवार्तया॥ नै० १७।५३

चार्वाक दर्शन में न परलोक के लिए कोई स्थान है न स्वर्ग के लिए ही[१] और न ही अदृश्य-वश भविष्य में प्राप्त होने वाले कर्मफल के लिए। यदि किसी कर्म का फल प्राप्त भी हो जाता है तो चार्वाक उसे स्वभाववश या यादृच्छिक ही समझता है। बात यह है कि चार्वाक अदृष्टवाद को कभी स्वीकार ही नहीं करता। उसके अनुसार विश्व का नियन्ता कोई नहीं। अत. कर्म की उसके फल के साथ सङ्गति बैठाने की समस्या उठती ही नही। सुख दुख का भोग किसी पूर्वकृत कर्म के फलस्वरूप में नहीं मिलता, अपितु यदृच्छा से मिलता है, जिसके ऊपर किसी का नियन्त्रण नही कहा जा सकता। ऐसी दशा में कार्यकारण के सम्बन्ध को समझने के लिए कर्ता के एकत्व को स्थापित करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती।[२]

पूर्वोक्त सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए चार्वाक मन्त्रानुष्ठान के मिथ्यापन का उपहास करता है, "दो सन्दिग्ध बातो मे एक का होना तो निश्चित ही है। उनमें यदि अभीष्ट बात हो गयी तो धूर्त लोग कहते है यह हमारे मत्र का प्रभाव है, और यदि अभीष्ट बात न हुई तो कहते है अनुष्ठान[३] ही ठीक से न हो सका। दक्षिणा आदि की गड़बड़ी हो गयी।"[४]

इसी तरह परलोक की सत्ता का भी निराकरण करते हुए कहता है:—"वेद का कहना है, 'को हि तद्वेद यद्यमुष्मिल्लोकेऽस्ति वा न वा' इस प्रकार जब स्वय वेद ही परलोक के विषय में संशयग्रस्त है तो उनको प्रमाण मानने वाला ससार परलोक मे कैसे विश्वास करे?"[५]

---

१. म० म० डा० गोपीनाथ कविराज, स० भ० स्ट० भाग ३

२. क्वचित् फलप्रतिलम्भस्तु मणिमन्त्रौषधिवद् यादृच्छिकः। अतस्तत् साध्यमनिष्टादिकमपिनास्ति। नन्वदृष्टनिष्टौ जगद्वैचित्र्यमाकस्मिकं स्यादिति चेत्, तद्भद्रम्। स्वभावादेव तदुत्पत्तेः। तदुक्तम्-
अग्निरुष्णोजलंशीतं समस्पर्शस्तथानिलः।
केनेदं चित्रितं तस्मात् स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः॥ सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० १३

३. इस विषय का कि (वेदादि मन्त्र रूप) शब्द प्रमाण है पूर्वपक्ष—"तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः"॥ २।१।५८ और उत्तर (सिद्धान्त) पक्ष—"न कर्म कर्तृ साधनवैगुण्यात्" २।१।५९ इन गौतमीयन्यायसूत्रों तथा इनके वात्स्यायन भाष्य में विद्यमान है। उसी सिद्धान्त पक्ष पर चार्वाक का यह आक्षेप है।

४. एकं सन्दिग्धयोस्तावद्भावि तत्रेष्ट-जन्मनि।
हेतुमाहुः स्वमन्त्रादीनसङ्गानन्यथा विटाः॥ नै० १७।५५

५. को हि वेदास्त्यमुष्मिन्वा लोक इत्याह या श्रुतिः।
तत्प्रामाण्यादमुं लोकं लोकः प्रत्येतु वा कथम्॥ नै० १७।६२

चार्वाक पुनर्जन्म नहीं मानते। जो शरीर भस्म हो गया (जब कि शरीर ही आत्मा है) तो फिर कहाँ कौन जाता है, और कहाँ से कौन आता है। अतः परजन्म का भय न रहने से उनके लिये न कोई पाप कर्म है न कोई पुण्य। सुख-दुख-पूर्वक जीवन बिताना ही उनके लिये आदर्श वचन हो जाता है। चार्वाकों का यह प्रसिद्ध नारा है—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥[1]

इसी प्रकार पुनर्जन्म के विषय में उनका कहना है, यदि यह आत्मा शरीर से निकल कर परलोक को चला जाता है तो बन्धु-स्नेह से आकुल हो फिर क्यों नहीं लौट आता।[2]

नैषध में चार्वाक इन्हीं सिद्धान्तों का दूसरे शब्दों में देवों के सम्मुख प्रतिपादन करता है, "शान्ति नाम की कौन सी वस्तु है? अरे मूर्खों, प्रिया को प्रसन्न करने के लिए परिश्रम करो। प्राणी एक बार मरा तो दुबारा यहां नहीं आता।[3] तथा 'अमुक पाप करने से तिर्यक् (पशु-पक्षी) की योनि प्राप्त होती है' इस प्रकार की बातों से क्या भय? अरे, जल में रहने वाला सांप भी तो अपने आहार-विहार आदि सुख के साधनों से राजा की भांति सुखी रहता है।"[4]

कुछ वेदवाक्यों तथा विधियों का उपहास करते हुए चार्वाक भांड़, धूर्त, तथा निशाचरों को वेद का कर्ता मानता है।[5]

नल की राजधानी में अश्वमेध विधि को देखकर कलि को वेद विषयक पूर्वोक्त चार्वाक मत का स्मरण हो आता है।[6]

---

१. स० द० सं०, पृ० १३

२. यदि गच्छेत् परं लोकं देहादेष विनिर्गतः।
कस्माद् भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः॥ स० द० सं०, पृ० १४

३. कः शमः क्रियतां प्राज्ञाः प्रियाप्रीतौ परिश्रमः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥ नै० १७।६९

४. एनसानेनतिर्यक्स्यादित्यादिः का विभीषिका।
राजिलोऽपि हि राजेव स्वैः सुखी सुख-हेतुभिः॥ नै० १७।७२

५. त्रयोवेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः। स० द० सं०, पृ० १३

६. यज्वभार्याश्वमेधाश्वलिङ्गालिङ्गिवरांगताम्।
दृष्ट्वाचष्ट सकर्तारं श्रुतेर्भण्डमपण्डितः॥ नै० १७।२०४

गीता-दर्शन

यद्यपि गीता में साख्य, योग, वेदान्त आदि के ही सिद्धान्त प्रतिपादित हैं, उपनिषदों के ही तत्त्व निरूपित हैं, जिससे उन सिद्धान्तों तथा तत्त्वों के विवेचन के प्रसग में गीता मे प्रतिपादित सिद्धान्तों का भी विवेचन हो जाता, तथापि ज्ञान, भक्ति, और कर्म की इस त्रिपथगा ने मानव-जीवन का जितना कल्याण किया है, तत्त्वों की जिस नितान्त अभिनव ढग से मीमासा की है, उसकी दृष्टि से तो इसे एक पृथक् दर्शन की कोटि में रखना ही अधिक उपयुक्त होगा। नैषध मे श्रीहर्ष ने स्थान-स्थान पर गीता के सिद्धान्तों का उल्लेख किया है।

भगवान् अर्जुन से कहते हैं, जो ब्रह्मानन्द सारे प्राणियों के लिए निशा है उसमे आत्मनिष्ठ योगी जागता है, तथा जिस क्षणिक (भगुर) सासारिक सुख में सभी प्राणी जागते हैं वह उस तत्त्वज्ञ के लिए निशा है।[1]

कुण्डिनपुरी का वर्णन करते समय श्रीहर्ष उसकी निशीथस्तब्धता के प्रति गीता की पूर्वोक्त योग-समाधि की उत्प्रेक्षा करते हैं—

"जब निशीथ वेला मे कुछ क्षण के लिए नगरी मे नीरवता होती है तो ऐसा प्रतीत होता है मानों वह (नगरी) प्राकार (चहारदीवारी) पक्ति का योगवस्त्र धारण कर मणिभवनरूपी किसी विशुद्ध अन्तर्ज्योति की उपासना कर रही है।"[2]

भगवान् ने यज्ञावशेष अन्न को अमृत बताया है, तथा उसे खानेवाले को सारे पापों से मुक्त तथा सनातन ब्रह्म की प्राप्ति बताई है।[3]

हंस ने दमयन्ती के सम्मुख नल की प्रशसा करते हुए उन्हे इसी प्रकार यज्ञा-वशिष्टभोजी बताया है। यहाँ कवि का सकेत गीता के उक्त वचनों की ही ओर समझ पड़ता है। हस कहता है—

"यज्ञशील उस राजा ने यज्ञधृत के समान अपने राज्य को भी विबुधों (देवों, विद्वानों) को समर्पित कर दिया है। हा, प्रथम (यज्ञधृत) का तो अवशिष्ट भाग

---

१. या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ गीता २।६९

२. क्षणनीरवया यया निशि श्रितवप्रावलियोगपट्टया।
मणिवेश्ममयं स्म निर्मलं किमपि ज्योतिरबाह्यमिज्यते॥ नै० २।७८

३. यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः—गी० ३।१३
तथा—यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्मसनातनम्। गीता ४।३१

का, तथा अन्तिम (राज्य) का अशेष सम्पूर्ण भाग का उपभोग करता है—आश्रित श्रोत्रियों को विपुल धन दान करता है।"[1]

गीता का मत है कि मनुष्य अन्तकाल मे जिस भाव का स्मरण करता हुआ शरीर त्याग करता है, उसी भाव को प्राप्त होता है[2]—क्योंकि उसी मे उसका चित्त सदा लीन रहा।

दमयन्ती हस के 'पिता की आज्ञा से अथवा स्वेच्छा से ही यदि कहीं तुमने किसी दूसरे तरुण को वर लिया'[3]...इत्यादि सन्देह का उत्तर देती हुई गीता के पूर्वोक्त वचन को ध्यान मे रखती हुई कहती है "यदि पिता मुझ नल के अतिरिक्त किसी और को देना चाहते हैं तो शरीरमात्र-शेष (निष्प्राण) मुझे अग्नि मे ही क्यों नहीं हवन कर देते। पिता अपने शरीर से जन्म पाने वाले केवल मेरे शरीर के स्वामी हैं। किन्तु मेरे प्राणनाथ तो नल ही हैं। (प्राणों को अन्त मे नल में लीन कर मर कर दूसरे जन्म में फिर नल प्राप्ति की ही प्रार्थना करूंगी)।"[4]

दमयन्ती की विरह दशाओं के वर्णन के प्रसग मे दमयन्ती की सखी दूतरूप मे आए प्रिय नल के सम्मुख बीती घटनाओं का उल्लेख करती हुई, नल-चित्र के सम्मुख दमयन्ती द्वारा कही हुई बात सुना रही है—"दमयन्ती कहा करती है—हे नल, कृपाकर तुम अपने बाणों को मदन को दे दो। जिससे वह अपने कुसुमशरों को त्याग कर उन्ही से मुझे मार डाले, फिर तुम्ही में चित्त लगाए हुए प्राण त्यागकर मैं तुम्हारा ही रूप धारण कर उसे तृण के समान जीत लूं।"[5]

चार्वाक भी गीता के पूर्वोक्त सिद्धान्त तथा 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्' गी० २।३७ (मर कर स्वर्ग प्राप्त करोगे) की ओर सकेत करते हुए कहता है—"यदि रण मे मरने पर स्वर्ग ही मिलता है तो विष्णु द्वारा मारे गए दैत्य लोग स्वर्ग मे पहुंच कर उनसे क्यों नही लडते (क्योंकि मरते समय वे विष्णु से विरोध भाव लेकर

---

१. राजा स यज्वा विबुधव्रजत्रा कृत्वाध्वराज्योपमयैव राज्यम्।
भुंक्ते श्रितश्रोत्रियसात्कृतश्रीः पूर्वं त्वहो शेषमशेषमन्त्यम्॥ नै० ३।२४

२. यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ गीता ८।६

३. पितुर्नियोगेन निजेच्छया वा युवानमन्यं यदि वा वृणीषे॥ नै० ३।७२

४. अनैषधायैव जुहोति तातः किं मां कृशानौ न शरीरशेषाम्।
ईष्टे तनूजन्मतनोः स नूनं मत्प्राणनाथस्तु नलस्तथापि॥ नै०३।७९

५. प्रसीद यच्छ स्वशरान् मनोभुवे स हन्तु मां तैर्धुतकौसुमाशुगः।
त्वदेकचित्ताहमसून् विमुञ्चती त्वमेव भूत्वा तृणवज्जयामि तम्। नै० ९।१४७

ही मरते थे, तो स्वर्ग में भी उसी के अनुसार क्यों न भिड़ें) किन्तु आज तक किसी ने नही बताया कि स्वर्ग में भी देव-दानव युद्ध चल रहा है।"[१]

गीता का वचन है कि 'यज्ञादि पुण्य करके पाप-रहित हो सोमपायी व्यक्ति स्वर्ग प्राप्त करते हैं, और वहां स्वर्ग-सुख भोग कर पुण्य क्षीण होने पर पुनः मर्त्यलोक में वापस आते हैं।"[२]

दमयन्ती गीता के उक्त मत को ध्यान में रखती हुई इन्द्रदूती को उत्तर देती हुई कहती है—"पुण्यशील प्राणी का भी स्वर्ग से नीचे की ओर ही गमन होता। किन्तु यहाँ से महाप्रयाण करने पर स्वर्ग ही मिलता है। इस प्रकार यदि मन में दोनों का फल विचारा जाय तो एक बालू और दूसरा शक्कर के समान ही लगता है।"[३] तथा "जो स्वर्ग मनुष्यों को स्वकर्मोपार्जित आयु के क्षीण हो जाने पर ही (मरने पर ही) मिलता है आयु रहते नही प्राप्त होता, उस आपात-रमणीय अत्यन्त कुपथ्यरूप स्वर्ग की किस धीर पुरुष को बुभुक्षा होगी?"[४]

गीता में भगवान् ने कहा है—"अर्जुन तुम सर्वदा मुझमे मन तथा बुद्धि लगाओ और निःसन्देह मुझे प्राप्त होवोगे।"[५]

चार्वाक इस वचन को अतथ्य सिद्ध करने का प्रयत्न करता है—"लोगों का कहना है शिव या विष्णु का जो एक बार भी नाम ले लेता है वह मुक्त हो जाता है। किन्तु उन्ही शिव-विष्णु की पत्नियां उमा, लक्ष्मी आदि सदा अपने आराध्य पति-

---

१. हताश्चेद्दिवि दीव्यन्ति दैत्या दैत्यारिणा रणे।
तत्रापि तेन युध्यन्तां हता अपि तथैव ते॥ नै० १७।७३

२. त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते॥ गीता ९।२०
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति॥ गी० ९।२१

३. साधोरपि स्वः खलु गामिताधो गमी स तु स्वर्गमितःप्रयाणे।
इत्यायती चिन्तयतो हृदि द्वे द्वयोरुदर्कः किमु शर्करे न॥ नै० ६।९९

४. प्रक्षीण एवायुषि कर्मकृष्टे नरान्न तिष्ठत्युपतिष्ठते यः।
बुभुक्षते नाकमपथ्यकल्पं धीरस्तमापातसुखोन्मुखं कः॥ नै० ६।१००

५. मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः॥ गीता ८।७
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥ गीता १२।८

चरणों में लीन रहती हैं। वे मुक्त क्यों न हुई? क्यों सदा काम-वासना से पीड़ित रहती हैं?"[१]

गीता ने आत्मज्ञानी को कर्म के पुण्य पाप से परे बताया है।[२] वश्यात्मा पुरुष राग-द्वेष-रहित इन्द्रियों से विषय भोग करता हुआ भी शान्ति प्राप्त करता है।[३] क्योंकि आत्मज्ञानरूपी अग्नि सारे कर्मो को भस्म कर देती है।[४]

नववधू दमयन्ती के साथ अहर्निश विलास में रत आत्मज्ञानी नल के प्रति श्रीहर्ष गीता के उपर्युक्त वचनों का स्मरण कर कहते हैं—"दिन रात दयमन्ती के साथ भोग का आनन्द करते हुए भी आत्मज्ञानी नल को कोई पाप का लेश भी नहीं छू जाता था, क्योंकि जिनका अन्त करण ज्ञान से निर्मल हो चुका है, उनको कृत्रिम रूप से किए गए भोगों में कोई आसक्ति नही होती।"[५]

---

१. दारा हरिहरादीनां तन्मग्नमनसो भृशम्।
किं न मुक्ताः कुतः सन्ति कारागारे मनोभुवः॥ नै० १७।७६

२. आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥ गीता ४।४१

३. रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ गीता २।६४

४. ज्ञानाग्निः सर्व-कर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥ गीता ४।३७

५. आत्मवित्सह तया दिवानिशं भोगभागपि न पापमाप सः।
आहृता हि विषयैकतानता ज्ञानधौतमनसं न लिम्पति॥ नै० १८।२

द्वादश अध्याय

व्युत्पत्ति—पुराणेतिहास

इतिहास-पुराणाभ्यां चक्षुर्भ्यामिव सत्कविः।
विवेकाञ्जनशुद्धाभ्यां सूक्ष्ममप्यर्थमीक्षते॥ काव्यमीमांसा, अ० ८

नैषध का गाम्भीर्य ऐतिहासिक एव पौराणिक सकेतों के बाहुल्य के कारण और भी बढ जाता है। श्रीहर्ष को इतिहास-पुराण का विस्तृत ज्ञान था। अत्यन्त प्रसिद्ध पौराणिक आख्यानों के अतिरिक्त उन्होंने अत्यन्त अपरिचित कथाओं का भी स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है। एक ही कथानक कई रूपों मे कई स्थानों पर उल्लिखित हुआ है। कभी उसका एक रूप एक दृष्टि से देखा गया कभी दूसरा रूप दूसरी दृष्टि से। उदाहरणार्थ—अगस्त्य के समुद्रपान का एक-स्थल मे इस प्रकार उल्लेख किया जाता है—दमयन्ती चद्र को उपालम्भ देती है—"चन्द्र, तू समुद्र पीनेवाले मुनि की जठराग्नि मे ही क्यों न जीर्ण हो गया।"[1] दूसरे स्थान पर उसी को दूसरे रूप मे स्मरण किया जाता है। दमयन्ती चन्द्रोपालम्भ के प्रसङ्ग मे ही कहती है—"सखी मेरा यह चकोर-शावक सिन्धु-पीने वाले मुनि का शिष्य क्यों नहीं हो जाता। यदि उनसे समुद्र पीने की कला सीख जाता तो फिर इसके लिए चद्रमा की किरणे कितनी बूदे होतीं?"[2] फिर एक तीसरे स्थान पर उसी कथानक का यों उल्लेख किया जाता है—"दूत-धर्म मे दत्तचित्त नल ने दमयन्ती के विरह की उसी प्रकार परवाह न की जैसे अगस्त्य मुनि ने समुद्र का पान करते समय दुर्धर्ष बड़वाग्नि को कोई विघ्न नही माना था।"[3] (इस प्रकार एक कथानक का कई बार उल्लेख उद्वेजक नही प्रतीत होता, प्रत्युत् प्रत्येक बार कवि उसे अपनी नई नई कल्पना के परिधान मे नितान्त विभिन्न भावों की पुष्टि द्वारा रुचिकर बना देता है।)

---

१. अपि मुनेर्जठरार्चिषि जीर्णतां बत गतोऽसि न पीतपयोनिधेः॥ नै० ४।५१
२. अयि! ममैष चकोरशिशुर्मुनेर्व्रजति सिन्धुपिबस्य न शिष्यताम्।
अशितुमब्धिमधीतवतोऽस्य वा शशिकराः पिबतः कति शीकराः॥ नै० ४।५८
३. भैम्या समं नाज़्गणद्वियोगं स दूतधर्मं स्थिरधीरधीशः।
पयोधिपानेमुनिरन्तरायं दुर्वारमप्यौर्वमिवौर्वशेयः॥ नै० ६।२

ये कथानक प्रायः उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, श्लेष, अतिशयोक्ति, भ्रान्तिमान्, समासोक्ति आदि अलंकारों के साथ ही आते हैं। इस प्रकार से श्रीहर्ष की अलकार-प्रियता के साथ उनकी पुराणज्ञता का सुन्दर समन्वय हुआ है। अपने काव्य में चमत्कार बढाने के लिए उन्होंने जो पुराणों का सहारा लिया यह ठीक ही किया, क्योंकि पौराणिक कथाओ के समाज मे अत्यन्त प्रिय होने के कारण उनके द्वारा भाव-बोध कराने मे बडी सुगमता हो जाती है।) कवि ने जहाँ अप्रचलित कथाओं का उल्लेख किया है वहाँ उसकी केवल वैदुष्य-प्रदर्शन की भावना मानी जायगी।(यहाँ नैषधान्तर्गत केवल प्रसिद्ध कथानकों को ही पुराणोक्त ढग से अति सक्षेप में रखने का प्रयत्न किया जाता है। जो कथा कई पुराणों में मिलती है उसे वहीं से उद्धृत किया गया है जहाँ कि कथा से नैषधोक्त कथा सबसे अधिक सङ्गति खाती है।

बाणासुर की अग्निपरिवेष्टित पुरी में प्रद्युम्न का गरुड़ पर पहुँचना[१]

बाणासुर की कन्या ऊषा ने गुप्त रूप में भगवान् कृष्ण के पौत्र प्रद्युम्नपुत्र अनिरुद्ध को द्वारका से अपने सखी चित्रलेखा द्वारा बुलवाकर उनके साथ गांधर्व विधि से विवाह कर लिया। जब बाणासुर को इसका पता चला तो उसने युद्ध में अनिरुद्ध को बन्दी बना लिया। नारद द्वारा यह समाचार पाकर कृष्ण ने गरुड़ पर बलराम तथा प्रद्युम्न को चढाकर शोणितपुर की ओर शीघ्रता से प्रस्थान किया[२]। वहा चारों ओर से अपनी ज्वालाओं द्वारा घेरकर अग्निदेव शोणित-पुरी की रक्षा कर रहे थे।[३] गरुड़ ने योगबल से सहस्रमुख करके आकाश-गङ्गा का जल लाकर अग्नि को प्रशमित किया, तथा कृष्ण ने अपने अस्त्रबल से अङ्गिरा आदि अन्य अग्नियों को परास्त किया, फिर सब ने बाणापुरी में प्रवेश किया।

नैषध मे इस कथानक का उल्लेख दो वार हुआ है (१) प्रथम दमयन्ती के यौवनोद्गम के साथ-साथ नल के अनुराग वर्णन में[४] फिर (२) कुण्डिनपुर के वर्णन प्रसङ्ग में।[५]

---

१. हरिवंश, विष्णुपर्व—अध्याय ११६–१२५

२. आस्थितौगरुड़ं देवस्तस्य चानुहलायुधः।
पृष्ठतोनु बलस्यापि प्रद्युम्नः शत्रुकर्षणः॥ हरिवंश, विष्णुपर्व अ० १२१।४२

३. रक्षार्थं तस्य निर्यातोवह्निरेषस्थितो ज्वलन्॥ वही, विष्णुपर्व, अ० १२२।१३

४. (यथोह्यमानः खलु भोगभोजिना प्रसह्य वैरोचनिजस्यपत्तनम्।
विदर्भजाया मदनस्तथा मनोऽनलावरुद्धं वयसव वेशितः॥ नै०) १।३२

५. अनलैः परिवेषमेत्यया ज्वलदर्कोपलवप्रजन्मभिः।
उदयं लयमन्तरा रवेरवहद्बाणपुरीपरार्ध्यताम्॥ नै० २।८७

प्रद्युम्न द्वारा शम्बरासुर का वध, मायावती (रति) से विवाह तथा अनिरुद्ध-जन्म[१]

रुद्र के कोप से भस्म होकर कामदेव दूसरे जन्म मे रुक्मिणी के गर्भ से कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न के रूप में उत्पन्न हुआ। शम्बर नामक मायावी दैत्य ने बालक प्रद्युम्न को अपना अन्तक शत्रु समझ कर सूतिकागृह से चुराकर समुद्र मे फेक दिया। वहाँ एक बलवान् मत्स्य ने उन्हे निगल लिया। सयोगवश धीवरों ने उसी मत्स्य को पकड कर शम्बर के भोजन गृह मे पहुचाया। चीरने पर मत्स्य के उदर मे एक सुन्दर बालक मिला। रति अपने पति काम के भस्म हो जाने पर उसकी प्रतीक्षा करती हुई मायावती के रूप मे शम्बर के भोजन-गृह का कार्य किया करती थी। नारद ने उससे बालक के विषय मे सारा वृतान्त बता दिया। मायावती ने बालक का सब प्रकार से पोषण किया। प्रद्युम्न के युवा होने पर उसने अपने तथा उनके पूर्व-जन्म और इस जन्म का रहस्य बताया और उन्हे सारी मायाओ को नष्ट करने वाली 'महामाया-विद्या' दी, जिससे प्रद्युम्न ने युद्ध मे शम्बर का बध किया। तत्पश्चात् वे मायावती के साथ द्वारका आए।

प्रद्युम्न का एक और विवाह उनके मामा रुक्मी की कन्या से हुआ था। उसका नाम भागवत मे रुक्मवती तथा हरिवश मे चद्रसेना कहा गया है।[२] प्रद्युम्न की इसी पत्नी से अनिरुद्ध का जन्म हुआ, जैसा भागवत[३] तथा हरिवश[४] पुराणों से प्रमाणित है।

नैषध मे उक्त कथानक का उल्लेख तीन स्थलों पर हुआ है: (१) नल के दमयन्ती-गत पूर्व-राग के वर्णन-प्रसग मे श्रीहर्ष कहते हैं—"कामदेव अनुराग के समय अवार्य चञ्चलता उत्पन्न करता है—अथवा कामदेव (प्रद्युम्न) रति नामक अपनी पत्नी मे अनिरुद्ध ही को पैदा करता है।"[५] (२) दूतरूप मे दमयन्ती के अन्तः-

---

१. श्रीमद्भागवत, स्कंध १०, अ० ५५

२. हरिवंश, विष्णुपर्व—अ० ६१।७

३. प्रद्युम्नाच्चानिरुद्धोभूत्रुक्मवत्यां महाबलः।
पुत्र्यां तु रुक्मिणोराजन् नाम्नाभोजकटेपुरे॥ भा० १०।६१।१८–१९

४. स तस्यां (चन्द्रसेनायां) जनयामास देवगर्भोपमंसुतम्।
अनिरुद्धमितिख्यातं कर्मणाप्रतिमं भुवि॥ हरिवंश, विष्णुपर्व—६१।१०

५. स्मरः स रत्यामनिरुद्धमेव यत् सृजत्ययं सर्गनिसर्ग ईदृशः॥ नै० १।५४

यहाँ श्रीहर्ष ने अपने श्लेष की रक्षा के लिए अनिरुद्ध को जो रति (मायावती) का पुत्र बता दिया है, वह वस्तुतः सकल पौराणिक कथाओं से विरुद्ध पड़ता है, जैसा भागवत और हरिवंश के उक्त उद्धरणों से सिद्ध है।

पुर मे पहुचे हुए नल चारों ओर दमयन्ती को ही देख रहे थे। अथवा "मानों दमयन्ती भगवान् कामदेव की शाम्बरी मायामयीरचना हो गयी थी।"[१] (३) "अपने पिता चतुर्भुज कृष्णरूप (विष्णु) के आत्मा (स्वरूप) ही होने के कारण कामदेव भी चतुर्भुज ठीक ही हुआ।"[२]

वामन अवतार[३]

विष्णु अवतारों के वर्णन-प्रसङ्ग मे ब्रह्म, वामन, पद्म, स्कन्द और हरिवंश पुराणों ने भी वामन अवतार का विस्तृत वर्णन किया है।

कश्यप के आदेश से देवमाता अदिति ने पयोव्रत किया जिससे प्रसन्न हो भगवान् विष्णु ने इन्द्र आदि देवो की सहायता के लिए उसके गर्भ से वामन अवतार धारण किया। वटु रूप भगवान् वामन बलि की अश्वमेधशाला मे पहुँचे। बलि के आतिथ्य को स्वीकार कर उसके आग्रह करने पर वामन ने उसकी तथा उसके पूर्वजों की प्रशंसा करते हुए (अपने ही पैरों के नाप से) केवल तीन पग भूमि मागी।[४] पूर्व शुक्राचार्य ने बटु को कपट-रूप विष्णु बतलाते हुए बलि को दान देने से बहुत रोका, शाप भी दिया, पर बलि ने उनकी एक न सुनी और सङ्कल्प पढकर तीन पग भूमि दे दी। तत्पश्चात् वामन ने त्रिविक्रम नाम से प्रसिद्ध अपना विराट रूप धारण कर एक पग से सम्पूर्ण पृथ्वी तथा दूसरे से त्रिविष्टप (स्वर्ग) नाप लिया। भागवत में वामन के दो रूप वामन (माया-वटु) तथा त्रिविक्रम (विश्वरूप) से यथाक्रम स्थल पर तथा आकाश में रक्षा करने के लिए प्रार्थना की गई है। जब उन्होंने तीसरा पग उठाया तो उसे नापने के लिए कुछ बचा ही नहीं।[५] उसी समय जाम्ववान् नामक ऋक्षराज ने उस विराट रूप की प्रदक्षिणा की तथा सभी दिशाओं मे भगवान् की जय-घोषणा की। वामन ने जब बलि से तीसरे पग के लिए भी स्थान देने को कहा तो कुछ शेष न देखकर वामन के वरुण-पाश मे बधे बलि ने अपने सिर को ही तीसरे पग से नापने की प्रार्थना की।[६]

---

१. जातेव यद्वा जितशम्बरस्य सा शाम्बरीशिल्पमलक्षि दिक्षु॥ नै० ६।१४

२. आत्मैव तातस्य चतुर्भुजस्य जातश्चतुर्दोरुचितः स्मरोऽपि॥ नै० ७।६५

३. भागवत स्कंध ८, अध्याय १८–२३

४. तस्मात्त्वत्तो महीमीषद् वृणेहं वरदर्षभात्।
पदानि त्रीणि दैत्येन्द्र सम्मितानि पदा मम॥ वही, ८।१९।१६

५. स्थलेषु मायावटुवामनोऽव्यात्त्रिविक्रमः खेऽवतु विश्वरूपः॥ वही, ६।८।३

६. पदं तृतीयं कुरुशीर्ष्णि मे निजम्॥ भागवत ८।२२।२

नैषधमे इस कथा के कई प्रसङ्गों का स्थान-स्थान पर उल्लेख हुआ है। वामन के आकाश में उठे एक चरण का[१], वलि-यज्ञ-विध्वसकारी कपट-पूर्ण वामन-रूप का[२] सत्य-पाश में बँधे बलि का,[३] बलि के बाँधे जाने का[४], बलि-बध-कारी विष्णु का[५], वामन की वलि से की गयी कपट-पूर्ण वात का[६], वामन ऐसे लघु तथा उसी समय त्रिविक्रम जैसे विराट रूप का[७], त्रिविक्रम के आकाश मे उठे पैर का, जाम्ववान् की प्रदक्षिणाओं का तथा बलि को बाँधने के लिए पाश[८] का उल्लेख हुआ है।

शिवपूजा-बहिष्कृत केतकी[९]

अपने को एक-दूसरे से महान् कहने वाले विवादशील ब्रह्मा तथा विष्णु दोनों में विवाद हुआ। ज्योतिर्लिङ्ग रूप शिव के दोनों अन्तभागों का पता लगाने के लिए दोनों का अलग-अलग जाना निश्चित हुआ। विष्णु तो नीचे पाताल लोक की ओर चले और ब्रह्मा शिरोभाग का पता लगाने के लिए ऊपर सत्य लोक की ओर चले। विष्णु ने पाताल मे कही उस लिङ्ग-शरीर का अन्त न पाया और आ कर सत्य रूप में अपनी हार मान ली। किन्तु ब्रह्मा ने झूठ ही कह दिया कि मैंने शिव-लिङ्ग के शिरोभाग का अन्त पा लिया है। इस विषय में केतकी के पुष्प और सुरभी गौ को साक्षी बनाया, और यह बताया कि यह केतकी पुष्प वहाँ शिव लिङ्ग के सिर पर चढा हुआ था, किन्तु उसी समय आकाशवाणी द्वारा ब्रह्मा के इस असत्याचरण की निन्दा की गयी तथा ब्रह्मा, सुरभी, एवं केतकी को शाप मिले। शाप के कारण केतकी-पुष्प शङ्कर की पूजा से बहिष्कृत कर दिया गया।

---

१. हरैर्यदक्रामि पदैककेन खं—नै० १।७०
२. विधाय मूर्तिं कपटेन वामनीं स्वयं बलिध्वंसिविडम्बिनीमयम्॥ नै० १।१२४
३. अद्य यावदपि येन निबद्धौ न प्रभू विचलितुं बलिविन्ध्यौ॥ नै० ५।१३०
४. दत्त्वा सर्वधनं मुग्धो बन्धनं लब्धवान्बलिः॥ नै० १७।८१
५. मेचकोत्पलमयी बलिबन्धुस्तद्बलिस्रगुरसि स्फुरति स्म॥ नै० २१।४३
६. स्वेन पूर्यत इयंसकलाशा भो बले! नमम किं भवतेति।
त्वं बटुः कपटवाचिपटीयान्देहि वामन! मनः प्रमदं नः॥ नै० २१।६१
७. वामनादणुतमादनु जीयास्त्वं त्रिविक्रमंतनूभृतदिक्कः॥ नै० २१।९५
८. मां त्रिविक्रम पुनीहि पदेते किं लगन्नजनिराहुरुपानत्।
किं प्रदक्षिणनकृद्भ्रमिपाशं जाम्बवानदित ते बलि-बन्धे॥ नै० २१।९६
९. स्कन्दपुराणं माहेश्वरखण्ड-केदारखण्ड अ० ६ तथा अरुणाचल माहात्म्य १०। १५०, इनके अतिरिक्तः शिवपुराण विद्येश्वर संहिता अ० ६।८ एवं लिंगपुराण अ० ७।१९ में भी यह कथा सविस्तार वर्णित है।

नैषध में केतकी के शिवपूजा से वर्जित होने[1], ब्रह्मा के शिवलिङ्ग-शिरोभाग देखे बिना ही केतकी से झूठी गवाही दिलवाने[2] और केतकी के रुद्र-कोप-भाजन होने के अंशों में[3] इस कथानक का उल्लेख हुआ है।

मदन-दाह[4]

शङ्कर द्वारा कामदेव को भस्म करने की कथा ब्रह्म, मत्स्य, शिव आदि पुराणों में प्रसिद्ध है। कालिदास ने कुमार-सम्भव में इसे अत्यन्त सरस काव्य-रूप दिया। इन्द्र की प्रेरणा से मदन देव-कार्य साधने के लिए हिमवान् पर तपोनिरत शिव के हृदय में पार्वती के प्रति अनुराग उत्पन्न करने के लिए वसन्त के साथ जाता है और वहां सहकार (आम्र वृक्ष) की आड से शिव के हृदय में सम्मोहन-बाण चलाता है। क्षण भर के लिए पार्वती के ध्यान में चञ्चल होते हुए मन को शिव ने स्वयं वश में करके इसका कारण जानने के लिए चारो ओर दृष्टि दौड़ाई। और सहकार वृक्ष पर मदन को देख अत्यन्त क्रोध से तीसरा नेत्र खोल दिया। फलतः देवों के हाहाकार के साथ ही मदन क्षण में भस्म हो गया। रति ने बड़ा करुण विलाप किया, जिससे शिव ने उसे शीघ्र अपने पति को पुनः प्राप्त करने का वरदान दिया।

श्रीहर्ष ने अनेक स्थलों पर मदन-दाह कथानक के अंशों—मदन के शंकर पर बाण चलाने,[5] शिव के मदन को अपने तीसरे नेत्र से भस्म करने[6], शिव-नेत्राग्नि में कन्दर्प के अपने शरीर को हवन करने[7], शिव की कोपाग्नि मदन के भस्म रूप हो

---

१. विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवान्मृगाङ्कचूडामणिवर्जनार्जितम्।
दधानमाशासु चरिष्णु दुर्यशः स कौतुकी तत्र ददर्श केतकम्॥ नै० १।७८

२. लैङ्गीमदृष्ट्वापि शिरःश्रियं यो दृष्टौ मृषावादितकेतकीकः॥ नै० १०।५२

३. उत्कण्टका विलसदुज्ज्वलपत्रराजिरामोदभागनपरागतराऽतिगौरी।
रुद्रक्रुधस्तदरिकामधिया नले सा वासार्थितामधृत काञ्चनकेतकीव॥
नै० १२।११०

४. मत्स्यपुराण, अध्याय १५४।

५. स्मरेण मुक्तेषु पुरा पुरारये तदङ्गभस्मेव शरेषु सङ्गतम्॥ नै० १।८७

६. पुरभिदा गमितस्त्वमदृश्यतां त्रिनयनत्वपरिप्लुतिशङ्कया॥ नै० ४।७६
तव तनूमवशिष्टवतीं ततः समिति भूतमयीमहरद्धरः॥ नै० ४।८०
त्वमुचितं नयनार्चिषि शम्भुना भुवनशान्तिकहोमहविःकृतः॥ नै० ४।९९

७. चण्डीशचण्डाक्षिहुताशकुण्डे जुहाव यन्मन्दिरमिन्द्रियाणाम्॥ नै० ८।३३

जाने[1], शिव के मदन को विनष्ट करने[2], मदन के शिव की क्रोधाग्नि में ईंधन-रूप होने,[3] मदन की रुद्र को जीतने की इच्छा,[4] तथा त्रिनेत्र द्वारा मदन के निर्जरत्वापहरण[5] का उल्लेख किया है।

राहु द्वारा चन्द्र-ग्रसन[6]

भगवान् विष्णु की आज्ञा से देवों ने दानवों की सहायता से अमृत-प्राप्ति के लिए क्षीर-सागर का मन्थन किया, जिससे लक्ष्मी आदि अनेक रत्न प्राप्त हुए। अन्त में भगवान् धन्वन्तरि हाथ मे अमृत-कलश लिए प्रकट हुए। दानवों ने झपटकर उनके हाथ से अमृत छीन लिया। उस समय विष्णु ने देवों की सहायता के लिए मोहिनी का रूप धारण किया और दानवों को कपट से छलकर उनसे अमृत लेकर देवों को पिलाया। उस समय उसी देव-पंक्ति मे देव-वेष से राहु भी बैठा था। उसने ज्योंही अमृत पिया त्योंही सूर्य चन्द्र ने सङ्केत द्वारा विष्णु को सूचित कर दिया। उन्होंने तुरन्त चक्र द्वारा उसका सिर धड़ से अलग कर दिया। किन्तु उसके अमृत-भोजी होने के कारण सिर धड दोनों अमर हो गए तथा ग्रहों में गिने जाने लगे। वही राहु-सिर आज भी पर्व-पर्व पर सूर्य चन्द्र को ग्रसा करता है।[7]

नैषध के कई स्थलों पर सिंहिका-पुत्र (राहु) के चन्द्रमा को निगलने तथा

---

१. कपालिकोपानलभस्मनः कृते॥ नै० ९।७१

२. एकाकिभावेन पुरा पुरारिर्यः पञ्चतां पञ्चशरं निनाय॥ नै० १०।६१

३. हरारब्धक्रोधेन्धनमदन ॥ नै० १५।८३

४. रुद्रभूमविजिगीषया रतिस्वामिनोपदशमूर्तिताभृता॥ नै० १८।१३८

५. त्र्यक्षवीक्षणखिलीकृतनिर्जरत्व॥ नै० २१।१३२

६. भागवत स्कं० ८, अ० ९।९

७. देवलिङ्गप्रतिच्छन्नः स्वर्भानुर्देवसंसदि।
प्रविष्टः सोममपिबच्चन्द्रार्काभ्यां च सूचितः॥
चक्रेण क्षुरधारेण जहार पिबतःशिरः।
हरिस्तस्यकबन्धस्तु सुधयाप्लावितोऽपतत्॥
शिरस्त्वमरतां नीतमजो ग्रहमचीक्लृपत्।
यस्तु पर्वाणि चन्द्रार्कावभिधावति वैरधीः॥ भागवत ८।९।२४—२६

उगलने[1], राहु के अपने शत्रु सुदर्शन चक्र के भ्रम से चन्द्र को ग्रसने[2], राहु-चन्द्र-वैर[3], 'सिंहिका'-सुत राहु के चन्द्रमा को मृग के लोभ से निगलने,[4] इत्यादि रूपों में इस कथानक के विविध प्रसङ्गों का उल्लेख हुआ है।

मैनाक-पर्वत का सागर-वास[5]

पुराने समय में कृतयुग में पर्वतों के भी पङ्ख थे, जिससे वे विशाल गरुड़ की भाति चारों ओर उड़ा करते थे उनके उड़ने से देव, ऋषि तथा अन्य सभी जीव डर के मारे कापते रहते थे कि ऐसा न हो कि हमारे ही ऊपर कोई पर्वत बैठ जाय। इस पर इन्द्र क्रुद्ध होकर वज्र से उनके पङ्ख ही काटने लगे। जब उन्होंने मैनाक के पङ्खों को काटने के लिए वज्र उठाया तो पवन देव ने उसे बचा कर सागर मे झोंक दिया। अतः उसके पङ्ख बच गए। वह अपने पङ्खों को छिपा कर आज भी वही पड़ा है।

नैषध में नल के उपवन में क्रीडा-सरोवर के वर्णन के प्रसङ्ग में[6] इस कथानक का उल्लेख हुआ है।

मयूरवाहन वाले स्वामिकार्तिकेय का नैष्ठिक ब्रह्मचर्य[7]

महाबली तारकासुर को मारने के लिए देवों ने पार्वती के गर्भ से उत्पन्न शिव के पुत्र कुमार कार्तिकेय को अपना सेनापति बनाया। मयूर पर सवार होकर

---

१. मुनिद्रुमः कोरकितः शितिद्युतिर्वनेमुनाम्ऽत्त सिंहिकासुतः।
तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितं कलाकलापं किल वैधवं वमन्॥ नै० १।९६
दहति कण्ठमयं खलु तेन किं गरुडवद्द्विजवासनयोज्झितः॥ नै० ४।७१
द्विजपतिग्रसनाहितपातकप्रभवकुष्ठसितीकृतविग्रहः॥ नै० ४।७३
२. स्वरिपुतीक्ष्णसुदर्शनविभ्रमात्किमु विधुं ग्रसते स विधुन्तुदः॥ नै० ४।६४
३. एतत्कीर्तिप्रतानैर्विधुभिरिव युधे राहुराहूयमानः॥ नै० १२।९४
४. मृगस्य लोभात्खलु सिंहिकायाः सूनुर्मृगाङ्कं कवलीकरोति॥ नै० २२।६६
स्वर्भानुना प्रसभपानविभीषिकाभिः॥ नै० २२।१३६
स्वर्भानुप्रतिवारपारणमिलद्दन्तौघयन्त्रोद्भव॥ नै० २२।१४८
५. वाल्मीकि रामायण—सुन्दरकाण्ड, सर्ग १।११५–११९
६. यदम्बुपूरप्रतिबिम्बिता यतिर्मरुत्तरंगैस्तरलस्तटद्रुमः।
निमज्ज्य मैनाकमहीभृतः सतस्ततान पक्षान्धुवतः सपक्षताम्॥ नै० १।११६
७. स्कन्दपुराण—चातुर्मास्य माहात्म्य।

कार्तिकेय ने घोर संग्राम में शक्ति से तारक का वध किया। मन्दराचल पर जाकर कुमार ने स्वयं माता-पिता से सारा वृत्तान्त कहा। शिव ने कुमार का विवाह करना चाहा, इस पर कार्तिकेय ने उत्तर दिया—'भगवन् ससार मे जितनी स्त्रियाँ हैं, वे सब मेरे लिए माता पार्वती के समान हैं। मै संसार बन्धन से छूटने की इच्छा रखता हूँ, अतः मुझसे इस प्रकार विवाह आदि करने की बात न कीजिए' इत्यादि। और जब देवी पार्वती ने भी विवाह के लिए बार बार आग्रह किया तब कार्तिकेय जी माता-पिता को प्रणाम कर क्रौञ्चपर्वत पर चले गए और वहा पवित्र आश्रम मे बैठकर तपस्या करने लगे[1]।

नैषध मे कुमार का दो बार उल्लेख हुआ है। षडानन के वाहन मयूर[2] का तथा कुमार के नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का।[3]

स्वर्ग से भी रम्य पाताल लोक[4]

एक बार नारद ने देवों की सभा में पाताल लोक की बड़ी प्रशसा की। बड़े विस्तार के साथ वहा के वैभव का वर्णन किया।

नैषध में कुण्डिनपुर की प्रशसा करते समय श्रीहर्ष ने नारद के उसी वर्णन का उल्लेख किया है[5]।

मार्कण्डेय का प्रलय-काल में विष्णु के उदर में प्रवेश[6]

प्रलय-कालीन अवस्था की जिज्ञासा से युधिष्ठर के प्रश्न करने पर मार्कण्डेय मुनि ने उनसे प्रलय की साक्षात् अनुभूति का विस्तृत विवरण दिया। समस्त विश्व

---

१. महाभारत वनपर्व—अध्याय १८८

पद्मपुराण सृष्टिखण्ड तथा ब्रह्मपुराण मे भी यह कथा प्रायः इसी रूप में आई है।

२. स्कन्दपुराण—चातुर्मास्य माहात्म्य।

३. भजते खलु षण्मुखं शिखी चिकुरैर्निर्मितबर्हगर्हणः॥ नै० २।३३

४. स्वामिना च वहता च तं मया स स्मरः सुरतवर्जनाज्जितः॥ नै० १८।२७

किन्तु मत्स्यपुराण (अध्याय १५९) में इन्द्र-द्वारा देवसेना नामक कन्या का स्वामिकार्तिकेय की स्त्री के पद के लिए सौंपा जाना कदाचित् स्वामिकार्तिकेय के उक्त नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का विरोधी ही माना जावेगा।

५. विष्णुपुराण—अंश २ अध्याय ५

६. बलिसद्मदिवं स तथ्यवागुपरि स्माह दिवोऽपि नारदः॥ नै० २।८४

के जल-प्लावित हो जाने पर उस अनन्त एकार्णव में तैरते हुए श्रान्त मार्कण्डेय को दैवयोग से एक विशाल वट वृक्ष की शाखा पर दिव्य पर्यङ्क (पलंग) पर सोते हुए एक शिशु का दर्शन हुआ। बालक ने मार्कण्डेय को अपने शरीर मे आराम करने के लिए बुलाया और उसके मुंह फैलाते ही विवश की भाति मार्कण्डेय उसमें चले गए[१]। और सैकड़ों वर्ष विश्वम्भर के उदर में घूमते हुए उन्होंने वहां समस्त विश्व देखा।[२] अन्त मे भगवत् कृपा से सहास वायु-वेग-वश वे बाहर निकल आए।

श्रीहर्ष ने नैषध मे मार्कण्डेय का विष्णु के उदर में सारे जगत के पदार्थों को देखने,[३] प्रलयकाल में संसार के मुरारि-जठर मे समा जाने,[४] हरि के उदर मे समस्त विश्व-प्रपञ्च के साथ विद्यमान मार्कण्डेय मुनि के अपने को भी देखने और फिर उदर से बाहर आने[५] का उल्लेख किया है।

विष्णु का मत्स्यावतार[६]

हयग्रीव-नामक दानव द्वारा वेद के हरे जाने पर वेदों का उद्धार करने के लिए भगवान् विष्णु को मत्स्यावतार धारण करना पड़ा। एक दिन सूर्यपुत्र वैवस्वत मनु तर्पण कर रहे थे। उनके हाथ मे एक शफरी (छोटी मछली) गिरी। उसने मनु से रक्षा की प्रार्थना की। मनु ने उसे अपने कमंडल में डाल दिया। वहा वह एक दिन-रात मे बड़ी हो गयी। अतः मनु ने उसे दूसरे जल-पात्र में रक्खा। किन्तु वहा भी बढ़ी। मनु ने उसे कुवाँ, तालाब, गङ्गा और अन्त में समुद्र में पहुंचाया और उसे बढ़ते ही देखकर कोई दिव्य प्राणी समझा। अन्त में मत्स्यरूप विष्णु ने भी संतुष्ट हो मनु को अपना परिचय दिया। उन्हे शीघ्र होने वाले प्रलय की चेतावनी

---

१. ततोबालेन तेनास्यं सहसा विवृतं कृतम्।
तस्याहमवशो वक्त्रे दैवयोगात् प्रवेशितः॥ महा० व० प० १८८।१००

२. यच्च किञ्चिन्मया लोके दृष्टं स्थावरजङ्गमम्।
सर्वंपश्याम्यहं राजस्तस्य कुक्षौ महात्मनः॥ म० व० १८८।१२१, १२२

३. मुनिनेव मृकण्डुसूनुना जगतीवस्तु पुरोदरे हरेः॥ नै० २।९१

४. यथा जगद्वा जठरे मुरारेः॥ नै० १०।३०
आस्ते दामोदरीयामियमुदरदरीं यावलम्ब्य त्रिलोकी॥ नै० १२।९५

५. वस्तु विश्वमुदरे तव दृष्ट्वा बाह्यवत् किल मृकण्डुतनूजः।
स्वं विमिश्रमुभयं न विविञ्चन्निर्ययौ स कतमस्त्वमवैषि॥ नै० २१।१०८

६. महाभारत, वनपर्व—अध्याय १८७

दी, तथा उससे रक्षा के उपाय बताए और अन्त मे मनु की प्रार्थना पर उन्हे सृष्टि आदि के विषय में अनेक उपदेश दिए।[१]

नैषध में—श्रीवत्साङ्कित (विष्णुरूप) होने के कारण मत्स्य-रूप के पूज्य होने,[२] मत्स्य रूप विष्णु के मनु को उपदेश देने,[३] मत्स्य रूप मे छिपे विष्णु के समुद्र-जल को अपनी पूंछ से उछालने[४], इत्यादि अगों को लेकर मत्स्यावतार की कथा का उल्लेख किया गया है।

अगस्त्य का सागर-पान[५]

इन्द्र द्वारा वृत्रासुर के मारे जाने पर कालेय नामक असुर भागकर समुद्र में घुस गया। समुद्र मे छिपे रहकर वे दैत्य प्रतिरात्रि बाहर निकल कर आश्रमों में ऋषियों का वध करने लगे। जल-दुर्ग में उन्हे पराजित करना तो दूर था, कोई पता भी नहीं पाता था कि वे कहां है और कौन है ? अतः निराश्रित देवगण विष्णु की शरण में गए। विष्णु ने उनसे कहा कि समुद्र-शोषण के अतिरिक्त उनके नाश का कोई और उपाय नहीं, और समुद्र को सोखने मे केवल अगस्त्य मुनि ही समर्थ है।[६] अब देवगण अगस्त्य के पास पहुचे, उनकी स्तुति कर उन्हे प्रसन्न किया, फिर समुद्र सोखने की प्रार्थना की। अगस्त्य ने उनकी बात मान ली और सब के साथ समुद्र के किनारे पहुचकर सबके देखते-देखते समुद्र पी गए।[७]

---

१. मत्स्यपुराण, अध्याय १ तथा भागवत ८।२४ मे भी इस कथा का वर्णन हुआ है।
२. श्रीवत्सलक्ष्मेव हि मत्स्यमूर्तिः॥ नै० ३।५७
३. मत्स्यस्याप्युपदेश्यान्वः॥ नै० १७।६४
४. छद्ममत्स्यवपुषस्तव पुच्छास्फालनाज्जलमिवोद्धतमब्धेः॥ नै० २१।५५
इस श्लोक का भाव मत्स्यपुराण के आदि मे पठित इस मंगल श्लोक के ाव से बहुत कुछ मिलता-जुलता है।
ातालादुत्पतिष्णोर्मकरवसतयो यस्य पुच्छाभिघाता
दूर्ध्वं ब्रह्माडखण्ड व्यतिकरविहितव्यत्ययेनापतन्ति।
विष्णोर्मत्स्यावतारे सकलवसुमतीमण्डलं व्यश्नुवाना
स्तस्यास्योदीरितानां ध्वनिरपहरतादश्रियं वः श्रुतीनाम्॥ म० पु० १।२
५. म० भा०, व० प०, अ० १०१—१०५
६. समुद्रस्य क्षये बुद्धिर्भवद्भिः सम्प्रधार्यताम्।
अगस्त्येन विना को हि शक्तोन्योर्णव शोषणे॥
अन्यथा हि न शक्यास्ते विनासागरशोषणम्॥ महाभारत वनपर्व १०३।१०—११
७. समुद्रमपिवत् क्रुद्धःसर्वलोकस्यपर :तः॥महा०वनपर्व १०५।३

नैषध में इस घटना का कई बार स्मरण किया गया है। एक स्थल मे चन्द्रिका-परितप्त दमयन्ती चन्द्रमा को उपालम्भ देती हुई कहती है—चन्द्र, तू समुद्र पीने वाले मुनि की जठराग्नि मे ही क्यों न जीर्ण हो गया (पच गया)[1]। फिर वही दमयन्ती प्रिय के साथ चन्द्र-ज्योत्स्ना का सुख लेती हुई, चन्द्र का वर्णन करती हुई कहती है प्राचीन काल मे कुम्भज ऋषि ने इसके पिता समुद्र को पीकर तुच्छ कर दिया था।[2] इत्यादि।

जरासन्धोत्पत्ति[3]

मगधराज बृहद्रथ के दो पत्नियां थीं—दोनों काशिराज की यमज (जोड़वा) पुत्रियां थीं। किन्तु बहुत समय बीतने पर भी बृहद्रथ के कोई सन्तान न हुई। अन्त में दुखी राजा दोनों पत्नियों समेत चण्डकौशिक मुनि के पास पहुंचे, तथा उन्हे अपनी व्यथा सुनाई। मुनि आम की छाया मे बैठे थे। उस समय दैवात् मुनि की गोद मे एक आम का फल गिरा जिसे उन्होंने राजा की इच्छा का पूरक समझकर राजा को दे दिया। राजा ने उसे अपनी दोनों पत्नियों को दे दिया। दोनों ने उसे आधा-आधा खाया। फलत. दोनों को गर्भ रहा। किन्तु नियत समय पर दोनों से आधे-आधे अगों वाले सजीव टुकड़े पैदा हुए। उन दोनों ने डर कर उन दोनों टुकड़ों को गुप्तरूप से चौराहे पर फेंकवा दिया। जरा नाम की राक्षसी ने मास भोजन की इच्छा से उन टुकड़ों को उठा लिया तथा दैवेच्छा से दोनों टुकड़े को सयुक्त कर दिया जिससे तुरन्त एक अति सुन्दर बालक बन गया। जरा स्वय यह विधान देखकर चकित हो गई, और अन्त मे राजा बृहद्रथ के पास उन टुकड़ों को लेकर आई। राजा को उनका पुत्र देकर अपना नाम तथा सारा वृत्तान्त बताया। बृहद्रथ अत्यन्त हर्षित हुए तथा जरा के प्रति कृतज्ञता की भावना से पुत्र का नाम जरासंध रक्खा।[4]

दमयन्ती चन्द्रोपालम्भ करती हुई उक्त कथानक की ओर सकेत करती है—'प्रिय सखि ! तू जरा नाम की राक्षसी से पूछ कि वह कबन्ध रूप 'राहु' के

---

१. अपि मुनेर्जठरार्चिषि जीर्णतां बत गतोऽसि न पीतपयोनिधेः॥ नै० ४।५१

२. पुरा निपीयास्य पितापि सिन्धुरकारि तुच्छः कलशोद्भवेन॥ नै० २२।६७

३. महाभारत सभा पर्व—अध्याय १७, १८

४. जरया सन्धितो यस्माज्जरासन्धोभवत्वयम्॥ महा० स० प० १८।११

साथ 'केतु' रूप शिर को मगधराज के दो अङ्ग-भागों की भांति एक साथ क्यों नहीं सी देती ?[१]

अन्धकासुर-वध[२]

पुत्रों के वध से दुखी दैत्य-माता दिति की प्रार्थना से प्रसन्न हो कश्यप ने उसे एक महा-बलवान् पुत्र पाने का वर दिया जिसे रुद्र के अतिरिक्त कोई पराजित नहीं कर सकता था। उस दैत्य के सहस्र बाहु तथा सहस्र शिर थे।[३] अन्धा न होकर भी वह अन्धे की भांति चलता था। अत: लोग उसे अन्धक कहने लगे।[४] उसके अत्याचार से त्रस्त देवों ने नारद द्वारा शिव के पास कैलाश पर अन्धक के वध के लिए प्रार्थना भेजी। नारद शिव से सब वृतान्त कहकर उनकी अनुज्ञा ले मन्दार-वन मे आए जहा शङ्कर का नित्य निवास है, और वहा स्वयं एक अति सुगन्धित रम्य माला बनाकर पहनी। फिर माला-सहित अन्धकासुर के पास पहुचे। माला की लोकोत्तर गंध से अन्धक का मन लुब्ध हो गया। उसके पूछने पर नारद ने मन्दर पर्वत पर स्थित उस दिव्य वन का विस्तृत विवरण दिया। असुरों-सहित अन्धक उस पर्वत पर पहुंचा और वहा मन्दार वन को छिन्न-भिन्न करने लगा। यह देख भगवान्-रुद्र ने क्रुद्ध हो अपने त्रिशूल द्वारा अन्धक को भस्म कर डाला।[५]

दमयन्ती उक्त आख्यान की ओर सकेत करती हुई कहती है—मद-हर्ष में अन्धे, वियोगिजनान्तक, तुझ एक मदन को जो शङ्कर ने पराजित किया, इसीलिए तो उन्हें मदन-जित्, अन्धकजित् तथा मृत्यु-जित् कहा जाता है।[६]

---

१. सखि ! जरां परिपृच्छ तमः शिरः सममसौ दधतापि कबन्धताम्।
मगधराजवपुर्दलयुग्मवत् किमिति न व्यतिसीव्यति केतुना ॥ नै० ४।६९

२. हरिवंश २।८६-८७

३. सहस्रबाहु कौरव्य सहस्रशिरसंतथा।
द्विसहस्रेक्षणं चैव तावच्चरणमेव च ॥ हरिवंश २।८६।१०

४. स व्रजत्यन्धवद्यस्मादनन्धोऽपि हि भारत।
तमन्धकोयं नाम्नेति प्रोचुस्तत्रनिवासिनः ॥ हरिवंश २।८६।११

५. मुमोच भगवाञ्छूलं प्रदीप्ताग्निसमप्रभम्।
भस्मसाच्चाकरोद्रौद्रमन्धकं साधुकण्टकम् ॥ हरिवंश २।८७।३२–३३

६. किमु भवन्तमुमापतिरेककं मदमुदान्धमयोगिजनान्तकम्।
यदजयत्तत एव न गीयते स भगवान्मदनान्धकमृत्युजित् ॥ नै० ४।९७

दधीचि का अस्थि-दान[1]

वृत्रासुर से त्रस्त इन्द्रादि देवों ने भगवान् विष्णु की शरण ली। विष्णु ने उन्हे दधीचि (दध्यङ्) ऋषि से उनकी अस्थि मागने के लिए कहा।[2] दधीचि ने देवों की याचना स्वीकार कर उन्हे योग से अपना शरीर त्याग कर अस्थि-दान किया।[3] विश्वकर्मा ने उन अस्थियों से वज्र बनाया, जिससे इन्द्र ने वृत्रासुर का वध किया।[4]

नैषध में नल देवों से तर्क करते हुए उसी कथानक का स्मरण करते हैं। जिस दान-यश का दानियों द्वारा मूल्य आकने पर दधीचि पर्यन्त ने केवल प्राणों की अन्तिम सीमा रक्खी है।[5]—इत्यादि।

अगस्त्य द्वारा विन्ध्यपर्वत को झुकाना[6]

एक बार देवर्षि नारद से सुमेरुगिरि द्वारा अपना अपमान सुनकर विन्ध्याचल ईर्ष्या तथा क्रोध मे आकाश की ओर ऊपर बढ़ने लगा और सूर्य का मार्ग रोककर खड़ा हो गया, जिससे समस्त विश्व मे बड़ी खलबली मची। देवता घबडा कर ब्रह्मा के पास गए। देवों की प्रार्थना से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने उन्हे इस विपत्ति को दूर करने के लिए काशी मे तपस्या करने वाले मित्रावरुण के पुत्र महर्षि अगस्त्य के पास जाकर प्रार्थना करने को कहा। देवों ने अगस्त्य के पास जाकर उनसे विन्ध्य-पर्वत की बाढ़ रोकने की प्रार्थना की। अगस्त्य ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली तथा उनका कार्य सिद्ध करने का वचन दिया। फिर लोपामुद्रा के साथ बड़े कष्ट से काशी छोड़कर अगस्त्य विन्ध्य के पास पहुचे। उन्हे देखते ही विन्ध्य इतना छोटा हो

---

१. भागवत—६ अध्याय ९।१०

२. मघवन् यात भद्रं वो दध्यञ्चमृषिसत्तमम्।
विद्याव्रततपः सारं गात्रं याचत मा चिरम्॥ भागवत ६।९।५१

३. एवं कृतव्यवसितोदध्यङ्ङाथर्वणस्तनुम्।
परे भगवति ब्रह्मण्यात्मानं संनयञ्जहौ॥
यताक्षासुमनोबुद्धिस्तत्त्वदृग् ध्वस्तबन्धनः।
आस्थितः परमं योगं न देहं बुबुधे गतम्॥ भागवत ६।१०।११–१२

४. महाभारत वन पर्व—अध्याय १०० में भी दधीचि-चरित वर्णित है।

५. आदधीचि किल दातृकृतार्घं प्राणमात्रपणसीम यशो यत्॥ नै० ५।१११

६. स्कन्दपुराण, काशीखंड, पूर्वार्द्ध, अध्याय १ से ५ तक।

गया मानों धरती में समा जाना चाहता हो।[1] अगस्त्य ने पर्वत को आदेश दिया कि देखो, जब तक मैं यहां पुनः लौटकर न आऊं तब तक तुम इसी भाति लघु रूप में रहना।[2] अगस्त्य दक्षिण दिशा को चले गए और विन्ध्याचल आज भी उनकी प्रतीक्षा में उसी भांति पडा है।[3]

नैषध में उक्त कथा का स्मरण दिलाते हुए वरुणदेव नल से कहते हे—"जिससे निबद्ध होकर राजा बलि तथा विन्ध्यगिरि आज भी विचलित होने में समर्थ न हुए······।"[4]

सूर्यदेव की सन्तानें[5]

सूर्यदेव के दो पत्नियां थीं—१–राज्ञी और २–निक्षुभा। राज्ञी विश्वकर्मा की पुत्री थी। इसी का नाम सज्ञा था। सज्ञा की छाया ही निक्षुभा थी। सज्ञा बडी रूपवती तथा पतिव्रता थी। उसके तीन सन्तानें मनु, यम, तथा यमुना थी। सूर्य का अतिदीप्तिमान् रूप सज्ञा को प्रिय न था, अतः वह पिता के यहां चली गयी और वहां हजार वर्ष तक रही। जब पिता ने पति के घर जाने का बहुत आग्रह किया तो सज्ञा वहां से उत्तर-कुरु की ओर चली गयी और वहा घोड़ी का रूप धारण कर रहने लगी। इधर छाया सज्ञा का रूप धारण कर सूर्यदेव के साथ रहने लगी थी। सूर्य उसे सज्ञा ही समझा करते थे। छाया से सूर्य को श्रुतश्रवा और श्रुतकर्मा दो पुत्र तथा तपती नामक कन्या हुई। श्रुतश्रवा सावर्णि मनु हुआ तथा श्रुतकर्मा शनैश्चर बना और तपती ताप्ती नदी बनी। छाया संज्ञा की सन्तानों के साथ प्रेम नहीं करती थी। एक दिन सज्ञा के छोटे पुत्र यम से उसका कलह हो गया। सूर्य को जब इसका पता चला तो उन्हे सज्ञा बनी छाया पर क्रोध आया। छाया ने भय से अपना वास्तविक रूप बता दिया। इसी समय विश्वकर्मा ने सूर्य को शाकद्वीप मे शाण (खराद) पर चढाकर उनका प्रचण्ड तेज क्षीण कर डाला और उनका रूप उत्तम बना दिया। सूर्य को जब सज्ञा का उत्तर कुरु में पता चला तो वे वहा घोड़े के रूप में गए। वहां सूर्य के सयोग से घोडी-रूप सज्ञा की नासिका

---

१. गिरिः खर्वतरो भूत्वा विविक्षुरवनीमिव—वही, ५।५६

२. विन्ध्य साधुरसि प्राज्ञ मां च जानासि तत्त्वतः।
पुनरागमनं चेन्मे तावत् खर्वतरो भव॥ वही—५।५७

३. महाभारत, वनपर्व, अध्याय १०६ में भी विन्ध्यविनमन कथा है।

४. अद्य यावदपि येन निबद्धौ न प्रभू विचलितुं बलिविन्ध्यौ इत्यादि—नै० ५।१३०

५. भविष्यपुराण—अध्याय ७५

से अश्विनिकुमारों की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार मनु, यमुना, यम तथा दो अश्विनि-कुमार ये पांच संतानें संज्ञा के तथा सावर्णि, शनैश्चर एवं तापती ये तीन सन्तानें छाया के हुई।

श्रीहर्ष ने पूर्वोक्त पौराणिक विवरण के अनेक अशों—सहस्रपादों वाले सूर्य से उत्पन्न होते हुए भी छायापुत्र शनैश्चर के लगड़े (खञ्ज) होने[1] यम की उत्पत्ति के प्रति सूर्यप्रिया सज्ञा के हेतुत्व (जननीत्व) तथा छाया के अहेतुत्व (यम की जननी न होने)[2] सूर्य के यम-पिता होने,[3] यम के अश्विनीकुमारसहोदर होने,[4] काले रंग वाले यम, यमुना और शनैश्चर के गोरे सूर्य की सन्तान होने[5] तथा लोकत्राणार्थ सूर्य के शनि एवं यम का सुतरूप मे उत्पन्न[6] करने का उल्लेख किया है। सूर्य के विश्वकर्मा-कृत शाणोल्लेख का भी श्री हर्ष ने इन शब्दों में सङ्केत किया है—"गवाक्ष से आने वाली सूर्यरश्मियों मे पडे त्रसरेणुओ को तेजी से घूमते हुए देखकर बन्दी-जन उत्प्रेक्षा करते है मानों विश्वकर्मा ने सूर्यदेव को पुन शाण पर चढ़ाया है और उसी की चिनगारिया निकल रही है"।[7]

पृथु-चरित तथा पृथ्वी-दोहन[8]

स्वायम्भुव मनु के वंश में अङ्ग नामक प्रजापति हुए। उन्होंने मृत्यु की पुत्री सुनीथा से विवाह किया जिससे वेन-नामक महापराक्रमी पुत्र हुआ, जो आगे चलकर महाविधर्मी एवं अत्याचारी शासक हुआ। महर्षियों के अनुनय-विनय करने पर भी

---

१. यं प्रासूत सहस्रपादुदभवत्पादेन खञ्जः कथं। · · · सच्छायातनयः॥ नै० ५।१३६

२. मित्रप्रियोपजननं प्रति हेतुरस्य संज्ञा श्रुता सुहृदयं न जनस्य कस्य।
· · · · · · · · · · · छायेदृगस्य च न कुत्रचिदध्यगायि॥ नै० १३।१७

३. किं च प्रभावनमिताखिलराजतेजा देवः पिताम्बरमणी रमणीयमूर्तिः॥ नै० १३।१८

४. भूतेषु यस्य खलु भूरियमस्य वश्यभावं समाश्रयति दस्रसहोदरस्य॥ नै० १३।१९

५. शमनयमुनाक्रोडैः कालैरितस्तमसां पिबा—
दपि यदमलच्छायात्कायादभूयत भास्वतः॥ नै० १९।४५

६. शनिं शमनमपि स त्रातुं लोकानसूत सुताविति॥ नै० १९।४७

७. भ्रमदणुगणकान्ता भान्ति भ्रमन्त्य इवाशु याः।
पुनरपि धृताः कुन्दे किं वा न वर्धकिना दिवः॥ नै० १९।५४

८. मत्स्यपुराण अध्याय १०, हरिवंश १।५६ तथा भागवत ४।१७-१८ में भी यह कथा प्रायः वर्णित है।

जब उसने कुमार्ग से हटना न चाहा तो उन्होंने उसे शाप देकर भस्म कर डाला। महर्षियों ने उसके दाहिने बाहु को मथा। उससे पृथु की उत्पत्ति हुई जो विष्णु के एक अवतार माने जाते हैं। वेन के कुप्रबन्ध के कारण जो अधर्म और अराजकता थी, तया दुर्भिक्ष पड़ रहा था उससे क्रुद्ध होकर पृथु ने धनुष-बाण लेकर भूमण्डल को भस्म कर डालने का निश्चय किया। पृथ्वी भय से गो-रूप धारण कर भागी। पर कहीं त्राण न देखकर उन्हीं को त्राण माना। पृथ्वी ने उनसे कहा कि उचित वत्स लाकर आप मुझसे अभीप्सित वस्तु दुह लीजिए। तदनुसार सभी जीवधारी वर्गों ने अपना अभीप्सित दुहा। पर्वतों ने सुमेरु को दोग्धा (दुहनेवाला) और हिमालय को बछडा बनाकर शैलमय पात्र मे अनेक प्रकार के रत्नों तथा दिव्य तेजोमयी ओषधियों को दुहा।[1] राजा पृथु ने प्रजा-कल्याण की भावना से प्रेरित हो बड़े-बडे पर्वतों को अपनी धनुष्कोटि से उखाड़कर सुव्यवस्थित किया तथा पृथ्वी-तल को सम किया।[2]

नैषध मे सरस्वती के मुख से देव-वर्णन के अवसर पर सुमेरु-द्वारा गोरूप पृथ्वी के दुहे जाने का[3] तथा पाण्डचनरेश-वर्णन के अवसर पर पृथु-द्वारा पर्वतों को सुव्यवस्थित करने का[4] उल्लेख हुआ है।

सप्तद्वीप-वर्णन[5]

दमयन्ती के स्वयंवर मे सातों द्वीपो के नरेश आए थे। श्रीहर्ष ने उनका वर्णन विष्णु-पुराण के द्वीप-वर्णन से लिया है। यहा तक कि स्वयवर में

---

१. शैलेश्चश्रूयते राजन् पुनर्दग्धा वसुन्धरा।
औषधीर्वै मूर्तिमती रत्नानि विविधानि च॥
वत्सस्तुहिमवानासीन्मेरुर्दोग्धामहागिरिः ।
पात्रं तु शैलमेवासीत् तेन शैला विवर्धिताः॥ हरिवंश १।६।४०–४१

२. चूर्णयन्स्वधनुष्कोट्या गिरिकूटानि राजराट्।
भूमण्डलमिदं वैन्यः प्रायश्चक्रे समं विभुः॥ भागवत ४।१८।२९

३. एषां गिरेः सकलरत्नफलस्तरुः स प्रादुग्धभूमिसुरभेः खलु पञ्चशाखः॥
नै० ११।१०

४. पृथ्वीन्द्रः पृथुरेतदुग्रसमरप्रेक्षोपनम्रामर।
श्रेणीमध्यचरः पुनः क्षितिधरक्षेपाय धत्तेधियम्॥ नै० १२।२०

५. विष्णुपुराण—अंश २, अध्याय १–४

प्लक्ष द्वीप के राजा मेधातिथि,[1] प्रधान वृक्ष प्लक्ष,[2] समुद्र इक्षुरसोद[3], देवता चन्द्र देव[4] तथा नदी विपाशा[5] का उल्लेख किया है।

शाल्मलिद्वीप—चार सहस्र योजन का है। वहा के अधिपति वपुष्मान् है। कुमुद, उन्नत, सुबलाहक, (ओषधियों का उद्भव-स्थान) द्रोणाचल, कङ्क, महिष, ककुद्मान् ये सात पर्वत है। योनी, तोया, वितृष्णा, चन्द्रा, शुक्ला, विमोचनी तथा निवृत्ति ये सात नदिया है। यहा भी चार वर्ण है। ब्राह्मण को कपिल, क्षत्रिय को अरुण, वैश्य को पीत तथा शूद्र को कृष्ण कहते है। ये सब पवन रूप भगवान् विष्णु की पूजा करते हैं। इसमे देवता लोग बहुत रहते है। यहा एक बहुत बडा शाल्मलि (सेमर) का वृक्ष है। उसी के नाम से यह शाल्मलि द्वीप कहलाता है। इसके चारों ओर चार सहस्त्र योजन का सुरोद नामक समुद्र है।

नैषध में शाल्मलि-द्वीप के राजा वपुष्मान्, सागर सुरोद,[6] पर्वत द्रोणगिरि[7] तथा प्रधान वृक्ष शाल्मलि[8] (सेमर) इत्यादि का वर्णन विष्णुपुराण के अनुसार ही हुआ है।

कुशद्वीप—इसके महाराज ज्योतिष्मान् हैं। वहा मानव-दानव सब एक साथ बसते हैं। देवता, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर, आदि भी रहते है। उस द्वीप मे ब्राह्मण को दमी, क्षत्रिय को शुष्मी, वैश्य को स्नेह तथा शूद्र को मन्देह कहते है। वहा ब्रह्म-रूप विष्णु की पूजा होती है। विद्रुम, हेमशैल, द्युतिमान्, पुण्यवान्, कुशद्वीप, हरि और मन्दराचल ये सात पर्वत है। धूतपापा, शिवा, पवित्रा, सम्मति, विद्युत

---

१. द्वीपं द्विपाधिपतिमन्दपदे! प्रशास्ति
प्लक्षोपलक्षितमयं क्षितिपस्तदस्य।
मेघातिथेस्त्वमुरसि स्फुर सृष्टसौख्या
साक्षाद्यथैव कमला यमलार्जुनारेः॥ नै० ११।७३

२. प्लक्षे महीयसि महीवलयातपत्रे॥ नै० ११।७४

३. न श्रद्दधातु रसमिक्षुरसोदवाराम्॥ नै० ११।७५

४. तस्यैन्दवस्य भवदास्यनिरीक्षयैव॥ नै० ११।७६

५. त्वन्नेत्रयोरहह तत्र विपाशि जाता॥ नै० ११।७७

६. द्वीपस्य शाल्मल इति प्रथितस्य नाथः पाथोधिना वलयितस्य सुराम्बुनायम्।
अस्मिन्वपुष्मति न विस्मयसे गुणाब्धौ रक्ता तिलप्रसवनासिकि नासि किं वा॥
नै० ११।६७

७. द्रोणः स तत्र वितरिष्यति भाग्यलभ्य॥ नै० ११।६९

८. तद्द्वीपलक्ष्मपृथुशाल्मलितूलजालैः॥ नै० ११।७०

अम्मा और मही ये सात नदिया हैं। वहां कुशों का एक बड़ा भारी स्तम्ब (समूह) है, इसी से उसका नाम कुश-द्वीप पड़ा है। उसे चारों ओर से घृतोदक परिवेष्टित किए हुए है।

श्रीहर्ष ने कुश-द्वीप के नरेश ज्योतिष्मान्, समुद्र घृतोद[1], विशाल कुश-स्तम्ब[2] और प्रधान पर्वत मन्दराचल[3] का वर्णन इसी आधार पर किया है।

क्रौञ्च-द्वीप—के नरेश का नाम द्युतिमान् है। उसमे पत्र, क्रौञ्च, वामन, अन्धकार, देवावृत, पुण्डरीकवान्, दुन्दुभि और महाक्रौञ्च ये सात पर्वत हैं। उन सब पर देवता, गन्धर्व, मनुष्य आदि बसते हैं। वहा ब्राह्मण को पुष्कर, क्षत्रिय को पुष्कल वैश्य को धन्य तथा शूद्र को तिष्म कहते हैं। गौरी, कुमुद्वती, सन्ध्या, रात्रि, मनोजवा, ख्याति और पुण्डरीका ये सात नदिया हैं। वहां रुद्र-रूप भगवान् जनार्दन की पूजा होती है। इस द्वीप को चारों ओर से दधि-मण्डोद घेरे हुए है।

सरस्वती नैषध में भी क्रौञ्च-द्वीप के राजा द्युतिमान्, सागर दधिमण्डोद[4] पर्वत क्रौञ्चगिरि,[5] तथा अभीष्ट देवता शङ्कर[6] का सुन्दर विवरण देती है।

शाक-द्वीप—क्रौञ्च द्वीप का दूना है। वहा का राजा भव है। उदयगिरि, जलाधार, रैवतक, श्याम, आम्बिकेय, रम्य और केशरी ये सात पर्वत हैं। शाक नाम का एक बड़ा भारी वृक्ष है। इसी कारण उस द्वीप का नाम शाकद्वीप पड़ा। उस वृक्ष का वायु बड़ा ही सुखद होता है। सुकुमारी, कुमारी, नलिनी, रेणुका, इक्षु, धेनुका और गभस्ति ये सात पापनाशिनी नदिया कुशद्वीप मे बहती हैं। वहा के लोग सदा सुमना तथा सानन्द रहते हैं। वहा ब्राह्मण को भग, क्षत्रिय को मागध, वैश्य को मानस तथा शूद्र को मन्दाग्न कहते हैं। उस द्वीप मे सूर्यरूप भगवान् विष्णु की पूजा होती है। उसके किनारे-किनारे क्षीरोद समुद्र है।

---

१. ईशः कुशेशयसनाभिशये कुशेन द्वीपस्य लाञ्छिततनोर्यदि वाञ्छितस्ते।
ज्योतिष्मता सममनेन वनीघनासु तत्त्वं विनोदय घृतोदतटीषु चेतः॥
नै० ११।५८

२. स्तम्बः कुशस्य भविताम्बरचुम्बिचूडः॥ नै० ११।५९

३. आनन्दमिन्दुमुखि मन्दरकन्दरासु॥ नै० ११।६०

४. द्वीपस्य पश्य दयितं द्युतिमन्तमेतं क्रौञ्चस्य चञ्चलदृगञ्चलविभ्रमेण।
यन्मण्डले स खलु मण्डलसन्निवेशः पाण्डुश्चकास्ति दधिमण्डपयोधिपूरः॥
नै० ११।४९

५. क्रौञ्चः स्फुरिष्यति गुणानिव यस्त्वदीयान्॥ नै० ११।५०

६. तस्यार्चनां रचय तत्र मृगाङ्कमौलेः॥ नै० ११।५१

दमयन्ती के स्वयवर में शाक-द्वीप के राजा हव्य[1] और शाक[2] नाम के विशाल वृक्ष का वर्णन है। इस वृक्ष का वायु अत्यन्त आनन्दप्रद[3] तथा वह द्वीप क्षीरसागर के तट पर अवस्थित बतलाया गया है।[4]

पुष्कर-द्वीप—क्षीरोद के उस पार, शाक-द्वीप का दूना है। वहा का अधिपति सवन है। वहां मानसोत्तर नाम का एक ही पर्वत है। उस द्वीप के निवासी दस हजार वर्ष जीते हैं। सब नीरोग तथा स्नेहपूर्ण हैं। वहा न अन्य कोई नदी है न कोई पहाड़। देवता मनुष्य दोनों उस द्वीप मे एक ही रूप से फिरते हैं। वर्णों और आश्रमों की भी व्यवस्था नहीं। उस द्वीप मे एक बड़ा भारी कमल का वृक्ष है—उसके पत्रपर ब्रह्मा का निवास है—देव-दानव सब उसकी पूजा करते हैं। यह चारों ओर जलोद से घिरा है।

नैषध में पुष्कर-द्वीप के स्वामी सवन, सागर जलधि[5] तथा देव पद्मयोनि[6] का मनोरम वर्णन हुआ है। श्रीहर्ष ने वहां एक न्यग्रोध (वट) वृक्ष का[7] विशेष वर्णन किया है, यद्यपि विष्णु पुराण मे विशाल कमल का वर्णन हुआ है।

जम्बू-द्वीप—का विष्णुपुराण मे सबसे अधिक (विस्तृत) वर्णन हुआ है। इसके मध्य में सुमेरु-नामक स्वर्ण-पर्वत है। सुमेरु के चारों ओर चार पर्वत हैं—पूर्व मे मन्दराचल, दक्षिण मे गन्धमादन, पश्चिम मे विपुल तथा उत्तर में सुपार्श्व। इन मन्दराचल आदि पर्वतों के ऊपर क्रम से कदम्ब, जामुन, पीपल और बरगद के वृक्ष हैं। प्रत्येक वृक्ष ११०० योजन ऊचा है। इस द्वीप का नाम जम्बूद्वीप इसीलिए हुआ कि इसमे जम्बू (जामुन) का पेड है। इस जम्बू वृक्ष के फल बड़े बड़े हाथियों के समान होते हैं और पहाड पर गिरने से फूट जाते है; उन्ही के रस से निकली हुई एक 'जम्बू-नाम' नदी बहती है। इसी नदी में जाम्बूनद नाम का सुवर्ण होता है। सुमेरु के ऊपर १४०००योजन की ब्रह्मा की पुरी है। इसकी चारों दिशाओं और

---

१. नन्वत्र हव्य इति विश्रुतनाम्नि॥ नै० ११।३७
२. शाकः शुकच्छदसमच्छविपत्रमालभारी॥ नै० ११।३८
३. यन्मारुतः कमपि संमदमादधाति॥ नै० ११।३९
४. क्षीरार्णवस्तव कटाक्षरुचिच्छटानाम्॥ नै० ११।४०
५. स्वादूदके जलनिधौ सवनेन सार्धम्॥ नै० ११।२७
६. देवः स्वयं वसति तत्र किल स्वयम्भू-
न्यग्रोधमण्डलतले हिमशीतले यः॥ नै० ११।२९
७. न्यग्रोधनादिव दिवः पतदातपादे-
र्न्यग्रोधमात्मभरधारमिवावरोहैः॥ नै० ११।३०

उपदिशाओं में इन्द्रादि लोकपालों की सात पुरियाँ हैं। इस द्वीप के भारत, केतुमाल, कुरु, इलावर्त आदि अनेक खड हैं। प्रत्येक मे अनेक प्रसिद्ध पर्वत तथा नदियां हैं। दक्षिण महासागर से उत्तर मे हिमालय पर्वत तक के मध्य वाले देश को भारतवर्ष कहते हैं। इस भू-खण्ड में महेन्द्र, मलय, सत्य, शुक्तिमान् ऋक्षवान् विन्ध्य तथा पारियात्र ये सात मुख्य पर्वत हैं। इस भारतवर्ष मे नव द्वीप हैं—इन्द्र, कशेरुमान्, ताम्रवर्ण, गभिस्तमान्, नाग, सौम्य, गान्धर्व और वरुण। इसके पूर्व मे किरात देश और पश्चिम में यवन-देश हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ये चार वर्ण इसी में बसते हैं। नदियाँ भी प्रसिद्ध ही हैं। इसमें कुरु, पाञ्चाल, मध्यदेश, पूर्वदेश, कामरूप, पुण्ड्र, कलिङ्ग, मगध, दाक्षिणात्य, परान्त, सौराष्ट्र, सूर, आभीर, अर्बुद, मालूफ, मालव, परियात्र, सौवीर सघ सैन्धव, हूण, शाल्व, शाकल मद्र, राम, अम्बष्ठ, पारीक आदि देश बसते हैं। कृत (सत्य), त्रेता, द्वापर और कलियुग ये चार युग इसी भारतखंड में माने जाते हैं, अन्यत्र नहीं।

श्रीहर्ष ने जम्बू द्वीप का वर्णन उक्त पौराणिक आधार पर, किन्तु अत्यन्त संक्षेप मे किया है, जिसके अन्तर्गत चारों ओर से घेरे हुए द्वीप मध्य मे स्थित हेमाद्रि (सुमेरु) और कैलाशपर्वतों[1], विशाल शिलाखण्ड में समान काले फलों वाले जम्बू वृक्ष,[2] उसके फलों के रस से निकली हुई जम्बू नदी उसमे प्राप्त होने वाले जाम्बूनद स्वर्ण[3] आदि का उल्लेख उसी प्रकार किया है जैसा विष्णु पुराण में देखा जाता है।

अग्नि से सुवर्ण की उत्पत्ति[4]

एक बार सारे देवगण स्वर्ग की सभा मे बैठे थे। अप्सराओं का मनोहर नृत्य-गीत हो रहा था। उनमें अत्यन्त सुन्दरी अप्सरा रम्भा को देखकर अग्नि देव को मदन-विकार हो आया। उस समय उनका जो शुक्र गिरा उसे उन्होंने लज्जावश अपने वस्त्र से ढकना चाहा, किन्तु वह शुक्र अतिशय-देदोप्यमान् स्वर्णपुञ्ज के रूप में, वस्त्र को हटाकर बढ़ने लगा और क्षण भर मे इतना बढ़ा कि एक विशाल स्वर्ण

---

१. हेमाद्रिणा कनकदण्डमहातपत्रः कैलाशरश्मिचयचामरचक्रचिह्नः॥ नै० ११।८४

२. एतत्तरुस्तरणि राजति राजजम्बूः॥ नै० ११।८५

३. जाम्बूनदं जगति विश्रुतिमेति मृत्स्ना कृत्स्नापि सा तव रुचा विजितश्रि यस्याः। तज्जाम्बवद्रवभवास्य सुधाविधाम्बुर्जम्बूसरिद्वहति सीमनि कम्बुकण्ठि॥ नै० ११।८६

४. ब्रह्मवैवर्त-पुराण—श्रीकृष्णजन्मखण्ड, अ० १३१

पर्वत बन गया जिसका नाम सुमेरु-गिरि पड़ा[1]। और तभी से अग्नि को हिरण्य-रेताः कहा जाने लगा।[2]

नैषध मे एक स्थान पर अग्नि से सुवर्ण की उत्पत्ति का सङ्केत हुआ है। स्वयवर में सरस्वती अग्नि तथा नल का श्लिष्टार्थ वर्णन करती हुई अग्नि-देव से प्रभूत स्वर्ण प्राप्त करने का उल्लेख करती है।[3]

बलराम-द्वारा यमुना-कर्षण[4]

एक बार बलराम अपने प्रियजनों से मिलने व्रज गए। वहा गोप गोपियों से मिलकर बडे आनन्दित हुए। एक दिन वही गोपों के साथ वन-विहार करने चले गये। वहा गोपालों ने उन्हे वारुणी (मदिरा) भेट की। मदिरा पीकर बलराम मत्त हो उठे, और मदविह्वल हो यमुना-स्नान की इच्छा की। उन्होंने मस्ती मे यमुना को अपने पास बुलाया।[5] पर उनकी बात कैसे पूरी होती? अतः मदविह्वल बलराम क्रुद्ध हो गये और उन्होंने हल की नोक से यमुना को अपनी ओर खींचा। नदी खिचकर उनके पास चली आई।[6] आज भी यमुना उसी कारण वहा वक्र दिखायी पडती है।[7]

नैषध मे विवाहोचित प्रसाधन-वर्णन के प्रसग मे केशों का सौन्दर्य चित्रित करते हुए श्रीहर्ष ने उपर्युक्त कथानक का सङ्केत किया है।[8]

---

१. उत्तस्थौ स्वर्णपुञ्जश्च वस्त्रं क्षिप्त्वा ज्वलत्प्रभम्।
क्षणेन वर्धयामास स सुमेरुर्बभूव ह॥ वही—अ० १३१-३७

२. हिरण्यरेतसं वह्निं प्रवदन्ति मनीषिणः॥ वही—१३१-३८
(महाभारत आनुशासिकपर्व अध्याय ८६ में भी अग्नि से स्वर्णोत्पत्ति की कथा कही गयी है)

३. हेमप्रभूतमधिगच्छ शुचेरमुष्मात्॥ नै० १३।१०

४. हरिवंश पुराण—विष्णु-पर्व अध्याय ४६

५. स्नातुमिच्छे महानदि! एहि मामभिगच्छ त्वं रूपिणी सागरङ्गमे।
ह० पु० २।४६।३०

६. साविह्वलजलश्रोता हृदयस्थितसञ्चया।
व्यावर्तत नदी भीता हलमार्गानुसारिणा॥ ह० पु० २।४६।३५

७. विष्णुपुराण ५।२४-२५ तथा भागवत १०।६५ में भी इस कथानक का इसी प्रकार उल्लेख हुआ है।

८. बलस्य कृष्टेव हलेन भाति या कलिन्दकन्या घनभङ्गभङ्गुरा॥ नै० १५।३१

पुरूरवा (ऐल) की उत्पत्ति तथा उनमें उर्वशी का अनुराग[1]

वैवस्वत मनु को मित्रावरुण का यज्ञ करने पर सुद्युम्न नाम का पुत्र मिला। एक बार मृगया-प्रसङ्ग मे सुद्युम्न पार्वती-वन में चले गए। शिव का ऐसा शाप था कि जो पुरुष उस वन में घुसे वह स्त्री हो जाय। फलतः सुद्युम्न भी इला नामक स्त्री हो गए। फिर इला को अकेले घूमती देखकर चन्द्रमा के पुत्र बुध कामातुर हो उसे अपने आश्रम में लाए और उससे पुरूरवा नामक त्रैलोक्यसुन्दर पुत्र उत्पन्न किया। मित्रावरुण के शाप से स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी को भूलोक पर आना पड़ा। वह नारद के मुख से पुरूरवा की प्रशसा सुन चुकी थी। अतः भूलोक में उन्हीं के पास आयी। अपने दो मेषों की रक्षा, घृत-भोजन तथा राजा का अनग्न दर्शन, इन तीन संविदों (शर्तों) को पुरूरवा से मनवा कर वह उनकी रानी के रूप मे उनके साथ रहने लगी। कुछ समय के पश्चात् गन्धर्वों ने उर्वशी को पुनः स्वर्ग ले जाने की इच्छा से रात्रि में उसके मेषों को चुरा लिया जिससे राजा पुरूरवा उनकी रक्षा के लिए शयन से त्वरा-वश नग्न हो दौड पड़े। उर्वशी ने उन्हे देख लिया, अत प्रतिज्ञा-भङ्ग दोष के कारण वह राजा को छोड कर चली गयी।

वरयात्रा के समय नल के विवाहोचित नेपथ्य (वेशभूषा) से विभूषित सौन्दर्य को देखकर पुर-सुन्दरियों को पुरूरवा का स्मरण हो आया। अतः साथ ही उपर्युक्त पौराणिक कथानक का उल्लेख करती हुई वे कहती हैं—"राजा सुद्युम्न ने स्त्री होकर जिनको उत्पन्न किया, उन्हीं उर्वशी के प्राणप्रिय पुरूरवा को जिसने अपने देहकान्ति से जीत लिया है," [2] आदि।

दुर्वासा का इन्द्र को शाप[3]

शिव के अंश दुर्वासा मुनि ने (उन्मत्त-व्रत धारण किए हुए) एक बार घूमते हुए एक विद्याधरी के हाथ मे कल्पवृक्ष के फूलों की अत्यन्त सुगन्धित माला देखकर उससे मांगी। विद्याधरी ने प्रणाम कर वह माला उन्हें समर्पित कर दी। दुर्वासा उसे सिर पर रखकर विचरने लगे। एक दिन उन्हें ऐरावत पर चढे इन्द्र दिखायी पड़े। दुर्वासा ने वह माला अपने सिरसे उतारकर इन्द्र के ऊपर फेक दी। इन्द्र

---

१. हरिवंशपुराण—हरिवंश पर्व—१०।२६

२. भवन्सुद्युम्नः स्त्री नरपतिरभूद्यस्यजननी।
तमुर्वश्याः प्राणानपि विजयमानस्तनुरुचा॥ नै० १५।८३

३- विष्णुपुराण—अंश १ अध्याय ९

न उसे ऐरावत के सिरपर रख दिया। माला की सुगध से मस्त हो ऐरावत ने उसे अपनी सूड से पृथ्वी पर डाल दिया। दुर्वासा यह देख कर अत्यन्त क्रुद्ध हो गए। उन्होंने उसी समय इन्द्र को उनकी त्रैलोक्य-श्री के नष्ट हो जाने का शाप दे दिया।

श्रीहर्ष ने इस विषय का उल्लेख यों किया है—"दमयन्ती के पिता भीम ने नल को दहेज मे जो यह सदा ऐरावत की सी वर्षा करने वाला हाथी भेट किया क्या वही इन्द्र का हाथी तो नहीं जो दुर्वासा वाली माला फेकने के कारण उनके शाप-वश मर्त्यलोक में आ गिरा है।"[1]

शङ्कर का शक्ति को अस्त्र बनाना तथा त्रिपुर-दाह[2]

मय दानव ने ब्रह्मा के वरदान से लोहे, चादी तथा सोने के तीन पुर सौ-सौ योजन के बनाए जिनमे तारक, विन्द्युमाली तथा स्वय मय रहते थे, और जिन्हे शङ्कर के सिवा कोई किसी प्रकार की हानि नही पहुचा सकता था। शङ्कर भी उन्हे तभी केवल एक बाण से जला सकते थे जब पुष्य नक्षत्र में ये तीनों पुर मिलते। वहा रहने वाले दैत्य जब तक पुरी के भीतर रहते तब तक अवध्य थे। त्रिपुर-निवासी असुरों का वध करने के लिए देवताओं द्वारा प्रार्थना करने पर शिव ने पृथ्वी का दिव्य-रथ बनाया, सवत्सर का धनुष बनाया तथा कभी वृद्धा न होने वाली अम्बिका (शक्ति) को प्रत्यञ्चा बनाया। भगवान् रुद्र स्वय काल-स्वरूप है। काल ही का नाम संवत्सर है। इसी कारण भगवती काल-रात्रि रूप से उस महान् धनुष की चिर-नवीन प्रत्यञ्चा बनी। विष्णु, चन्द्रमा एवं अग्नि बाण बने, ब्रह्मा सारथी बने। इस प्रकार दिव्य रथ पर आरूढ़ होकर शिव ने उन दिव्य अस्त्रों से त्रिपुर को भस्म करने के लिए प्रस्थान किया।

नैषध में त्रिपुर-दाह का उल्लेख करती हुई विरह-व्यथित दमयन्ती मदन को फटकारती है—"शङ्कर की बाणाग्नि ने जिस प्रकार त्रिपुर को भस्म कर दिया था कहीं उसी प्रकार तुम्हारी बाणाग्नि भी त्रैलोक्य को दग्ध न कर दे, इसी कारण विधाता ने तुम्हारे बाणों को भीतर ही भीतर मकरन्द से सिक्त कर दिया है।"[3]

---

१. विराध्य दुर्वाससमस्खलद्दिवः स्रजं त्यजन्नस्य किमिन्द्रसिन्धुरः।
अदत्त तस्मै स मदच्छलात्सदा यमभ्रमातङ्गतयैव वर्षुकम्॥ नै० १६।३१

२. मत्स्यपुराण—अध्याय १२९-१४०

३. स्मरारियोरिव रोपशिखी पुरां दहतु ते जगतामपि मा त्रयम्।
इति विधिस्त्वदिषून्कुसुमानि किं मधुभिरन्तरसिञ्चदनिर्वृतः॥ नै० ४।८७

तथा एक और स्थल में श्रीहर्ष स्त्रियों को अपना शस्त्र बनाने वाले कामदेव को शिव से स्पर्धा करने वाला बताते हुए कहते हे—"वही काम जो स्त्रियों को अस्त्र बनाकर शङ्कर से वैर मानता हुआ-सा, उनकी रचना इस अखिल विश्व को व्याकुल कर रहा है।"[१]

अर्जुन की सहायता मे शिव-द्वारा कुरु-सेना का विनाश[२]

द्रोणाचार्य के वध के बाद व्यास घूमते हुए पाण्डव-शिविर में अर्जुन के पास पहुचे। अर्जुन ने अपनी इस रण-विजय के विषय में एक आश्चर्य भरी बात सुनायी। अर्जुन युद्ध-क्षेत्र में जिन शत्रुओं पर अस्त्र-प्रहार करते, उन्हे अपने आगे पावक के समान तेजस्वी एक व्यक्ति दीप्तिमान् शूल लिए पहले ही उन शत्रुओं को विदीर्ण करता हुआ दिखायी पड़ता। इस प्रकार शत्रु पहले ही से मरे रहते। अर्जुन के बाण नाममात्र को उनके मारक बनते[३]। हाथ मे शूल लिए वह सूर्य के समान तेजस्वी था। उसके पैर न भूमि का स्पर्श करते थे, और न वह अपने शूल को हाथ से पृथक् करता था। उसके तेज से उस शूल से ही सहस्त्रों शूल निकल रहे थे।[४] अर्जुन की जिज्ञासा पर व्यास ने भगवान् शिव की महिमा बताते हुए उनसे कहा कि "पार्थ, जिन्हें तुमने अपने आगे शत्रुओं का वध करते देखा है वे भगवान् शङ्कर हैं। जिस समय तुमने जयद्रथ के वध की प्रतिज्ञा की थी उस समय कृष्ण ने स्वप्न में तुम्हें कैलाश-शिखर पर इनका दर्शन कराया था। ये वही भगवान्

---

१. ईश्वरस्य जगत्कृत्स्नं सृष्टिमाकुलयन्निमाम्।
अस्ति योऽस्त्रीकृतस्त्रीकस्तस्य वैरं स्मरन्निव॥ नै० १।१७

२. महाभारत—द्रोणपर्व, अध्याय २०२

३. संग्रामेन्यहनंशत्रूञ्छरोघैर्विमलैरहम्। अग्रतो लक्षये यान्तं पुरुषं पावकप्रभम्॥
ज्वलन्तशूलमुद्यम्य यां दिशं प्रतिपद्यते।
तस्यां दिशि विदीर्यन्ते शत्रवो मे महामुने॥
तेन भग्नानरीन् सर्वान् मद्भग्नान्मन्यते जनः।
तेन भग्नानि सैन्यानि पृष्ठतोऽनुव्रजाम्यहम्॥ म०, द्रोणपर्व २०२।४–६

४. तेजसा सूर्यसन्निभः।
न पद्भ्यां स्पृशते भूमिं न च शूलं विमुञ्चति।
शूलाच्छूलसहस्त्राणि निष्पेतुस्तस्य तेजसा॥ वही—२०२।७-८

शङ्कर तुम्हारे आगे आगे चलते हैं, जिन्होंने तुम्हे वे अस्त्र दिए, जिनसे तुमने दानवों का वध किया।"[१]

नैषध मे मोह का परिचय देते हुए श्रीहर्ष महाभारत के उक्त आख्यान का स्मरण करते हैं—"महाभारत के युद्ध में जिस प्रकार क्रुद्ध भगवान् शङ्कर द्वारा हत कौरव-सैन्य को जीतते हुए अर्जुन न लजाए, उसी प्रकार अज्ञानरूप तमोगुण का सेवन करने वाले जिस मोह द्वारा मारे हुए संसार को विजित करता हुआ कामदेव न लजाया।"[२]

गुरु-पत्नी तारा में चन्द्रमा की आसक्ति[३]

ब्रह्मा ने चन्द्रमा को ओषधियों, ब्राह्मणों तथा नक्षत्रों का राजा बनाया। चन्द्रमा ने राजसूय यज्ञ भी किया। इन सबसे उसे बडा अहकार हो गया। अहकार इतना बढ़ा कि उसने गुरु बृहस्पति की सुन्दरी पत्नी तारा का बलात् हरण कर लिया। बृहस्पति ने ब्रह्मा से कहा। सप्तर्षियों ने भी समझाया, पर चन्द्रमा ने किसी की न सुनी। इस पर तारकामय नामक संग्राम हुआ जिसमें शुक्र (बृहस्पति से ईर्ष्या के कारण) तथा उनके साथी अन्य दैत्य चन्द्रमा के सहायक हुए और इन्द्र आदि देवता बृहस्पति के पक्ष मे लडे। अन्त मे ब्रह्मा ने दोनों पक्षों को समझाकर युद्ध शान्त किया और तारा बृहस्पति को दिलवाई। उसी बीच तारा को चन्द्रमा का गर्भ रह गया था, जिससे बुध का जन्म हुआ।[४]

उक्त आख्यान का उपयोग नैषध के कतिपय स्थलों में इस प्रकार से किया गया है:—

१—चार्वाक देवों से गुरु-तल्प-गमन के विषय में पूर्वोक्त पौराणिक आख्यान

---

१. एष देवो महादेवो योसौ पार्थ तवाग्रतः।
संग्रामे शस्त्रवान् निघ्नंस्त्वया दृष्टः पिनाकधृक्॥
सिन्धुराजवधार्थाय प्रतिज्ञाते त्वयानघ।
कृष्णेन दर्शितः स्वप्ने यस्तु शैलेन्द्रमूर्द्धनि॥
एषवै भगवान् देवः संग्रामे भाति तेऽग्रतः।
येन दत्तानि तेऽस्त्राणि यैस्त्वया दानवा हताः॥ वही—२०२।४५-४७

२. कुरुसैन्यं हरेणेव प्रागलज्जत नार्जुनः।
हतं येन जयन्कामस्तमोगुणजुषा जगत्॥ नै० १७।३४

३. विष्णुपुराण—अंश ४, अध्याय ६

४. मत्स्यपुराण अ० २३, भविष्यपुराण अध्याय ८८ तथा भागवत ९।१४ में भी यह कथा थोड़े हेरफेर के साथ प्रायः इसी प्रकार कही गयी है।

का स्मरण दिलाता है—"अरे द्विजों, गुरु स्त्री-गमन में पाप की कोई संभावना ही न करो। और की कौन कहे, आप लोगों के स्वामी द्विजराज चन्द्रदेव ने स्वयं गुरु वृहस्पति की पत्नी तारा में अनुराग किया था।"[1]

२—नल के विलास-भवन मे भी उसी कथानकको लेकर नाटिका खेली जा रही थी।[2]

३—फिर पत्नी से चन्द्रवर्णन करते हुये नल उस वृत्त का स्मरण करते हैं—

"प्रिये, देखो गुरु-पत्नी-गमन करने पर भी यह चन्द्रमा पतित न हुआ, क्यों? बात यह है कि जो जीवन-मुक्त आत्मप्रकाश रूप हैं, वे बुरे-भले कार्यो के प्रकृति-बन्धन से परे रहते हैं।"[3]

वेदव्यास द्वारा भ्रातृ-पत्नियों में पुत्रोत्पत्ति[4]

विचित्रवीर्य के राजयक्ष्मा-वश अकाल में ही अनपत्य मर जाने पर दुखी माता सत्यवती ने भीष्म की सलाह से अपने पुत्र वेदव्यास का आह्वान किया। व्यास के आने पर उनसे वंश की रक्षा के लिये विचित्रवीर्य की पत्नियों में सन्तान उत्पन्न करने के लिये सत्यवती ने अनुनय किया। व्यास ने माता की आज्ञा का पालन किया, किन्तु माता से बता दिया कि एक (अम्बिका) का पुत्र अन्धा तथा दूसरी (अम्बालिका) का रोगी होगा। अतः सत्यवती ने एक और पुत्र चाहा जो सब प्रकार से स्वस्थ हो, और उसके लिए बड़ी वधू (अम्बिका) को नियुक्त किया।[5] किन्तु व्यास के पूर्वानुभूत भयानक रूप, गन्ध आदि को सोचकर अम्बिका ने स्वयं न जाकर अपने स्थान पर वस्त्रालंकार से विभूषित करके अपनी दासी को भेज दिया,[6] जिससे विदुर का जन्म हुआ।

---

१. गुरुतल्पगतौ पापकल्पनां त्यजत द्विजाः।
येषां वः पत्युरत्युच्चैर्गुरुदारग्रहे ग्रहः॥ नै० १७।४४

२. गौरभानुगुहगेहिनीस्मरोद्वृत्तभावमितिवृत्तमाश्रिताः।
रेजिरे यदजिरेऽभिनीतिभिर्नाटिका भरतभारतीसुधा॥ नै० १८।२३

३. नास्य द्विजेन्द्रस्य बभूव पश्य दारान्गुरोर्यातवतोऽपि पातः।
प्रवृत्तयोप्यात्ममयप्रकाशान्नह्यन्ति नहह्यन्तिमदेहमाप्तान्॥ नै० २२।११८

४. महाभारत—आदिपर्व अध्याय १०५, १०६

५. ऋतुकाले ततो ज्येष्ठो वधूं तस्मै न्ययोजयत्॥ वही—१०६।२२

६. ततः स्वैर्भूषणैर्दासीं भूषयित्वाप्सरोपमाम्।
प्रेषयामास कृष्णाय ततः काशिपतेः सुता॥ वही—१०६–२४

नैषध में चार्वाक महाभारत के इसी प्रसङ्ग का उद्घाटन करता है —"मान लिया कि व्यास ने अपनी माता की आज्ञा से ही मृत भाई विचित्रवीर्य की पत्नी से सम्भोग किया—कामवश नहीं। पर उस समय जो दासी (विदुर-माता) से सम्भोग करने लगे, क्या माता ने उसके लिए भी आज्ञा दी थी?"[1]

ब्रह्मा का अपनी कन्या के साथ दुर्वृत्त[2]

ब्रह्मा ने लोक की रचना करने की इच्छा से अपने हृदय मे सावित्री का ध्यान करके तपस्या करनी प्रारम्भ की। जप करते समय उनके निष्पाप शरीर के दो भाग हो गए। इनमें एक का स्त्रीरूप तथा दूसरे अर्द्धभाग का पुरुषरूप हो गया। उस स्त्री का नाम शतरूपा पडा जो सावित्री, सरस्वती, गायत्री और ब्रह्माणी के नाम से विख्यात है। इस प्रकार अपने शरीर से उत्पन्न होने वाली सावित्री को ब्रह्मा ने अपनी कन्या के रूप मे स्वीकार किया। किन्तु सावित्री के अतिशय मनोहारि रूप को देखकर काम-बाण से व्यथित होकर वे कहने लगे—"अहा, कितना मनोहर रूप है! कितनी अपूर्व सुन्दरता है!" वसिष्ठ आदि ऋषियों के मना करने पर भी उनको बोध न हुआ। सावित्री ने उन्हे विनम्र भाव से प्रणाम किया और अपने रूप के प्रति मुग्ध पिता की प्रदक्षिणा की। ब्रह्मा लज्जित हो गए, सावित्री के प्रदक्षिणा करते समय उनके शेष तीन ओर तीन मुह और हो गए तथा जब सावित्री ऊपर जाने लगी तो एक पाँचवाँ मस्तक ऊपर की ओर भी हो गया जो जटाओं से ढका था। अपने पुत्रों को सृष्टि-रचना में लगाकर ब्रह्मा ने उस परमसुन्दरी शतरूपा का पाणिग्रहण किया और सामान्य कामातुर मनुष्यों की भाति लज्जा से अवनत-मुखी शतरूपा के साथ विशेष कामातुर होकर समुद्र मे देवताओं के सौ वर्ष तक विहार करते रहे।

कलि ब्रह्मा के इसी दुर्वृत्त का उपहास करता हुआ देवों से कहता है—"ब्रह्मा चाहे जिस (पुत्री-आदि) के साथ क्रीडाविलास करे इत्यादि।"[3]

---

१. न भ्रातुः किल देव्यां स व्यासः कामात्समासजत्।
दासीरतस्तदासीद्यन्मात्रा तत्राप्यदेशि किम्॥ नै० १७।६६

२. मत्स्यपुराण—अध्याय ३ श्लोक ३०–४७

यह कथा वैदिक साहित्य तक में वर्णित है। इसका सविस्तार वर्णन शतपथ ब्राह्मण १।७।४ में हुआ है। ब्रह्मपुराण, अध्याय १०२ में भी इसका वर्णन है।

३. कयापि क्रीडतु ब्रह्मा॥ नै० १७।१२२

नल के विलास भवन में भी चित्रभित्ति पर ब्रह्मा का यह दु:साहस चित्रित मिलता है।[1]

व्यासोत्पत्ति[2]

एक बार पाराशर मुनि यमुना पार कर रहे थे। उनकी नौका वहा के दाश (धीवर) राजा की युवती कन्या चला रही थी। ऋषि कन्या को देखकर मोहित हो उठे। नाव पर ही योग से अन्धकार कर उसे अपने तेज से वश में कर लिया।[3] उसके शरीर को मत्स्य-गन्ध रहित कर सुगन्ध-युक्त कर दिया।[4] उनके सयोग से कृष्ण-द्वैपायन की उत्पत्ति हुई जो महर्षि व्यास हुए। मुनि ने धीवर-कन्या का कन्यात्व भी अक्षुण्ण रक्खा।[5] इन्हीं व्यास के पुत्र महायोगी शुकदेव मुनि हुए।

नल के आनन्द-भवन का शुकपक्षी पूर्वोक्त आख्यान गाया करता है कि किस प्रकार यमुना पर धीवर कन्या के साथ शुकदेव मुनि के पितामह महर्षि पाराशर दिन में ही भोग करने लगे, क्योंकि कामवेग मे प्राणी स्थान-पात्र-काल सब कुछ भूल जाता है।[6]

इन्द्र का ब्राह्मण-रूप में कर्ण से कवच-कुण्डल माँगना[7]

अर्जुन का हित साधने की भावना से देवराज इन्द्र ब्राह्मण-वेश मे कर्ण के पास आए। कर्ण मध्याह्न-वेला में जल में सूर्य की उपासना किया करता था। उस समय उसे ब्राह्मणों के लिए कोई वस्तु अदेय नहीं रहती थी। अतः इन्द्र ने उसी वेला में

---

१. भित्तिचित्रलिखिताखिलक्रमा यत्र तस्थुरितिहाससंकथाः।
पद्मनन्दनसुतारिरंसुतामन्दसाहसहसन्मनोभुवः॥ नै० १८।२०

२. महाभारत—आदिपर्व अध्याय १०५

३. अभिभूय स मां बालां तेजसा वशमानयत्।
तमसा लोकमावृत्य नौगतामेव भारत॥ वही—१०५।११

४. मत्स्यगन्धो महानासीत्पुरा मम जुगुप्सितः।
तमपास्य शुभं गन्धमिमं प्रदात्स मे मुनिः॥ वही—१०५।१२

५. ततो मामाह स मुनिर्गर्भमुत्सृज्य मामकम्।
द्वीपेऽस्या एव सरितः कन्येव त्वं भविष्यसि॥ म० भा० आदिपर्व १०५।१३

६. अह्नि भानुभुवि दाशदारिकां यच्चरः परिचरन्तमुज्जगौ।
कालदेशविषयासहात्स्मरादुत्सुकं शुकपितामहं शुकः॥ नै० १८।२५

७. महाभारत—वनपर्व, अध्याय ३०९–३१०

उपस्थित होकर कर्ण से उसके जन्म के साथ उत्पन्न होने वाले कवच तथा कुण्डलों को मागा। यद्यपि उसके पिता सूर्य ने इन्द्र की इस कपट-चर्या के विषय में कर्ण को सचेत कर दिया था किन्तु यशस्काम कर्ण ने उन्हे देना अस्वीकृत न किया। प्रसन्नता से कवच-कुण्डलों को अपने हाथ से काट कर दे दिया। किन्तु उससे उसका तेज कम न हुआ।[1] बदले में केवल उनकी शक्ति माग ली। इन्द्र ने शक्ति देकर यह कहा कि इसे तुम एक ही शत्रु पर चला सकते हो और उसे मार कर फिर यह मेरे पास चली आएगी।[2] महाभारत के युद्ध में जब तक वह शक्ति कर्ण के हाथ में रही तब तक कृष्ण अर्जुन को उससे बचाते रहे और कर्ण के सम्मुख अर्जुन का रथ न जाने दिया।[3] कृष्ण को कर्ण का वह अभिप्राय ज्ञात था कि वह शक्ति केवल अर्जुन पर चलाना चाहता है। अतः अन्त में घटोत्कच राक्षस को भेजकर उसी के ऊपर शक्ति चलाने के लिए कर्ण को विवश कर दिया।[4] बाद में सात्यकि के पूछने पर कि 'कर्ण उस शक्ति को अर्जुन पर क्यों न चला पाया' कृष्ण ने स्वय उत्तर दिया कि "मैं ही राधेय की बुद्धि को मोह लेता था, जिससे वह अर्जुन पर शक्ति नहीं चला पाता था।"[5]

नैषध में प्रभात-वर्णन करते हुए बन्दी-गण इन्द्र के कर्ण से कुण्डल मागने का उल्लेख करते हैं—"देवेन्द्र ने ब्राह्मण-रूप में याचना कर वीर कर्ण से दो कुण्डल लिए थे। उन कुण्डलों को उन्होंने सहर्ष अपनी प्रिया प्राची को दे दिया। उनमे से एक तो सन्ध्या समय उदीयमान चन्द्र के रूप में दिखायी पडा था और दूसरा अपनी नूतन कान्ति छिटकाता हुआ वह उदीयमान सूर्य के रूप में अब दिखायी पड़ता

---

१. न ते बीभत्सता कर्ण भविष्यति कथञ्चन।
क्षणश्चैव न गात्रेषु यस्त्वं नानृतमिच्छसि॥ वही–३१०।३१

२. सेयं तव करप्राप्ता हत्वैकं रिपुमूर्जितम्।
गर्जन्तं प्रतपन्तं च मामेवैष्यति सूतज॥ वही–३१०।२५

३. अर्जुनं चापि राधेयात् सदारक्षति केशवः।
न तेन मैच्छत्प्रमुखे सौतेः स्थापयितुं रणे॥ महाभारत, द्रोणपर्व १८२।२९

४. एतच्चिकीर्षितं ज्ञात्वा कर्णस्य मधुसूदनः।
नियोजयामास तदा द्वैरथे राक्षसेश्वरम्॥
घटोत्कचं महावीर्यं महाबुद्धिर्जनार्दनः।
अमोघाया विघातार्थं राजन् कुर्मन्त्रिते तव॥ म० भा०, द्रो० प० १८२।११–१२

५. अहमेव तु राधेयं मोहयामि युधांवर।
ततो नावासृजत्छक्ति पाण्डवे श्वेतवाहने॥ म० भा०, द्रो० १८२।४०

है।[१] कृष्ण-रूप विष्णुकी स्तुति करते हुए नल कर्ण-शक्ति के निष्फल होने वाले आख्यान का स्मरण करते हुए कहते हैं—"प्रिय लक्ष्मण के हृदय में लगी शक्ति को जिस महावीर ने संजीवनी ओषधि लाकर दूर किया था उसी महावीर को अर्जुन की रथपताका पर बैठाकर आपने कर्ण की शक्ति को भी निष्फल करने का उचित विधान किया। देव आपको अनेक नमः।"[२]

सूर्यभक्त साम्ब[३]

कृष्ण का जाम्बवती से उत्पन्न पुत्र साम्ब अत्यन्त सुन्दर था। अपने रूप के दर्प से उसने दुर्वासा का अपमान किया। उन्होंने उसे श्वेतकुष्ठ होने का शाप दे दिया। उसी समय उसके दुर्व्यवहार से खिन्न देवर्षि नारद के षड्यन्त्र से उसके पिता कृष्ण ने भी साम्ब को श्वेतकुष्ठ का शाप दिया। अत्यन्त दुःखी साम्ब पिता से अपनी निरपराधता बताता हुआ उस दारुणरोग से मुक्ति पाने का उपाय पूछने लगा। कृष्ण ने उसे सूर्य भगवान् की आराधना बतायी। साम्ब ने नारद मुनि की बतायी विधि से चन्द्रभागा के तट पर सूर्य की कठोर उपासना की, जिससे भगवान् सूर्य-देव प्रसन्न हुए और उसे नीरोग कर अक्षय कीर्ति का तथा नित्य स्वप्न में दर्शन देने का वरदान दिया।

श्रीहर्ष सूर्य की उपासना में लीन नल की उपमा साम्ब से देते हुए उसी पौराणिक कथानक का उल्लेख करते हैं —"नल की श्रद्धा को देखकर सूर्यदेव ने उन्हें कृष्णपुत्र साम्ब ही समझ लिया।"[४]

द्वादश केशव-मूर्तियाँ[५]

जैमिनी मुनि ने ब्राह्मणों को विष्णु की बारह मूर्तियों का पूजन करना बताया

---

१. सुरपरिवृढः कर्णात्प्रत्यग्रहीत्किल कुण्डलद्वयमथखलुप्राच्यैप्रादामुदा सहि तत्पतिः।
विधुरुदयभागेकं तत्र व्यलोकि विलोक्यते नवतरकरस्वर्णस्त्रावि द्वितीयमहर्मणिः॥
नै० १९।४३

२. कर्णशक्तिमफलां खलु क तुंसज्जितार्जुनरथाय नमस्ते।
केतनेन कपिनोरसिशक्ति लक्ष्मणं कृतवता हृतशल्यम्॥ नै० २१।८०

३. भविष्यपुराण—अध्याय ४३। ६८।६९।७१ तथा १२१

४. सम्यगर्चति नलेऽर्कमतूर्णं भक्तिगन्धिरमुनाकलि कर्णः।
श्रद्दधानहृदयप्रति चातः साम्बमम्बरमणिर्निरचैषीत्॥ नै० २१।३२

५. स्कन्दपुराण, उत्कलखंड अध्याय ४३ काशी खण्ड अध्याय ६१ में भी केशव की द्वादश मूर्तियों का वर्णन है।

है उनमें से एक-एक मूर्ति की एक-एक मास मे प्रतिदिन पूजा करते हुए बारह महीनों मे वारह मूर्तियों की पूजा सम्पन्न होती है। पूजन मे क्रमशः बारह पुष्पों तथा बारह फलों का उपयोग किया जाता है। अशोक, मल्लिका, पाटल, कदम्ब, कनेर, चमेली, मालती, शतदल-कमल, नीलकमल, बासन्ती, कुन्द और पुन्नाग इन बारह पुष्पों तथा अनार, नारियल, आम, कटहल, खजूर, ताल, प्राचीन ऑवला, श्रीफल, नारगी, सुपारी, करौदा और जायफल इन बारह फलों का क्रमशः एक एक का एक एक माह मे प्रयोग करना चाहिये। भक्ष्य, भोजन, चोष्य, लेह्य, और अन्य मधुर व्यञ्जन तथा आसन समर्पित करने चाहिये। मूर्तिया स्वर्णमयो होनी चाहिये और श्वेतवस्त्र से ढके कलसो पर स्थापित होनी चाहिये। द्वादशाक्षर मन्त्र से मूर्तियों की पूजा करनी चाहिए। महाभारत मे भी भीष्मने युधिष्ठिर को वर्ष के बारहों महीनों मे प्रतिमास एक एक के अनुसार विष्णु की बारह मूर्तियों की पूजा तथा व्रत का उपदेश दिया है। उनका क्रम इस प्रकार है—अगहन मे केशव, पौष मे नारायण, माघ मे माधव, फागुन मे गोविन्द, चैत मे विष्णु, वैसाख में मधुसूदन, जेप्ठ मे त्रिविक्रम, असाढ मे वामन, श्रावण मे श्रीधर, भाद्रपद मे हृषीकेश, आश्विन मे पद्मनाभ तथा कार्तिक में दामोदर। पूजा की तिथि द्वादशी बतायी है।

अग्निपुराण मे[२] विष्णु की चौबीस मूर्तियो का भी उल्लेख हुआ है। उनके चिह्न विभिन्न बताए गए है। वहाँ द्वादशाक्षर मन्त्र से चौबीस मूर्तियों के स्तोत्र का विधान है।[३]

अहिर्बुध्न्यसहिता[४] मे केवल बारह मूर्तियों का ही उल्लेख है।

परम-भागवत श्रीहर्ष नल की पूजा मे विष्णु की पुराणोक्त द्वादश मूर्तियों का उल्लेख करते हैं—"शिव की पूजा के पश्चात् राजा ने पुरुष-सूक्त के अनुसार पुरुषोत्तम भगवान् की बारहों मूर्तियों की 'ओं नमो[१] भगवते वासुदेवाय' इस द्वादशाक्षर मन्त्र का उच्चारण करते हुए वन्दना की।"[५] चाण्डू पण्डित ने इस श्लोक की टीका में विष्णु की बारह मूर्तियों का नामोल्लेख करते हुए शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म को बारहों

---

१. महाभारत—अनुशासन पर्व अध्याय १०९
२. अग्निपुराण—अध्याय ४८
३. द्वादशाक्षरकं स्तोत्रं चतुर्विंशतिमूर्तिमत्।
   य पठेच्छृणुयाद्वापिनिर्मलः सर्वमाप्नुयात् ॥ अग्नि पु० ४८।१५
४. अहिर्बुध्न संहिता—अध्याय २६
५. उत्तमं स महति स्म महीभृत्पूरुषं पुरुषसूक्तविधानैः।
   द्वादशापि च स केशवमूर्तीर्द्वादशाक्षरमुदीर्य ववन्दे॥ नै० २१।४१

की चार भुजाओं में विभिन्न क्रम से रक्खी हुई बताया है। उन्होंने यहां भी बारह मूर्तियों को विष्णु के प्रधान दस अवतार तथा लक्ष्मण और बलराम का भी उल्लेख किया है।[1]

द्वादशाक्षर मन्त्र पुराणों में बड़ा प्रसिद्ध है। भागवतपुराण में नारद ने ध्रुव को भगवदाराधन की विधि बताते हुए उसी मन्त्र का उपदेश दिया था।[2]

---

१. समहीभृत्—उत्तमं पुरुषं श्रीकृष्णं पुरुषसूक्तविधानैः सहस्रशीर्षा इत्यादि षोडशार्चनेन आह्वानासनवस्त्रोपवीतपादार्घ्याचमनगन्ध पुष्पधूपदीपनैवेद्य प्रणामप्रदक्षिणविसर्जनैः षोडशोपचारैः तथा षडर्चनेन तेनैव निजशरीरे श्रीकृष्ण शरीरे चाङ्गन्यासकरन्यासैश्च महति स्म पूजयति स्म। तथा द्वादशापिकेशव मूर्तीः द्वादशाक्षरमन्त्रम् 'ओं नमो भगवते वासुदेवाय' इति मन्त्रमुदीर्य ववन्दे ननाम। केशवनारायणमाधवगोविन्दविष्णुमधुसूदनत्रिविक्रमवामनश्रीधर-हृशीकेशपद्मनाभदामोदरसंज्ञाः। उपरितनदक्षिणभुजाप्रभृतिप्रादक्षिण्येनभुज-चतुष्टये यथासंख्यं शंखचक्रगदापद्मानिकेशवमूर्तौ। अधस्तनदक्षिण-भुजादारभ्यशंखचक्रगदापद्मैः नारायणः। उपरितनवामभुजादारभ्यशंख-पद्मगदाचक्रैर्माधवः। अधस्तनवामभुजादारभ्य शंखचक्रगदापद्मैर्गोविंदः। उपरितनवामभुजादारभ्य शंखचक्रगदापद्मैर्विष्णुः। उपरितनदक्षिणभुजाच्च शंखपद्मगदाचक्रैर्मधुसूदनः। अधस्तनवामहस्तात् शंखपद्मगदाचक्रैः त्रिविक्रमः। अधस्तनदक्षिणभुजात् शंखचक्रगदापद्मैर्वामनः। अधस्तनवामभुजात् शंखपद्मचक्रगदाभिः श्रीधरः अधस्तनवामभुजात् शंखगदाचक्रपद्मैः हृषीकेशः। अधस्तात् दक्षिणभुजात् शंखपद्मचक्रगदाभिः पद्मनाभः। उपरिदक्षिण-भुजात्शंखगदाचक्रपद्मैः दामोदरः। मार्गमासप्रवृति द्वादशमासेषु केशवादि मूर्तयः पूज्याः। अथवा दशावताराः बलभद्रलक्ष्मणौ च इत्थं द्वादश। —(चाण्डूपण्डित रचित नैषधदीपिका)।

२. जप्यश्च परमो गुह्यः श्रूयतां मे नृपात्मज।
यं सप्तरात्रं प्रपठन् पुमान् पश्यति खेचरान्॥
"ओम् नमो भगवते वासुदेवाय"—
मन्त्रेणानेन देवस्य कुर्यात् द्रव्यमयीं बुधः।
सपर्यां सविधैर्द्रव्यैर्देशकालविभागवित्॥ मा॰ पु॰ ४।८।५३-५४

कश्यप ने अदिति को पयोव्रत का विधान बतलाते हुए इसी मन्त्र का उपदेश दिया है तथा इसे द्वादशाक्षर विद्या कहा है।[1]

विष्णुपुराण में भी पाराशर ने मैत्रेय से द्वादशाक्षर मन्त्र का जप करने वालों को विष्णु-पद की प्राप्ति बतायी है। चाण्डू पण्डित ने उसी को ध्यान मे रखकर—सहस्रशीर्षा आदि पुरुष सूक्त का प्रत्येक मन्त्र पढते हुए विष्णु की आह्वान आदि षोडशोपचार पूजा-इत्यादि लिखा है।

पद्मपुराण मे पुरुष सूक्त के साथ विष्णु पूजा का विधान है।[2]

परशुराम द्वारा इक्कीस बार क्षत्रिय-वध[3]

माहिष्मती के राजा कार्तवीर्य ने एक बार नर्मदा मे जल-क्रीड़ा करते समय अपनी सहस्र भुजाओं से नर्मदा का प्रवाह ही रोक लिया। धारा के उलटे ऊपर की ओर बढने से रावण का वहा लगा हुआ शिविर ही बह चला। क्रुद्ध हो दशानन उसके ऊपर चढ दौड़ा। किन्तु स्त्रियों के सम्मुख ही कार्तवीर्य ने उसे बन्दी बना लिया। फिर जैसे कोई बानर बाध कर छोड दे वैसे ही छोड़ दिया।[4] वही कार्तवीर्य एक बार मृगया-प्रसंग में जमदग्नि ऋषि के आश्रम में आया। जमदग्नि ने उसका राजोचित सत्कार किया। ऋषि की योग-विभूति उसके राजैश्वर्य से बढकर थी। उसने ऋषि की होम-धेनु का बलात् अपहरण कर लिया। परशुराम ने आश्रम मे आकर यह सब अत्याचार सुना। उन्होंने क्रोधवश तुरन्त कार्तवीर्य की राजधानी मे पहुचकर परशु से उसके सहस्रों बाहुओं और सिर को काट डाला।[5] कुछ समय के पश्चात् कार्तवीर्य के पुत्र-गण पितृ-वध का प्रतिशोध लेने जमदग्नि के आश्रम मे आए। और उन्होंने ऋषि को अकेला पाकर उनका वध कर डाला। परशुराम को इससे

---

१. वस्त्रोपवीताभरणपाद्योपस्पर्शनैस्ततः।
गन्धधूपादिभिश्चार्चेद् द्वादशाक्षरविद्यया। भागवत पु० ८।१६।३९

२. प्रत्यृचं पुरुषसूक्तेन मूलमन्त्रेण वैष्णवः।
मन्त्रद्वयेन कुर्वीत षोडशैरुपचारकैः।।
भूयः प्रत्युपचारेषु दद्यात् पुष्पांजलिंततः।। पद्मपुराण, उत्तरखण्ड २५८ ५८–५९

३. महाभारत—वनपर्व अध्याय ११६, ११७; भागवत ९।१५,१६

४. गृहीतो लीलया स्त्रीणां समक्षं कृतकिल्बिषः।
माहिष्मत्यां संनिरुद्धो मुक्तो येन कपिर्यथा।। भाग० ९।१५।२२

५. कृत्तबाहोः शिरस्तस्य गिरेः शृङ्गमिवाहरत्।। भाग० ९।१५।३६

अपार क्रोध हुआ। पिता की अन्त्येष्टिक्रिया से मुक्त होकर उन्होंने इक्कीस बार पृथ्वी के क्षत्रियों का खोज खोज कर वध किया, तथा उनके रुधिर से समन्तपञ्चक मे पाच रुधिरकुण्ड बनाए,[1] जिनमे अपने पितरों का तर्पण किया और यज्ञ करके ब्राह्मणों को सारी पृथ्वी का दान कर दिया। पूर्व दिशा होता को, दक्षिण ब्रह्मा को, पश्चिम अध्वर्यु को, उत्तर उद्गाता को, मध्य कश्यप को, आर्यावर्त उपद्रष्टा को तथा शेष दूसरे यज्ञ के सदस्यों को दिया।[2]

विष्णु के परशुराम-अवतार की प्रार्थना करते हुए नल पूर्वोक्त पौराणिक घटनाओं का स्मरण करते हैं। क्षत्रिय-वध का उल्लेख करते हुए कहते हैं—"प्रभो, सृष्टि करते समय आपने अपनी भुजाओं से जिस क्षत्रिय जाति को उत्पन्न किया, फिर परशुराम का रूप धारणकर अपनी उन्ही भुजाओं से उस जाति को लीन भी कर लिया। आप की उन वीर भुजाओं को यह उचित ही था, क्योंकि कारण मे ही कार्य का लय होता है।[3] आगे ब्राह्मणों को पृथ्वी देने का समर्थन करते है—पासुला (धूलिपूर्ण, पुञ्श्चली), मनु से लेकर असख्य पतियों द्वारा भुक्त तथा ब्रह्मा ने जिसे नव खण्डों में विभक्त कर दिया है ऐसी पृथ्वी को ब्राह्मणसात् करके आपने उचित ही किया।[4]

अन्त मे कार्तवीर्य द्वारा रावण-पराजय तथा कार्तवीर्य के वध का स्मरण करते हुए कहते हैं—"रेणुकानन्दन, जब आप ने सहस्रार्जुन को सुख से विनष्ट कर दिया तो रावण को नष्ट करने मे क्या कष्ट हो सकता था क्योंकि रावण तो सहस्रार्जुन से भी पराजित हुआ था। फिर रावण वध के लिये आपको उसी समय एक दूसरा अवतार क्यों लेना पड़ा? इसका समाधान मैं नहीं कर सकता हूँ। अतः उन दोनों राम रूप आपको मेरा प्रणाम।[5]

---

१. त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः।
समन्तपंचके पंच चकार रुधिरह्रदान्॥ महाभारत, वनपर्व ११७।९

२. ददौ प्राचीं दिशं होत्रे ब्रह्मणे दक्षिणां दिशम्।
अध्वर्यवे प्रतीचीं वै उद्गात्रे उत्तरां दिशम्।
अन्येभ्यो वान्तरदिशः कश्यपाय च मध्यतः।
आर्यावर्तमुपद्रष्ट्रे सदस्येभ्यस्ततः परम्॥ भागवत ९।१६।२१–२२

३. क्षत्रजातिरुदियाय भुजाभ्यां या तवैव भुवनं सृजतः प्राक्।
जामदग्न्यवपुषस्तव तस्यास्तौ लयार्थमुचितौ विजयेताम्॥ नै० २१।६५

४. पांसुला बहुपतिर्नियतं या वेधसारचि रुषां नवखण्डा।
तां भुवं कृतवतो द्विजभुक्तां युक्तकारितरता तव जीयात्॥ नै० २१।६६

५. कार्तवीर्यभिदुरेण दशास्ये रैणुकेय! भवता सुखनाश्ये।
कालभेदविरहादसमाधि नौमि रामपुनरुक्तिमहं ते॥ नै० २१।६७

पारिजात-हरण[1]

पृथ्वी से उत्पन्न नरकासुर नामक दैत्य इन्द्रादि देवों को पराजित कर देवमाता अदिति के दो कुण्डल, ऐरावत हाथी, उच्चैःश्रवा घोड़ा तथा स्वर्ग की अन्य सम्पत्तियाँ लूट ले गया था। देव-गण ने कृष्ण की शरण जाकर उनसे नरकासुर के वध की प्रार्थना की। कृष्ण ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर अपनी प्रिया सत्यभामा-सहित गरुड पर सवार होकर असुर को मारने के लिए प्रस्थान किया, और उसका वध कर देवो की लूटी हुई सम्पत्ति उन्हें पुनः वापस दिलवाई। अनेक नरेशों की सोलह हजार कन्याओं को, जो असुर के यहाँ बन्दी थीं, मुक्त किया तथा उनकी ही प्रार्थनापर उनसे विवाह किया। फिर देवमाता का दर्शन करने तथा उनके कुण्डल देने स्वर्ग-लोक गए। देवमाता को प्रणाम कर उनके कुण्डल उन्हे समर्पित किए। उस समय सत्य भामा शची के महल मे गई। इन्द्राणी ने उनका उचित स्वागत किया। उसी समय सेवकों ने इन्द्र का भेजा सुन्दर पारिजात का पुष्प शची को दिया। शची ने उसे मर्त्योचित न समझ सत्यभामा से पूछा भी नही और वह पुष्प अपने ही केशों मे गूँथ लिया। सत्यभामा इस अपमान से बड़ी क्रुद्ध हुई। उन्होंने कृष्ण के पास जाकर उनको शची के पारिजात-विषयक गर्व का वृत्तान्त बताया। वासुदेव ने प्रिया की बात सुनकर पारिजात का वृक्ष ही उखाड़ लिया और उसे गरुड पर लाद कर प्रिया के साथ द्वारका को चल दिये। इस पर इन्द्र को बड़ा क्रोध आया। देवो को साथ लेकर उन्होंने कृष्ण से युद्ध किया, पर अन्त मे पराजित होकर इन्द्र ने पारिजात का स्वर्ग से जाना सह लिया। कृष्ण ने उसे सत्यभामा के महल मे लगाया।

यह कथा हरिवश मे[2] बड़े विस्तार के साथ तथा पद्मपुराण की कथा से कुछ भिन्न कही गयी है। वहां नारद का स्वर्ग से एक पारिजात पुष्प लाना, कृष्ण को देना तथा कृष्ण का उसे रुक्मिणी को सौपना, उससे सत्यभामा का क्रोध, कृष्ण का सत्यभामा के अनुनयार्थ स्वर्ग से पारिजात वृक्ष ही उखाड़ लाने की प्रतिज्ञा, नारद द्वारा कृष्ण तथा इन्द्र के बीच सन्देश-वार्ता, इन्द्र की पारिजात देने मे असम्मति, इन्द्रकृष्णयुद्ध, स्वर्ग से पारिजात का लाया जाना तथा एक संवत्सर बीतने पर पुण्यक-व्रतोत्सव के समय पुनः स्वर्ग में वापस पहुचाया जाना—आदि का वर्णन हुआ है, जो पद्मपुराण के कथानक से कुछ भिन्न पड़ता है। इसके अतिरिक्त एक स्थान पर तो हरिवंश में ही[3] पद्मपुराण जैसा कथानक भी है।

---

१. पद्मपुराण उत्तरखंड—अध्याय २७६ श्लोक ४२।११०

२. हरिवंश पुराण अध्याय ६५–७६

३. हरिवंश २।६४

नैषध में पारिजात-हरण का दो बार स्मरण किया गया है।

१—दमयन्ती-स्वयंवर मे इन्द्रादि चारों देवों का कृतक-नल-रूप धारण कर उपस्थित होने पर पांचवें वास्तविक नल के बिना उस सभा के वर्णन में श्री हर्ष उसे पारिजात-रहित अन्य देव-वृक्षों से युक्त स्वर्गपुरी के समान बताते हैं।[1]

२—फिर विष्णु के कृष्णावतार की स्तुति करते हुए नल दान के विषय में भगवान् के हाथों को पारिजात से बढकर बताकर पारिजात-हरण आख्यान का उल्लेख करते हैं।[2]

राम द्वारा शम्बूक-वध[3]

राम के राज्य-काल में एक बार किसी ब्राह्मण के बालक का अकाल मरण हो गया। वह बालक का शव लिए राम के पास आया और अपने पुत्र की मृत्यु का कारण राजा का दुर्वृत्त ही बतलाता हुआ अपनी पत्नी-सहित स्वयं भी वही प्राण देने पर उतारू हो गया। नारद ने राम से इस अनर्थ का कारण किसी शूद्र का तपस्याचरण बताया। राम मृत-बालक का शव तेल में रखवाकर पुष्पक विमान पर बैठकर क्रम से पश्चिम, उत्तर तथा पूर्व दिशाओं मे गए। अन्त में दक्षिण दिशा में विन्ध्य के समीप शैवल-गिरि पर एक सरोवर के किनारे मुंह नीचे की ओर किए और लटकते हुए एक व्यक्ति को तपस्या में लीन देखा।[4] राम के पूछने पर उसने अपने को जाति से शूद्र तथा नाम से शम्बूक बताया।[5] राम ने तुरन्त खड्ग से उसका सिर उड़ा दिया[6] और उसी समय ब्राह्मण का बालक भी जीवित हो उठा।[7]

---

१. सभा नलश्रीयमकैर्यमाद्यैर्नलं विनाभूद्धृतदिव्यरत्नैः।
भामाङ्गणप्राघुणिके चतुर्भिर्देवद्रुमैर्द्यौरिव पारिजातैः॥ नै० १०।२४

२. ते हरन्तु दुरितव्रतांत मे यैः स कल्पविटपी तव दोर्भिः।
छद्मयादवतनोरुदपाटि स्पर्धमान इव दानमदेन॥ नै० २१।७८

३. वाल्मीकिरामायण—उत्तरकांड, सर्ग ७३—७६

४. तस्मिन्सरसि तप्यन्तं तापसं सुमहत्तपः।
ददर्श राघवः श्रीमॉल्लम्बमानमधोमुखम्॥ वही—७५।१४

५. शूद्रं मां विद्धि काकुत्स्थ शम्बूको नाम नामतः॥ वही—७६।३

६. भाषतस्तस्य शूद्रस्य खड्गं सुरुचिरप्रभम्।
निष्कृष्य कोशाद्विमलं शिरश्चिच्छेद राघवः॥ वही—७६।१५

७. तस्मिन्मुहूर्ते बालोऽसौ जीवेन समयुज्जत॥ वही-उ० का० ७६।१५

नैषध में नल विष्णु के रामावतार की स्तुति करते हुए राम के उक्त चरित्र का भी उल्लेख इस रूप में करते हैं—जिन्होंने रावण ऐसे प्रतापी को उसकी दुर्दान्त सेना के साथ विनष्ट किया, आप के उन्हीं हाथों से शम्बूक नामक शूद्र को भी अन्तिम गति मिली। क्या इससे शम्बूक का यह शङ्ख-धवल यश सागर-पर्यन्त नहीं फैला ?[१]

विष्णु के सितकेश-रूप बलराम[२]

कंस के अत्याचारों से पीड़ित पृथ्वी ब्रह्मा आदि देवों के साथ विष्णु के पास क्षीरसागर के किनारे जाती है। वहा उनकी प्रार्थना सुनकर प्रसन्न हो उनके कष्ट को दूर करने के लिए विष्णु भगवान ने अपने श्वेत तथा कृष्ण दो बाल उखाड़कर देवों से कहा कि हमारे ये ही दोनों केश पृथ्वी पर अवतार धारण कर उसका भार उतारेंगे। हमारा एक बाल तो वसुदेव की स्त्री देवकी के आठवें गर्भ में उत्पन्न होगा और कंस को मारेगा तथा दूसरा श्वेत बाल रोहिणी के गर्भ से उत्पन्न होगा। भागवत-पुराण में भी बलराम और कृष्ण को विष्णु का सित-कृष्ण केश कहा गया है।[३] बलराम को विष्णु का अनन्तावतार[४] तथा शेषावतार[५] भी बताया गया है।

श्री हर्ष ने बलदेव को विष्णु का ही एक दूसरा शेष रूप तथा सित-केश कहते हुए उक्त पौराणिक वृत्त का स्मरण किया है। "भगवन् आप की सात्त्विक मूर्ति के श्वेतकेश के समान गौरवर्ण बलदेव जी आप के ही रूप हैं और वही भगवान् शेष कहे जाते हैं। आपका वह बलदेव-रूप अवतार आप की सात्त्विक मूर्ति के जरा-पलित केशों के समान धवल रूप ठीक ही है।"[६]

---

१. तद्यशो हसति कम्बुकदम्बं शम्बुकस्य न किमम्बुधिचुम्बि।
नामशेषितससैन्यदशास्यादस्तमाप यदसौ तव हस्तात्॥ नै० २१।७३

२. विष्णुपुराण ५।१

३. भूमेः सुरेतरवरूथविमर्दितायाः क्लेशव्ययायकलयासितकृष्णकेशः।
जातः करिष्यति जनानुपलक्ष्यमार्गः कर्माणि चात्ममहिमोपनिबन्धनानि॥
भा० २।७।२६

४. सप्तमो वैष्णवं धाम यमनन्तं प्रचक्षते। भागवत १०।२।५

५. शेषाख्यं धाम मामकम्॥ भाग० १०।२।८

६. तावकापरतनोः सितकेशस्त्वं हली किल स एव च शेषः।
साध्वसाववतरस्तव धत्ते तज्जरच्चिकुरनालविलासः॥ नै० २१।८४

दत्तात्रेय अवतार

साधारणतया विष्णु के दस प्रसिद्ध अवतारों मे दत्तात्रेय की गणना नहीं है। मत्स्यपुराण (अध्याय ४) मे एक स्थान पर विष्णु के दस अवतारों की गणना में दत्तात्रेय का भी नाम रक्खा गया है। किन्तु ये दस अन्य प्रसिद्ध दसों से पृथक् है—धर्म, नारायण, नरसिंह, वामन, दत्तात्रेय, मान्धाता, जामदग्न्य, राम, व्यास, बुद्ध तथा कल्कि इनमें प्रथम तीन अवतार तो—जो दिव्य उत्पत्तिया कही जाती है—विभिन्न मन्वन्तरों मे हुए थे, तथा शेष सात शुक्र के शाप के कारण विभिन्न त्रेता, द्वापर तथा कलियुगों मे हुए थे। प्रथम त्रेता में धर्म, एक चतुर्थांश नष्ट होने पर दत्तात्रेय अवतार हुआ। इसी प्रकार पन्द्रहवे त्रेता में मान्धाता, उन्नीसवे में परशुराम (जामदग्न्य) तथा चौबीसवें मे राम हुए। अट्ठाइसवें द्वापर मे व्यास-अवतार हुआ, जो आठवा अवतार था। नवा बुद्ध तथा दसवा कल्कि अवतार हुआ। हरिवश पुराण[1] मे विष्णु के वाराह, नरसिंह, वामन, दत्तात्रेय, परशुराम, राम, कृष्ण, व्यास तथा कल्कि अवतारों का वर्णन है। वेदों तथा वैदिक यज्ञों के नष्ट होने पर, वर्णधर्म के अव्यवस्थित हो जाने पर, धर्म के शिथिल होने एवं अधर्म आदि के बढने पर, विष्णु का दत्तात्रेय अवतार हुआ।[2] उन्होंने सारी वैदिक व्यवस्थाएँ ठीक कीं तथा हैहयराज को वरदान दिया।

भागवतपुराण मे अनेक अवतारों की प्रार्थना करते हुए ब्रह्मा जी दत्तात्रेय का भी उल्लेख करते है, उन्हे अत्रि का पुत्र तथा यदुहैहय आदि को योग-समृद्धि देने वाला बतलाते है।[3] इसी प्रकार विश्वरूप ने इन्द्र को नारायण वर्म (कवच) का उपदेश देते हुए दत्तात्रेय को योगनाथ कहा है।[4]

मार्कण्डेयपुराण में अनसूया के गर्भ से अत्रि के यहा ब्रह्मा, विष्णु, तथा महेश

---

१. हरिवंश १।४१

२. तेन नष्टेषु वेदेषु प्रक्रियासु मखेषु च।
चातुर्वर्णे च संकीर्णे धर्मे शिथिलतां गते॥
अभिवर्धति चाधर्मे सत्ये नष्टेऽनृते स्थिते।
प्रजासु शीर्यमाणासु धर्मे चाकुलतां गते॥ इत्यादि, वही १।४१।५–६

३. अत्रेरपत्यमभिकाङ्क्षत आह तुष्टो दत्तोमयाहमिति यद्भगवान् स दत्तः।
यत्पादपङ्कजपरागपवित्रदेहाः योगर्द्धिमापुरुभयीं यदुहैहयाद्याः॥
भागवत २।७।४

४. दत्तस्त्वयोगादथयोगनाथः पायाद्॥ वही ६।८।१६

तीनों देवों का सोम, दत्तात्रेय तथा दुर्वासा के रूप मे अवतार लेना बताया गया है।[१] लक्ष्मी दत्तात्रेय की पत्नी के रूप मे मानी गयी है। विष्णु-रूप दत्तात्रेय योगस्थ रहकर विषयों का अनुभव करते थे,[२] तथा उनके उपदेश से देवगण दैत्यों का वध कर सके।[३] उन्होंने कार्तवीर्य को अनेक वरदान दिए[४] तथा अलर्क को बड़े विस्तार के साथ योग का उपदेश दिया।[५]

ब्रह्मपुराण में वैदिक[६] धर्मो के पतन के समय विष्णु का दत्तात्रेय के रूप मे उत्पन्न होकर वैदिक विधियों एवं समाज को पुनः स्थापित करना लिखा गया है।

बाल-दत्तात्रेय के नाम से एक उपनिषद् भी है जिसमे उन्हें उन्मत्त तथा पिशाच-वेषधारी, महायोगी तथा अवधूत आदि कहा गया है। किन्तु यह उपनिषद् बहुत बाद का समझ पड़ता है।

स्कन्द-पुराण के काशी-खण्ड मे[७] एक दत्तात्रेय तीर्थ का वर्णन है, जिसमें स्नान करने वाले को पूर्ण सिद्धि की प्राप्ति बतायी गई है। अद्वैतवादी अवधूत गीता के भी प्रतिपादक दत्तात्रेय यही माने जाते है।

नैषध मे नल विष्णु के दत्तात्रेय-रूप की प्रार्थना करते हुए उन्हे अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादक, सहस्रार्जुन को वरदान देने वाला, योगी होने के कारण अनघ नाम से प्रसिद्ध, तथा राजा अलर्क के सासारिक मोह-रूप अन्धकार को अपने सूर्य-रूप ज्ञानोपदेश से विनष्ट करने वाला बताते है।[८]

राम का सीता तथा लक्ष्मण से वियोग

राम का सीता से दो बार वियोग हुआ। एक बार वन में रावण के हरने पर, दूसरी तथा अन्तिम बार लोकापवाद से डरकर सीता को त्याग देने पर।[९] राम

---

१. सोमो ब्रह्माभवत् विष्णुर्दत्तात्रेयोऽभ्यजायत।
दुर्वासाः शंकरो जज्ञे वरदानाद्दिवौकसाम्॥ मार्कण्डेयपुराण १७।११

२. दत्तात्रेयोऽपि विषयान् योगस्थो बुभुजे हरिः॥ वही—१७।१५

३. वही—अध्याय १८

४. वही—अध्याय १९

५. वही—अध्याय ३९-४३

६. ब्रह्मपुराण—२१३।१०७–९

७. स्कन्दपुराण—काशीखंड ८४।१८

८. सन्तमद्वयमयेऽध्वनि दत्तात्रेयमर्जुनयशोर्जनबीजम्।
नौमियोगजयितानघसंज्ञं त्वामलर्कभवमोहतमोऽर्कम्॥ नै० २१।९३

९. वाल्मीकिरामायण—उत्तरकाण्ड, सर्ग ४३–४९

का लक्ष्मण से भी दो बार वियोग हुआ। दोनों बार राम दुःख को न सह सके। प्रथम बार जब लङ्का के युद्ध मे रावण की शक्ति लगने पर लक्ष्मण मूर्च्छित हुए थे, राम के लिए वह इतना असह्य शोक था कि उन्होंने स्वयम् अपने मरण का भी निश्चय कर लिया।[१] फिर सुषेण ने विशल्यकरणी ओषधि द्वारा उन्हे सचेत किया। वास्तव मे यह वियोग नहीं था, किन्तु राम को वियोग की असह्य वेदना सहनी पडी थी। दूसरी बार, राम के राज्यकाल के अन्तिम समय में स्वयं काल तापस का रूप धारण करके आया। राम ने उसकी पूजा की। तापस ने एकान्त मे बात करने की इच्छा की और यह शर्त लगा दी कि इस समय जो हम दोनों की बात सुने, या हमे देखे आप उसका वध कर दें।[२] राम ने शर्त पूरी करने की प्रतिज्ञा कर लक्ष्मण को द्वार पर बैठा दिया। तापस ने एकान्त में अपना वास्तविक परिचय देते हुए पितामह ब्रह्मा का सारा सन्देश कह सुनाया। वे दोनों बात कर ही रहे थे कि इसी बीच में दुर्वासा द्वार पर आ पहुंचे। उन्होंने तुरन्त राम से मिलने की इच्छा प्रकट की। जब उन्होंने क्रुद्ध होकर कहा कि राम इसी समय मुझसे मिलें अन्यथा तुम सब को शाप देता हूँ।[३] तब डर कर लक्ष्मण सारे परिवार को बचाने के लिये अकेले का वध श्रेयस्कर समझते हुए राम को सूचना देने भीतर चले गए। प्रतिज्ञाबद्ध राम ने मन्त्रियों तथा वशिष्ठादि ऋषियों से सलाह कर लक्ष्मण को त्याग दिया, क्योंकि त्याग और वध दोनों समान ही हैं।[४] किन्तु वे इस लक्ष्मण-वियोग को एक क्षण भी नहीं सह सकते थे। अतः पुत्रों को राज्य-भार सौंप कर शेष भाइयों के साथ सरयू-जल में आप्लावित हो पुनः अपने वैष्णव तेज में मिल गए।[५]

---

१. अहमप्यनुयास्यामि तथैवैनं यमक्षयम्।
इहैव मरणं श्रेयो न तु बन्धुविगर्हणम्॥ वही—उ० का० १०१।१२

२. यः शृणोति निरीक्षेद्वा स वध्यो भविता तव॥ वही—उ० का० १०३।१२

३. अस्मिन्क्षणे मां सौमित्रे रामाय प्रतिवेदय।
विषयं त्वां परं चैव शपिष्ये राघवं तथा॥
भरतं चैव सौमित्रे युष्माकं या च सन्ततिः।
न हि शक्ष्याम्यहं भूयो मन्युं धारयितुं हृदि॥ वही—उ० का० १०५।६–७

४. विसर्जये त्वां सौमित्रे मा भूद्धर्मविपर्ययः।
त्यागो वधो वा विहितः साधूनां ह्युभयं मतम्॥ वही—उ० का० १०६।१३

५. विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः॥ वही—उ० का० ११०।१२

श्रीहर्ष पूर्वोक्त कथानकों के आधार पर राम के सीता-वियोग सह लेने तथा लक्ष्मण-वियोग में कातर होने का अत्यन्त मार्मिक ढंग से वर्णन करते हैं।[१]

हरिहर[२]

स्कन्दपुराण में शिव के हरिहर रूप धारण करने का आख्यान इस प्रकार है। एक बार देवासुर-सग्राम मे दैत्यों से पराजित होकर देवगण ब्रह्मा की शरण मे गए। ब्रह्मा ने उनकी प्रार्थना सुनकर उनसे शङ्कर के हरिहर रूप की उत्पत्ति इस प्रकार बताई—एक बार शिवभक्तों तथा विष्णु-भक्तों के बीच विवाद हुआ। शिव ने उनके देखते-देखते एक अद्भुत रूप धारण कर लिया। वे आधे से शिव तथा आधे से विष्णु हो गए। एक ओर गरुड दूसरी ओर नन्दी वृषभ उपस्थित थे। एक ओर मेघ के समान श्यामवर्ण तथा दूसरी ओर कर्पूर के समान गौरवर्ण था। इस तरह उन्होंने भक्तों को शिव-विष्णु की एकता का बोध कराया। श्रुतियों और स्मृतियों के अर्थ को बाधित करने वाली भेद-बुद्धि नष्ट हो गयी। पाखण्डी और युक्तिवादी सब चकित हो गए। मन्दराचल पर वह हरिहर रूप आज भी विद्यमान है। सर्जन, पालन एवं संहार करने वाली वह मूर्ति सम्पूर्ण विश्व का बीज है, एवं अनन्त है।

देवों की प्रार्थना से प्रकट होकर उस हरिहर मूर्ति ने बताया कि वह उनके शत्रु दानवों का पहिले ही वध कर चुकी है।

मत्स्यपुराण[३] में हरिहर की प्रतिमा बनाने की विधि का सविस्तार वर्णन है। उस प्रतिमा को शिवनारायण नाम दिया गया है। प्रतिमा के वामार्द्ध भाग मे विष्णु तथा दक्षिणार्द्ध में शूलपाणि को बनाने का उल्लेख है। कृष्ण (विष्णु) की दोनों भुजाए मणि-जटित केयूर से विभूषित होनी चाहिएँ। दोनों मे शङ्ख एव चक्र धारण किए हों। कटि के आधे भाग मे उज्ज्वल आभूषण हों, पीला वस्त्र हो, तथा चरण मे मणि-जटित आभूषण हों, इत्यादि। इसी प्रकार दक्षिणार्द्ध जटा के भार तथा आधे चन्द्रमा से विभूषित होना चाहिए। वर देने वाले दाहिने हाथ को भुजङ्गों के हार-रूप वलय से विभूषित होना चाहिए। दूसरा हाथ सुन्दर त्रिशूल से विभूषित रहे। मूर्ति में यज्ञोपवीत के स्थान में सर्प हों। कटि का आधा भाग गज-चर्म से परिवृत हो। नाग से विभूषित चरण मणियों तथा रत्नों से अलङ्कृत हों, इत्यादि।

---

१. इष्टदारविरहौर्वपयोधिस्त्वं शरण्य! शरणं स ममैधि।
लक्ष्मणक्षणवियोगकृशानौ यः स्वजीविततृणाहुतियज्वा॥ नै० २१।७५

२. स्कन्दपुराण—ब्राह्मखण्ड, चातुर्मास्यमाहात्म्य।

३. मत्स्यपुराण—अध्याय २६०

श्रीहर्ष इस प्रकार के हरिहर-रूप का चित्रात्मक वर्णन करते हुए पूर्वोक्त पौराणिक विवरणों का उल्लेख-सा करते प्रतीत होते हैं। "भगवन् आप के हरिहर-रूप मे यह आधा शिव का रूप कैसा, आप तो सम्पूर्ण रूप से महेश ही हैं?[1] इसी प्रकार वेद विद्वानों ने शेष-रूप धारण करते हुए आपको अशेष (सर्वस्वरूप) कहा है।"[2] "आपने हरिहर रूप मे धड़ के ऊपर भी दो रूप क्यों धारण किए? हरिहर-रूप में एक रूप धड़ होना चाहिए था और दूसरा सिर। उसी प्रकार नरसिंह रूप में क्यों सिर और धड में भेद कर दिया? पर स्वतन्त्र-सत्ता वाले से कोई प्रश्न ही कैसा?"[3]

शर्कराचल-दान

मत्स्यपुराण[4] में शङ्कर ने नारद से दस प्रकार के मेरु पर्वत का दान बताया है। धान्य, लवण, गुड, सुवर्ण, तिल, कपास, घृत, रत्न, रजत, (चादी) तथा शक्कर की विशेष विधि से विशाल राशि (पर्वत) बनाकर दान देने को मेरू-दान कहते हैं। इन दानों के लिए विशेष प्रकार का विधान तथा समय बताया गया है। पुण्य-प्रद अयन में, तुला या मेष की सक्रान्ति पर जब सूर्य दक्षिण से उत्तर या उत्तर से दक्षिण हो रहे हों, व्यतीपात नामक योग पर, चन्द्रग्रहण पर, शुक्लपक्ष की तृतीया तिथि को, ग्रहण आदि के अवसर पर, चन्द्रमा के डूब जाने पर, विवाह आदि उत्सवों में द्वादशी तिथि को अथवा शुक्लपक्ष की पूर्णिमा को जब पुण्यप्रद माङ्गलिक नक्षत्रों का योग हो—तब शास्त्रीय यथोचित नियमों को जानने वाले पुरुष को इन धान्य आदि शैलों का दान करना चाहिए। दान देने का स्थान तीर्थ, देवालय, गोशाला, या अपने ही भवन का आंगन होना चाहिए।

दसवा (अन्तिम) दान शर्कराचल का बताया गया है।[5] इसके दान से ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य तथा शिव सन्तुष्ट रहते हैं। शक्कर के आठ भार द्वारा उत्तम या महान्

---

१. केयमर्धभवता भवतो हे मायिना ननु भवः सकलस्त्वम्।
शेषतामपि भजन्तमशेषं वेद वेदनयनो हि जनस्त्वाम्॥ नै० २१।१०२

२. केयमर्धभवता भवतोहे मायिना ननु भवः सकलस्त्वम्।
शेषतामपि भजन्तमशेषं वेद वेदनयनो हि जनस्त्वाम्॥ नै० २१।१०२

३. ऊर्ध्वदिक्कदलनां द्विरिकार्षीः किं ततुं हरिहरीभवनाय।
किं च तिर्यगभिनो नृहरित्वे कः स्वतन्त्रमनु नन्वनुयोगः॥ नै० २१।१०४

४. मत्स्यपुराण—अध्याय ८३

५. मत्स्यपुराण—अध्याय ९२

अचल, चार भार द्वारा मध्यम अचल तया दो भारों द्वारा अधम अचल बतलाया जाता है। थोड़ी सम्पत्ति वाला व्यक्ति एक भार अथवा आधे भार द्वारा इसकी रचना कर सकता है। बीच में मुख्य (मेरु) पर्वत (शर्कराराशि) तथा चारों ओर चार (घेरे हुए) पर्वत (शर्कराराशि) होने चाहिएँ—जो विष्कम्भक कहे जाते हैं। मुख्य पर्वत के चौथाई अश के बराबर विष्कम्भक-पर्वतों की रचना होनी चाहिए। अन्य विशेष विधियों के पश्चात् विशेष मन्त्रों द्वारा इन पर्वतों का आवाहन किया जाता है। फिर मुख्य पर्वत का गुरु के लिए दान कर दिया जाता है। शेष चार विष्कम्भक पर्वत पुरोहित को दे देने चाहिए।

नल-प्रिया दमयन्ती की वाणी की मधुरता की प्रशसा करते हुए उसे मदन-द्वारा गुडपाक (सीडे) के तागे की मथानी बनाकर मत्स्य-पुराणोक्त पूर्वोक्त शर्कराचल से मथने पर इक्षुसागर से उत्पन्न सुधा के समान बताते हैं—"यदि इक्षु-रस के सागर को अमृतभोजी मदन गुडपाक (सीडे) के तागे से बाधकर दानखण्ड में वर्णित शर्कराचल से मथे तो उस समय जो नूतन सुधा निकलेगी प्रिये, वही सुधा स्यात् मेरे कानों को तृप्ति देने वाली तुम्हारी वाणी की समता करे।"[1]

गरुडामरेन्द्र समर[2]

अपनी माता विनता को उसकी सौत सर्पों की माता कद्रू की दासता से मुक्त करने के लिए गरुड़ अमृत लाने चले। क्योंकि सर्पों ने अमृत पाने पर ही उनकी माता को मुक्त करने को कहा था।[3] चलते समय उन्होंने माता से वहा मिलने वाली कोई अपने खाने योग्य वस्तु पूछी। विनता ने वहां समुद्र के किनारे एकान्त में स्थित निषादों की एक बस्ती बतायी, और कहा कि "वहां हजारों निषाद रहते हैं। तुम उन्हें खाना।[4] परन्तु ब्राह्मण को मारने का विचार भी कभी[5] मत करना। गरुड़ के

---

१. उन्मीलद्गुडपाकतन्तुलतया रज्ज्वा भ्रमीरर्जयन्।
दानान्तःश्रुतशर्कराचलमथः स्वेनामृतान्धाः स्मरः॥
नव्यामिक्षुरसोदधेर्यदि सुधामुत्थापयेत्साभव-
ज्जिह्वायाः कृतिमाह्वयेत परमां मत्कर्णयोः पारणाम्॥ नै० २१।१५३

२. महाभारत—आदि पर्व, अध्याय २०–३४

३. श्रुत्वा तमब्रुवन् सर्पा आहरामृतोजसा।
ततो दास्याद् विप्र मोक्षो भविता तव खेचर॥ वही—आदिपर्व २७।१६

४. समुद्रकुक्षावेकान्ते निषादालयमुत्तमम्।
निषादानां सहस्राणि तान् भुक्त्वामृतमानय॥ वही—२८।२

५. न च ते ब्राह्मणं हन्तुं कार्या बुद्धिः कथञ्चन॥ वही—आदिपर्व २८।३

पूछने पर ब्राह्मणों का लक्षण बताती हुई विनता ने कहा, जो तुम्हारे कण्ठ में पहुँच कर आग के अगारे की तरह जलने लगे तथा तुम्हारी जठराग्नि जिसे पचा न सके उसे तुम ब्राह्मण समझना"।[1] गरुड ने समुद्र के किनारे जाकर अपने मुंह को बड़े विस्तार के साथ फैलाया। उसमे निषाद अपने आप समाने लगे। संयोग से एक ब्राह्मण भी अपनी निषाद-कुलोत्पन्ना भार्या के साथ उनके कण्ठ मे पहुच गया। जिससे गरुड़ का कण्ठ जलने लगा।[2] घबडाकर गरुड ने उसे शीघ्र पत्नी-सहित बाहर चले आने को कहा। बाहर आकर ब्राह्मण ने गरुड़ को अनेक आशीर्वाद दिए।

गरुड़ अमृत लेने के लिये आगे बढे, तो इन्हे इन्द्रादि देवों के साथ भयानक युद्ध करना पड़ा। उन्हे परास्त करके ये अमृत ले आए। इस प्रकार गरुड़ ने अपनी माता को दासता के बन्धन से मुक्त किया।

नैषध मे दमयन्ती की वाणी की मधुरता की प्रशंसा करने मे अपने को असमर्थ बताते हुए नल उस अमृत की ही प्रशंसा करते हैं, जिसके लिए गरुड से अमरेन्द्र का समर हुआ था। माधुर्य में द्राक्षा और क्षीर का तो वह वाणी सदा से अपमान ही करती रही है।[3]

२—दमयन्ती चन्द्रमा को राहु के गले में जाकर भी मुक्त होता जानकर राहु को महाभारत के पूर्वोक्त उपाख्यान का उल्लेख करती हुई सचेत करती है कि "राहु तुम्हारे द्वारा भक्षित यह चन्द्रमा तुम्हारा गला जलाता है, क्या इसी से गरुड़ के समान तुम ब्राह्मण समझ कर इसे छोड देते हो, कि जैसे गरुड़ ने ब्राह्मण को त्याग दिया था उसी प्रकार तुमने भी इसे ब्राह्मण समझ कर उगिल दिया? अरे भाई, इसका तो व्यक्तिगत स्वभाव ही दूसरे को जलाने का है, (ब्राह्मण जाति

---

१. यस्ते कण्ठमनुप्राप्तो निगीर्णं बडिशं यथा।
देहदङ्गारवत्पुत्र तं विद्याद् ब्राह्मणर्षभम्॥ वही—आदिपर्व २८।१०–१२
जठरे न च जीर्येद् यस्तं जानीहि द्विजोत्तमम्।

२. तस्य कण्ठमनुप्राप्तो ब्राह्मणः सह भार्यया।
दहन् दीप्त इवाङ्गारः ······· वही—आ० प० २९।१

३. त्वद्वाचः स्तुतये वयं न पटवः पीयूषमेव स्तुम-
स्तस्यार्थे गरुडामरेन्द्रसमरः स्थाने न जानेऽजनि।
द्राक्षापानकमानमर्दनसृजा क्षीरे दृढावज्ञया।
यस्मिन्नाम धृतोऽनया निजपदप्रक्षालनानुग्रहः॥ नै० २१।१६०

की इस विषय में क्या बात है ?) भला बताओ कि मुझ निरपराध को भी जलाने मे ब्राह्मणता कैसी ?[१]

अत्रि-नेत्र से चन्द्रमा की उत्पत्ति तथा दक्ष की सत्ताइस कन्याओं से उनका विवाह[२]

प्राचीनकाल में ब्रह्मा ने महर्षि अत्रि को सृष्टि करने की आज्ञा दी। महर्षि ने सृष्टि करने की शक्ति पाकर अनुत्तर नाम का तप किया। वे पूर्ण सयम के साथ परमानन्दमय ब्रह्म का चिन्तन करने लगे। एक दिन महर्षि के नेत्र से कुछ जल की बूदें टपकने लगीं, जो अपने प्रकाश मे सम्पूर्ण चराचर जगत् को प्रकाशित कर रही थीं। दिशाओं की अधिष्ठात्री देवियों ने स्त्री-रूप मे आकर पुत्र पाने की इच्छा से उस जल को ग्रहण कर लिया। उनके उदर में वह जल गर्भ-रूप से स्थित हुआ। दिशाए उसे धारण करने मे असमर्थ हो गयीं। अतः उन्होंने उस गर्भ को त्याग दिया। तब ब्रह्मा ने उनके छोडे हुए गर्भ को एकत्रित करके उसे एक तरुण पुरुष के रूप मे प्रकट किया। वह सब प्रकार के आयुधों को धारण करने वाला था। फिर वे उस तरुण पुरुष को देव-शक्ति-सम्पन्न 'सहस्र' नामक रथ पर बैठा कर अपने लोक मे ले गए। ऋषियों ने उन्हे अपना स्वामी कहा। उनके बढे हुए तेज से पृथ्वी पर दिव्य ओषधिया हुई, इसी से चन्द्रमा को ओषधियों का स्वामी कहा जाने लगा।

कुछ समय के पश्चात् प्रचेताओं के पुत्र दक्ष प्रजापति ने अपनी सत्ताईस कन्याए—जो रूप और लावण्य से युक्त तथा अत्यन्त तेजस्विनी थीं—चन्द्रमा को पत्नी-रूप में अर्पित कीं।

उक्त कथा पद्मपुराण[३] में वर्णित है। भागवत पुराण[४] मे भी चन्द्रमा को अत्रि के नेत्र से उत्पन्न, विप्रों और ओषधियों तथा ताराओं का पति कहा गया है।[५] स्कन्द

---

१. दहति कण्ठमयं खलु तेन किं गरुडवद्द्विजवासनयोज्झितः।
प्रकृतिरस्य विधुन्तुद ! दाहिका मयि निरागसि का वद विप्रता॥ नै० ४।७१

२. पद्मपुराण—सृष्टिखण्ड, अध्याय १२

३. पद्मपुराण—सृष्टिखण्ड अध्याय १२

४. भागवत—९।१४

५. जातस्यासीत् सुतो धातुरत्रिः पितृसमोगुणैः।
तस्यदृग्भ्योभवत्पुत्रः सोमोमृतमयः किल॥
विप्रौषध्युडुगणानां ब्रह्मणा कल्पितः पतिः। भागवत ९।१४।२-३

पुराण मे दक्ष की सत्ताइस कन्याओं द्वारा चन्द्रमा का प्रेम पाने के लिये चण्डी की आराधना तथा सप्तविशतिक नामक शिवलिङ्ग की स्थापना का वर्णन है।[1] मत्स्य-पुराण[2] मे भी प्राय. पद्मपुराण की जैसी ही कथा है।

नैषध (बाइसवे सर्ग) मे चन्द्रवर्णन करते हुए श्रीहर्ष ने पूर्वोक्त पौराणिक आख्यान का अनेक बार अनेक रूप से उल्लेख किया है।

एक बार तो विरोधाभास के चमत्कार के लिए त्रिनेत्र (शिव) तथा अत्रि-नेत्र का उल्लेख करते हुए कहते हैं—"त्रिनेत्र (शिव) के मस्तक पर सुशोभित इस चन्द्र की उत्पत्ति अत्रि मुनि के नेत्र से हुई थी।"[3] फिर चन्द्रमा के द्विजत्व का अर्थ (दो से उत्पन्न) लगाते हुए कहते हैं कि "चन्द्रमा एक तो सागर, दूसरे अत्रि-नेत्र से से उत्पन्न होने के कारण ही द्विज कहा जाता है। इसी से यह अत्रि-ज (तीन से नही अत्रि मुनि से उत्पन्न) भी कहा जाता है।"[4]

चन्द्रमा के पिता अत्रि की नेत्र-कनीनिका-रूप एक तारा तथा चन्द्रमा की पत्नी-रूप सत्ताइस ताराए भी उसी कथानक के आधार पर उल्लिखित हुई हैं।[5]

चन्द्रमा की सागर से उत्पत्ति

भगवान् विष्णु की सहायता से मन्दराचल को मथानी बनाकर तथा वासुकि नाग को रस्सी बनाकर जब देवों और दानवों ने मिलकर क्षीर-सागर का मन्थन किया उस समय सागर से जो रत्न निकले उनकी सख्या तथा नामों के विषय में पुराणों मे बडा पाठ-भेद मिलता है।

श्रीमद्भागवत पुराण[6] कालकूटविष, हविर्धानी (कामधेनु), उच्चैःश्रवा, ऐरावत, कोस्तुभ, पारिजात, अप्सरायें, श्री, वारुणी, अमृत-कलश-सहित धन्वन्तरि इन्हीं ग्यारह रत्नों-का इसी क्रम से उल्लेख करता है। वहा सागर-मन्थन से

---

१. स्कन्दपुराण—नागर खण्ड, अ० ८६

२. वही अध्याय २३

३. त्रिनेत्रभूरप्ययमत्रिनेत्रादुत्पादमासादयति स्म चित्रम्।। नै० २२।७३

४. सागरान्मुनिविलोचनोदराद्यत् द्वयादजनि तेन किं द्विजः।
एवमेव च भवन्नयं द्विजः पर्यवस्यति विधुः किमत्रिजः।। नै० २२।१३३

५. एकैव तारा मुनिलोचनस्य जाता किलैतज्जनकस्य तस्य।
ताताधिका सम्पदभूदियं तु सप्तान्विता विंशतिरस्य यत्ताः।। नै० २२।१२७

६. स्कन्दपुराण ८।७–८।

चन्द्रमा की उत्पत्ति नहीं कही गयी है, किन्तु महाभारत में[1] सोम (चन्द्रमा), श्री, सुरा, तुरग, कौस्तुभ, धन्वन्तरि, अमृत, ऐरावत और कालकूट इन नव रत्नों का इसी क्रम से उद्‌भव बताया गया है। सर्वप्रथम चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई, जिनका तेज सैकड़ों सूर्यों से बढकर था।[2] कालकूट की उत्पत्ति सब के बाद होती है, जिसे महेश्वर ने अपने कण्ठ में धारण कर नीलकण्ठ रूप प्राप्त किया।

मत्स्यपुराण में[3] चन्द्रमा, लक्ष्मी, सुरा देवी, पीला घोडा, कौस्तुभमणि, पारिजात, सशरीर विष, धन्वन्तरि, मदिरा, अमृत, कामधेनु, ऐरावत, छत्र, तथा कुण्डल इन चौदहों का उल्लेख इसी क्रम से हुआ है। इसमें भी चन्द्रमा को सौ सूर्यों की कान्तिवाला बताया गया है। विष के साथ असंख्य विषधर जीव भी निकले। विष की ही सलाह से देवों ने शङ्कर से उसे निगलने की प्रार्थना की। उन्होंने उनकी प्रार्थना मानकर विष को पी लिया।

विष्णुपुराण में[4]—कामधेनु, मदिरा, कल्पवृक्ष, अप्सराओं का झुंड, चन्द्रमा, विष, अमृतभरा कलश लिए धन्वन्तरि और अन्त मे लक्ष्मी—ये नव रत्न इसी क्रम से निकले बताए गए हैं। चन्द्रमा को महादेव जी ने अपने मस्तक पर धारण कर लिया। जो विष निकला उसे नागों ने ले लिया।

स्कन्दपुराण मे,[5] हलाहल विष, चन्द्रदेव, सुरभि, कल्पवृक्ष, पारिजात, चूत (आम), सन्तान (चारों) कौस्तुभ, उच्चै श्रवा, ऐरावत, मदिरा, भांग, काकडासिंगी लहसुन, गाजर, धतूर, पुष्कर आदि उन्मादक वस्तुए, महालक्ष्मी, तथा कलश में अमृत लिए धन्वन्तरि—इतनों का इसी क्रम से उद्‌भव बताया गया है। सूर्य, चन्द्रमा का संकेत पाकर मोहिनी-रूप विष्णु ने राहु का शिरच्छेद किया था, अतः वह बदला लेने को चन्द्रमा के पीछे दौडा। चन्द्रमा भागकर शिव के शरण में गए। नील-कण्ठ ने उन्हें मस्तक पर धारण कर अभयदान दिया।

श्रीहर्ष ने चन्द्रमा के सागर से उत्पन्न होने का अनेक बार उल्लेख किया है। चन्द्रमा को भर्त्सना देती हुई दमयन्ती उसके विरहिणियों का वध करने आदि नीच कृत्यों की ओर सकेत कर उसके उच्च कुल सागर में जन्म तथा शिव के मस्तक पर

---

१. आदिपर्व, अध्याय १८

२. ततः शतसहस्रांशुर्मथ्यमानात्तु सागरात्।
प्रसन्नात्मा समुत्पन्नः सोमः शीतांशुरुज्वलः॥ वही—आदिपर्व १८।३३

३. अध्याय २५०।५१

४. विष्णुपुराण १।९

५. माहेश्वरखण्ड—केदारखण्ड अध्याय, नैषध ४।५०

निवास का स्मरण करती है।[१] फिर मानती है कि समुद्र मे मन्दराचल को मथानी बनाकर रक्खे जानेपर वहा पहले ही से विद्यमान चन्द्रमा वहीं क्यों न चूर्ण हो गया।[२] बाद मे प्रिय-प्रिया सयुक्त होकर जब सानन्द चन्द्र-वर्णन करने लगते है तो चन्द्रमा को पर्वतशिर से उदय होता देख कर समुद्र-मन्थन का स्मरण नल करते है :—"सागर मे पर्वत से मन्थन करने पर चन्द्रमा निकला था, हम इस पौराणिक कथानक को नि सन्देह सत्य मानते है क्योंकि अब भी तो चन्द्रमा सागर में जाकर पर्वत से निकलता है।"[३] अन्त मे चन्द्रमा मे द्विजत्व का अर्थ दो बार उत्पन्न होना लगाते हुए कहते है—"चन्द्रमा की उत्पत्ति सागर से ही बतायी जाती है और अत्रि मुनि के नेत्र से भी। क्या दो से उत्पन्न होने के कारण ही इसे (द्विज) कहते है ?"[४]

श्रीहर्ष ने समुद्र से उत्पन्न दो प्रकार के कालकूट और श्वेत विष (चन्द्ररूप)—का तथा भगवान् शङ्कर के द्वारा कालकूट के एवं देवों से चन्द्रात्मक श्वेत विष के पिए जाने का भी उल्लेख किया है। विरह-व्यथिता दमयन्ती एक (महा) देव द्वारा पिए जाने पर फिर सदा के लिए समाप्त हुए कालकूट की अपेक्षा सारे सुरों के पी लेने पर भी पुनः नूतन उदय पाने वाले श्वेतविष-रूपी चन्द्रमा का व्यतिरेक (आधिक्य) प्रदर्शित करती हुई उसकी निन्दा करती है।[५]

विदर्भ-राज भीम ने शिवभक्त मय दानव द्वारा अपने को उपहार रूप में भेंट किया हुआ विषापहारी गरुड़—मणियों से जटित एक विशाल भोजनपात्र नल को दहेज मे दिया। कवि कल्पना करता है कि यदि भगवान् शङ्कर ने कालकूट को इस पात्र में रखकर पिया होता तो उनका कण्ठ काला न होता क्योंकि उसमे रखते ही गरुड़ मणियों के प्रभाव से उस विष की शक्ति नष्ट ही हो गई होती।[६]

---

१. त्वमभिधेहि विधुं सखि ! मद्गिरा किमिदमीदृगधिक्रियते त्वया।
न गणितं यदि जन्म पयोनधौ हरशिरःस्थितिभूरपि विस्मृता॥ नै० ४।५०

२. निपततापि न मन्दरभूभृता त्वमुदधौ शशलाञ्छन! चूर्णितः। नै० ४।५१

३. असंशयं सागरभागुदस्थात् पृथ्वीधरादेव मथःपुरायम्।
अमुष्य यस्मादधुनापि सिन्धौ स्थितस्य शैलादुदयं प्रतीमः॥ नै० २२।४३

४. सागरान्मुनिविलोचनोदराद्यद् द्वयादजनि तेन किं द्विजः।
एवमेव च भवन्नयं द्विजः पर्यवस्यति विधुःकिमत्रिजः॥ नै० २२।१३३

५. असितमेकसुराशितमप्यभून्न पुनरेष विधुर्विशदं विषम्।
अपि निपीय सुरैर्जनितक्षयं स्वयमुदेति पुनर्नवमार्णवम्॥ नै० ४।६१

६. न नीलकण्ठत्वमधास्यदत्र चेत् स कालकूटं भगवानभोक्ष्यत॥ नै० १६।३०

अन्य प्रसंगों में भी मन्थन का नैषध में कई बार उल्लेख हुआ है। लक्ष्मी की उत्पत्ति की ओर सकेत करती हुई इन्द्र-दूती कहती है—"वैदर्भि, तुम इन्द्र को न त्यागो। जिन देवों ने क्षीर-सागर का मन्थन कर इनके अनुज विष्णु के लिए लक्ष्मी निकाली, उन्हे इनके लिए इक्षुरस-समुद्र को मथ कर एक अन्य (उससे श्रेष्ठ) लक्ष्मी निकालने का श्रम न करना पडे।"[१] (अर्थात् लक्ष्मी से भी अधिक सुन्दर होने के कारण तुम्हीं जब इन्द्र को मिल जाओगी तो इन्द्र के लिए एक अन्य श्रेष्ठ लक्ष्मी को इक्षुरस-सागर मथकर निकालने का परिश्रम देवों को न करना पड़ेगा।)

शुक्र द्वारा कच को संजीवनी-विद्या का दान[२]

देवदानव-संघर्ष मे दैत्यों के गुरु शुक्र अपनी सजीवनी-विद्या के बल से मरे हुए दैत्यों को जिला देते थे। किन्तु देवों के गुरु बृहस्पति को वह विद्या न ज्ञात थी। अत: देवों ने दुःखी होकर बृहस्पति के पुत्र कच को शुक्र से वह विद्या सीखने की प्रेरणा की। कच ने एक सहस्र वर्ष तक शुक्र के यहा रहते हुए उनको अपनी सेवा से प्रसन्न कर अनेक विद्याएँ सीखीं। शुक्र की युवती कन्या देवयानी कच के ऊपर मुग्ध रहती थी। एक दिन दैत्यों ने कच को वन मे गाय चराते हुए अकेले पाकर मार डाला, और उसके शरीर को भेडियो तथा गीदडों को खिला दिया। शाम को कच के न लौटने पर देवयानी की अनुनय से शुक्र ने सजीवनी-विद्या के बल से उसे जीवित कर दिया। कुछ दिन के बाद दैत्यों ने फिर कच को देवयानी के लिए फूल तोडते हुए उपवन मे अकेला पाया। इस बार उन्हे मार कर जला दिया और मदिरा मे मिलाकर शुक्र को ही पिला दिया। बडी देर होने पर भी जब कच न लौटा तो देवयानी ने अनर्थ की आशंका से पुनः कच को बुलाने के लिए शुक्र से प्रार्थना की। इस बार शुक्र के बुलाने पर कच उनके पेट मे ही बोला और बताया कि किस प्रकार दैत्यों ने उसे गुरु के उदर मे पहुचा दिया है। अब यदि शुक्र कच को बाहर निकालते है तो स्वय मरते हैं। नही निकालते तो पुत्री देवयानी कच के बिना प्राण दे रही है। अतः विवश होकर उन्होंने कच को पहले संजीवनी-विद्या ही पढा दी, जिससे शुक्र की कोख फाड कर वह बाहर निकल आया और पुनः उसी संजीवनी के बल से शुक्र को जिला दिया।

नैषध मे सूर्य की किरणों से अन्धकार को विनष्ट होता देख तथा सूर्य को आदित्य (अदितिपुत्र) तथा अन्धकार को तमस् (दैत्य भी काले होते हैं तथा राहु का नाम

---

१. नैनं त्यज क्षीरधिमन्थनाद्यैरस्यानुजायोद्गमितामरैः श्रीः ।। नै० ६।८०

२. मत्स्यपुराण—अध्याय २५

भी तमस् है) जानकर श्रीहर्ष को दैत्य-गुरु शुक्र के द्वारा कच के पुनर्जीवित किए जाने वाली घटना की स्मृति हो आती है। कवि शका करता है कि इस तमस् को शुक्र सजीवनी क्यों नहीं दे रहे हैं? फिर स्वय समाधान भी करता है कि प्रभात-वला होने के कारण शुक्र इस समय निश्चय ही सन्ध्योपासन मे मौन हो गए होंगे, जिससे बेचारा तमस् यह विपत्ति भोग रहा है।[1]

शङ्ख-लिखित का आख्यान[2]

शख और लिखित दो भाई थे। दोनों व्रतशील तपस्वी बाहुदा नदी के किनारे अलग-अलग रमणीय आश्रम बनाकर रहते थे। एक दिन लिखित शख के आश्रम मे गए। उस समय सयोग से शख कहीं बाहर गए हुए थे। लिखित आश्रम के पके फलों को गिरा कर निःशक हो खाने लगे। उसी समय शख अपने आश्रम मे आ गए। उन्होंने लिखित को, आश्रम मे बिना पूछे फल तोड़ने के कारण चोरी का अपराधी बताया, और राजा सुद्युम्न के पास जाकर एव स्वयम् अपना अपराध बताकर दण्ड माँगने का आदेश दिया। लिखित ने ऐसा ही किया। राजा सुद्युम्न ने लिखित के दण्ड-प्राप्ति के लिए हठ करने पर उनके दोनों हाथ कटवा लिए।[3] भाई शख ने लिखित को बाहुदा मे स्नान करके देवों, ऋषियों तथा पितरों का तर्पण करने और पुनः अधर्म मे मन न ले जाने का आदेश दिया। बाहुदा मे स्नान कर ज्योंही लिखित आचमन आदि उदक्क्रिया करने को हुए त्योंही उनके दोनों हाथ पुन. पूर्ववत् हो गए।

बन्दी-जन नल के यश की तुलना धवल शख से देते समय आकाश मे लिखित (चित्रित) चन्द्रमा को सकलक बताते हुए 'करच्छेद' इत्यादि मे श्लेष द्वारा महाभारत के शङ्ख-लिखित उपाख्यान की ओर भी सकेत कर देते हैं।[4]

---

१. असुरहितमग्यादित्योत्थांविपत्तिमुपागतंदितिसुतगुरुःप्राणैर्योक्तुर्न्नाकिकचवत्तमः।
पठति लुठतींकण्ठेविद्यामयम्मृतजीवनींयदिन वहतेसंध्यामौनव्रतव्ययभीरुताम्॥
नै० १९।१५

२. महाभारत—शान्तिपर्व, अध्याय २३

३. करौ प्रच्छेदयामास—वही—शान्तिपर्व, २३।३६

४. ब्रूमः शङ्खं तव नल यशः श्रेयसे सृष्टशब्दं।
यत्सोदर्यं स दिवि लिखितः स्पष्टमस्ति द्विजेन्द्रः॥
अद्धा श्रद्धाकरमिह करच्छेदमस्यस्य पश्य।
म्लानिस्थानं तदपि नितरां हारिणो यः कलङ्कः॥ नै० १९।५६

विश्वामित्र का त्रिशङ्कु को सशरीर स्वर्ग भेजना तथा नूतन सृष्टि रचना

इक्ष्वाकुवंशीय राजा त्रिशङ्कु ने सशरीर स्वर्ग जाने की अभिलाषा से अपने कुलपुरोहित वसिष्ठ से यज्ञ कराने के लिए कहा। वसिष्ठ ने इस कार्य को असम्भव बताया। अत. वह उनके तपःशील सौ पुत्रों के पास गया। उन्होंने भी त्रिशङ्कु से सारी भूतपूर्व घटना सुनकर उस कार्य को कराने मे अपने को असमर्थ बताया। और त्रिशङ्कु ने जब दूसरे के पास जाने की बात कही तो गुरु-पुत्रों ने उसे चाण्डाल होने का शाप दे दिया। त्रिशङ्कु उस शापवश चाण्डाल हो गया। अन्त मे अत्यन्त दु खित होकर वह विश्वामित्र के पास गया। इक्ष्वाकुवशीय राजा की वह हीन दशा देखकर विश्वामित्र को उस पर बडी करुणा आई। त्रिशङ्कु से सारा वृत्तान्त सुनकर उन्होंने उसे सशरीर स्वर्ग भेजने का वचन दिया।[२] इसके बाद अपने पुत्रों से यज्ञ की सामग्री एकत्रित करने को कहा तथा शिष्यों से सभी ऋषियों तथा विद्वानों को बुलाने को कहा। विश्वामित्र ने वसिष्ठ के पुत्रों को आने से इन्कार करते सुना तो उन्हे शाप देकर जला डाला।

अन्त मे जब सभी ऋषि मुनि एकत्रित हुए तो उन्होंने त्रिशङ्कु के लिए यज्ञ कराने का प्रस्ताव किया। सब ने विश्वामित्र के भय से यज्ञ मे भाग लिया क्योंकि सब को विश्वामित्र के शाप से भय था।[३] किन्तु उस यज्ञ में आवाहन करने पर भी कोई देवता अपना भाग लेने न आए।[४] इस पर अत्यन्त क्रुद्ध हो विश्वामित्र ने अपनी तपस्या के फल-रूप मे त्रिशङ्कु को सशरीर स्वर्ग भेज दिया। किन्तु इन्द्र ने उसे गुरु-शाप-भागी समझ कर पुनः पृथ्वी पर मुंह के बल ढकेल दिया। त्रिशङ्कु 'त्राहि त्राहि' करता हुआ नीचे गिरने लगा। अब विश्वामित्र के क्रोध का कोई ठिकाना न रहा। उन्होंने त्रिशङ्कु को बीच मे ही रोक दिया और स्वयं नये स्वर्ग की रचना

---

१. वाल्मीकिरामायण—बालकांड, सर्ग ५९, ६०

२. हस्तप्राप्तमहं मन्ये स्वर्गं तव नराधिप।
यस्त्वं कौशिकमागम्य शरण्यं शरणागतः॥ वही—बा० का० ५९.५

३. यदाह वचनं सम्यगेतत्कार्यं न संशयः।
अग्निकल्पो हि भगवान्शापं दास्यति रोषतः॥ वही—बालकाण्ड ६०.६

४. नाभ्यागमस्तदा तत्र भागार्थं सर्वदेवताः॥ वही—बालकाण्ड ६०.६

करने लगे। नये नक्षत्र बनाये, नये देवता बनाये। इस पर सभी देवदानव, ऋषि मुनि घबडा कर विश्वामित्र की शरण आए और उनसे ऐसा न करने की प्रार्थना करने लगे। अन्त मे विश्वामित्र की आज्ञा से देवों ने त्रिशकु को स्वर्ग मे स्थान दिया किन्तु उसका सिर नीचे की ओर ही रहा।[1]

स्कन्दपुराण[2] मे इस कथा मे कुछ भेद है। वहाँ विश्वामित्र ने पहले तो त्रिशकु को साथ लेकर पृथ्वी के सभी तीर्थों का पर्यटन किया, फिर पाताल-गगा के स्नान तथा हाटकेश्वर के दर्शन से उसे चाडालता से मुक्त करा कर स्वयं ब्रह्मा के पास गमन किया और उनसे अपना उद्देश्य कहा। ब्रह्मा ने भौतिक शरीर त्यागे बिना स्वर्ग-प्राप्ति असम्भव बताई।[3] विश्वामित्र ने त्रिशकु को वेदविहित विधि से बारह वर्ष तक यज्ञ कराया पर अभीष्ट फल न हुआ। त्रिशकु को बड़ी ग्लानि हुई। अपनी विफलता पर क्षुब्ध विश्वामित्र ने शिव को सतुष्ट कर उनसे नूतन सृष्टि करने की शक्ति मागी। शिव के वरदान से विश्वामित्र ब्रह्मा की स्पर्धा से नयी सृष्टि रचने लगे। देवता, नक्षत्र, ग्रह, सध्या, मनुष्य, उरग, राक्षस, वृक्ष, लता, सप्तर्षि, ध्रुव, आकाशचारी जीव सभी की दोहरी रचना हो गई और सब अपनी अपनी क्रिया मे भी लग गये। इस पर इन्द्रादि देवता अत्यन्त घबडाए और ब्रह्मा की शरण मे जाकर उनसे इस अनर्थ को रुकवाने की प्रार्थना करने लगे।[4] ब्रह्मा ने जाकर विश्वामित्र को शान्त किया। त्रिशकु को सशरीर स्वर्ग ले जाने का वचन दिया किन्तु विश्वामित्र-रचित सृष्टि के यज्ञ मे अनुपयुक्त होने की बात रक्खी।[5]

कुण्डिनपुर के राजप्रासाद की धवल पताका के प्रति श्रीहर्ष की कल्पना है कि मानों विश्वामित्र द्वारा आधी बनाकर छोडी हुई आकाशगगा हो। उस स्वर्ग-निर्माण कार्य मे ब्रह्मा के द्वारा विघ्न किए जाने की घटना का उल्लेख कर हर्ष

---

१. अवाक्शिरास्त्रिशङ्कुश्च तिष्ठत्वमरसंनिभः॥ वही—बा० का० ७।६०।३२

२. नागरखंड अध्याय २–७

३. न यज्ञकर्मणा स्वर्गः स्वेन कायेन लभ्यते।
मुक्त्वा देहान्तरं ब्रह्मंस्तस्मान्नैवं वदस्व माम्॥ वही—नागर खंड ४।६९

४. तस्मात् वारय तं गत्वा स्वयमेव पितामह।
यावन्न व्याप्यते सर्वं तत्सृष्ट्येदं चराचरम्॥ वही—नागर खंड ७।१०

५. भविष्यति ध्रुवाविप्र सृष्टिर्या भवता कृता।
परं सर्वेषु कृत्येषु यज्ञार्हा न भविष्यति॥ वही—नागर खंड ७।१८

ने स्कन्दपुराणोक्त कथा की ओर संकेत किया है।[1] पुनः विमानों पर दमयन्ती-स्वयंवर देखने आये हुए देवों का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष फिर उसी "नूतन स्वर्ग" का स्मरण करते हैं। "यदि विश्वामित्र स्वर्ग तथा पृथ्वी के बीच में एक दूसरे ही स्वर्गलोक का निर्माण करते तो वह जैसा सुन्दर होता, स्वयंवर को देखने आये हुए देवों के दिव्य विमानों से वह आकाश-भाग वैसा ही सुन्दर हो गया था।"[2] अन्त मे इन्द्र के सम्मुख पहुंचने पर उनके तेज से नतमस्तक कलि को स्वर्ग से अधोमुख लौटने वाले त्रिशंकु के समान बताते हैं। यहां श्रीहर्ष ने बाल्मीकि-रामायणोक्त कथानक की ओर संकेत किया है।[3] क्योंकि वहीं त्रिशंकु के अवाक्-शिरा गिरने का उल्लेख है।

"शोकः श्लोकत्वमागतः"[4]

देवर्षि नारद के रामायण की मूल कथा संक्षेप मे सुनाकर चले जाने पर महर्षि बाल्मीकि तमसा के किनारे शिष्य भारद्वाज के साथ स्नान करने चल दिये। वहाँ तट के वन में उनके देखते ही एक व्याध ने क्रौञ्च के जोड़े मे एक पक्षी (नर) को मार डाला।[5] क्रौञ्ची के करुण रोदन ने मुनि का हृदय द्रवित कर दिया।

शोकामर्ष से अभिभूत उनके कंठ से अकस्मात् यह श्लोक निकल पडा—

> मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
> यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥ बालकांड २।१५

---

१. अश्रान्तश्रुतिपाठपूतरसनाविर्भूतभूरिस्तवा-
जिह्मब्रह्ममुखौघविघ्नितनवस्वर्गक्रियाकेलिना।
पूर्वं गाधिसुतेन सामिघटिता मुक्ता नु मन्दाकिनी।
यत्प्रासादडुकूलवल्लिरनिलान्दोलैरखेलद्दिवि॥ नै० २।१०२

२. द्यामन्तरा वसुमतीमपि गाधिजन्मा यद्यन्यमेव निरमास्यत नाकलोकम्।
चारुः स यादृगभविष्यदभूद्विमानैस्तादृक्तदभ्रमवलोकितुमागतानाम्॥
नै० ११।३

३. गुरोरीढावलीढः प्रागभून्नमितमस्तकः।
स त्रिशंकुरिवाक्रान्तस्तेजसेव बिडौजसः॥ नै० १७।१११

४. वाल्मीकि-रामायण—बालकांड २

५. तस्मात्तु मिथुनादेकं पुमांसं पापनिश्चयः।
जघान वैरनिलयो निषादस्तस्य पश्यतः॥ वही—बा० का०, सर्ग २।१०

विलास-भवन मे इन्द्र का यह दु.साहस भी चित्रित किया दिखायी पड़ता है जो वास्तव मे कामदेव की विजय-घोषणा सा प्रतीत होता है।[१] आनन्दोपहास के समय दमयन्ती की सखी कला नल को इन्द्र का ही कपट-रूप बताती हुई कहती है—"राजन्, सखी दमयन्ती कह रही है, कि मै जब कुमारी थी उस समय इन्द्र ने नल का जो कपट रूप बनाया था मै उसे जान गयी थी, और अब मै यद्यपि विवाहित होकर पर-स्त्री हो गयी हू पर अहल्या के साथ दुर्व्यवहार करने वाले की बदमाशी से तो भली-भाति परिचित ही हूँ।"[२]

मेघनाद द्वारा मायानिर्मित सीता का वध[३]

मेघनाद ने राम की सेना की बुद्धि भ्रम मे डालने के लिए माया की सीता बनाई और उसे रथ पर बैठा कर वह वानरों के सम्मुख पहुँचा।[४] और हनुमान् आदि सेना-नायकों के सामने एक हाथ से उसके केश पकड़कर दूसरे हाथ मे नङ्गी तलवार उसकी गर्दन पर चलाने के लिए ली। यह देख हनुमान् के नेत्रों से दु ख के आसू गिरने लगे।[५] उन्होने मेघनाद को स्त्री-वधरूपी पाप करने से मना किया किन्तु उसने अवज्ञा के साथ उत्तर दिया कि "जिससे शत्रु को पीड़ा हो वही अपना कर्तव्य होता है।"[६] फिर तलवार की तीक्ष्ण धार से उस रोती हुई माया-निर्मित सीता को मौत के घाट पहुँचा दिया।[७] हनुमान् से मेघनाद द्वारा इस प्रकार सीतावध का वृत्तान्त सुनकर राम मूर्च्छित हो गए। लक्ष्मण ने उन्हे अपनी गोद मे लेकर होश मे लाने के अनेक प्रयत्न किए। उसी समय विभीषण ने आकर यह रहस्य खोला कि मेघनाद ने स्वमाया-द्वारा सीता बनाकर उसका वध किया था।

---

१. पुष्पकाण्डजयडिण्डिमायितं यत्र गौतमकलत्रकामिनः।
पारदारिकविलाससाहसं देवभर्तुरुदटङ्कि भित्तिषु॥ नै० १८।२१

२. भाषते नैषधच्छायामायामाथि मया हरेः।
आह चाहमहल्यायां तस्यार्कणितदुर्नया॥ नै० २०।७०

३. बाल्मीकिरामायण—युद्धकाण्ड, सर्ग ८१, ८३, ८४

४. मोहनार्थं तु सर्वेषां बुद्धिं कृत्वा सुदुर्मतिः।
हन्तुं सीतां व्यवसितो वानराभिमुखो ययौ॥ वही—८१।६

५. गृहीतमूर्द्धजां दृष्ट्वा हनूमान् दैन्यमागतः।
दुःखजं वारि नेत्राभ्यामुत्सृजन्मारुतात्मजः॥ वही—युद्ध का० ८१।१६

६. न हन्तव्याः स्त्रियश्चेति यद्ब्रवीषि प्लवङ्गम।
पीडाकरममित्राणां यच्च कर्तव्यमेव तत्॥ वही—युद्ध का० ८१।२८

७. वही—युद्धकाण्ड ८१।२९

नैषध में सूर्य की किरणों द्वारा रात्रि के विनाश, चन्द्रमा की मलिनता, कुमुदों के संकोच आदि का वर्णन करते हुए बन्दीजन लंका युद्ध की उक्त पूरी घटना का उल्लेख श्लेष द्वारा कर जाते हैं।[१]

मन्देह नामक राक्षसों पर सूर्य का प्रात्यहिक विजय[२]

मन्देह राक्षसों की सख्या तीन करोड़ है,[३] जिनका शरीर अक्षय है[४] तथा जिनका कभी मरण नहीं होता। वे प्रतिदिन सध्या (प्रभात तथा सायकाल) के समय सूर्य के तेज को निगल जाना चाहते हैं। प्रतिदिन सूर्य को उनसे दारुण युद्ध करना पड़ता है। उस समय ब्रह्मा, देवता, तथा ब्राह्मण लोग सन्ध्योपासन करते हुए सदा सूर्य को ओंकार सहित गायत्री मन्त्र से अभिमन्त्रित जलांजलि देते हैं। उसके बल से सूर्य की ज्योति अत्यन्त तीव्र हो जाती है, और वे अपने प्रचण्ड तेज, बल तथा पराक्रम के साथ लाखों योजन ऊपर उठ आते हैं, फिर बालखिल्य आदि ब्राह्मणों द्वारा सुरक्षित हो पूर्ण दीप्ति के साथ प्रयाण करते हैं।

नल को प्रभातवेला मे सूर्याञ्जलि देने की प्रेरणा देते हुए बन्दीजन मन्देहवृत्त की ओर सकेत करते है.....यज्ञशील महाराज, यदि सूर्यदेव के प्रति आपकी श्रद्धा है तो अब वे उदय हो रहे है, शीघ्र इनकी अर्चना में लग जाइए। क्योंकि इसी समय सूर्य को अर्घ्यरूप मे दी गयी जलाजलिया मन्देह राक्षसों को मारने में सूर्य के लिए जलमयवज्र होकर सहायक होंगी।[५]

शम्भु-दारु-वन-सम्भुजि-क्रिया[६]

देव-दारुवन के मुनियों की तपस्या से प्रसन्न होकर एक बार शंकर नग्न विकृत रूप मे वहाँ गए, और विकारोत्पादक चेष्टाएँ करने लगे। उन्हे देखकर आश्रम

---

१. व्रजति कुमुदे दृष्ट्वा मोहं दृशोरपिधायके।
भवति च नले दूरं तारापतौ च हतौजसि।
लघु रघुपतेर्जायां मायामयीमिव रावणि-
स्तिमिरचिकुरग्राहं रात्रिं हिनस्ति गभस्तिराट्॥ नै० १९।८

२. ब्रह्माण्डपुराण—पूर्वभाग, अनुषंगपाद, अध्याय २१।१०९-११५

३. तिस्रःकोटचस्तु विख्याता मन्देहा नाम राक्षसाः॥ वही—अनु० पा० २१।११०

४. अक्षयत्वं तु देहस्य प्रापिताभरणं तथा॥ वही—अनु० २१।११०

५. नै० १९।४१

६. ब्रह्माण्डपुराण—अनुषङ्गपाद २, अध्याय २७

की स्त्रियों में प्रबल कामविकार उत्पन्न हुआ। उन्होंने सारी मर्यादाएँ तोड कर उनको घेर लिया। किन्तु शंकर के मन मे कोई विकार नही था। मुनियों ने उन्हें नहीं पहिचाना अतः इस दुश्चेष्टा से क्रुद्ध होकर उन्हें कठिन शाप देने लगे। किन्तु उनके शापों का शिव के ऊपर कोई प्रभाव न पड़ा। अन्त मे वे मुनियों के देखते ही देखते अन्तर्हित हो गए, जिससे मुनियों का भी तेज विनष्ट हो गया। वे स्वय भी अपने को सब प्रकार से अशक्त समझने लगे। मुनिगण बहुत घबडाए और ब्रह्मा की शरण मे गए। ब्रह्मा ने उन्हे शिव की प्रार्थना करने के लिये कहा। मुनियों की प्रार्थना से प्रसन्न होकर शिव ने उन्हे फिर उसी वेश मे दर्शन दिया, तथा देवदारु वन मे शिवलिंग की स्थापना हुई।[१]

श्रीहर्ष ने इस कथानक का उल्लेख नल के विलास-भवन के वर्णन मे किया है। भवन की भित्ति पर यह घटना भी अकित रहती है—"प्रासाद मे स्वर्णमय कपोतपालिका पर शंकर के देवदारुवन में सुरतविलास आदि वृत्तान्त उल्लिखित थे।"[२]

तारा देवी

तारा बौद्ध-मतानुयायियों की पूज्य देवी है। वज्रयान पन्थ वाले बौद्धों की साधन-माला में आर्यावलोकितेश्वर बोधिसत्त्व के साथ तारा (आर्यतारा) का अनेक बार उल्लेख होता है।[३] तारा को कमल पर स्थित[४] और कभी कभी कमल से उत्पन्न भी मानते हैं। उसे मातृ (सप्तमातृका) मण्डल मे एक कहा गया है।[५]

---

१. लिंगपुराण अध्याय २९ में भी यह कथा इसी प्रकार ज्यों की त्यों कही गयी है।

२. शम्भुदारुवनसम्भुजि...यस्य हाटकविटंकमङ्कितम्॥ नै० १८।२४

३. (क) नम आर्यावलोकितेश्वराय बोधिसत्त्वाय महासत्त्वाय महाकारुणिकाय तद्यथा ॐ तारे तुत्तारे॥ सा० मा० १।१७८

(ख) नम आर्यावलोकितेश्वराय बोधिसत्त्वाय महासत्त्वाय महाकारुणिकाय नमस्तारायै॥ वही—सा० मा०, भा० १ पृ० २२१ (गायकवाड ओरियण्टल सिरीज)।

(ग) नमस्तारायै नम आर्यावलोकितेश्वराय बोधिसत्त्वाय इत्यादि॥ वही—भाग १, पृ० २३७

४. सितकमलोपरि चन्द्रासनस्थाम्॥ वही—भाग १, पृ० १९३

५. मातृमण्डलमध्यस्थां तारादेवीं विभावयेत्॥ वही—भाग १, पृ० १७९

पुराणो में भी तारा देवी का उल्लेख हुआ है। ब्रह्माड तथा लिंगपुराणों में तारा देवी का वर्णन है। स्कन्दपुराण मे तो तारा को बौद्धों के विरुद्ध कहा है।[1] किन्तु अट्ठारहवीं शताब्दी के तान्त्रिक विद्वान् भास्करार्य ने ललितासहस्र नाम की टीका मे तारा को बौद्ध मत की देवी कहा है--परन्तु उन्होंने भी त्रिपुरा का ही एक रूप माना है।

नैषध में तारा बौद्ध मत की देवी के ही रूप मे मानी गयी हैं। रात्रि मे तारों के मध्य में (धवल) चन्द्रमण्डल तथा उसके मध्य मे (श्याम) हरिण की समता बौद्ध विहार मे तारा की पूजा के लिए बनाए गए (धवल) कर्पूर तथा (श्याम) कस्तूरी के गोल चक्र से करते हुए तथा बौद्धमतानुसार उस चक्र के बनाने वाले को बड़ा पुण्यशाली बताते हुए श्रीहर्ष कहते हैं --

"ब्रह्मा ने भगवान् 'जिन' के लिए ताराओं के विहार-स्थान आकाश में अति शीतल मृगनाभि (कस्तूरी) से सुवासित जो चन्द्ररूप एक कर्पूरमण्डली बनाई उसी पुण्य के कारण तो वे स्वर्गलोक मे सर्वोपरि है।"[2]

बुद्ध द्वारा मारविजय[3]

जिस समय बोधिवृक्ष के नीचे पूर्व दिशा की ओर गौतम बुद्ध बोधिप्राप्ति के लिए 'अपराजित' आसन लगाकर बैठे, उस समय मार देव-पुत्र ने सोचा-- "सिद्धार्थकुमार मेरे अधिकार से बाहर निकलना चाहता है, इसे नहीं जाने दूगा--" और अपनी सेना के पास जा, यह बात कह, घोषणा करवा कर अपनी अत्यन्त विशाल सेना के साथ निकल पड़ा। स्वय मार डेढ सौ योजन के गिरि-मेखल

---

१. दक्षिणस्यां तथा तारा संस्थिता स्थापिता मया।
तारणार्थाय वेदानां यस्मात् कूर्मं समाश्रिता॥
अनयाविष्टदेहश्च बुधो बौद्धान् हनिष्यति।
कोटिशो वेदमार्गस्य ध्वंसकान् पापकर्मिणः॥
स्कन्दपुराण, माहे० ख०, कु० ख०, अ० ४७

२. ताराविहारभुवि चन्द्रमयीं चकार
यन्मण्डलीं हिमभुवं मृगनाभिवासम्।
तेनैव तन्वि सुकृतेन मते जिनस्य
स्वर्लोकलोकतिलकत्वमवाप धाता॥ नै० २२।१३४

३. जातक--अविदूरेनिदान--पृ० ७१ वी० फाउसबोल द्वारा सम्पादित, लन्दन में ट्रूबरन एंड कम्पनी १८७७ ई०।

नामक हाथी पर चढ़ा था। उसके भयानक सैनिक नाना प्रकार के रंग तथा मुख वाले बनकर बोधिसत्त्व को डराते हुए आये। मार-सेना में देवगण भी थे। किन्तु बोधि-मण्डप तक पहुँचते-पहुँचते उस सेना में से एक भी खड़ा न रह सका। सभी सामने आते ही भाग गए। बुद्ध ने अपनी दस पारमिताओं के द्वारा ही मार को पराजित करने का निश्चय किया। मार ने वात, वर्षा, पाषाण, अस्त्र, धधकती राख, बालू, कीचड़, अन्धकार द्वारा घोर उत्पात किया, किन्तु उससे बोधिसत्त्व विचलित न हुए। मार अपनी सारी शक्ति लगाकर हार गया, और अन्त में जब पृथ्वी ने साक्षी के रूप में बोधिसत्त्व द्वारा 'वेस्सन्तर' जन्म के समय सात सप्ताह तक दिए गए दानों का प्रमाण दिया तो मार का गिरिमेखल हाथी बुद्धि के सामने घुटने टेककर बैठ गया और मार की सारी सेना भाग निकली। फिर नाग, गरुड़, देवगण तथा ब्रह्मा उस बोधि-आसन के पास पहुचकर बोधिसत्त्व की जयकार करने लगे।[1]

नैषध में मार-विजय की कथा का उल्लेख कई बार हुआ है। दमयन्ती मदन को उपालम्भ देती हुई सुगत (बुद्ध) द्वारा उसको जीतकर उसकी कीर्ति को विनष्ट करने का उल्लेख करती है।[2] फिर, नल विष्णु के बुद्धावतार की प्रार्थना करते हुए बुद्ध द्वारा मार की पराजय तथा देवों द्वारा की गयी पुष्पवृष्टि की चर्चा करते हैं।[3]

---

१. जयो हि बुद्धस्स सिरीमतो अयं। मारस्स च पापिमतो पराजयो।। इत्यादि

२. सुगत एव विजित्य जितेन्द्रियस्त्वदुरुकीर्तितनुं यदनाशयत्—नै० ४।८०

३. पञ्चबाणविजयी—नै० २१।८७

तत्र मारजयिनि त्वयि साक्षात्कुर्वति क्षणिकतात्मनिषेधौ।
पुष्पवृष्टिरपतत् सुरहस्तात्पुष्पशस्त्रशरसन्ततिरेव।। नै० २१।८८

त्रयोदश अध्याय

व्युत्पत्ति—धर्मशास्त्र तथा अन्य विविध विषय

धर्मशास्त्र-विषयक भावों को नैषध मे अनेक स्थलो पर व्यक्त किया गया है।

मनु ने नग्न स्त्री को देखना निषिद्ध बताया है।[1] याज्ञवल्क्य-स्मृति मे सूर्य, नग्न स्त्री तथा सुरतलीन-स्त्री को देखना निषिद्ध कहा गया है।[2]

नल के उपवन-विहार का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष स्मृति की पूर्वोक्त आज्ञा का स्मरण करते हैं—"पुष्पलताओं के साथ पवन की केलियो को देखकर नल आँखें बन्द कर लेते। पवन सर्वप्रथम लताओं की ओस की बूँदों के कारण पाण्डुपत्र रूपी वस्त्र बलात् हटाता फिर उनसे विलास क्रीडाएं करता।"[3]

नल को भीमनरेश के अन्तःपुर मे इसी प्रकार का धर्मसकट हुआ था। अन्तःपुर मे किसी रमणी की आलिंगनार्थ खुली जाघों को देखकर नल ने आखें बन्द कर ली, जिससे उधर से आती हुई एक अन्य रमणी से टक्कर खाकर चौक पड़े।[4]

वृक्ष, लता आदि उद्भिजों के विषय मे मनु का मत है—"अपने कर्मों के फल-स्वरूप अनेक प्रकार से तमोगुण से परिवेष्टित ये (वृक्षादि) अन्तश्चेतना से युक्त तथा सुख-दुख का अनुभव करने वाले होते हैं।"[5]

राजाओं द्वारा मृगया को अनिन्दित बताते हुए हंस स्मृति के पूर्वोक्त मत की ओर सकेत करता है—"मत्स्य अपने कुल के ही निर्बलों को खा जाते हैं, पक्षी अपने आश्रय वृक्षों को ही कष्ट देते रहते हैं तथा मृग निर्दोष घास आदि तृणपौधो को

---

१. नग्नां नेक्षेत च स्त्रियम्।—मनु स्मृ० ४।५३

२. नेक्षेतार्कं न नग्नां स्त्रीं न च संसृष्टमैथुनाम्॥ आचारा० १३५

३. पुरा हठाक्षिप्ततुषारपाण्डुरच्छदावृतेर्वीरुधि बद्धविभ्रमाः।
मिलन्निमीलं ससृजुर्विलोकिता नभस्वतस्तं कुसुमेषु केलयः॥ नै० १।९७

४. अन्तःपुरान्तः स विलोक्य बालां कांचित्समालब्धुमसंवृतोरुम्।
निमीलिताक्षः परया भ्रमन्त्या संघट्टमासाद्य चमच्चकार॥ नै० ६।१३

५. तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्ये सुखदुःखसमन्विता॥ मनुस्मृति १।४९

सताया करते हैं। अतः इन मत्स्य, खग, मृग को मृगया मे मारने से राजाओं को पाप नही लगता।"[१]

याज्ञवल्क्य का मत है कि अयाचित वस्तु यदि भेट की जाती है तो चाहे वह दुष्कृतकारी की ही क्यों न हो उसे स्वीकार कर लेना चाहिए।[२] हस स्मृति की उसी आज्ञा को प्रमाण रूप मे नल के सम्मुख उपस्थित करता है। "और आपको भी यह अयाचित लाभ त्यागना उचित न होगा क्योंकि मुझ जैसे व्यक्ति को अपना सहायक हाथ बनाकर मंगलकारी दैव ही आप को यह उपहार अर्पित कर रहा है।"[३]

जल-परीक्षा के विषय मे याज्ञवल्क्य ने एक विशेष विधि का उल्लेख किया है। उसके अनुसार तीन बाण चलाए जाते हैं। एक व्यक्ति बीच वाले बाण को लाने के लिए भेज दिया जाता है, एक दूसरा शीघ्र धावक व्यक्ति जहाँ से बाण चलाए जाते हैं वहा तैयार खडा रहता है, और सकेत पाने पर उसी स्थल की ओर दौडता है जहा पहले जाने वाला अपने हाथ मे बाण लिए उसकी प्रतीक्षा करता रहता है। इसके साथ ही जिसकी जल-परीक्षा की जाती है वह एक जल-कुण्ड में गोता लगाता है और जो व्यक्ति हाथ में बाण लिए दूसरे धावक की प्रतीक्षा कर रहा था अब दौड़ता हुआ गोता लगाने के स्थान पर पहुँचता है और यदि उसे उस समय गोता लगाने वाला जल मे निमग्न मिलता है तो गोताखोर की विजय होती है, और यदि वह जल पर उन्मग्न (उतराया हुआ) मिलता है तो उसकी हार घोषित कर दी जाती है। इस प्रकार जल की सतह पर रहना पराजय का लक्षण है।[४]

---

१. अबलस्वकुलाशिनो झषान्निजनीडद्रुमपीडिनः खगान्।
अनवद्यतृणार्दिनो मृगान् मृगयाघाय न भूभुजां घ्नताम्॥ नै० २।१०

२. अयाचिताहृतं ग्राह्यमपि दुष्कृतकर्मणः॥ याज्ञ० स्मृ०, आचा० २।१५

३. उपनम्रमयाचितं हितं परिहर्तुं न तवापि साम्प्रतम्।
करकल्पजनान्तराद्विधेः शुचितः प्रापि स हि प्रतिग्रहः॥ नै० २।१२

४. समकालमिषुं मुक्तमानीयान्यो जवीनरः। गते तस्मिन्निमग्नांग पश्येच्छुद्धिमवाप्नुयः एतदुक्तं भवति-त्रिषु शरेषु मुक्तेष्वेको वेगवान् मध्यमशरपातस्थानं गत्वा तमादाय तत्रैव तिष्ठति। अन्यस्तु पुरुषो वेगवान् शरमोक्षस्थाने तोरणमूले तिष्ठति। एवं स्थितयोस्तृतीयस्यां करतालिकायां शोध्यो निमज्जति। तत्समकालमेव तोरणमूल स्थितोपि द्रुततरं मध्यशरपातस्थानं गच्छति। शरग्राही च तस्मिन् प्राप्ते द्रुततरं तोरणमूलं प्राप्यान्तर्जलगतं यदि न पश्यति तदा शुद्धो भवति।

स्मृति की पूर्वोक्त विधि का भाव नैषध के इस श्लोक मे व्यक्त किया गया है—सुषमा-विषयक परीक्षा के समय दमयन्ती के मुख से सभी कमल परास्त हो गए। स्पष्ट है कि आज भी वे कमल उसी पराजय के कारण जल से बाहर नहीं निकलते।[1]

पति की मृत्यु के पश्चात् पतिव्रता स्त्री का देहत्याग करना धर्मशास्त्र-संगत है।[2] किन्तु यदि पति को किसी महापातक का दोष लगा हो तो जब तक वह शुद्ध न हो जाय तब तक स्त्री उससे स्वतन्त्र रहती है। शुद्धिकाल तक पति की प्रतीक्षा करती है।[3]

धर्मशास्त्र की पूर्वोक्त दोनों आज्ञाओं को ध्यान मे रखकर दमयन्ती मदन को फटकारती है :—"मदन, अतिप्रख्यात पतिव्रता होकर भी रति तेरे पीछे क्यों न सती हुई? तो क्या इतनी विरहिणियों के वध के पातकी तुझे तेरी प्रिया ने भी त्याग दिया।"[4]

दान के विषय मे धर्मशास्त्र की आज्ञा है :—

जो दान (पात्र के पास) जाकर दिया जाता है उसका अनन्त फल होता है, और जो दान बुलाकर दिया जाता है उसका सहस्रगुण (हज़ार गुना) फल मिलता

अयमत्र प्रयोगक्रमः। उक्तलक्षणजलाशयसन्निधावुक्तलक्षणं तोरणं विधाय उक्तप्रमाणे देशे लक्ष्यं निधाय तोरणं सन्निधौ सशरंधनुःसंपूज्य जलाशये वरुणमावाह्य पूजयित्वा तत्तीरे धर्मादींश्च देवान् हवनान्तमिष्ट्वा शोध्यस्य शिरसि प्रतिज्ञापत्रमाबध्य प्राड्विपाको जलमभिमन्त्रयते तोय त्वं प्राणिना प्राणः इत्यादिना मन्त्रेण अथ शोध्यः सत्येन इत्यादिना मन्त्रेण जलमभिमन्त्र्य गृहीतस्थूणस्य नाभात्रोदकावस्थितस्य बलीयसः पुरुषस्य समीपमुपसर्पति। अथ शरेषु त्रिषु मुक्तेषु मध्यमशरपातस्थाने मध्यमशरं गृहीत्वा जविन्येकस्मिन्पुरुषे स्थिते अन्यस्मिंश्च तोरणमूले स्थिते प्राड्विपाके न तालत्रये दत्ते युगपद् गमनमज्जनमथ शरानयनम्॥ इति।—या० व० स्मृ० व्यवहाराध्याय १०९ तथा उस पर मिताक्षरा टीका।

१. सुषमाविषये परीक्षणे निखिलं पद्ममभाजि तन्मुखात्।
अधुनापि न भङ्गलक्षणम् सलिलोन्मज्जनमुज्झति स्फुटम्॥ नै० २।२७

२. मृते म्रियेत या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता।—मिताक्षरा आचाराध्याय पृ० ८६ में उद्धृत हारीतमत।

३. आशुद्धेः सम्प्रतीक्ष्यो हि महापातकदूषितः। या० व० आचाराध्याय ७७

४. अनुममार न मार कथं नु सा रतिरतिप्रथितापि पतिव्रता।
इयदनाथवधूवधपातकी दयितयापि तयासि किमुज्झितः॥ नै० ४।७९

है, और जो दान याचना करने पर दिया जाता है उसका (पहले वाले से) आधा फल होता है।[१]

नल की अयाचित दान देने की अधीरता मे स्मृति की पूर्वोक्त आज्ञा स्पष्ट सुनाई पडती है—"इन देवों के अभीष्ट का कैसे पता चले? बिना मागे क्या दिया ही जाय? धिक् है उस दानी को, जो याचक की इच्छा जानते हुए भी उसकी प्रतीक्षा करता है।"[२]

मनु का वचन है—"मिलने पर ब्राह्मण से सर्वप्रथम उसका कुशल पूछना चाहिए, क्षत्रिय से अनामय (नैरोग्य), वैश्य से क्षेम तथा शूद्र से आरोग्य।[३] देव-सन्देश प्रारम्भ करने के उपोद्धात मे नल दमयन्ती (क्षत्रियकुलोत्पन्ना कुमारी) से कहते है:—"सर्वप्रथम इन्द्र ने सलील गाढ आलिंगन देते हुए तुम्हारा अनामय पूछा है, फिर तुम्हारे समालिंगन की भावना-मात्र से पुलकित उनकी रोमावलियों ने शेष सन्देश भेजा है।"[४]

मनु ने गृहस्थाश्रम को सब आश्रमों का आश्रयदाता, ज्ञानदाता, तथा अन्नदाता बताते हुए उसे सबसे श्रेष्ठ आश्रम माना है और उसके प्रयत्नपूर्वक पालन को स्वर्गेच्छु का कर्तव्य बताया है।[५]

दमयन्ती स्मृतिकार के पूर्वोक्त वचनों का स्मरण नल को दिलाती है—

मनु आदिक श्रेष्ठ महापुरुषों ने आश्रमों मे गृहस्थाश्रम की भाति देशों में भारतवर्ष की भूरि-भूरि प्रशसा की है। मै उसी पुण्यदेश में रहती हुई

---

१. गत्वा यद्दीयते दानं तदनन्तफलं स्मृतम्।
सहस्रगुणमाहूय याचिते तु तदर्धकम्॥ मिताक्षरा, आचाराध्याय, २०३

२. मीयतां कथमभीप्सितमेषां दीयतां कथमयाचितमेव।
तं धिगस्तु कलयन्नपि वाञ्छामर्थिवागवसरं सहते यः॥ नै० ५।८३

३. ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम्।
वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च॥ मनु० २।१२७

४. सलीलमालिंगनयोत्पीडमनामयं पृच्छति वासवस्त्वाम्।
शेषस्त्वदाश्लेषकथापनिद्रैस्तद्रोमभिः संदिदिशे भवत्यै॥ नै० ६।७८

५. यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्वआश्रमाः॥
यस्मात्त्रयोप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैवधार्यन्ते तस्माज्जेष्ठाश्रमोगृही॥
स सन्धार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।
सुखं चेहेच्छता नित्यं यो धार्यो दुर्बलेन्द्रियैः॥ मनुस्मृति ३।७७-७९

(स्वर्ग न जाकर) पति-सेवा द्वारा अपना परम मंगलमय धर्म अर्जित करना चाहती हूँ।[1]

नैषध में मोह वर्णन के प्रसग में गृहस्थाश्रम की इस श्रेष्ठता का एक बार और भी उल्लेख हुआ है—जिस प्रकार ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा सन्यासी—ये तीनों आश्रम वाले गृहस्थ के सहारे जीते हैं उसी प्रकार काम, क्रोध तथा लोभ तीनों मोह के आधीन रहते हैं।[2]

उत्तमर्ण (महाजन) अधमर्ण (ऋणगृहीता) से अपना मूलधन कई गुना करके वसूल करता है। स्मृतिकारों ने इसका स्पष्ट विधान किया है। भगवान् मनु का मत है—वार्धुषिक (सूदखोर) महाजन को प्रतिमास १/८० प्रतिशत वृद्धिव्याज लेना चाहिए। अथवा सद्वृत्ति का ध्यान रखते हुए दो प्रतिशत भी ले सकता है। उसमें उसे धनसंबंधी कोई पाप न लगेगा और यहां तक कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र से क्रमशः, २, ३, ४, ५ प्रतिशत भी प्रतिमास ले सकता है, इत्यादि।[3] महर्षि याज्ञवल्क्य का भी मत है कि बन्धक (गिरवी) रक्खी वस्तु पर १/८० प्रतिशत प्रतिमास व्याज होना चाहिए। अन्यथा (बिना बन्धक के) ब्राह्मणादि क्रम से २, ३, ४, ५ प्रतिशत प्रतिमास व्याज होना चाहिये।[4]

बेचारा अधमर्ण सदा उत्तमर्ण से डरता ही रहता है। व्यवहार के पूर्वोक्त सिद्धान्त का भाव हमें दमयन्ती की नेत्र-सम्पत्ति के वर्णन मे मिलता है—"क्या

---

१. वर्षेषु यद्भारतमार्यधुर्याः स्तुवन्ति गार्हस्थ्यमिवाश्रमेषु।
तत्रास्मि पत्युर्वरिवस्ययेह शर्मोर्मिकिर्मीरितधर्मलिप्सुः॥ नै० ६।९७

२. ब्रह्मचारिवनस्थायियतयो गृहिणं यथा।
त्रयो यमुपजीवन्ति क्रोधलोभमनोभवाः॥ नै० १७।३२

३. अशीतिभागं गृह्णीयान्मासाद् वार्धुषिकः शते॥ मनु० ८।१४०
द्विकं शतं वा गृह्णीयात् सतां धर्ममनुस्मरन्।
द्विकं शतं हि गृह्णानो न भवत्यर्थकिल्बिषी॥ मनुस्मृति ८।१४१
द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पंचकं च शतं समम्।
मासस्य वृद्धि गृह्णीयाद् वर्णानामनुपूर्वशः॥ ८।१४२

४. अशीतिभागो वृद्धिः स्यान्मासिमासि सबन्धके।
वर्णक्रमाच्छतं द्वित्रिचतुःपंचकमन्यथा॥ याज्ञ० स्मृ०, व्यवहाराध्याय ३७

हरिणियों ने दमयन्ती से दोनों नेत्रों की कान्ति ऋण रूप में ली थी, जो इसने डरती हुई उन मृगियों से वह सम्पूर्ण कान्ति कई गुनी करके वसूल की।"[१]

ऋण आदि के विषय मे उत्तमर्ण और अधमर्ण (महाजन तथा लगुवा) के बीच एक प्रतिभू (मध्यस्थ या जामिन) होता है। यदि अधमर्ण ने ऋण न दिया तो उत्तमर्ण प्रतिभू को पकड़ता है।[२]

दमयन्ती से काशी-नरेश का वर्णन करती हुई सरस्वती धर्मशास्त्र के पूर्वोक्त सिद्धान्त की ओर संकेत करती है—"जब अन्य राजाओं तथा इस राजा के बीच कर देने के विषय मे इसका कृपाण ही मध्यस्थ है तो उस मध्यस्थ की बात अन्य राजा लोग क्यों न मानें। क्यों न इसे कर दे। और कही यदि दैवयोग से उन्होंने कर न दिया तो ये महाराज भी कृपाण को पकड़ने मे दया नही दिखाते (फिर तो कृपाण उठ ही जाता है।)[३]"

अतिथि-सत्कार के विषय मे धर्मशास्त्रकारों ने बहुत कुछ कहा है। भगवान् मनु ने तो यहा तक कहा है कि "तृण, भूमि, जल, तथा (चौथी वस्तु) सत्य एव प्रिय-वाणी ये चार वस्तुयें सज्जनों के घर से कभी नही जातीं।"[४]

स्मृतिकार की पूर्वोक्त आज्ञा का ध्यान कर कुमारी दमयन्ती दूत रूप मे अभ्यागत नल से निवेदन करती है—"शीलपूर्वक अपने शरीर को भी तृण के समान नम्र कर दे, अपने ही आसन की भूमि छोड़कर अतिथि को दे दे, (जल न रहने पर) आनन्द के आसुओं को ही जल बनावे तथा अतिमधुर वचनों से कुशल पूँछे।"[५]

जीविका-वृत्तियों का विवेचन करते हुए स्मृतिकारों ने शिल और उञ्छ वृत्तियों को ऋत-वृत्ति कहा है तथा इन्हे सर्वोत्तम माना है। ब्राह्मण के लिए ये ही सर्वश्रेष्ठ वृत्तियाँ कही गयी है।

---

१. ऋणीकृता किं हरिणीभिरासीदस्याः सकाशान्नयनद्वयश्रीः।
भूयोगुणेयं सकलाबलात्ताभ्यो नयालभ्यत बिभ्यतीभ्यः॥ नै० ७।३३

२. दर्शने प्रत्यये दाने प्रातिभाव्यं विधीयते।
आद्यौ तु वितथे दाप्यावितरस्य सुता अपि॥ याज्ञ० स्मृ०, व्यवहाराध्याय, ५३

३. अस्मै करं प्रवितरन्तु नृपा न कस्मादस्यैव तत्र यदभूत् प्रतिभूः कृपाणः।
दैवाद्यदा प्रवितरन्ति न ते तदैव नेदं कृपा निजकृपाणकरग्रहाय॥ नै० ११।१२६

४. तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥ मनु० ३।१०१

५. स्वात्माऽपि शीलेन तृणं विधेयं देया विहायासनभूर्निजापि।
आनन्दबाष्पैरपि कल्प्यमम्भः पृच्छा विधेया मधुभिर्वचोभिः॥ नै० ८।२१

ऋत (उञ्छ-शिल) या अमृत (अयाचित बिना मागे मिले हुए) अथवा मृत (भिक्षा) या प्रमृत (कृषि) से, और या फिर सत्यानृत (वाणिज्य) से ही जीवन निर्वाह करना चाहिए। किन्तु श्ववृत्ति (सेवा या नौकरी) को कभी न ग्रहण करे।[१]

इसी शिलोञ्छवृत्ति का पुण्य-फल बटु चन्द्रमा को नैषध में मिलता है। दूत रूपी नल के रूप की प्रशंसा करती हुई दमयन्ती कहती है—"आपके द्वारा संसार की शोभा के उत्तम भाग के ले लिए जाने पर चन्द्रमा ने जो शिल तथा उञ्छ (खेत मे तथा बाजार मे पड़े हुए धान्य कणों को चुनने की) वृत्ति अपनाई, उसके फलस्वरूप भगवान् शकर ने बाल रूपी होते हुए भी चन्द्रमा को अपने मस्तक पर धारण किया तथा यज्ञकर्त्ताओं मे श्रेष्ठ द्विजराज पद पर उसे आरोपित किया।"[२]

धर्मशास्त्र की आज्ञा है कि युवती स्त्री के पास अकेले नहीं होना चाहिये। मनु ने तो यहा तक कह डाला है कि "माता, बहिन तथा पुत्री के पास भी एकान्त मे नहीं बैठना चाहिए। ये इन्द्रियां बड़ी बलवती होती है, विद्वान् को भी बलात् आकर्षित कर लेती है।"[३]

दमयन्ती-स्वयवर मे आते समय वरुण पूर्वोक्त स्मृति-निर्देश का ठीक अर्थ ही न समझ सके, "किसी स्त्री के पास अकेले नहीं अपितु सद्वितीय जाना चाहिए,"—इस नीति का वरुण ठीक अर्थ न समझ सके और यह सोचकर कि जो सभार्य (द्वितीया के साथ) होगा उसे दूसरी कैसे मिल सकती है, उन्होने अपने साथ कोई भृत्य भी न लिया (जडाधिप जो ठहरे, यहा द्वितीय शब्द पत्नीवाचक नहीं है। यहाँ द्वितीय का अर्थ है दूसरा चाहे वह स्त्री हो या पुरुष।)[४]

---

१. ऋतामृताभ्यां जीवेत मृतेन प्रमृतेन वा।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन॥
ऋतमुञ्छशिलं प्रोक्तममृतं स्यादयाचितम्।
मृतं तु याचितभैक्षंप्रमृतं कर्षणं स्मृतम्॥
सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते।
सेवाश्ववृत्तिसंख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत्॥ मनु० ४।४६
वर्तयंश्च शिलोञ्छाभ्यामग्निहोत्रपरायणः।—मनु० ४।१०

२. त्वया जगत्युञ्चितकान्तिसारे यदिन्दुनाशीलि शिलोञ्छवृत्तिः।
आरोपितन्माणवकोपि मौलो स यौवराज्येऽपि महेश्वरेण॥ नै० ८।४२

३. मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥ मनु० २।२०

४. सद्वितीयः स्त्रियमभ्युपेयादेवं स दुर्बुध्य नयोपदेशम्।
अन्यां सभार्यः कथमृच्छतीति जलाधिपोऽभूदसहाय एव॥ नै० १४।६८

जो दूसरे के रक्खे निक्षेप (न्यास) का अपहरण करता है उसके लिए धर्म-शास्त्र ने चोर के योग्य कठोर दण्ड का विधान किया है।[१]

राजा नल के वेश-प्रसाधन के समय श्रीहर्ष ने स्मृति के पूर्वोक्त विधान का स्मरण किया है—"राजा के केशप्रसाधन मे नियुक्त पुरुषों ने बडे विचार एव अव-धान के साथ केशों का श्रृंगार किया। शरद् ऋतु मे मयूर अपने पखों को गिरा देते हैं। मानों कलापो को गिराते समय मयूरो ने उनकी शोभा को उन केशों के पास न्यास-रूप मे रख दिया था। किन्तु बाद मे जब उन मयूरों ने उन्हे वापस माँगा तो इन केशों ने 'न' कर दिया। अत राजदण्ड-रूप मे उन्हे बाधा जा रहा है।"[२]

विवाह-विधि मे सप्तपदी का सविशेष महत्त्व है। लाजा होम, सागुष्ठवधूहस्त-ग्रहण, अश्मारोहण, गाथागान, और अग्निप्रदक्षिणा तीन बार हो चुकने पर अवशिष्ट लाजाओं की आहुति 'ॐ भगाय स्वाहा' मत्र से हो जाने के अनन्तर, चतुर्थ अग्नि प्रदक्षिणा मौन वर आगे और वधू पीछे चलकर समाप्त करते हैं, और वर प्रजापति की आहुति देने के उपरान्त आलेपन (ऐपन) से उत्तरोत्तर बनाए हुए सात मण्डपों पर वधू का दाहिना पद ॐ कार सहित १—'एकमिषे विष्णुस्त्व नयतु' २—'द्वे ऊर्जे विष्णुस्त्वा नयतु' ३—'त्रीणि रायस्पोषाय विष्णुस्त्वा नयतु' ४—'चत्वारि मायोभवाय विष्णुस्त्वा नयतु' ५—पचपशुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु ६—'षड्ऋतुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु' ७—'सखे सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयतु।' इन सात मत्रों द्वारा रखवाता हुआ उत्तर को चलाता है। तथा इन सात पदों के रखने मे वधू एक एक करके सात वचन मांगती हैं, और अन्त मे वर अपना वचन देता है। विवाह विधि के मंत्रों की निष्ठा (उद्देश्य पूर्ति) उक्त सप्तपदी के सातवें पद पर समाप्त होती है।[३]

विवाहोचित श्रृंगार के समय नल के तिलक के प्रति कवि विवाह-विधि की पूर्णता-द्योतक उक्त सप्तपदी का उल्लेख करता है।

नल के मस्तक पर वह तिलकबिंदु इस प्रकार लगता था मानों इन्द्र ने नल की ललाटस्थ दैवी-लिपि को पढ़ने के लिए चन्द्रमा को भेजा है, क्योंकि उन्हें अब

---

१. यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते।
तावुभौ चौरवच्छास्यो दाप्यो वा तत्समं दमम्॥ मनु० ८।१९१

२. नृपस्य तत्राधिकृताः पुनः पुनर्विचार्य तान् बन्धमवापिपन् कचान्।
कलापलीलोपनिधिर्गरुत्त्यजः स यैरपालापि कलापिसम्पदः॥ नै० १५।५८

३. निष्ठा विवामन्त्राणां तासां स्यात् सप्तमे पदे॥ याज्ञ० स्मृ०, मिताक्षर १।५५ के कुछ पुस्तकों में उपलब्ध।

भी यह दुराशा बनी है कि जब तक सप्तपदी (सात) पूरी नहीं हो जाती दमयन्ती पूर्ण रूप से नल की पत्नी नहीं हो सकती, और यदि कहीं नल की भाग्य-लिपि में दमयन्ती पत्नी के रूप मे नहीं लिखी है तो अब भी उसके पाने का प्रयत्न किया जा सकता है।[1]

धर्मशास्त्र के अनुसार विवाह की प्रधान विधियों का श्रीहर्ष ने नल के विवाह के समय उल्लेख किया है। जहाँ कहीं विधि-क्रम में कुछ अव्यवस्था समझ पड़ती है वह देशाचार तथा कुलाचार की विशेषता के कारण ही है। उसे कवि की अज्ञता का फल न समझना चाहिए। अतएव नैषध प्रकाशकार नारायण ने लिखा है :—

"यहाँ कहीं-कहीं जो विधि का क्रम भंग मिलता है वह देशाचार, शाखाभेद अथवा कुलाचार-विशेष के कारण हुआ समझना चाहिए। वहाँ श्रीहर्ष कवि के अज्ञान का तो लेशमात्र भी नहीं है।[2]"

विवाह के प्रारम्भ में सर्वप्रथम वर को कासे के पात्र में दधि, मधु तथा घृत को मिलाकर बना हुआ मधुपर्क खिलाया जाता है। कन्यादान करने वाला उसे मंत्र सहित वर के हाथ में देता है। वर मंत्रसहित उसे अपने हाथ मे लेता है। इसके पश्चात् अनामिका और अगुष्ठ से उसे मंत्र पढ़ते हुए आलोडन करता हुआ तीन बार भूमि पर गिराता है। और तब मंत्र[3] पढ़ते हुए तीन बार स्वयं खाता है।

नल के विवाह मे श्रीहर्ष मधपर्क-प्राशन का वर्णन और उपयोग सचमत्कार करते हुए बतलाते हैं :—

"नल ने जो मधुपर्क (दधि, घृत, मिश्रित मधु) का आस्वादन किया उसका फल सोचने वालों ने यह तर्क लगाया कि भविष्य में यह जो दमयन्ती के अधर मधु का पान करेंगे उसी का इन्होंने यह शुभ मुहूर्त मे प्रारम्भ किया है।[4]"

---

१. न यावदग्निभ्रममेत्युदूढतां नलस्य भैमीति हरेर्दुराशया।
स विन्दुरिन्दुः प्रहितः किमस्य सा न वेति भाले पठितुं लिपीमिव॥
नै० १५।६४

२. अत्र क्वचित् क्वचित् विधिक्रमभंगो देशाचाराच्छाखाभेदात् कुलाचारविशेषाद्वा बोद्धव्यः। न पुनः श्रीहर्षकवेरज्ञानलेशोपि—नै० १६।३५ की नारायण की टीका।.

३. यन्मधुनो मधव्यं परमं रूपमन्नाद्यं तेनाहं मधुनो मधव्येन परमेण रूपेण। न्नाद्येनपरमोमधव्योन्नादोऽसानि।

४. असिस्वदद्यन्मधुपर्कमर्पितं स तद्व्यधात्तर्कमुदर्कदर्शिने।
यदेष पास्यन्मधुभैमजाधरं मिषेण पुण्याहविधिं तदाकृता॥ नै० १६।१३

इसके आगे १६।१४, १५ में कन्यादान-विधि-गत जामातृ-(नल)-दक्षिण-कर के ऊपर कन्या-(विदर्भजा)-दक्षिण-कर के रखे जाने का उल्लेख शुक्ल-यजुर्वेदीय विवाह विधि के अनुसार करके श्रीहर्ष ने कन्यापिता के द्वारा दिए हुए यौतक का वर्णन १६।१६–३४ मे किया है। यौतक मे जो चिन्तामणि, माला खड्ग, क्षुरिका, सखिया, रथ, अश्व, माणिक्यमय पतद्‌ग्रह (उगालदान) गरुडमणि निर्मित (अर्थात् विषापहारक) थाल, गज, स्वर्ण, रत्नादि कन्यादान की दक्षिणा रूप मे दिए गये[1] वे उक्त विधि के क्षात्रोचित महादानों के निर्देशक है। इसके आगे शुक्लयजुर्वेदीय विवाह विधि के अनुसार वर वधू का (दक्षिण) पाणिग्रहण करके "ॐ यदैषि" इत्यादि मंत्र पढ़ता हुआ मडप से अग्नि के समीप वधू को ले जाता है और फिर अग्नि प्रदक्षिणा कर कुश-कण्डिका-पूर्वक होम करके लाजाहोम सागुष्ठ वधूदक्षिण-हस्त-ग्रहणादि विधि का पालन करता है। उसका उल्लेख श्रीहर्ष ने इस प्रकार से किया है —

"जो अग्नि इन्द्र-वरुण-यम के साथ उन दोनों के पाणिग्रहण (विवाह के विषय) में वामता (वक्रत्व) धारण किये हुए था, (अर्थात् दमयन्ती को चाहता हुआ नल-रूपधारी होकर पहले विरुद्ध था) और बाद मे दमयन्ती द्वारा (नल-वरण के अवसर पर स्तुत्यादि से) प्रसन्न किया जा कर दाहिना (अनुकूल) कर लिया गया था, वही अग्नि, पाणिग्रहण के अनन्तर नल द्वारा (कुशकण्डिका विध्यनुसार उल्लेखनादि-संस्कारपूर्वक) आगे स्थापित किया जा कर उस समय प्रदक्षिणा किया गया (पहले जो वाम एव वामभाग मे था वह अर्चनादि द्वारा अत्यन्त अनुकूल बना लिया गया, एवं प्रकृष्टतया दक्षिण भाग मे कर लिया गया)।[2]"

हिरण्य-पर्ण शब्द वनस्पति पद वाच्य अग्नि के लिये निरुक्त ८।१९ के अनुसार देवेभ्यो वनस्पते' इत्यादि मंत्र मे प्रयुक्त हुआ है। पाणिग्रहण के ॐ यदैषि,

---

१. नै० १६।१६–३४

२. कर ग्रहे वाम्यमधत्त यस्तयोः प्रसाद्य भैम्यानु च दक्षिणीकृतः।
कृतः पुरस्कृत्य ततो नलेन स प्रदक्षिणस्तत्क्षणमाशुशुक्षणिः॥ नै० १६।३

यहाँ करग्रहे का अन्वय नलेन तत्क्षणं प्रदक्षिणः कृतः के साथ कर के विधिगत वरद्वारा वधू के साङ्गुष्ठ दक्षिण-हस्तग्रहण का भी परामर्श हो सकता है, जिस के मंत्र—ॐ गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यसः। 'भगोऽर्यमा इत्यादि 'अमोहमस्मि' इत्यादि और 'तावेव विवहाव' इत्यादि तीन है। इसके पश्चात् ही अश्मारोहणादि आगे का कृत्य आ जाता है।

इत्यादि मंत्र मे भी हिरण्यपर्ण-शब्द-सूचित उसी अग्नि से वधू को वरमनाः (Husband minded) बना देने की प्रार्थना की गयी है।

हस्तग्रहण के पश्चात् अश्मारोहण-विधि मे पूर्वाभिमुख वर अग्नि के उत्तर की ओर रखे हुए पाषाण (शिल) पर वधू को दाहिने पैर से खड़ी करता हुआ जिस मंत्र को पढ़ता है, उसमे पत्नी से कहा गया है—"तू इस पत्थर पर चढ़ (और इस प्रकार सस्कार को प्राप्त होने पर) तू पत्थर के समान स्थिर (दृढ़ाङ्गी) अथवा पतिव्रता के अथवा गृहस्थी के धर्म मे दृढ़ हो। कलह-कारियों पर अपना रोब जमा कर विरोधियों को भग्नोद्यम कर।" किन्तु नैषधीयचरित में जैसे ही यह मत्र दमयन्ती से कहा गया वैसे ही शीघ्र आकाश मे नष्ट (लीन) हो गया। क्यों? "पत्थर तो मनुष्यों के हिलाने से अपने स्थान से चल देता है, किन्तु दमयन्ती को तो इन्द्र भी अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ पातिव्रत्य की मर्यादा से तिल मात्र भी न डिगा सके।" इस प्रकार से स्थिरता मे पत्थर की उपमा दमयन्ती के लिये हीन (अपमानजनक) है और मुझे ऐसी उपमा देना मेरे लिये लज्जाजनक है, मानों यही सोचकर वह मंत्र-वचन स्वयं लज्जा से अभिभूत होकर शीघ्र शून्य में विलीन हो गया।[1]

ग्रन्थि-बन्धन का विधान स्विष्टकृत् होम (अग्नि की अन्तिम आहुति) से पूर्व है। नैषध में चमत्कार-पूर्वक इसकी भी उल्लेख मिलता है। यथा—

"उस समय पुरोहित ने दमयन्ती का प्रिय के साथ ग्रन्थि-बन्धन किया। मानों वह त्रिकाल-वेत्ता दमयन्ती से कह रहा हो कि नल का विश्वास न करना क्योंकि वन मे तुम्हारा आधा वस्त्र लेकर तुम्हे एकाकिनी छोड़ कर ये चले जायेगे, अतः अभी से बांध रक्खो।[2]"

वर वधू को ध्रुव देखने के लिये (ध्रुवमुदीक्षस्व) कहता है और वधू ध्रुव को देखती हुई "तुम ध्रुव हो, ध्रुव रूप तुमको मै देखती हूँ" इतना मंत्र भाग पढ़ती है। उसको देखते हुए शेष मंत्र वर पढ़ता है। फिर वधू चाहे न देख रही

---

१. ओम् आरोहेममश्मानमश्मेव त्वं स्थिरा भव।
अभितिष्ठ पृतन्यतो ववाधस्वपृतनायता॥
स्थिरात्वमश्मेव भवेति मन्त्रवागनेशदाशास्य क्रिमाशु तां ह्रिया।
शिला चलेत्प्रेरणयानृणामपि स्थितेस्तु नाचालि विडौजसापि सा॥ नै० १६।३६

२. प्रियांशुकग्रन्थिनिबद्धवाससं तदा पुरोधा विदधे विदर्भजाम्।
जगाद विच्छिद्य पटं प्रयास्यतो नलादविश्वासमिवैष विश्ववित्॥ नै० १६।३७

हो तो भी, "देखती हूँ" ऐसा कहती है।[१] इस विधि का उल्लेख नैषध में यों किया गया है: —"भौंहे उठाकर देखते हुए नल ने ध्रुव की ओर संकेत करके दमयन्ती को देखने को कहा। क्या ध्रुवतारा लघु होने पर भी दमयन्ती को स्वयं न दीखता। किन्तु नल ने वैदिक विधि को प्रमाण माना और उसके अनुसार स्वयं दमयन्ती को दिखाया।[२]"

लाजा-होम का स्थल पहले ही सूचित किया जा चुका है। लाजा-होम पहले तीन बार मंत्रों से किया जाता है, और प्रतिबार तीन-तीन मंत्र "ॐ अर्यमणं–" "ॐ इयं नारी–" "ॐ इमाल्लाजना. . . ."पढे जाते हैं। चौथे बार में शेष लाजों का ॐ भगाय स्वाहा इदं भगाय न मम" इस मंत्र से होम समाप्त होता है। लाजा-होम में वर की अञ्जलि के ऊपर वधू की अञ्जलि रहती है। अतः वधू-कर्तृक ही होम और मंत्रपाठ भी होता है। दोनों की अञ्जुलियों के नीचे के छिद्र से गिर कर, दोनों के खड़े-खड़े लाजा गिराने से वे लाजे आकाश में होते हुए, अन्ततः अग्नि में आ पड़ते हैं। इस विधि का अति सुन्दर आलङ्कारिक चित्र श्रीहर्ष ने इस प्रकार खींचा है:—"दमयन्ती के करपल्लवों मे लाजे श्वेतपुष्प के समान लग रहे हैं। उसके हाथ से छूट कर वे निराधार गिरते हुए तारों की भाँति चमक रहे थे और देवों के मुख रूप अग्नि में पड़कर श्वेत दन्तों की शोभा पा रहे थे। (पत्तों में फूल, आकाश में तारों तथा मुख मे दातों से समानता देकर कवि ने औचित्य को अद्भुत रूप से निभाया है)।[३]"

स्त्री स्वभावतः काम, क्रोध, अनार्जव, द्रोह आदि दुर्वृत्तियों का आधार मानी गयी है।[४] अत. "पतित के साथ एक वर्ष तक व्यवहार करने से मनुष्य स्वय भी पतित हो जाता है।"[५] के अनुसार स्त्री-संसर्ग से सभी पतित हुए। चार्वाक पूर्वोक्त स्मृति-

---

१. ॐ ध्रुवमसि ध्रुवन्त्वा पश्यामि। ॐ ध्रुवैधिपोष्यामयि मह्यन्त्वादाद् बृहस्पति
र्मयापत्या प्रजावती संजीव शरदः शतम्।

२. ध्रुवावलोकाय तदुन्मुखभ्रुवा निर्दिश्य पत्याभिदधे विदर्भजा।
किमस्य न स्यादणिमाक्षिसाक्षिकस्तथापि तथ्यो महिमागमोदितः॥
नै० १६।३८

३. प्रसूनता तत्करपल्लवस्थितैरुडुच्छविर्व्योमविहारिभिः पथि।
मुखेऽमराणामनलेरदावलेर्भाजिलाजैरनयोज्झितैर्द्युतिः ॥ नै० १६।४०

४. शय्यासनमलंकारं कामं क्रोधमनार्जवम्।
द्रोहभावं कुचर्यां च स्त्रीभ्योमनुरकल्पयत्॥ मनु० ९।१७

५. संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन्। वही—११।१८०

वचनों की एक साथ अपने अनुसार व्याख्या करते हुए उपहास करता है—"कामिनियों के संसर्ग से किसको पातक नहीं लगा? और जब संसार काम से जीर्ण है तो एकादशी-चान्द्रायणादि-व्रतों मे भोजन न करना और तीर्थ आदि में स्नान करना यह सब मोह-हेतुक ही है।[1]"

धर्मशास्त्र के आचार्यों ने परदाराभिमर्शन को अत्यन्त निन्द्य कहा है। मनु का वचन है, "संसार में पुरुष के लिये पर स्त्री-गमन-से बढ़कर आयु का नाश करने वाली दूसरी कोई वस्तु नहीं। अतः जो प्राज्ञ है, विनयशील है, ज्ञान विज्ञान को जानने वाला है, एवम् अपनी आयु चाहता है, उसे पर स्त्री गमन कभी न करना चाहिए।[2]"

चार्वाक पूर्वोक्त स्मृति वचन का आश्रय लेकर देवों का उपहास करता है "पर-स्त्री-गमन न करना चाहिए, इस प्रकार के पाखण्ड को अहल्या के साथ सम्भोग करने वाले इन्द्र स्वयं न पूरा कर सके, तो और कोई क्या कर सकता है?[3]"

स्मृतियों ने गुरु-तल्पगामी को पञ्च महापातकियों में एक बताया है।[4]

चार्वाक चन्द्रमा को पूर्वोक्त शास्त्राज्ञा का उल्लङ्घनकर्ता सिद्ध करते हुए कहता है—"अरे द्विजो, गुरु-तल्प-गमन में किसी पाप की सम्भावना ही मत करो। और की कौन कहे, आप लोगों के स्वामी द्विजराज चन्द्रदेव स्वयम् अपने गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा में अनुरक्त हुए थे।[5]"

---

१. कामिनीवर्गसंसर्गैर्न कः संक्रान्तपातकः।
नाश्नाति स्नाति हा मोहात् काम-क्षामव्रतं जगत्॥ नै० १७।४१

२. न हि दृशमनायुष्यं लोकेकिंचन विद्यते।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम्॥ मनु० ४।१३४
तत्प्राज्ञेन विनीतेन ज्ञानविज्ञानवेदिना।
आयुष्कामेन वप्तव्यं न जातु परयोषिति॥ वही—९।४१

३. परदारनिवृत्तिर्या सोऽयं स्वयमनादृतः।
अहल्याकेलिलोलेन दम्भो दम्भोलिपाणिना॥ नै० १७।४३

४. ब्रह्महा च सुरापश्च स्तेयी च गुरुतल्पगः।
एते सर्वे पृथग् ज्ञेया महापातकिनो नराः॥ मनु० ९।२३५
याज्ञवल्क्य का भी मत है:—
ब्रह्महामद्यपस्तेन स्तथैवगुरुतल्पगः।
एतेमहापातकिनो यश्च तैः सह संवसेत्॥ याज्ञ० स्मृ० प्रायश्चित्ताध्याय, २२७

५. गुरुतल्पगतौ पाप-कल्पनां त्यजत द्विजाः।
येषां वः पत्युरत्युच्चैः गुरुदारग्रहे ग्रहः॥ नै० १७।४४

मनु ने बलात् दिये हुए, बलात् भोगे हुए, बलात् लिखाए हुए तथा बलात् किए हुए सभी कार्यों को न किये हुए के बराबर माना है।[1]

अतः चार्वाक देवों से कहता है-"आप लोग बलात् पाप कर्म किया करें, वे सब आप के न किए के बराबर ही है, क्योंकि स्वयं मनु ने कहा है-बलात् किए गए सारे दोष नगण्य होते हैं।"[2] (यहां दोषान् पद के रख देने से चार्वाक ने मनु के अर्थ का अनर्थ कर दिया है।)

धर्मशास्त्रकारों ने विधि-निषेध की बड़ी विस्तृत सूची दी है। उसमें अहिंसा-पालन आदि विधि तथा गुरुपत्नी-गमन आदि निषेध परिगणित हैं? उसी प्रकार कुछ विहित कर्मों के न करने से तथा कुछ निषिद्ध के आचरण से मनुष्य पतित हो जाता है।[3]

बौद्ध, जैन तथा चार्वाक आदि नास्तिक सिद्धान्तों में इसी प्रकार विधि-निषेध का कुछ न कुछ विधान है ही। अत यमदेव चार्वाक को मुँहतोड़ उत्तर देते हुए कहते हैं—"कुछ वैदिक सिद्धान्तों को तो आप लोग भी एकमत होकर मानते ही हैं। और आप के यहाँ भी जो सर्वसम्मत धर्म को नहीं मानता तथा जो निन्दित का अनुसरण करता है वह पतित होता है। इस प्रकार कुछ वेद-विहित धर्मों को आप भी विहित तथा कुछ वेद-निषिद्ध को आप भी निन्दित समझते हैं। तो अन्य (स्मार्त आदि) विधि-निषेध भी, जो श्रुति-सम्मत हों, आप को मान्य होने चाहिए।"[4]

स्मृति की आज्ञा है कि सदा वेदाध्ययन के प्रारम्भ मे तथा समाप्ति पर गुरु के (दक्षिण वाम) चरणों का स्पर्श अपने तर-ऊपर किए हुए वाम-दक्षिण हस्तों से करना चाहिए। इसे ब्रह्माञ्जलि कहते है।[5]

---

१. बलाद्दत्तं बलाद्भुक्तं बलाद्यच्चापि लेखितम्।
सर्वान्बलकृतानर्थानकृतान् मनुरब्रवीत्॥ मनु० ८।१६८

२. बलात् कुरुतपापानि सन्तु तान्यकृतानि वः।
सर्वान्बलकृतान् दोषानकृतान्मनुरब्रवीत्॥ नै० १७।४९

३. विहितस्याननुष्ठानान्निषिद्धस्य च सेवनात्।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति॥ याज्ञ० प्रायश्चित्ताध्याय २१९

४. क्वापि सर्वैरवैमत्यात्पातित्यादन्यथाक्वचित्।
स्थातव्यं श्रौत एव स्याद्धर्मे शेषेपि तत्कृते।नै०१७।१०१

५. ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा।
संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः॥ मनु० २।७१

निषधपुरी मे कलि को वेद-विद्वान् ब्रह्माञ्जलि बाँधे दिखायी पड़े, कलि ने उस नगर मे वेदपाठ करते समय वैदिक विद्वानों को अञ्जलि बाँधे हुए देखा। उसके हृदय में इतनी व्यथा उठी कि जितनी ब्रह्माञ्जलियाँ उसने देखी उसके उतने ही दुःख के आँसू गिरे होंगे।[1]

जो सूर्यास्त तथा सूर्योदय के समय सोता रहता है उसे क्रम से अभिनिर्मुक्त तथा अभ्युदित कहा जाता है।[2] धर्मशास्त्र मे ऐसे दोनों प्रकार के पातकियों के लिये प्रायश्चित्त का विधान है।

मनु ने कहा है—सूर्यास्तमय तथा सूर्योदय के समय सोने वाला पुरुष बिना प्रायश्चित्त किए बड़े पाप से युक्त हो जाता है।[3]

किन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी कलि को निषध–राजधानी मे कोई अभिनिर्मुक्त न मिला। कलि ने उस नगर मे वीर शत्रुओं को मारने वाले वीर क्षत्रियों को देखा, किन्तु ऐसे कही न मिले जो सदाचारियों को मारने वाले हों। उसने जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानियों को तो देखा, पर सूर्यास्त के समय सोने वाले आचारभ्रष्टों को कहीं न देखा।[4]

धर्मशास्त्र के अनुसार स्नान पाँच प्रकार का माना गया है—आग्नेय, वारुण, ब्राह्म, वायव्य तथा दिव्य। इनमें गोरज (गोशाला की धूलि) लगाना वायव्य स्नान कहा जाता है।[5]

कलि को निषध-राजधानी में एक व्यक्ति वायव्यस्नान किए हुए सुन पड़ा। कलि ने सुना कि अमुक व्यक्ति रजोलिप्त है। उसे बड़ा सन्तोष हुआ कि मेरा आश्रय

---

१. अपश्यद्यावतो वेदविदां ब्रह्माञ्जलीनसौ।
उदडीयन्त तावन्तस्तस्यास्राञ्जलयोहृदः॥ नै० १७।१८३

२. सुप्ते यस्मिन्नस्तमेति सुप्ते यस्मिन्नुदेति च।
अंशुमानभिनिर्मुक्ताभ्युदितौ च यथाक्रमम्॥ अमरकोष

३. सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तःशयानोऽभ्युदितश्च यः।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा॥ मनु० २।२२१

४. तेनादृश्यन्त वीरघ्ना न तु वीरहणो जनाः।
नापश्यत् सोभिनिर्मुक्ताञ्जीवन्मुक्तानवैक्षत॥ नै० १७।१९७

५ आग्नेयं वारुणं ब्राह्मं वायव्यं दिव्यमेव च।
आग्नेयं भस्मना स्नानं वारुण्यमवगाहनम्॥
आपोहिष्ठेति च ब्राह्मं वायव्यं गोरजः स्मृतम्।
यत्तुसातपवर्षेण तत्स्नानं दिव्यमुच्यते॥ पराशर् बृ०दै०रं०, पृ०१०० में उद्धृत

तो मिला। पर जब जाकर देखा तो उसे ज्ञात हुआ कि वह व्यक्ति वास्तव मे गोरज लगा कर पवन-स्नान से पवित्र हुआ है। उस अभागे कलि को कहीं शरण नहीं।[1]

श्रोत्रिय अतिथि के सत्कार मे याज्ञवल्क्य का मत है कि महोक्ष (विशाल बैल) अथवा महाज (बड़ा बकरा) भेट करना चाहिए।[2]

नलपुर में एक स्थान पर कलि ने धर्मशास्त्र की पूर्वोक्त आज्ञा का निर्वाह होता देखा। कलि कहीं पर गोवध होता देखकर प्रसन्न हो उधर दौड़ा, किन्तु जाकर देखा कि वह तो अतिथियों के लिये किया गया है। नीच चुपचाप उलटे पाँव लौटा।[3]

---

१. श्रुत्वा जनं रजोजुष्टं तुष्टिं प्राप्नोज्झटित्यसौ।
तं पश्यन् पावनस्नानावस्थं दुःस्थस्ततोऽभवत्॥ नै० १७।१९९

२. महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्।
सत्क्रियान्वासनं स्वादु भोजनं सूनृत वचः॥ याज्ञ० स्मृति, आचाराध्याय १०९

३. अधावत् क्वापि गां वीक्ष्य हन्यमानामयं मुदा।
अतिथिभ्यस्तथा बुद्ध्वा मन्दो मन्दं न्यवर्तत॥ नै० १७।२००

परन्तु इस पर मिताक्षरा तो "महान्तमुक्षाणंधौरयं महाजं वा श्रोत्रियायोक्त-लक्षणायोपकल्पयेद् भवदर्थमयमस्माभिः परिकल्पतु इति तत्प्रीत्यर्थं, न तु दानाय व्यापादानाय वा। यथा सर्वमेतद् भवदीयमिति। प्रतिश्रोत्रियमुक्षासम्भवात्। अस्वर्ग्यंलोकविद्विष्टंधर्म्यमप्याचरेन्न तु इति निषेधाच्च। तस्मात् सत्क्रिया ह्येव कर्तव्याः।" इन शब्दों में गौ (बैल) के व्यापादन तो क्या दान तक का युक्ति-प्रमाण सहित स्पष्ट खण्डन करती है। क्योंकि श्रोत्रिय अभ्यागतों के सत्कार विशेष के लिये ही धर्म का प्रतीक बड़ा बैल, अथवा अग्निपरिचर्या का प्रतीक बड़ा बकरा उपस्थित किया जाता था, तथा उत्तरार्ध में कहे हुए मीठे वचन इत्यादि द्वारा भी उनकी प्रीति ही अभिप्रेत थी। बैल का दान वा व्यापादन दो कारणों से असम्भव है। एक तो जब नहीं तब आने वाले प्रत्येक श्रोत्रिय के लिये अलग-अलग इतने बैल कहाँ से आते, दूसरे अस्वर्ग्य और लोक-विद्विष्ट आचरण का धर्मसंगत होने पर भी शास्त्र में निषेध किया गया है। अतः केवल इसी भाव से कि यह सब हमारा धर्म और अग्निचर्यादि-जनित पुण्य आप ही का है, महोक्ष वा महाज उपस्थित किया जाता था। जैसे आजकल भी सन्तान बच्चों को उच्च अभ्यागतों के चरणों या गोद में डाल कर सर्वस्व भेंट करने का भाव प्रदर्शित किया जाता है। अश्रोत्रिय (साधारण) अभ्यागत का सत्कार केवल जल और आसन से किया जाता था, जैसा गौतम का वचन है—अश्रोत्रियस्योदकासने।

धर्मशास्त्र ने भोजन के प्रारम्भ मे अपोशन (अपोशान आपोशन, आपोशान) क्रिया करने की आज्ञा दी है।[1]

ऐसा विश्वास है कि इस क्रिया के करने से भोजन पदार्थ अमृत मे परिणत हो जाता है। वीरमित्रोदय के आह्निक प्रकाश मे ब्रह्मपुराण का यह श्लोक आपोशान के विषय मे उद्धृत किया गया है। अमृतोपस्तरणमसि विष्णोः (विष्णु के अमृतमय उपस्तरण हो) इत्यादि कहते हुए आपोशान लेना चाहिए।[2]

याज्ञवल्क्य स्मृति के पूर्वोक्त १।३१ श्लोक की मिताक्षरा टीका मे आपोशान की व्याख्या मे ब्रह्मपुराण के पूर्वोक्त भाव का ही उल्लेख किया गया है।[3]

प्रभात वर्णन के प्रसंग में श्रीहर्ष ने बड़ी युक्ति के साथ पूर्वोक्त क्रिया की कल्पना की है—"प्रभात वेला में कमलिनी की प्रथम पंखुड़ी को विकसित तथा अन्य पखुड़ियों को सम्पुटित देखकर लोगों के मन मे यही ध्यान आता है, मानों सूर्य की किरणों का प्रथम बार भोग करने के लिये कमलिनी आपोशान क्रिया कर रही है।[4]" कनिष्ठिका अंगुली फैलाकर तथा शेष अगुलियों को मोड़कर भोजन के पूर्व आचमन करना आपोशानं क्रिया है।[5]

मरणाशौच मे मरण के दिन तो बन्धु-बान्धव सभी उपवास अथवा क्रीताशन करते है, किन्तु कुछ दिनों मे सभी मिलकर एक साथ भोजन करते है। धर्मशास्त्र की आज्ञा भी ऐसी ही है।[6]

---

१. कृताग्निकार्यो भुञ्जीत वाग्यतोगुर्वनुज्ञया।
अपोशनक्रियापूर्वं सत्कृत्यान्नमकुत्सयन्॥ या० व०, आ० ३१

२. आपोशानं तु गृह्णीयात् सर्वतीर्थमयं हि तत्।
अमृतोपस्तरणमसिविष्णोरन्नमयस्य च॥

३. अपोशानक्रियाम् अमृतोपस्तरणमसीत्यादिका पूर्वं कृत्वा भुञ्जीत।

४. मिहिरकिरणाभोगं भोक्तुंप्रवृत्ततया पुरः।
कलितचुलुकापोशानस्य ग्रहार्थमियं किमु॥
इति विकसितेनैकेनप्राग्दलेन सरोजिनी।
जनयति मति साक्षात्कर्तुर्जनस्य दिनोदये॥ नै० १७।२८

५. आपोशानग्रहीता कर-कमले एकाङ्कनिष्ठामङ्गुलि प्रसारयति अन्याश्च संकोचयतीति सम्प्रदायः॥ नै० १९।२८ की टीका मे नारायण।

६. तिलान् ददतु पानीयं दीपं ददतु जाग्रतु।
ज्ञातिभिः सह भोक्तव्यमेतत्प्रेतेषु दुर्लभम्॥ निर्णयसिन्धौ तृतीय परिच्छेदे भारतम्

श्रीहर्ष ने इस विधि की भी कल्पना प्रभात-वर्णन के ही प्रसग मे की है। "गत दिन के बीतने पर जब सन्ध्या आयी तो मानों दयावश कमल सकुचित होने लगे। किन्तु कुछ भ्रमर कमल के क्रोड मे पड़े रहे। जो बाहर गए वे भीतर पड़े वालों के जीवन से निराश-से हो गए, और रात भर शोक मे उपवास करते रहे। प्रातः कमलों के विकसित होने पर भीतर पड़े मधुकर अपने बाहर से आने वाले साथियों के साथ अब पुष्प मकरन्द का पारण कर रहे हैं।[1]"

धर्मशास्त्र की आज्ञा है कि जो मनुष्य जिसके हाथमें जो धन जिस प्रकार समर्पित करे वह उसे उसी प्रकार वापस ले, क्योंकि जिस प्रकार समर्पण होता है उसी प्रकार वापस भी होना चाहिए।[2]

नल दमयन्ती की सुरत-वेला की एक घटना के प्रसंग मे एक ऐसे ही निक्षेप का उल्लेख करते है :—"क्या तुम्हारी स्मृति में वह घटना भी होगी जब मैंने अपने मुख से चबाये हुए पान के बीड़े के खंड तुम्हारे मुख मे रख दिए थे और फिर शास्त्रोक्त न्याय के अनुसार उनको मागा था।[3]"

धर्मशास्त्र में विवाद-निर्णय के लिये लिखित, साक्षी और भुक्ति रूप तीन प्रकार के मानुष प्रमाणी, तथा तुला अग्नि जलविष इत्यादि दिव्य प्रमाण अपेक्षित हैं। दिव्य प्रमाणों मे शपथ भी आते हैं। इनका वर्णन मनुस्मृति ८।१०९-११५ में मिलता है। याज्ञवल्क्य स्मृति २।९६ की मिताक्षरा अल्पार्थ अभियोग विषयक शपथों मे (नारद इत्यादि के मतानुसार) सत्य, वाहन, शस्त्र, गो, बीज, कनक, देवता-पितरों के पादों इत्यादि के स्पर्शादि का उल्लेख करती है। यद्यपि राजकीय

प्रथमेऽह्नि तृतीये च सप्तमे दशमे तथा।
ज्ञातिभिः सह भोक्तव्यमेतत्प्रेतेषु दुर्लभम्।।—निर्णयसिन्धु तृतीय, परिच्छेद, तृतीय भाग में उद्धृत मरीचिमत। पृ० ४१०, नि० सा० प्रे०, प्रकाशन १९०६ ई०।
"अशौचमध्ये यत्नेन भोजयेच्च स्वगोत्रजान्"—वही, उद्धृत ब्राह्ममत।

१. गतचरदिनस्यायुर्भ्रंशे दयोदयसंकुचत्कमलमुकुलक्रोडान्तीडप्रवेशमुपेयुषाम्।
इह मधुलिहां भिन्नेऽत्रम्भोरुहेषु समायतां सहसहरैचरालोक्यन्तेऽधुना मधुपारणा।।
नै० १९।३०

२. यो यथा निक्षिपेद्धस्ते यमर्थं यस्य मानवः।
स तथैव ग्रहीतव्यो यथादायस्तथाग्रहः।। मनु० ८।१८०

३. जागर्ति तत्र संस्कारः स्वमुखाद्भवदानने।
निक्षिप्यायाचितं यत्ता न्यायात्ताम्बूलफालिकाः।। नै० २०।८२

न्यायालयों में प्राड्विवाक (जज) के द्वारा ही मानुष प्रमाणों के ही समान दिव्य प्रमाणों और शपथों से विवाद का निर्णय किया जाता था, तथापि मानव-समाज में अपनी कही हुई बात को श्रोता का अविश्वास दूर करके प्रमाणित करने के लिए स्वयं शपथ लेने की प्रथा चल पडी। नैषधीयचरित (२०।१०८) में दमयन्ती की सखी कला ने अपनी बात का देव-शपथ पूर्वक विश्वास दिलाया है।[1]

परन्तु धर्मशास्त्र की आज्ञा है कि बुद्धिमान् मनुष्य को थोड़े भी कार्य के लिये झूठी शपथ न करनी चाहिए, क्योंकि झूठी शपथ करने से मनुष्य का इस लोक तथा परलोक दोनों मे विनाश होता है।[2]

इसी भय से दमयन्ती की सखी अपने शपथ मे देव शब्द की व्याख्या कर रही है—

"राजन् मैंने जो 'व्यर्था. स्युर्मम देवता:' (नै० २०।१०८) कहा था उसमें 'देव' पद आप के सम्बोधन मे कहकर मैं उन सारी बातों की व्यर्थता का समर्थन करती हूँ। अन्यथा देवता-सम्बन्धी किये गए शपथ का निश्चित ही बड़ा कठोर परिणाम हुआ करता है।[3]"

आयुर्वेद

आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार कुछ रोग ऐसे होते है जो[4] एक व्यक्ति से दूसरे में भी संक्रमण कर जाते हैं, अतः उन्हे सक्रामक रोग कहते है।[5] दमयन्ती के सम्मुख

---

१. मिथ्या वेत्थ गिरश्चेत्तद् व्यर्था:स्युर्मम देवताः।

२. न वृथा शपथं कुर्यात् स्वल्पेऽप्यर्थे नरोबुधः।
वृथाहि शपथं कुर्वन् प्रेत्य चेह च नश्यति॥ मनु० ८।१११

३. आमन्त्र्य तेन देव त्वां तद्वैयर्थ्यंसमर्थये।
शपथःकर्कशोदर्कःसत्यंसत्योपि दैवतः॥ नै० २०।११८

४. शरीरस्पर्श, निःश्वास, सहभोज, सहशयन, सहस्थिति तथा वस्त्रमाल्य अनुलेपन द्वारा।

५. प्रसंगाद्गात्रसंस्पर्शान्निःश्वासात् सहभोजनात्।
सहशय्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात्॥
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च।
औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम्॥
सुश्रुत-संहिता, निदानस्थान ५।३३,३४

मदन-व्यथित नल की कामदशाओं[1] के वर्णन के प्रसंग मे 'त्रपानाश' का वर्णन करते हुए हंस आयुर्वेद के पूर्वोक्त सिद्धान्त को अत्यन्त सुन्दर ढग से व्यक्त करता है। "अत्यन्त लज्जाशील नल के मदन-ज्वर की चिकित्सा करने के लिये सिद्ध वैद्यों के समूह आए, पर उस रोग के निदान के विषय मे ही सभी मौन हो गए, मानों एक संक्रामक रोग की भाति नल की लज्जा ने उन सबको आक्रान्त कर लिया।[2]"

वैद्यक सिद्धान्त के अनुसार ताप की शन्ति के लिए उशीर (नलद, खस) का प्रयोग किया जाता है।[3] दमयन्ती के विरहताप की शान्ति के लिए कन्यान्तःपुर में नियुक्त वैद्य भी राजा भीम से उशीर के प्रयोग की सलाह देता है। "कन्यान्तःपुर में साधिकार नियुक्त मंत्री तथा वैद्य, जिनके नियत्रण मे कन्यान्तःपुर को दूषित करने के लिये कोई दोष (वातादि तथा व्यभिचारादि) समर्थ नहीं हो सकते थे, दोनों ने एक साथ राजा से निवेदन किया—

---

१. काम-दशायें दस मानी गई हैं—

चक्षूरागः प्रथमं चिन्तासंगस्ततोऽथ संकल्पः।
निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः।
उन्मादो मूर्छास्मृतिरित्येता स्मरदशा दशैवस्युः॥

२. स्मारं ज्वरं घोरमपत्रपिष्णोः सिद्धागदङ्कारचये चिकित्सौ।
निदानमौनादविशद् विशाला सांक्रामिकी तस्यरुजेव लज्जा॥ नै० ३।१११

३. दाहाभिभूतमथवा परिषेचयेत्तु शीतैरुशीरजलचन्दन तोय-तोयैः। इत्यादि सुश्रुतसंहिता, उत्तरतन्त्र ४७।५८; लाजाचन्दनकाश्मर्यफलमधूकशर्करानीलोत्पलोशीरसारिवागुडूची ह्रीबेराणीति दशेमानि दाहप्रशमनानि भवन्ति। चरकसंहिता, सूत्रस्थान, अध्याय ४।१८(४१)।

सहस्रधौतं सर्पिर्वा तैलंवा चन्दनादिकम्।
दाहज्वरप्रशमनं दद्यादभ्यञ्जनं भिषक्॥ २५७

अथचन्दनाद्यं तैलमुपदेक्ष्यामः चन्दनभद्रश्रीकालानुसार्यकालीयकपद्मापद्मकोशीरसारिवा-मधुक... ....मधूकानामन्येषां च शीतवीर्याणांयथालाभमौषधानां कषायं कारयेत्।...साधयेत् तैलम् एतत्तैलमभ्यंगात् सद्योदाहज्वरमपनयति।......२५८॥ चरक, चिकित्सास्थान, अध्याय ३

अथोष्णाभिप्रायिणां ज्वरितानामभ्यंगादीनुपक्रमानुपदेक्ष्यामः। अगुरु—कुष्ठ—तगर—पत्र—नलद..... ...तिल—बदर—कुलत्थमाषाणामेवंविधानामन्येषां यथालाभमोषधानांकषायं कारयेत—.....प्रयुञ्जीत शीतज्वर प्रशमार्थम्—चरक संहिता चिकित्सास्थान, अ० ३।२६७

मन्त्रि-प्रवर—"देव, सुनिए, स्वयम् अच्छी तरह से सुनकर तथा गुप्तचर के कहने से मैं सारी बात जानता हूँ। दमयन्ती के ताप को दूर करने में नल नामक राजा के प्रदान के सिवा अन्य कोई समर्थ नहीं हो सकता।"

वैद्य—"राजन् सुनिए, सुश्रुत तथा चरक की कहीं बातों से मैं सब जानता हूँ कि बिना "उशीर" दिए राजकुमारी के ताप को ब्रह्मा भी (कोऽपि) दूर नहीं कर सकते।"[1]

मूर्छा आने पर उसकी शान्ति का एक उपचार रोगी के ऊपर जल छिड़कना भी है। आचार्य सुश्रुत ने मूर्छा की साधारण चिकित्साओं में जलसेक को प्रथम स्थान दिया है।[2]

दान देते समय हाथ में लिए जल की उपयोगिता श्रीहर्ष के अनुसार याचक की मूर्च्छाकृत अपमृत्यु दूर करने के लिए ही है। दानी देय वस्तु के साथ याचक को जल देता है। वह याचक को याचना के निष्फल होने की शङ्का से बढ़ती हुई (मूर्च्छात्मक) अपमृत्यु की चिकित्सा है।[3]

मूर्छाशान्ति के लिए विशल्या ओषधि (गुडूची) लता का भी प्रयोग किया जाता है। आचार्य शोढल ने मूर्छा-प्रशमन के लिए 'गदनिग्रह' में सोंठ, गुडुची, द्राक्षा आदि कई ओषधियों का एक क्वाथ बताया है।[4]

देवगण अपनी विरह-मूर्छा में दमयन्ती-रूपी विशल्या की दूत-नल द्वारा याचना करते हैं! "उन देवों ने पृथक्-पृथक् गाढालिङ्गन पूर्वक तुम्हें यह संदेश

---

१. कन्यान्तःपुरबाधनाय यदधीकारान्न दोषानृपं ।
द्वौ मन्त्रिप्रवरश्च तुल्यमगदङ्कारश्च तावूचतुः ॥
देवाकर्णय सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन जाने खिलं ।
स्यादस्या नलदंविना न दलने तापस्य कोऽपिक्षमः ॥ नै० ४।११६

२. सेकावगाहौ मणयः सहाराः शीताः प्रदेहा व्यजनानिलाश्च।
शीतानि पानानि च गन्धवन्ति सर्वासु मूर्च्छास्वनिवारितानि ॥
—सुश्रुत-संहिता, उत्तर-तंत्र, ४७।१४

३. यःप्रदेयनृपतीयवदान्यैर्दीयते सलिलमर्थिजनाय।
सार्थनोक्तिविफलत्वविशङ्कात्रासमूर्च्छदपमृत्युचिकित्सा ॥ नै० ५।८५

४. महौषधामृता द्राक्षा पौषकरग्रन्थिकोद्भवम् ।
पिबेत् क्वाथंकणायुक्तं मूर्च्छायां च मदेषु च ॥ गदनिग्रह, मूर्च्छाधिकार १६।३०

भेजा है--"सुन्दरि" मदनरूपी भील के बाणों से मूर्छित हम लोगों के कल्याण के लिए तुम विशल्या नाम की ओषधि बनो।"[1]

धनुर्वेद

जिस बाँस का धनुष बनाना होता है पहले उसकी परीक्षा की जाती है। उस पर सिन्दूर की रेखा खीची जाती है। यदि रेखा स्पष्ट हुई तो वह बाँस धनुष बनाने के सर्वथा योग्य समझा जाता है।[2]

दमयन्ती को कामदेव का चाप-रूप बताते हुए हंस उसे धनुर्वेद के पूर्वोक्त सिद्धान्त के अनुसार भलीभाँति धनुर्लता होने योग्य बताता है--"सुन्दरि, निर्दोष वंश मे उत्पन्न, गुणों से सम्पन्न तुम्हे अच्छे बाँस की बनी, अधिज्य धनुर्लता के समान पाकर कामदेव अपने पुष्प-चाप से दुर्जेय उस राजा को अब जीतने के लिए प्रहृष्ट हो रहा है। तुम्हारी पीठ पर दूर तक लटकने वाली ग्रीवाकार रेशम की डोरी ही मानो उस धनुर्लता के बाँस की परीक्षा के लिए खीची गई सिन्दूर की घर्षण-रेखा है।"[3]

पक्षियों को उड़ाने के लिए एक विशेष प्रकार का धनुष होता है जिसे गुलिका-धनुष कहते हैं। उससे बाण नही चलाए जाते, अपितु गोलियाँ चलाई जाती हैं और उसकी मौर्वी के बीचों बीच गोलियों को रखने के लिए एक स्थान होता है जिसे गुलिका-बिल कहते हैं।

हंस दमयन्ती को मदन की गुलिका-धनुर्लता-रूप कहता है:--"सुन्दरि, तुम अपने हार के मोतियों को उस प्रभु कामदेव की गोलियाँ (जिनसे चिड़ियों पर निशाना मारा जाता है), उस राजहस (नल) को लक्ष्य तथा अपने को मनोज्ञ धनुर्लता जानो। मध्य में तुम्हारी नाभिरूपी बिलवाली यह रोमपंक्ति उस

---

१. एकैकमेते परिरभ्य पीनस्तनोपपीडं त्वयि सन्दिशंति।
त्वं मूर्च्छतां नः स्मरभिल्लशल्यैर्मुदे विशल्यौषधिवल्लिरेधि॥ नै० ८।९०

२. कषणधारया धनुर्योग्यवेणुपरीक्षायां निघृष्यमाणं सिन्दूरं चलति चेत्तदा परिपाको ज्ञेयः इति धानुष्कप्रसिद्धिः॥ नै० ३।१०६ की नारायण-टीका।

३. कामःकौसुमचापदुर्जयममुं जेतुं नृपं त्वां धनु-
र्वल्लीमव्रणवंशजामधिगुणामासाद्यमाद्यत्यसौ।
ग्रीवालङ्कृतिपट्टसूत्रलतयापृष्ठे कियल्लम्बया
भ्राजिष्णुं कषरेखयैवनिवसत् सिन्दूर सौन्दर्यया॥ नै० ३।१२६

धनुर्लता के मध्य मे गुलिका-बिल-रूप से सुन्दर प्रत्यञ्चा की सारी क्रियाओं को धारण किए हुए है।[1]"

लक्ष्यभेद का अभ्यास करने के लिए दूर किसी ऊँचे (पुरुष की आकृतिवाले) स्थान पर एक गोल चिह्न लक्ष्य-रूप मे बना दिया जाता है। धनुर्धारी उसी गोल लक्ष्य मे अपना बाण मारता है। यदि बाण मध्य से पार हो गया तो वह सफल माना जाता है अन्यथा विफल।[2] दक्ष धनुर्धर तो सव्यापसव्य (दाहिने और बाँए) दोनों हाथों से तीर चलाते है।

स्वयंवर-सभा मे सुन्दरी दमयन्ती के प्रवेश करने पर उसके आलोक-सामान्य रूप की परस्पर प्रशंसा करते हुए राजा लोग सुन्दरी के कुण्डलों के प्रति उत्प्रेक्षा करते है—"सुन्दरी के दोनों कर्णाभरण क्या धनुर्धारी मदन के निशाना मारने के लिये दो गोल चिह्न बनाकर रक्खे गए है! क्या दायें बाए दोनों हाथों से मारे हुए उसके बाण इन्ही गोलों के बीच से होकर जाते हैं?"[3] और "इन्दीवर को कर्णफूल बनाकर दमयन्ती कुसुमधन्वा की अपकीर्ति फैला रही है, क्योंकि दुर्जन

---

१. त्वद्गुच्छावलिमौक्तिकानिगुलिकास्तं राजहंसं विभो-
वेध्यं विद्धि मनोभुवः स्वमपि तां मंजुं धनुर्मञ्जरीम्।
यन्नित्याङ्कनिवासलालिततमज्याभुज्यमानं लस-
न्नाभीमध्यबिला विलासमखिलं रोमालिरालम्बते॥ नै० ३।१२७

२. मनोलक्ष्यगतं कृत्वामुष्टिना च विधानवित्।
दक्षिणे गात्र-भागे तु कृत्वा वर्णं विमोक्षयेत्॥
ललाटपुट-संस्थानं दण्डं लक्ष्ये निवेशयेत्।
आकृष्य ताडयेत्तत्र चन्द्रकं षोडशाङ्गुलम्॥
मुक्त्वा बाणं ततः पश्चाद्‌वर्णाशिक्यं तदातया।
निगृह्णीयान् मध्यमया ततोऽङ्गुल्या पुनः पुनः॥
अलिलक्ष्यं क्षिपेत्तूणाच्चतुरस्रं च दक्षिणम्।
चतुरस्रगतं वेध्यमभ्यसेच्चादितः स्थितः॥ अग्निपुराण २५०।७–१०.
कर्तव्यं शिक्षकैस्तस्य स्थानंकक्षासु वै तदा।
वामहस्तेनसंगृह्य दक्षिणेनोद्धरेत्ततः॥
कुण्डलस्याकृतिकृत्वाऽऽभ्राम्यैकं मस्तकोपरि।
क्षिपेत्तूणमयंतूर्णं पुरुषे चर्मवेष्टिते॥ वही

३. लक्ष्ये धृतं कुण्डलिके सुदत्यां ताटङ्कयुग्मं स्मरधन्विने किम्।
सव्यापसव्यं विशिखा विसृष्टास्तेनानयोर्यान्ति किमन्तरेव॥ नै० १०।११७.

लोग इन कर्णपूरों के कारण यह कहेंगे कि "मदन के बाण-रूपी ये इन्दीवर सुन्दरी के कुण्डली (लक्ष्य) को पार न कर सके, अतः वे भ्रष्ट-लक्ष्य हैं।[१]"

शराभ्यास करने को उपासन[२] तथा शराभ्यासशाला को शरोपासन-वेदिका कहते हैं, जिसमें वेध्य-लक्ष्य के रूप में डण्डे गड़े रहते हैं।

स्वयंवर में नल को वरमाला पहनाती हुई रोमाञ्चिताङ्गी दमयन्ती मदन की शरोपासन-वेदिका-सी ही प्रतीत होती थी—"दमयन्ती का सारा शरीर रोमाञ्चित हो उठा था, तथा उसके रमणीय अधर उसे और भी सौन्दर्य प्रदान कर रहे थे। उस समय वह इस प्रकार प्रतीत होती थी, मानों कामदेव की बाणविद्या सीखने की वेदी हो, जिसमें पुलकित रोम वेध्य लक्ष्य-दण्ड के समान सुशोभित हो रहे थे।[३]"

धनुर्वेद में अस्त्र-शस्त्र के अभ्यास को खुरली[४] कहते हैं।

राजा नल अपनी दिनचर्या में अन्य राजकुमारों को स्वयं अस्त्र-शस्त्र का अभ्यास कराते हैं— "उस महापराक्रमी ने विद्या सीखने के लिए आए हुए राजकुमारों को अस्त्र-शस्त्र का अभ्यास (खुरली) कराया।"[५]

श्रीहर्ष को धनुर्वेद से इतना गाढ़ परिचय रहा है कि सौन्दर्य वर्णन करते समय उन्हें मदन के धनुष की तथा धनुर्वेद के किसी न किसी सिद्धान्त की याद अवश्य

---

१. तनोत्यकीर्ति कुसुमाशुगस्य सैषा बतेन्दीवरकर्णपूरौ।
यतःश्रवःकुण्डलिकापराद्धशरं खलःख्यापयिता तमाभ्याम्॥ नै० १०।११८

२. शराभ्यासे उपासनम्—अमरकोष

३. रोमाङ्कुरैर्दन्तुरिताखिलाङ्गी रम्याधरा सा सतुरां विरेजे।
शरव्यदण्डैः श्रितमण्डनश्रीः स्मारी शरोपासनवेदिकेव॥ नै० १४।५४

४. अभ्यासः खुरली योग्या—इति हारावली-रुचिपति द्वारा अनर्घराघव की ४।२४ की टीका में उद्धृत।

विद्याधर नैषध के २१।५ श्लोक की टीका में खुरली का मल्लशाला या श्रमस्थान अर्थ करते हैं और प्रतापमार्तण्ड का उद्धरण देते हुए कहते हैं—खुरली श्रमस्थानम्। यदुक्तं प्रतापमार्तण्डे—श्रमस्थानं खुरलिका खुरली च।...

विह्लण ने अपनी कर्णसुन्दरी (२।६) में खुरली शब्द का प्रयोग लक्ष्य के अर्थ में किया है—"सापि स्वैरं विशिखखुरली कल्पिता मन्मथेन"—श्रीहान्दिकी—नैषधचरित, पृ० ५५१

५. अस्त्र-शस्त्र-खुरलीषु विनिन्ये शैष्यकोपनमितानमितौजाः॥ नै० २१।५

आई है—उदाहरणार्थ भौंहो के वर्णन में उनकी कल्पना है—"आज मदन अपने पुराने पुष्पधनुष को, जिसका पराग-स्थान भ्रमर आदि कीडों ने खा लिया है—त्याग कर दमयन्ती की भौहों को—जिनके मध्य मे मुट्ठी रखने का स्थान है—अपना धनुष बनाने का सम्मान दे। (धनुष् के भी मध्य मे मुट्ठी रखने का स्थान होता है।)[1]" उसी प्रकार दमयन्ती के अधरों एव वाणी के वर्णन में वे नल-मुखेन कल्पना करते-है—"प्रिये, तुम्हारा ऊपर का अरुण होठ मदन का बन्धूक-माला-विनिर्मित धनुष है, तथा नीचे का अधर उसकी मौर्वी-लता है। सुन्दरि, तुम्हारी वाणी साक्षात् मदन का धनुर्वेद ही है। तो अपने (बजाने के) कोणरूप धनुष को लेकर वीणा उस धनुर्वेद का ही अभ्यास कर रही है।[2]"

सामुद्रिक शास्त्र

जहाँ तक स्त्री-पुरुष-लक्षण-विवेचन का सबन्ध है वहाँ तक तो सामुद्रिक शास्त्र भी कामशास्त्र का ही भाग माना जाता है। किन्तु जब उन लक्षणों के साथ ही वह अन्य सूक्ष्म बातों का भी विवेचन करने लगता है तो वह स्वय एक पृथक् शास्त्र के रूप मे गिना जाने लगता है। नैषध मे जहाँ कही उसके सिद्धान्त को व्यक्त किया गया है वहा उसे एक पृथक् शास्त्र के ही रूप मे मान कर। श्रीहर्ष ने सामुद्रिक शास्त्र का अध्ययन एक शास्त्र के नाते किया होगा। रूप-वर्णन के प्रसंग में श्रीहर्ष ने अपने सामुद्रिक-शास्त्र-विषयक ज्ञान का पूर्ण परिचय दिया है।

जिस व्यक्ति के चरण में ऊर्ध्व रेखा का चिह्न होता है, सामुद्रिक-मत से वह निश्चय ही सर्वोत्कृष्ट पद का प्राप्त करने वाला होता है।

नल के चरणों में इसी प्रकार की ऊर्ध्व रेखा तथा उसके फल का वर्णन श्रीहर्ष करते है—"कमल तथा प्रवाल से उच्च होने के कारण तथा समस्त भूपों के सिर पर रक्खे जाने के कारण ये नल-चरण ऊर्ध्वस्थानभागी होंगे, यह विचार मानो

---

१. रजः पदं षट्पदकीटजुष्टं हित्वात्मनः पुष्पमयं पुराणम्।
अद्यात्मभूराद्रियतां स भैम्या भ्रूयुग्ममन्तर्धृतमुष्टि चापम्॥ नै०१०।११९

२. ऊर्ध्वस्ते रदनच्छदः स्मरधनुर्बन्धूकमालामयं
मौर्वी तत्रतवाधराधरतटाधः सीमलेखालता।
एषा वागपि तावकी ननु धनुर्वेदः प्रिये मान्मथः
सोयं कोणधनुष्मतीभिरुचितैर्वीणाभिरभ्यस्यते॥ नै० २१।१५७

विधाता ने पहले से ही कर लिया था। तभी तो इनके चरणों को ऊर्ध्व रेखा से अङ्कित कर दिया था।[१]"

सामुद्रिक-शास्त्र के अनुसार शरीर में साढे तीन करोड रोम होते है, तथा पार्थिवों के प्रत्येक शरीर-रोम का एक एक रोम-कूप होता है।[२]

नल के शरीर के रोमों का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष कल्पना करते हैं —
"क्या ब्रह्मा ने रोमावलियों के ब्याज से करोडों रेखाए बनाकर नल के गुणो को तो नही गिना था? तथा जगत्-स्रष्टा ने रोम-छिद्रो के रूप मे दोषों के शून्य-बिन्दु तो नहीं बनाए थे?[३]"

सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार किसी व्यक्ति (पुरुष या स्त्री) के हाथ अथवा पैर में मत्स्य आदि का चिह्न होना उसके चक्रवर्ती सम्राट् होने का लक्षण होता है।[४]

नल के कर-कमल मे मत्स्य-चिह्न देखकर कवि कल्पना करता है :—

"नल के हाथ में (चक्रवर्ती का) मत्स्यचिह्न था। मानों स्वयं कामदेव अपने ध्वज-चिह्न मत्स्य को, वृक्षों के आलवाल मे घुस जाने की शङ्का से हाथ में धारण किए हुए समस्त-ऋतु-सम्पन्न इस वन मे मित्र वसन्त का अनुसरण करते हुए विहार कर रहा है।[५]"

सामुद्रिक शास्त्र का मत है कि जिसमे सुन्दर रूप होता है उसमे सुन्दर गुण भी होते हैं।[६] हस मे सुन्दर रूप तथा सुन्दर गुणों को एक साथ देखकर नल कहते हैं —

---

१. अधोविधानात्कमलप्रवालयोः शिरःसु दानादखिलक्ष्माभुजाम्।
पुरेदमूर्ध्वम् भवतीति वेधसा पदं किमस्याङ्कितमूर्ध्वरेखया॥ नै० १।१८

२. तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि रोमाणि मानुषे।—नारायण द्वारा नै० १।२१ की टीका मे उद्धृत।

३. किमस्य लोम्नां कपटेन कोटिभिर्विधिर्न लेखाभिरजीगणद्गुणान्।
न रोमकूपौघमिषाज्जगत्कृता कृताश्च किं दूषणशून्यबिन्दवः॥ नै० १।२१

४. भृङ्गारासनवाजिकुंजररथश्रीवृक्षयूपेषुभि-
र्मालाकुण्डलतोमराङ्कुशयवैः शैलैर्ध्वजैस्तोरणैः।
मत्स्यस्वस्तिकवेदिकाव्यजनकैर्यस्याङ्कितावर्तते
पादे पाणितलेऽथवा स भवति त्रैलोक्यभूमीश्वरः॥
इतिवराहः श्रीहान्दिकी द्वारा उद्धृत, नरहरि पृ० ३४७

५. करेण मीनं निजकेतनं दधद् द्रुमालवालाम्बुनिवेशशङ्कया।
व्यतर्कि सर्वर्तुधने वने मधुं स मित्रमत्रानुसरन्निवस्मरः॥ नै० १।१०५

६. यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति—नारायण द्वारा उद्धृत नै० १।५१ की टीका

"प्रिय हंस, तुम्हारा रूप अतुलनीय है, तुम्हारी सुशीलता अवर्णनीय है, तथा रूप मे गुण भी होते है—सामुद्रिक शास्त्र के इस सिद्धान्त के तुम्ही प्रत्यक्ष उदाहरण हो।[1]"

सामुद्रिकशास्त्र मे अधरों की मध्य रेखा के दोनो पार्श्वभागों का कुछ उठा (फूला) रहना सौन्दर्य एवं सौभाग्य का चिह्न माना जाता है।[2]

दमयन्ती के अधरों को उक्त सौन्दर्य से युक्त देखकर नल सोचते है—"वैदर्भी के अधरोष्ठ मध्यभाग में जो कुछ उठे हुए-से सुन्दर लग रहे हैं, यह क्या स्वप्न-संभोग के समय दन्तक्षत करने वाले का, (मेरा) ही अपराध तो नही है।[3]"

उत्तम सुन्दरियों का चिबुक (ठुड्ढी) स्वभावतया कुछ निम्न (गहरा-दबा) होता है।[4] दमयन्ती के चिबुक को देखकर नल कल्पना करते है—"सुन्दरी के मुख की सुषमा का निर्माण कर चुकने पर क्या ब्रह्मा ने इसके मुख को ऊपर करके देखा था जो इसके मध्य मे थोड़ी दबी ठुड्डी मे अंगुली के दबने का चिह्न-सा बन गया है।[5]"

गुल्फों का निम्न (दबा) रूप सामुद्रिकशास्त्र मे शुभ एवं सुन्दर माना गया है।[6] वैदर्भी के गुल्फों का वर्णन करते हुए नल कहते है—"अरुन्धती, रति, लक्ष्मी, इन्द्राणी, तथा नव अम्बिकाओं के साथ चौदहवीं सख्या दमयन्ती की है, (और चतुर्दशी होने के कारण) इसको भी अदृश्यवस्तु की सिद्धि होनी ही चाहिए, और वह सिद्धि सुन्दर गुल्फों के रूप में प्राप्त हुई है।[7]"

---

१. न तुलाविषये तवाकृतिर्न वचोवर्त्मनि ते सुशीलता।
त्वदुदाहरणाकृतौ गुणा इति सामुद्रिकसारमुद्रणा॥ नै० २।५१

२. अधरोष्ठस्य मध्यसमीपवर्तिनोः पार्श्वदेशयोः किंचिदुच्छूनता सामुद्रिको गुणः।
—नै० ७।४० की टीका में नारायण

३. मध्योपकण्ठावधरोष्ठभागौ भातःकिमप्युच्छ्वसितौ यदस्याः।
तत्स्वप्नसम्भोगवितीर्णदन्तदंशेन किं वा न मयापराद्धम्॥ नै० ७।४०

४. उत्तमस्त्रीणां स्वभावादेव चिबुकं निम्नं भवति—नै० ७।५१ की टीका में नारायण

५. विलोकितास्या मुखमुन्नमय्य किं वेधसेयं सुषमासमाप्तौ।
भृत्युद्भवा यच्चिबुके चकास्ति निम्ने मनागङ्गुलियन्त्रणेव॥ नै० ७।५१

६. निम्नगुल्फत्वं नाम सामुद्रिकं लक्षणम्॥ नै० ७।९८ की टीका में नारायण

७. अरुन्धतीकामपुरन्ध्रिलक्ष्मीजम्भद्विषद्दारनवाम्बिकानाम्।
चतुर्दशीयं तदिहोचितैव गुल्फद्वयाप्ता यददृश्यसिद्धिः॥ नै० ७।९८

सङ्गीत

संगीत के तीन भाग होते हैं—नृत्य, गीत तथा वाद्य। तीनों की संगीत संज्ञा है। श्रीहर्ष संगीत के गूढ रहस्यों के ज्ञाता थे। नैषध में संगीत का जितना उद्धरण हुआ है वह कवि के इस शास्त्र-विषयक ज्ञान का पर्याप्त प्रमाण है।

सातों स्वरों के आरोह-अवरोह-क्रम को संगीतशास्त्र में मूर्छना कहते हैं।[1]

प्रेम-व्यथित नल के प्रलाप को वीणा-वादक की पञ्चम स्वर की मूर्च्छना ने छिपा दिया—"मोह-वश मिथ्या देखी गई दमयन्ती को सम्बोधित करके नल ने कह दिया 'अये न'। अब उसे कैसे छिपाएं ? किन्तु सौभाग्य से उसी समय वीणा बजाने वालों द्वारा पञ्चम राग के गाने पर सारी सभा ही विमुग्ध हो गई। किसी ने नल का प्रलाप सुना ही नहीं।[2]"

नर्तकी-नर्तक मृदग के शब्द के अनुसार अपने अङ्गों का विक्षेप करते हुए नृत्य करते हैं।[3] नृत्य-कला के इस नियम का उल्लेख नैषध के इस श्लोक में मिलता है—"धवलगृहपंक्तियाँ मङ्गलमृदङ्गों की उच्च ध्वनि का सम्पूर्ण रूप से प्रतिशब्द करके अपनी गम्भीरता का परिचय देती हुई अपनी चञ्चल पताका द्वारा मानों लोगों को अपनी नृत्यकला के पाण्डित्य का अभिनय दिखा रहीं थी।[4]"

एक कुतूहलपूर्ण नृत्य का उल्लेख श्रीहर्ष ने किया है जिसमे संगीतशास्त्र के सिद्धान्तों का विशेष कोई प्रयोग नहीं है, किन्तु जो आज भी कौतूहल के रूप में नट, भांड़ आदि जातियों द्वारा दिखाया जाता है।

पाण्ड्य-नरेश का वर्णन करती हुई सरस्वती कहती हैं—"कीर्तिनर्तकी की भांति पहले समस्त पृथ्वी-मण्डल में व्याप्त होकर फिर आकाश मे विहार करने

---

१. क्रमात्स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम्।
सामूर्च्छेत्युच्यते ग्रामस्था एताः सप्त सप्त च॥ माघ १।१० की टीका में मल्लिनाथ द्वारा उद्धृत।

२. शशाक निह्नोतुमयेन तत्प्रियामयं बभाषे यदलीकवीक्षिताम्।
समाज एवालपितासु वैणिकैर्मुमूर्च्छ यत्पञ्चममूर्च्छनासु च॥ नै० १।५२

३. अन्या अपि नर्तक्यो मङ्गलमृदंगनिनादभङ्गीनामनुवादेन स्वीयं नृत्तकौशलं हस्ताद्यभिनयेन लोकेषु प्रदर्शयन्ति॥ नै० ११।६ की टीका में नारायण

४. उत्तुङ्गमङ्गलमृदङ्गनिनादभङ्गीसर्वानुवादविधिबोधितसाधुमेधाः।
सौधव्रजः प्लुतपताकतयाभिनिन्युर्मन्ये जनेषु निजताण्डवपण्डिततत्वम्॥
नै० ११।६

की अभिलाषा से इस महाकुलीन पाण्ड्यनरेश का आश्रय लेकर सहर्ष लोकान्तरों में नर्तन कर रही है। (नर्तकी भी पहले पृथ्वी पर नृत्य दिखा कर फिर निरालम्ब आकाश मे नृत्य दिखाने के लिए बड़े बास पर कौतूहलमय नृत्य करती है।)[1]"

नल-विवाह के अवसर पर कुछ विशेष वाद्यों की स्वर-सगति का उल्लेख करते हुए श्रीहर्ष ने अपने वाद्यज्ञान का परिचय दिया है।[2] उदाहरणार्थ—नल के आने के समय वहा कास्यताल (घड़ी घण्टे) बजने लगे। वीणा आदि का स्वर व्याप्त हो उठा। शहनाई का उच्च मधुर शब्द निकलने लगा, तथा ढोल मृदग आदि का अपार नाद होने लगा[3]—और, वीणा का स्वर वशी के स्वर से दब नही गया था। उसी प्रकार कण्ठगीत से वशीरव, झँझरी से कण्ठगीत, हुडुक से झँझरी, डफले से हुडुक तथा मृदङ्ग से डफला और डफले से मृदङ्ग की ध्वनि सक्रान्त नहीं थी—प्रत्येक वाद्य स्वर-संगति के साथ बजता हुआ भी, वादक के कौशल से, अपनी ध्वनि स्पष्ट दे रहा था।[4]

नैषध मे पुत्तलिका-नृत्य-विषयक-ज्ञान का भी सप्रपञ्च उल्लेख हुआ है। नल के नव-निर्मित विलास-भवन का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं—"उस प्रासाद मे कहीं पर सूत्र-निर्मित यन्त्र से पुत्तलिकाओं के आश्चर्यकारी नृत्य आदि अभिनय हो रहे थे। उनके सूत्रधार दीवाल की आड़ मे छिपे रहते थे और बाहर उन कौतुक-पूर्ण कथाओं का अभिनय हो रहा था।"[5]

श्रीहर्ष के सगीत-कौशल का सर्वोत्कृष्ट प्रमाण वह प्रसग है जहा मध्याह्न भोजनादि के पश्चात् विश्राम करते हुए नल को दमयन्ती की शिष्या गन्धर्वकुमारिया वीणा सुनाने के लिए आती है—"दमयन्ती से कलाए सीखने वाली सखी-रूप

---

१. भुवि भ्रमित्वानवलम्बमम्बरे विहर्तुमभ्यासपरम्परापरा।
अहो महावंशममुं समाश्रिता सकौतुकं नृत्यति कीर्तिनर्तकी॥ नै० १२।१६

२. ततं वीणादिकं वाद्यम् आनद्धं मुरजादिकम्।
वंशादिकं तु सुषिरं कांस्यतालादिकं घनम्॥ अमरकोष

३. तदा निसस्वानतमां घनं घनं ननाद तस्मिन्नितरां ततं ततम्।
अवापुरुच्चैःसुषिराणि राणितामभमानमानद्धमियत्तयाध्वनीत्॥ नै० १५।१६

४. विपंचिराच्छादि न वेणुभिर्न ते प्रणीतगीतैर्न च तेपि झर्झरैः।
न ते हुडुक्केन न सोपि ढक्कया न मर्दलैः सापि न तेपि ढक्कया॥ नै० १५।१७

५. भित्तिगर्भगृहगोपितैर्जनैर्यः कृताद्भुतकथादि कौतुकः।
सूत्रयन्त्रजविशिष्टचेष्टयाश्चर्यसंजिबहुशालभंजिकः॥ नै० १८।१३

गन्धर्व राजकुमारियां, जो मधुर वीणावादन में अत्यन्त कुशल थी, महल में बैठे महाराज नल को वीणा सुनाने के लिए गईं।[1]"

गीत आरम्भ करने के पूर्व सुन्दरियों ने काकली[2] (अव्यक्त मधुर तान) सुनाई। उन मृगनयनियों ने गीत प्रारम्भ करने के पूर्व तार मिलाते समय वीणा से कुछ अव्यक्त अतिमधुर शब्द किए, मानों उनकी वीणा अत्यन्त मृदुकण्ठी दमयन्ती के सम्मुख कुछ स्वर करने मे पहिले लजा रही थी।[3]

निषाद-स्वर में बजती वीणा का चित्रण करता हुआ कवि कहता है—"राज-शिरोमणि नल के पास वीणा उच्च मधुर निषाद स्वर मे बज रही थी—वादिका की अंगुलिया द्रुतगति से तारों पर दौड़ रही थी, तथा ऊपर की खूँटियां रह-रह कर घुमाई जा रही थी,—जैसे सकामा करिणी गजेन्द्र के पास अपने सिर-सूँड हिलाती हुई, चञ्चलतापूर्वक क्रीडाएं करती हुई निषाद-ध्वनि में शब्द करती है।[4]" संगीत-शास्त्र के अनुसार हाथी की ध्वनि निषाद-स्वर मे होती है।[5]

वीणा-दण्ड के छिद्र जितने ही विशद होते हैं, उसका स्वर उतना ही प्रशस्त गम्भीर होता है।[6] बीच-बीच में लय मिलाते समय वीणावादक कोण बड़ी द्रुत गति से तारों पर दौड़ता है।

श्रीहर्ष संगीत के पूर्वोक्त सिद्धान्त के प्रति कल्पना करते हैं—"स्यात् दमयन्ती का मधुर कण्ठ वीणा-दण्ड के समस्त उत्तम अंश को लेकर बनाया गया है—इसी-

---

१. शिष्याः कलाविधिषु भीमभुवो वयस्या वीणामृदुक्वणनकर्मणि याः प्रवीणाः।
आसीनमेनमुपवीणयितुं ययुस्ता गन्धर्वराजतनुजा मनुजाधिराजम्॥
नै० २१।१२४

२. काकली तु कले सूक्ष्मे—अमरकोष

३. तासामभासत कुरङ्गदृशां विपञ्ची किञ्चित्पुरः कलितनिष्कलकाकलीका।
भैमी तथा मधुरकण्ठलतोपकण्ठे शब्दायितुं प्रथममप्रतिभावतीव॥
नै० २१।१२५

४. नादं निषादमधुरं ततमुज्जगार साभ्यासभागवनिभृत्कुलकुञ्जरस्य।
स्तम्बेरमीव कृतसश्रुतिमूर्धकम्पा वीणा विचित्रकरचापलमाभजन्ती॥
नै० २१।१२७

५. निषादं रौति कुञ्जरः—नारदमत, अमरकोष की १।७।१ की टीका में श्री भानुजी दीक्षित द्वारा उद्धृत।

६. पुष्कलच्छिद्रस्य वीणादण्डस्य स्वरोतिगम्भीरः प्रशस्ततरो भवति॥
नै० २१।१२८ की टीका

लिए तो वीणा अपने अन्तः (भीतरी भाग) को खोखला पाकर अपनी मूर्च्छनाओं में लज्जित होकर कोण पकड लेती है।[1]"

नाट्य

कोष के अनुसार तो नृत्य, गीत, वाद्य इन तीनों को ही नाट्य कहते हैं।[2] किन्तु यहां नाट्य से केवल नाटच-शास्त्र अभिप्रेत है। आचार्यों ने व्युत्पत्ति-विषयों में इसे भरतशास्त्र (अर्थात् भरतप्रणीत शास्त्र) नाम से अभिहित किया है।

दमयन्ती-प्रलाप से उद्भ्रान्त नल अपने को प्रकट कर दमयन्ती के प्रति प्रियचाटूक्तिया सुनाते हुए नाटच-शास्त्र-विषय का उल्लेख करते हैं—

"सुन्दर रोमावलि-रूप सूत्र धारण करने वाली तुम कैसे मदन-नाटिका न हो! प्रिये, तुम्हारे हार का मध्यमणि अत्यन्त सुन्दर लगता है, तथा तुम्हारा चूडामणि चन्द्रमा का भी उपहास कर रहा है।" नाटिका-पक्ष में—प्रकाशमान रोमावलि ही सूत्रधार है, तुम्हारे अङ्ग-विक्षेप मे कथानायक विश्राम लेता है। ब्राह्मण अपनी शिखा मे मणि बाधकर विदूषक बना है।[3]

नाटच-कला की अभिज्ञा का परिचय श्रीहर्ष ने आगे भी दिया है।

"राजा नल के विलास-भवन के प्राङ्गण में चन्द्रमा के अपने गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा के साथ कामुक व्यवहार के आख्यान को लेकर भरत-मुनि-प्रणीत नाटचशास्त्र के अनुसार लिखी गयी नाटिका खेली जा रही थी।[4]"

मन्त्र-तन्त्र

मन्त्र-तन्त्र विद्या में श्रीहर्ष कितने अभिज्ञ थे, इस विषय मे स्वयं नैषध काव्य ही प्रमाणरूप है, जिसे उन्होंने प्रसिद्ध चिन्तामणि मन्त्र के चिन्तन का फल-रूप कहा है।[5] राजशेखर सूरि के 'प्रबन्ध-कोष' के अनुसार तो श्रीहर्ष का सारा वैदुष्य ही चिन्तामणि मन्त्र की कृपा के कारण था।[6]

---

१. आकृष्य सारमखिलं किमु वल्लकीनां तस्या मृदुस्वरमसर्जि न कण्ठनालम्।

२. तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यं नाट्यमिदं त्रयम्। अमरकोष १।७।११

३. न वर्तसे मन्मथनाटिका कथं प्रकाशरोमावलिसूत्रधारिणी।
तवाङ्गहारे रुचिमेति नायकः शिखामणिश्च द्विजराड्विदूषकः॥ नै० ९।११७

४. गौरभानुगुरुगेहिनीस्मरोद्वृत्तभावमितिवृत्तमाश्रिताः।
रेजिरे यदजिरेभिनीतिभिर्नाटिका भरतभारतीसुधा॥ नै० १८।२३

५. तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले—नै० १।१४५

६. राजशेखर-सूरि—प्रबन्धकोश-हर्षबन्ध :

नैषध में उन्होंने अपने मन्त्र ज्ञान का विशेष प्रदर्शन नहीं किया है, किन्तु यथा-वसर कुछ प्रसंग ऐसे आए हैं जिनसे श्रीहर्ष के मन्त्र-सिद्धि-विषयक ज्ञान का पर्याप्त प्रमाण मिलता है।

कृष्णाष्टमी मे वशीकरण मन्त्रों को सिद्ध किया जाता है।[1] दमयन्ती के भाल का वर्णन करते हुए नल उसे तन्त्रसिद्धि के लिए प्रसिद्ध अष्टमी की रात्रि-रूप कहते हैं—"केशरूप अन्धकार के नीचे रमणीय भालरूप अर्द्धचन्द्र वाली यह सुन्दरी स्पष्ट रूप में अष्टमी तिथि है—(कृष्णपक्ष की अष्टमी में भी पहले अन्धकार फिर अर्द्ध-चन्द्रोदय होता है) अतः इसे पाकर कामदेव ने संसार को विजय करने की जो साधना की वह उचित ही है।"[2]

चतुर्दशी की रात्रि मे अदृश्य शक्तियों की सिद्धि की जाती है।[3]

दमयन्ती के गुल्फों का वर्णन करते हुए नल उसे चतुर्दशी-रूप समझते हैं—"अरुन्धती, रति, लक्ष्मी, इन्द्राणी तथा नवअम्बिकाओं मे यह दमयन्ती चौदहवी (चतुर्दशी) गणनीय है। अतः इसको भी अदृश्य वस्तु की सिद्धि होनी ही चाहिए। और वह सिद्धि सुन्दर गुल्फों के रूप में उचित ही प्राप्त हुई।[4]"

चिन्तामणि नाम से अनेक मन्त्र प्रसिद्ध है। बौद्ध सम्प्रदाय मे एक चिन्तामणि

---

१. कृष्णाष्टम्यां जगद्वशीकर्तुं गुटिकादिसिद्धिः साध्यते॥ नै० ७।२३ की टीका में नारायण।

साथ ही यहां श्रीहर्ष ने अपने ज्योतिष-ज्ञान का भी परिचय दिया है। क्योंकि यदि कृष्णाष्टमी श्रवण या रोहिणी से युक्त रहे तो उस दिन जय-योग होता है। और वह विजयेच्छुओं को जय देने वाली होती है। नारायण ने टिप्पणी में एक प्रमाण भी उद्धृत किया है—

जयदाविजिगीषूणां यात्रायामसिताष्टमी।
श्रवणेनाथ रोहिण्या जययोगो युता यदि॥

२. केशान्धकारादथ दृश्यभालस्थलार्धचन्द्रा स्फुटमष्टमीयम्।
एनां यदासाद्य जगज्जयाय मनोभुवा सिद्धिरसाधि साधु॥ नै० ७।२३

३. आगमे 'चतुर्दश्यामदृश्यत्व-सिद्धिर्भवति' इत्युक्तम्॥ नै० ७।९८ की टीका में नारायण।

४. अरुन्धतीकामपुरन्ध्रिलक्ष्मीजम्भद्विषद्दारनवाम्बिकानाम्।
चतुर्दशीयं तदिहोचितैव गुल्फद्वयाप्ता यददृश्यसिद्धिः॥ नै० ७।९८

है। इससे सरस्वती तथा कवित्व-शक्ति आदि से कोई सम्बन्ध नहीं। तन्त्रग्रन्थ 'ईशान-शिवगुरुदेवपद्धति' मे भी एक चिन्तामणि मन्त्र का वर्णन हुआ है, जिसके अधिष्ठातृ देवता महारुद्र हैं।[1] पद्मपुराण मे मन्त्रचिन्तामणि नामक एक मन्त्र का उल्लेख हुआ है जो कृष्णपरक है।[2]

नैषध मे चिन्तामणि का उल्लेख स्वयवर के अन्त मे हुआ है। नल से प्रसन्न होकर सरस्वती उन्हें चिन्तामणि मन्त्र की सिद्धि का वरदान देती हुई कहती हैं— "जिसका (एक) अर्धभाग काम तत्त्वप्रधान तथा (अन्य) अर्ध शिवतत्त्व प्रधान है, जो चन्द्रकान्ति से सुशोभित है, जो विशिष्ट-स्वरूप है अथवा जिसका कोई आकार नहीं, जिसका अर्धभाग पुरुष तथा अर्धभाग स्त्री है और इस प्रकार दोनों भाग मिलकर जिसे पूर्ण बनाते हैं, जो स्त्री पुरुष दो रूपो मे विभक्त है, भगवती और भगवान् जिसके दो नाम हैं तथा जो मेरा परम गोप्य मन्त्र है, राजन्, शिव के उस अर्धनारीश्वर रूप का चिन्तन करो और मेरे आशीर्वाद से तुम साधु पुरुष को वह सिद्ध हो जाय"।[3] यह मन्त्र यद्यपि सरस्वती-परक है किन्तु इसमें शिव के अर्धनारीश्वर रूप का वर्णन किया गया है। नारायण ने अपनी टीका मे आगम से इस मन्त्र का स्वरूप उद्धृत करते हुए इसे आदि अन्त में दो प्रणवों (ॐ) से सम्पुटित भुवनेश्वरी रूप सरस्वती का मन्त्र कहा है।[4]

---

१. बीजं चिन्तामणिर्नाम महारुद्रोऽस्य देवता।
ऋषिस्तुम्बुरुसंज्ञोस्यच्छन्दो गायत्रमेव हि॥९२, इत्यादि
—त्रिवेन्द्रम् प्रकाशन भाग २ मन्त्रपाद पाशुपताद्याधिकार पृ० १७९

२. पद्मपुराण, पातालखण्ड, अध्याय ५०

३. अवामावामार्धे सकलमुभयाकारघटना द्विधाभूतं रूपं भगवदभिधेयं भवति यत्।
तदन्तर्मन्त्रं मे स्मरहरमयं सेन्दुममलं निराकारं शश्वज्जप नरपते सिध्यतु स ते॥
नै० १४।८८

४. शिवान्त्यो वह्निसंयुक्तो ब्रह्मद्वितमयमन्तरा।
तुरीयस्वरशीतांशुरेखातारासमन्वितः ॥
एषचिन्तामणिर्नाम मन्त्रः सर्वार्थसाधकः।
जगन्मातुः सरस्वत्या रहस्यं परमं मतम्॥
इत्यागमात् प्रणवद्वयसम्पुटितभुवनेश्वरीरूपं चिन्तामण्याख्यं मे सरस्वत्याः स्वरूपं मन्त्रं स्मर इत्यादिः—नै० १४।८८ की टीका में नारायण।

नैषध के पूर्वोक्त श्लोक की सबसे विशद व्याख्या चाण्डूपण्डित ने की है :— (सुविधा के लिए उसे पाद-टिप्पणी मे पूरा उद्धृत किया जाता है)[1]

नैषध के श्लोक में गुप्त रूप मे चिन्तामणि मन्त्र का 'ॐ ह्री ॐ' स्वरूप दिया गया है। श्रीहर्ष इस मन्त्र की साधना-विधि तथा उसका फल भी बताते है—

"जो पुरुष हसवाहना मेरी पुष्प-गन्ध-धूप आदि से पूजा करके अनन्य भक्ति के साथ मेरा ध्यान करते हुए इस मन्त्र के रूप मे मेरा जप करता है, वह एक वर्ष बाद इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि जिस किसी के सिर पर उसका हाथ पड़ जाय वह भी

---

१. वामे अर्धे वामपक्षार्धे प्रथमम् अवा ओकारेण तथा मा मकारेण ओंकारेणेत्यर्थः। यत् रूपं द्विधा द्विप्रकारं भूतं सत् द्वितीयेन ओंकारेण दक्षिणार्धेपि भूतं प्राप्तं भगवदभिधेयं भवति ब्रह्मवाचकम्। किं भूतम्—उभयाकारस्य ओंकारद्वयस्य घटनात् मेलनात् सकलम्। तदन्तःतयोः ओंकारयोरन्तर्मध्ये हरमयमीश्वरमयं मन्त्रं स्मर। अथ च हकारो रेफकारो मकार ईकारश्च। चतुष्टयेपि अकार उच्चारणार्थः। ईकारस्य पुरतःअकारस्य सुखोच्चारणार्थे य आदेशे ह्रींकारः। उभयपक्षे ओंकारेण सम्पुटित इत्यर्थः। सेन्दु अर्धमात्रायुक्तम्। अथवा हरमयमिति मयट्प्रत्ययः। अथवा सेन्दुमिति ईश्वरम्। ई इन्दुश्च ताभ्यां सह वर्तते सेन्दुः तं तथा। एतावता ईकारोनुस्वारश्च लब्धः। अमलं निराकारं चान्तर्जप। हे नरपते स ते तव सिध्यतु मे मम देव्या भारत्या मन्त्रःसिध्यतु सारस्वतो मन्त्रः।

अथवा यद्रूपं भगवद्योनिसदृशाकारं त्रिकोणयन्त्रमयं भवति। किं भूतम्-उभयाकार घटनात् द्विधाभूतं त्रिकोणयन्त्रद्वयघटनात् षट्कोणयन्त्रं तदन्तः मध्ये मे मन्त्रं स्मर। हरमयं हकाररेफमयम्। सकलम् ककारलकारसंयुक्तम्। अवा ओकारेण मा मकारेण त्रिष्वपि अक्षरेषु बिन्दुना (सह वर्तमानम्) तथा यत्र अर्धे वामा अस्ति। वामाशब्देन स्त्रीप्रत्यय ईकारो लक्ष्यते। अयमभिप्रायः षट्कोण यन्त्रमध्ये पूर्वं प्रणवस्ततः क्लीं ह्रीं।

अथवा अवामा न शक्तिः अपरा वामा नामशक्तिः इति द्वे अर्धे। एतत् स्वरूपं द्विधाभूतम् उभयाकारघटनात् योन्यर्धाकाररूपद्वयमेलनात् सकलं सम्पूर्णं सत् यत् रूपं भगवत् योनिवत् तदन्तर्मन्त्रं स्मर इति शेषं पूर्ववत्।

अथवा यस्य रूपस्यार्धे अवामा अप्रतिकूला वामा पार्वती अस्ति तत् हरमयम् उभयाकार-घटनात् सकलम् अर्धनारीश्वरं सेन्दुं सचन्द्रं मन्त्रं गोप्यं रहस्यं निराकारं स्मर जप स्तुहि चिन्तय च॥

—नै० १४।८८ की टीका में चाण्डूपण्डित

अकस्मात् श्लोक रचने लगता है। प्रयोग के द्वारा इसका चमत्कार अवश्य द्रष्टव्य है।[१]"

इस मन्त्र का और भी फल कहते हैं—"मेरे इस चिन्तामणि नामक परम मन्त्र को जिस सुकृती ने पुरश्चरणादि द्वारा अपने हृदय मे धारण किया वह शृङ्गारादि नवों रसों से सिक्त अमृतमयीवाणी बोलने मे साक्षात् बृहस्पति हो जाता है। उसके मदन-सुन्दर रूप पर दिव्याङ्गनाए भी मुग्ध हो उसके वश मे हो जाती हैं। अधिक क्या कहें, वह जो चाहता है, वही प्राप्त कर लेता है।[२]"

राजनीति

श्रीहर्ष ने नैषध मे राजनीति के अनेक सिद्धान्तों की व्यञ्जना की है। नीति के अनुसार राजाओं के गुप्तचर ही आख है।[३]

"राजा नल भी चार-चक्षु थे, नल अपने तेज से अमित्र-(शत्रु) जित् होते हुए भी मित्र-(सूर्य)-जित् थे, तथा चार (दूत)-दृष्टि होकर भी विचार (विवेक) दृष्टि रहे। मानों विपक्षी राजाओं की भांति विरुद्ध स्वभावों ने भी नल के भय से परस्पर विरोध त्याग दिया था। (यहा मित्र, अमित्र तथा चार, विचार में विरोधाभास अलङ्कार है।)[४]

नीति कहती है—"फूलों से भी लडाई न करनी चाहिए, फिर तीक्ष्ण बाणों की कौन कहे।[५]"

---

१. पुष्पैरभ्यर्च्य गन्धादिभिरपि सुभगैश्चारुहंसेन मां चे-
निर्यान्तीं मन्त्रमूर्तिं जपति मयि मतिं न्यस्य मय्येव भक्तः।
तत्प्राप्ते वत्सरान्ते शिरसि करमसौ यस्य कस्यापि धत्ते
सोऽपि श्लोकानकाण्डे रचयति रुचिरान् कौतुकं दृश्यमस्याः॥ नै० १४।९०

२. सर्वाङ्गीणरसामृतस्तिमितया वाचा स वाचस्पतिः
स स्वर्गीयमृगीदृशामपि वशीकाराय मारायते।
यस्मै यः स्पृहयत्यनेन स तदेवाप्नोति किं भूयसा
येनायं हृदये कृतः सुकृतिना मन्मन्त्रचिन्तामणिः॥ नै० १४।८९

३. गन्धेन गावः पश्यन्ति ब्राह्मणा वेदचक्षुषा।
चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरेजनाः। नै० १। १३ में नारायण द्वारा उद्धृत

४. प्रतीपभूपैरिव किं ततो भिया विरुद्धधर्मैरपि भेतृतोज्झिता।
अमित्रजिन्मित्रजिदोजसा स यद् विचारदृक्चारदृगप्यवर्तत॥ नै० १।१३

५. पुष्पैरपि न योद्धव्यं किं पुनः निशितैः शरैः—नै० ४।८१ की टीका में नारायण-द्वारा उद्धृत।

दमयन्ती मदन को उपालम्भ देती हुई कहती है—"अनङ्ग, विषमनेत्र (शिव) के साथ जो तूने फूलों द्वारा विग्रह ठाना उसका फल पा गया। तभी से तो यह भय-विषयक नीति बनी कि फूलों की भी लड़ाई ठीक नहीं।[1]"

यदि दो प्रबल राज्यों की सीमा पर कोई दुर्बल भी राज्य होता है, तो उस पर कोई बलवान् आक्रमण नही करता।[2]

"कृशोदरी दमयन्ती के उदर-सौन्दर्य का निरूपण करते हुए नल राजनीति के पूर्वोक्त विषय को सोचकर कौतुक में पड़ जाते हैं—"मध्य मे होकर भी क्षीण उदर त्रिवलियों से आक्रान्त नहीं हो पाता। यह सर्वाङ्गीण निर्दोष इस भीमजा में फैले हुए आश्चर्यमय अनङ्ग-राज्य का प्रताप है।[3]"

शुक्राचार्य का मत है कि "सर्वज्ञ का विरोध नही करना चाहिए, विरोधी की उपेक्षा न करनी चाहिए, तथा असमर्थ को प्रसन्न करना चाहिए।"[4]

परिहास-प्रसङ्ग मे सखियां दूर जाकर दमयन्ती को धमकाती हैं—"बाहर आकर सखियों ने कहा। सखि दमयन्ति, तू तो नीतिशास्त्र जानती है। फिर अपने रहस्य को जाननेवाली (विरोधी) इन दो सखियों की उपेक्षा किसी प्रकार न करना।[5]"

अलङ्करण

चतुःषष्टि कलाओं मे शरीर को अनेक विधि (लेप, वस्त्र तथा विभूषणों आदि) से अलङ्कृत करना भी गिना जाता है।[6]

---

१. फलमलम्भ्यत यत् कुसुमैस्त्वया विषमनेत्रमनङ्गविगृह्णता।
अहह नीतिरवाप्तभया ततो न कुसुमैरपि विग्रहमिच्छति॥ नै० ४।८१

२. अन्येनापि क्षीणेन दुर्बलेनोभयोः सीमायां विद्यमानेनापि स्वाम्यमात्यादीनां सप्ताङ्गानां शुद्धौ सत्यामपि बलिष्ठेभ्यो भयानकायां भूमौ पराभवो न प्राप्यते॥ नै० ७।८१ की टीका में नारायण।

३. क्षीणेन मध्येपि सतोदरेण यत्प्राप्यते नाक्रमणं वलिभ्यः।
सर्वाङ्गशुद्धौ तदनङ्गराज्यविजृम्भितं भीमभुवीह चित्रम्॥ नै० ७।८१

४. विरोधयेन्न सर्वज्ञं नोपेक्षेत विरोधिनम्। प्रसादयेदशक्यं तु...॥नै० २०।१३३ की नारायण की टीका में उद्धृत।

५. ता बहिर्भूय वैदर्भीमूचुर्नीतावधीतिनि।
उपेक्ष्येते पुनः सख्यौ मर्मज्ञे नाधुनाप्यत्र्। नै० २०।१३३

६. दशनाद्यङ्गरागश्च माल्यगुम्फविचित्रता। वेणुवीणादिकालापपाटवं शेखरक्रिया। नेपथ्यंगन्धयुक्तिश्च कर्णपत्रक्रियाभिधाः। विशेषभेद्यक्लृप्तिश्च नानाभूषण-योजनम्॥

श्रीहर्ष ने शरीर-प्रसाधन की विधियों का अनेक स्थान पर उल्लेख किया है। कवि के लोकोत्तर स्वरूप वाले नायक तथा नायिका सदा उत्तम प्रसाधनों से परिष्कृत दिखायी पड़ते हैं।

"दमयन्ती-प्रेम की आधि में व्यथित नल अङ्गराग में कर्पूराधिक्य का वहाना करते, कभी-कभी झूठे विषाद का अभिनय करके विरहजन्य आहों को छिपाते तथा अङ्गराग में कर्पूर के अधिक होने का बहाना कर विरहजन्य पीतिमा का निराकरण करते।[१]"

विवाह के अवसर पर वधू-वर के शृङ्गार का विस्तृत वर्णन करते हुए श्रीहर्ष ने अपनी प्रतिकर्म-विशेषज्ञता का पूर्ण परिचय दिया है। मङ्गलस्नान के पश्चात् समस्त कलाओं में चिरकाल से अभ्यास करने के कारण अत्यन्त कुशल सखियों ने दमयन्ती को पवित्र वेदी पर ले जाकर क्षण में, उसके प्रत्येक अङ्ग का शृङ्गार किया।[२]

अलङ्कारों आदि से विभूषित करने के पूर्व सुन्दरी की नैसर्गिक सुषमा की एक झांकी देते हुए श्रीहर्ष कहते हैं—"अलंकरणों के बिना भी दमयन्ती स्वयं सुषमा की पराकाष्ठा थी। अतः कुशल सखियों ने इसे और भी विशिष्ट प्रकार से अलङ्कृत किया, जिससे वैदर्भी का सौन्दर्य सीमातीत लगने लगा। इसका कौन निर्णय कर सकता था कि विभूषणों से दमयन्ती की शोभा हो रही थी अथवा दमयन्ती से विभूषणों की।[३]"

सर्वप्रथम तिलक-प्रसाधित सुन्दरी के मुख का वर्णन करते हैं—"पूर्णिमा के चन्द्रमा की रक्त बन्धूक तथा दो नील कमलों से अर्चना करके ऊपर से चम्पा की कलिका चढ़ाई जाने की शोभा को अपने अरुणाभ अधरोष्ठो, नीलाभ नयनों तथा पीताभ मनःशिला के तिलक से दीप्तिमान् दमयन्ती के मुखमण्डल ने फीका कर दिया।[४]"

---

१. मृषाविषादाभिनयादयं क्वचिज्जुगोप निःश्वासततिं वियोगजाम्।
विलेपनस्याधिकचन्द्रभागताविभावनाच्चापललापपाण्डुताम् ॥ नै० १।५१

२. अवापितायाः शुचिवेदिकान्तरं कलासु तस्याः सकलासु पण्डिताः।
क्षणेन सख्यश्चिरशिक्षणैः स्फुटं प्रतिप्रतीकं प्रतिकर्म निर्ममुः॥ नै० १५।२६

३. विनापि भूषामवधिः श्रियामियं व्यभूषि विज्ञाभिरदर्शि चाधिका।
न भूषयैषाधिचकास्ति किन्तु सा नयेति कस्यास्तु विचारचातुरी॥ नै० १५।२७

४. विधाय बन्धूकपयोजपूजनं कृतांविधोर्गन्धफलीबलिश्रियम्।
निनिन्द लब्धाधरलोचनार्चनं मनःशिलाचित्रकमेत्य तन्मुखम्॥ नै० १५।२८

केशों को सुगन्धित धूप से सुवासित किया जाता था। सुन्दरी के धूप-सुवासित केशों का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं—"किसी सखी ने सुगन्धित धूप से सुवासित करके दमयन्ती के कोमल केशपाश को मनोहर पुष्पमञ्जरी के समान गूँथा। मानों वह वेणी पृथ्वी के राजाओं की कामान्धतारूपी अन्धेरी रात के अन्धकाररूपी वस्त्र के श्यामतन्तु थी।[1]"

करुण पुष्प की कलियों से रम्य ग्रथित उर्मिल केशों के प्रति कवि की कल्पना है—"करुण पुष्प की कलियों से अलङ्कृत सुन्दरी की कुटिल केश-श्रेणी बलराम द्वारा अपने हल से टेढ़ी की हुई, निबिड तरङ्गों से दन्तुर यमुना का उपहास करती थी।[2]"

ललाट पर सुशोभित स्वर्ण-पट्टिका (टीका) का सौन्दर्य वर्णन करते हैं—"दमयन्ती के भाल पर सुशोभित स्वर्णमयी पट्टिका उस केशरूपी श्यामघन की विद्युत् के समान थी। (विद्युत् तो क्षणस्थायिनी होती है) किन्तु इस विद्युत् की आयु लम्बी हो गयी थी, क्योंकि इसने समीपस्थ मुखचन्द्र की सुधा का पान किया था।[3]"

अञ्जन का वर्णन करते हुए कवि कल्पना करता है—"दमयन्ती के अपाङ्गों तक फैली हुई अञ्जन-रेखा अत्यन्त सुशोभित हो रही थी, मानों यौवन की सुषमा ने उसके नेत्रों को और दीर्घ करने के लिये नापने की डोरी लगाई है।[4]"

श्रवण-विभूषण-रूप दो इन्दीवर-दलों के प्रति कवि उत्प्रेक्षा करता है—"दमयन्ती के (कानों में पहने हुए) दो इन्दीवर अत्यन्त सुशोभित थे, मानों उन्हे देखकर कामान्ध होनेवाले किसी रसिक की दो आंखें हैं।[5]"

---

१. महीमघोनां मदनान्धतातमीतमः पटारम्भणतन्तुसन्ततिः।
अबाधि तन्मूर्धजपाशमञ्जरी कयापि धूपग्रहधूमकोमला॥ नै० १५।२९

२. बलस्य कृष्टेव हलेन भाति या कलिन्दकन्या घनभङ्गभङ्गुरा।
तदार्पितैस्तां करुणस्य कुड्मलैर्जहास तस्याः कुटिला कचच्छटा॥ नै० १५।३१

३. धृतैतया हाटकपट्टिकालिके बभूव केशाम्बुदविद्युदेव सा।
मुखेन्दुसम्बन्धवशात् सुधाजुषः स्थिरत्वमूहे नियतं तदायुषः॥ नै० १५।३२

४. अपाङ्गमालिङ्ग्य तदीयमुच्चकैरदीपि रेखा जनिताञ्जनेन या।
अपात्ति सूत्रं तदिव द्वितीयया वयःश्रिया वर्धयितुं विलोचने॥ नै० १५।३४

५. धृतं वतंसोत्पलयुग्ममेतया व्यराजदस्यां पतिते दृशाविव।
मनोभुवान्ध्यं गमितस्य पश्यतः स्थिते लगित्वा रसिकस्य कस्यचित्॥
नै० १५।३९

श्रवण-कुण्डलों के प्रति कवि की उत्प्रेक्षा है—"मानों सुन्दरी की बुद्धि ने उसके मुख से कहा कि दो चन्द्रमा तुम्हारी (मुख की) स्पर्धा करते है। और उस मुख ने सत्यासत्य का कोई विचार न करके तुरन्त मणिकुण्डल रूप उन दोनो चन्द्रों को अपनी कर्णलता से बाँध दिया।[१]"

अधर मे अलक्तक लगाने के पूर्व मोम या उसी तरह की कोई स्निग्ध वस्तु लगाते है जिससे अलक्तक का रग भी गाढ़ा आता है, और वह स्थायी भी होता है। दमयन्ती के अधरो पर यावक लगाने के पूर्व उसे और भी चटकीला करने के लिए मोम लगाया गया, मानों उस मोम ने अपने सदा के साथी मधु को त्याग दिया है। और अब अमृतमय उन अधरों पर सदा निवास करने के लिये उत्सुक हो रहा है।[२]

सुन्दरी के कण्ठ मे सात लड़ियो वाला मोतियों का हार पहनाया गया। श्रीहर्ष ने उसके प्रति बड़ी मधुर कल्पना की है—"पहले तो दमयन्ती के कण्ठ को स्वर-माधुर्य के कारण वीणा कहा जाता था। किस प्रकार की वीणा इसका कोई निश्चय नही था। किन्तु अब मोती की सात लड़ी रूपी सात तारों से युक्त होने के कारण यह स्पष्ट हो गया कि यह सात लरोंवाली वीणा 'परिवादिनी' है।[३]"

मङ्गल-भूषणशख-वलय से सुशोभित दमयन्ती के बाहुओं के प्रति कवि की उत्प्रेक्षा है—"दमयन्ती के बाहु शङ्ख के बने मङ्गल-वलयों से सुशोभित थे, मानों उन बाहुओं से कोमलता सीखने के लिए बाल मृणालदण्ड उनकी गुरु-शुश्रूषा कर रहे है।[४]"

यावक-युत पद-कमलों का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

दमयन्ती के चरणों मे लगा हुआ यह यावक-राग (महावर) नही है, अपितु मद-नाग्नि है, जिसने विरहावस्था मे सुन्दरी को बहुत सताया था और जो अब उसका

---

१. अनाचरत्तथ्यमृषाविचारणां तदाननं कर्णलतायुगेन किम्।
बबन्ध जित्वा मणिकुण्डले विधू द्विचन्द्रबुध्या कथितावसूयकौ॥ नै० १५।४१

२. निवेशितं यावकराग दीप्तये लगत्तदीयाधरसीम्नि सिक्थकम्।
रराज तत्रैव निवस्तुमुत्सुकं मधूनि निर्धूय सुधासधर्मिणि॥ नै० १४।४३

३. स्वरेण वीणेत्यविशेषणं पुरा स्फुरत्तदीया खलु कण्ठकन्दली।
अवाप्य तन्त्रीरथ सप्तमुक्तिकासरानराजत् परिवादिनी स्फुटम्॥ नै० १५।४४

४. उपास्यमानाविव शिक्षितुं ततो मृदुत्वमप्रौढमृणालनालया।
रराजतुर्माङ्गलिकेन संगतौ भुजौ सुदत्या वलयेन कम्बुनः॥ नै० १५।४५

अपने कान्त के साथ समागम विचार कर अरुण राग के रूप में उसके चरणोंकी सेवा में रत है।[१]

पर अलंकार आदि प्रसाधनों के कारण इस कृत्रिम सौन्दर्य की अपेक्षा श्रीहर्ष सुन्दरी की नैसर्गिक सुषमा को छिपाना नही चाहते।

वे उसके सहज लावण्य का वर्णन करते हैं—"दमयन्ती के अंग स्वयम् अति रमणीय थे, तथा परस्पर एक अग का सौन्दर्य दूसरे अग को सुन्दर बना रहा था। अतः वे आभूषण, जिन्हे अलं (व्यर्थ) करण (पहिनना) कहा जाता है, उसका क्या सोन्दर्य बढ़ा सकते थे।[२]"

इस प्रकार स्त्री-प्रसाधन मे अपनी अभिज्ञता दिखाकर श्रीहर्ष नल के भी विवाहोचित श्रृंगार के द्वारा अपने पुरुष-प्रसाधन की भी विशेषता का परिचय देते है। ('पुरुषों के जो विशेष अलकरण होते है उनका ही वर्णन यहाँ उचित होगा।)

इधर उसी प्रकार श्रृंगार रचना में कुशल सेवकों ने उस समय अपने प्रभु महाराज नल की भी विवाहोचित सजावट की।[३]

सर्वप्रथम केश-संस्कार का वर्णन करते है—"नल के स्निग्ध कान्त दीर्घ केशों में लगी मालती आदि की कलिकाए कामदेव की घर्षणचिह्नों वाली भ्रमरमयी धनुष की प्रत्यञ्चा से संयुक्त पुष्पवाणों की शोभा पा रही थीं।[४]"

सिर पर अमूल्य रत्नों से जटित मुकुट धारण किए हुए नल अतिशय शोभित थे। उस मुकुट से रत्नों की रश्मियाँ निकल रही थीं, मानों याचकों के लिए कल्पवृक्ष रूप उनकी ये रमणीय मञ्जरियाँ थीं। जैसे अन्य वृक्षों मे मञ्जरियाँ लगती हैं उसी प्रकार कल्पवृक्षरूपी नल में भी मुकुट की रत्न-रश्मिरूपी मजरियाँ लगी थीं।[५]

---

१. कृतापराधः सुतनोरनन्तरं विचिन्त्य कान्तेन समं समागमम्।
स्फुटं सिषेवे कुसुमेषुपावकः स रागचिह्नश्चरणौ न यावकः॥ नै० १५।४७

२. स्वयं तदङ्गेषु गतेषु चारुतां परस्परेणैव विभूषितेषु च।
किमूचिरेलङ्करणानि तानि तद् वृथैव तेषां करणं बभूव यत्॥ नै० १५।४८

३. तथैवतत्कालमथोनुजीविभिः प्रसाधनासज्जनशिल्पपारगैः।
निजस्यपाणिग्रहणक्षणोचिता कृतानलस्यापिविभोर्विभूषणा॥ नै० १५।५७

४. पतत्रिणांद्राधिमशालिना धनुर्गुणेनसंयोगजुषां मनोभुवः।
कचेषु तस्याजितमार्जनश्रिया समेत्यसौभाग्यमलम्भिकुड्मलैः॥ नै० १५।५९

५. अनर्घ्यरत्नौघमयेन मण्डितो रराजराजा मुकुटेन मूर्धनि।
वनीपकानां स हि कल्पभूरुहस्ततोविमुञ्चन्निवमञ्जुमञ्जरीम्॥ नै० १५।६०

पुरुषों के भाल पर एक स्वर्ण निर्मित पट्टिका अलकार रूप मे बाँधी जानी है, जिसे वीर-पट्टिका कहते है। नल के मस्तक पर बँधी वीर-पट्टिका के प्रति श्रीहर्ष उत्प्रेक्षा करते है—"नल के ललाट पर रत्नखचित वीर-पट्टिका नामक स्वर्णिम अलंकार सुशोभित था. .मानों वह चन्द्रमा के चारों ओर रहने वाला परिधि-मंडल ही है। किन्तु सुन्दरता में चन्द्रमा से कहीं अधिक होने वाला नल का पूरा मुखमंडल इस परिधि के घेरे मे न आ सका। अतः वह परिधि-मण्डल मुख के एक ही भाग को घेर सका।[1]"

भ्रूमध्य में लगे तिलक-विन्दु के प्रति श्रीहर्ष कैसी सटीक उत्प्रेक्षा करते है। भौहों के पास नल का तिलक-विन्दु इस प्रकार लगता था मानों दमयन्ती के मानम धैर्य को नष्ट करने के लिये भगवान् कामदेव की उन भौहों रूपी धनुष के पास रखी हुई गोली हो।[2]

मस्तक पर चन्दन की शोभा के प्रति कवि का कहना है:—"नल के अति-सरोज मुख-मण्डल पर चन्दन-विन्दु की वही शोभा होती थी जो चन्द्रमा के मध्य में रोहिणी आदि किसी एक तारका के आने पर होगी।[3]"

भुजबन्द का वर्णन करते हुए कवि की उत्प्रेक्षा है—

"नल के भुजबन्द आदि भुजाभरणों पर श्वेताभ हीरे तथा अरुणाभ माणिक्य सुशोभित थे। उनकी किरणें सभी ओर फैल रही थीं। मानों नल अपने दिग्विजय के यश की श्वेत आभा तथा प्रताप की रक्त आभा को दशों दिशाओं में फैला रहे थे।[4]"

माणिक्य-ज्ञान

आभूषणों के वर्णन के प्रसग में कवि की माणिक्य-विषयक अभिज्ञता का सुन्दर परिचय मिलता है—

---

१. नलस्य भाले मणिवीरपट्टिकानिभेन लग्नः परिधिर्विधोर्बभौ।
तदा शशङ्काधिकरूपतागते तदानने मातुमशक्नुवन्निव॥ नै० १५।६१

२. बभूव भैम्या खलु मानसौकसंजिघांसतो धैर्यकरं मनोभुवः।
उपभ्रु तद्वर्तुलचित्ररूपिणी धनुः समीपेगुलिकेव सम्भृता॥ नै० १५।६२

३. अचुम्बि या चन्दनबिन्दु-मण्डली नलीयवक्त्रेण सरोजतर्जिना।
श्रियं श्रिता काचन तारका सखीकृता शशाङ्कस्य तयाङ्कवर्तिनी॥ नै० १५।६३

४. नै० १५।६९

वैदर्भी के गुच्छाहार के निर्मल जल-कण-कान्ति वाले मोतियों के प्रकाश से उज्ज्वल पयोधरों पर माणिक्य हार की अरुणकान्ति उदित हो रही है। (जैसे मेघ में इन्द्रधनुष उदित होकर शोभा पाता है)।[१]

आगे श्रीहर्ष दमयन्ती के ताम्बूल-रञ्जित दाँतों की समता कुरुविन्द (अरुण-मणि) से देते हैं—हे अरुण मणियों के समान अभिराम दन्तावलियों वाली सुन्दरि इत्यादि।[२]

रत्नों में पाँच प्रकार के दोष साधारण सम्भव माने गए हैं—

१—राग २—भास ३—विन्दु ४—रेखा तथा ५—जलगर्भता।[३]

स्वयंवर-सभा में विभूषित दमयन्ती के प्रवेश करने के समय का वर्णन करते हुए श्रीहर्ष श्लेष द्वारा रत्न के पूर्वोक्त दोषों की ओर संकेत-सा करते हुए कहते हैं—"दमयन्ती के आभूषण-रत्नों की निर्मल किरणें उसके परिधान को देदीप्यमान् कर रही थीं, तथा उसके देह में किए गए स्निग्ध पदार्थ एवं कृत्रिमोदक के लेप का अपनयन करने में सयत्न-सी थीं। (अथवा रत्नों के स्निग्धत्व, मायाजाल एवं लेप इन तीन दोषों के दूर कर देने पर उनकी निर्मल किरणें ही जिस सुन्दरी के देह पर वस्त्र की शोभा दे रही थीं।) उसके साथ उसकी सखियाँ ऐसी प्रतीत होती थीं, मानों उन अलङ्कारहीरकों की आभा-रूप जल में उसी के प्रतिबिम्ब हों।[४]"

तुरग-लक्षण

कलाओं में इसकी भी गणना है। नैषध मे श्रीहर्ष ने प्रसंगतः अपने शालिहोत्र ज्ञान का अच्छा परिचय दिया है।

शालिहोत्र मे लिखा है—"जो अश्व अपने खुरों से भूमि को निरन्तर खनता रहता है वह श्रेष्ठ माना गया है।[५]"

---

१. गुच्छालय स्वच्छतमोदबिन्दुवृन्दाभमुक्ताफलफेनिलाङ्के।
माणिक्यहारस्य विदर्भसुभ्रू पयोधरे रोहति रोहितश्रीः॥ नै० ७।७६

२. चित्ते कुरुष्वकुरुविन्दसकान्तिदन्ति॥ नै० ११।४८

३. रागस्त्रासश्च बिन्दुश्च रेखा च जलगर्भता।
सर्वरत्नेष्वमी पंच दोषाः साधारणामताः॥ वाग्भट्ट, नै० १०।९३
की टीका में मल्लिनाथ द्वारा उद्धृत।

४. स्निग्धत्वमायाजललेपलोप-सयत्नरत्नांशु मृजांशुकाभाम्।
नेपथ्य-हीरद्युतिवारिर्वातिस्वच्छायसच्छायनिजालिजालाम्॥ नै० १०।९४

५. खुरैःखनन्यः पृथ्वीमश्वो लोकोत्तरः स्मृतः॥ नै० १।५७ की टीका में नारायण द्वारा उद्धृत।

उपवनविहार के लिये जाने को उद्यत नल के लिये भृत्यों ने जो अश्व उपस्थित किया वह पूर्वोक्त लक्षणों से सयुक्त था। आज्ञा पाकर भृत्यगण निरन्तर चञ्चल खुरों से वाजिशाला की भूमि खनने वाले, बल की अपेक्षा और अधिक वेग वाले, पुरुष-प्रमाण से भी अधिक ऊँचे, विशेष रूप से अलंकृत एक धवल अश्व को ले आए,।[1] भूमि-कुट्टन से अश्व के खुरों मे लगी धूलि के प्रति कवि की उत्प्रेक्षा है—"नल के अश्व के चरण निरन्तर धरातल पर पटकने के कारण धूलि-धूसरित हो रहे थे, वह धूलि इस प्रकार प्रतीत होती थी, मानों लोगों के मन परमाणु-रूप धारण कर उस(अश्व) से वेगातिशय सीखने आए हैं।[2]"

अश्व के गले की देवमणि शुभ लक्षण मानी गयी है।[3]

नल का अश्व गले मे देवमणि नामक भंवरी से, तथा कण्ठमध्यमार्ग में उठे हुए चन्द्ररश्मि-धवल स्कन्ध-बालों से सुशोभित था।[4]

अश्व का प्रोथ (थूथन) स्वभावतया चञ्चल होता है।[5]

नैषध के अश्व का भी यह स्वाभाविक गुण दर्शनीय था—

"जो अश्व चञ्चल ओठों द्वारा मानों राजा नल से अपने वेग-दर्प को व्यक्त करने के लिये उत्सुक है 'किन्तु यह राजा अश्व-अभिप्राय को स्वयं जानता है अतः कहना व्यर्थ है' इसलिए मौन स्थिर है।[6]"

अश्व-शास्त्र में घोड़ों की चौवन (५४) जातियों का उल्लेख है। उनमें सिन्धुज अश्व उत्तम जाति के माने जाते हैं।[7]

---

१. अमीततस्तस्य विभूषितं सितं जवेऽपिमानेपि च पौरुषाधिकम्।
उपाहरन्नश्वमजस्रचञ्चलैः खुराञ्चलैः क्षोदितमन्दुरोदरम्॥ नै० १।५७

२. अजस्रभूमीतटकुट्टनोत्थितैरुपास्यमानं चरणेषु रेणुभिः।
रयप्रकर्षाध्ययनार्थमागतैर्जनस्य चेतोभिरिवाणिमाङ्कितैः॥ नै० १।५९

३. देवमणिः शिवैऽश्वस्य कण्ठावर्ते च कौस्तुभे। इति विश्वः नै० १।५८ की टीका में नारायण द्वारा उद्धृत।

४. अथान्तरेणवट्टुगामिनाध्वना निशीथिनीनाथमहः सहोदरैः।
निगालगाद्देवमणैरिवोत्थितैर्विराजितं केसरकेशरश्मिभिः॥ नै० १।५८

५. चलाचलप्रोथत्वमश्वजातिः॥ नै० १।६० की टीका में नारायण

६. चलाचलप्रोथतया महीभृते स्ववेगदर्पानिववक्तुमुत्सुकम्।
अलं गिरा वेद किलायमाशयं स्वयं हयस्येति च मौनमास्थितम्॥ नै० १।६०

७. सिन्धुजम् इत्यनेनाश्वशास्त्रोक्त चतुःपञ्चाशदुत्तमकुलजत्वं बलित्वं महाकायत्वं च सूचितम्। नै० १।६४ की टीका में नारायण।

नल का वह अश्व सिन्धुज था। श्रीहर्ष श्लेष-चमत्कार के साथ उसकी समता उच्चैःश्रवा से करते हैं—"सिन्धु-देशोद्भव, चन्द्रधवल, उच्चैश्रवा-सदृश सुशोभित उस अश्व पर भूभृद्विजेता विपुल-नयन पृथ्वीन्द्र नल आरूढ़ हुए (यहाँ पर जितक्ष्माभृत् तथा अनल्पलोचन विशेषण इद्र नल दोनों के लिए श्लिष्ट हैं।)[१]"

हय का सबसे बड़ा गुण सत्त्व (पानीदार होना) है। विना सत्त्व (पानी) का घोड़ा रखना ही नहीं चाहिए।[२]

सारसिन्धु का वचन है—"सत्त्व के बिना सारे लक्षणों एव गुणों से युक्त भी अश्व उसी प्रकार श्लाघ्य नहीं है, जैसे पाँचों इन्द्रियों से युक्त भी शरीर बिना आत्मा के।[३]"

नल के अश्व मे सत्त्व का अतिशय था। नल ने अपने छत्र के नीचे ही अपने घोड़े से जो सुन्दर चक्कर लगवाए, क्या पवन अव भी उन्हीं को सीखने के लिए ववण्डरों के रूप मे चक्कर नही लगाता ?[४]

तिर्यग्योनि-विषयक ज्ञान (१—पक्षि-विज्ञान)

हंस वर्णन के प्रसंग मे श्रीहर्ष ने स्थान-स्थान पर ऐसी सूक्ष्म बातों का उल्लेख किया है जिससे उनके पक्षि-विज्ञान (पक्षियों के जाति स्वभाव आदि) की विशेषज्ञता का पूर्ण परिचय मिलता है।

हंसों का स्वभाव है कि वे एक पैर पर खड़े होकर दूसरे पैर से तथा चञ्चुपुट से पंखों तथा सिर आदि शरीर के विभिन्न अगों को खुजलाते हैं।

"नल के करपञ्जर से मुक्त होते ही हंस एक स्थान पर जा बैठा और वहाँ अपने एक पैर को मोड़कर जंघे को पंखे के मध्य से ऊपर तक ले जाते हुए जल्दी

---

१. ससिन्धुजं शीतमहः सहोदरं हरन्तमुच्चैःश्रवसः श्रियं हयम्।
जिताखिलक्ष्माभृदनल्पलोचनस्तमारुरोह क्षितिपाकशासनः॥ नै० १।६४

२. सत्त्वेनरहितो न संग्राह्यः—इति नै० १।७३ की टीका में नारायण द्वारा उद्धृत।

३. तल्लक्षणगुणैः श्लाघ्यैः किंसत्त्वेनविना हयः।
पञ्चेन्द्रियसमेतोपियथाकायो विनात्मना॥ वही

४. अचीकरच्चारु हयेन या भ्रमीर्निजातपत्रस्य तलस्थले नलः।
मरुत्किमद्यापि न तासु शिक्षते वितत्य वात्याभयचक्रचङ्क्रमान्॥ नै० १।७३

जल्दी सिर खुजलाने लगा[१]। तथा 'उसके पख-रूपी गढ़ मे तीक्ष्ण दंशनकारी कृमिकीट इधर-उधर गुप्त होने के कारण अत्यन्त दुर्ग्राह्य बने थे। किन्तु हंस ने अपने कण्डयन-कुशल चञ्चुपुट की नोक की चोटों से सब को दूर कर दिया।[२]"

यदि कोई पक्षी कही विपत्ति से मुक्ति पाता है तो उसके वर्ग के अन्य पक्षी उसे आ घेरते है और फिर उसके विकृत (ऊबड़-खाबड़) पंखों को देखकर भय-सूचक शब्द करते हुए उड़ जाते है।

यह हंस भी जिस समय नल के हाथ से छूटा उस समय छूटते ही हस को सरोवर के पक्षियों ने आकर घेर लिया। किन्तु नल के हाथ मे पड़ने से इसकी अंग-विकृति को देखकर वे फिर भयमिश्रित उच्च आराव करते हुए उड़ चले।[३]

उड़ते समय पक्षी कभी पख चलाता है, कभी ऊर्ध्वगति से जाता है तथा कभी अपने पंखों को शान्त फैलाए हुए उड़ता है। उसकी ये सारी क्रियाएं अत्यन्त स्वाभाविक है।

श्रीहर्ष हंस के उड़ने में इस अत्यन्त स्वाभाविक कार्य का चित्रण करते है— "हस कभी पंखों को हिलाते हुए उड़ता, कभी ऊपर की ओर जाने के कारण दुर्लक्ष्य हो जाता, तथा कभी पंखों को फैलाकर निस्पन्द गति से जाता। इस प्रकार वह दर्शकों मे कौतूहल उत्पन्न करता हुआ जा रहा था।[४]"

जब कोई बृहत्काय पक्षी वेग के साथ उडता है तो उसके पखों से एक प्रकार का झंकार होता है, जिससे अध.स्थित अन्य लघु पक्षी भय से अपनी गर्दन झुकाकर उसकी ओर तिरछी आँखों से देखते हैं। पक्षियों की यह अत्यन्त सूक्ष्म तथा अत्यन्त स्वाभाविक क्रिया है।

श्रीहर्ष ने इस क्रिया का भी अत्यन्त सूक्ष्म निरीक्षण किया है। कुण्डिनपुर जाते समय वेग के कारण हस के पंखों की गति से झंकार हो रहा था, जिससे अधः-

---

१. अयमेकतमेन पक्षतेरधिमध्योर्ध्वगजंघमङ्घ्रिणा।
स्खलनक्षण एव शिश्रिये द्रुतकण्डूयित-मौलिरालयम्॥ नै० २।३

२. स गरुद्वनदुर्गदुर्ग्रहान्कटु कीटान्दशतः सतः क्वचित्।
नुनुदे तनुकण्डुपंडितः पटुचञ्चूपुट-कोटिकुट्टनैः॥ नै० २।४

३. अयमेत्य तडागनीडजैर्लघु पर्यवियताथ शङ्कितैः।
उदडीयत वैकृतात्करग्रहजादस्य विकस्वरस्वरैः॥ नै० २।५

४. स ययौ धुतपक्षतिः क्षणं क्षणमूर्ध्वायनदुर्विभावनः।
विततीकृतनिश्चलच्छदः क्षणमालोककदत्तकौतुकः॥ नै० २।६८

स्थित पक्षियों को श्येननिपात की शका होती थी। अतः वे ग्रीवा मोड़कर उसे ऊपर की ओर एक आँख से देखते थे।[१]

नीचे उतरते समय पक्षी एक गोल चक्कर बनाता है। हस ने भ्रमणवेग से अपनी स्वर्णिम आभा विकीर्ण करते हुए उतरने के योग्य स्थान की खोज मे ऊपर एक मण्डल-सा बनाया (जो ऐसा प्रतीत हुआ) मानों दमयन्ती के मुखचन्द्र की सेवा के लिये चन्द्रमा की परिधि रेखा हो।[२]

जहाँ उतरना होता है, वहाँ पक्षी ऊपर से अपने पखों को समेट कर पहले बड़े वेग से उतरता है, फिर उस नियत स्थान पर पहुँच कर शरीर के सन्तुलन को ठीक रखने के लिये अपने पखों को फैला देता है।

हंस अपने दोनों पखों को समेटते हुए आकाश से वेग के साथ नीचे उतरकर निवेशदेश (बैठने की जगह) पर पखों को फैलाते तथा हिलाते हुए दमयन्ती के समीप भूमि पर स्थित हो गया।[३]

२—जलचर-विज्ञान

एक मत्स्य ही प्रसिद्ध जलचर है जिसका शृंगार रस में सबसे अधिक उल्लेख हो सकता है, क्योंकि वह कामदेव का ध्वज-चिह्न तथा सुन्दरियों का नेत्रोपमान माना जाता है। श्रीहर्ष ने उसके स्वभाव का भी निरीक्षण किया था। जल में शैवाल आदि पौदों से मछलियाँ स्वभावतया अपना शरीर रगड़ा करती हैं।[४] विरहव्यथित दमयन्ती के उर.स्थल पर रखे शैवाल को देखकर श्रीहर्ष कल्पना करते हैं—"पिक आलाप सुनकर दमयन्ती का हृदय काँप उठता और उस समय उस हृदय पर रक्खा हुआ शैवाल (सेवार) चञ्चल होकर इस प्रकार प्रतीत होता मानों उस हृदय में सदा निवास करने वाले मदन के वाहन मत्स्य का शरीर-घर्षण लग रहा हो।[५]"

---

१. विनमद्भिरधः स्थितैः खगैर्झटितिश्येननिपातशङ्किभिः।
स निरैक्षि दृशैकयोपरि स्यदझांकारितपत्रपद्धतिः॥

२. भ्रमणरयविकीर्णस्वर्णभासा खगेन क्वचन पतन-योग्य देशमन्विष्यताधः।
मुखविधुमदसीयं सेवितुं लम्बमानः शशिपरिधिरिवोर्ध्वं मण्डलस्तेन तेने॥
नै० २।१०८

३. आकुञ्चिताभ्यामथपक्षतिभ्यां नभोविभागात्तरसावतीर्य।
निवेशदेशाततधूतपक्षः पपात भूमावुपभैमि हंसः॥ नै० ३।१

४. मत्स्योहिशैवले घर्षणंकरोतीतिजातिः॥ नै० ४।३५ की टीका में नारायण

५. पिकरुतिश्रुतिकम्पिनि शैवलं हृदि तया निहितं विचलद्बभौ।
सततदद्गतहृच्छयकेतुना हृतमिव स्वतनूधनघर्षणा॥ नै० ४।३५

१--कला-ज्ञान

कला-कोष मे लिखा है—वस्त्र पर पड़े तेलके मल (दाग) को घी से, घी के मल को उष्ण जल से, कज्जल के मल को दूध से, तथा अन्य मल को खारेउष्ण जल से धोया जाता है।[१]

नल-प्रिया से चन्द्रिका का वर्णन करते हुए कहते हें :—

"कृशोदरि, देखो, रात्रिरूपी धोबिन ने चन्द्रिका-रूपी दूध की धारा से आकाश-रूपी वस्त्र मे लगे हुए अन्धकार रूपी कज्जल के दाग को क्षण भर मे साफ कर दिया।[२]"

२--शिल्प-चित्रकारी

जिस भित्ति पर चित्र बनाना होता है उसे पहले जल से धोकर साफ करते हैं, तब उस पर चित्र अकित किए जाते है[३]। उक्त सिद्धान्त का उल्लेख नैषध के इस श्लोक में मिलता है।—"और फिर शत्रु के चरित्र मे उसकी शुभकीर्ति से चाहे कितना ही धवल क्यों न हो, किन्तु उसमे झूठे स्याही के दाग लगाने मे भला कौन कुशल नही होते।[४]"

शकुन

शकुन विचारकों के अनुसार जो व्यक्ति प्रस्थान के समय पृथु, सहस्रार्जुन, शकुन्तलापुत्र भरत तथा नल का स्मरण करता है उसका कार्य सिद्ध होता है, एवं पुनः सकुशल लौटना होता है।[५]

---

१. तैलं घृतेन तच्चोष्णजलैर्दुग्धेनकज्जलम्।
नाशयेदम्बरस्थं तु मलं क्षारेण सोष्मण॥—कलाकोष—नै० २२।१११ की टीका में नारायण द्वारा उद्धृत।

२. आभिर्मृगेन्द्रोदरि कौमुदीभिः क्षीरस्य धाराभिरिवक्षणेन।
अक्षालि नीली रुचिरम्बरस्था तमोमयीयं रजनीरजक्या॥ नै० २२।१११

३. अन्येपि शिल्पिनो जलधारा-क्षालिते रमणीये कड्ड्यादौमष्यादिवर्णकैश्चित्रं लिखन्ति॥ नै० २०।१३६ की टीका में नारायण।

४. धौतेऽपिकीर्तिधाराभिश्चरिते चारुणि द्विषः।
मृषामषीलवैर्लक्ष्म लेखितुं के न शिल्पिनः॥ नै० २०।१३६

५. वैन्यं पृथुं हैहयमर्जुनं च शाकुन्तलेयं भरतं नलं च।
एतान्नृपान्यः स्मरति प्रयाणे तस्यार्थसिद्धिः पुनरागमश्च॥ नै० ५।१३४ की नारायणीय टीका की पाद-टिप्पणी में उद्धृत।

वरुण नल से उसी मंगल का स्मरण करते हुए कहते हैं—"हे नल, यात्रा करने वाले को भरत, कार्तवीर्य तथा पृथु की भाँति तुम भी स्मरणमात्र से ही अभीष्ट देते हो। फिर यदि तुम अपनी ही यात्रा की असफलता की शका कर रहे हो तो सारे मगल निश्चित ही निष्फल हुए।[1]"

किसी से मिलते समय यदि शुभ शकुन हो तो वह मिलने वाला जन शुभकारक होता है।[2] सरस्वती जिस समय महाराज भीम के पास स्वयंवर समाज में आईं उस समय "सरस्वती के आने पर मालूम पडने वाले शकुन स्वर आदि के द्वारा उन्हें अभीष्ट तथा प्रामाणिक जानकर लोकपाल-समान राजा भीम ने उनकी उचित पूजा की।[3]"

स्वप्नाध्याय-वेत्ताओं का मत है कि रात्रि के चतुर्थ प्रहर (गायों को चराने के लिये छोडने की वेला) मे देखा हुआ स्वप्न शीघ्र सत्य फल देता है।[4]

अन्तःपुर में दमयन्ती को साक्षात् देखकर नल कहते हैं—

"आज निशावसान के समय मैंने इस मधुर अधरों वाली के संयोग का अनुभव किया था। अहा, इस प्रकार यह कैसे मुझे प्रत्यक्ष गोचर भी हो गयी।[5]"

सूप-शास्त्र (पाक-विज्ञान)

पुराणों मे नल को अश्वविद्या के साथ सूप-विद्या मे भी निपुण कहा गया है यम भी नलको "तुम्हारे द्वारा पकाए हुए अन्न-रसादि पदार्थ अमृत से बढकर स्वादिष्ठ हों।[6]" इत्यादि वरदान देते हुए कहते हैं—"राजन् हम जानते हैं सूप-कार क्रियाओं मे आपको विशेष अभिरुचि है।[7]" श्रीहर्ष ने अति पाण्डित्य के साथ नैषध के इस

---

१. प्रवसते भरतार्जुनवैन्यवत् स्मृतिधृतोऽपिऽनल त्वमभीष्टदः।
स्वगमनाफलतां यदि शङ्कसे तदफलं निखिलं खलुमङ्गलम्॥ नै० ५।१३४

२. आप्तागमन-समये भुजस्पन्दादयो भवन्ति.—नै० १०।९१ की टीका—नारायण।

३. तत्कालवेद्यैः शकुनस्वराद्यैः राप्तामवाप्तां नृपतिः प्रतीत्य।
तां लोकपालैकधुरीण एष तस्यै सपर्यामुचितांदिदेश॥ नै० १०।९१

४. गोविसर्जनवेलायां दृष्ट्वा सद्यःफलं भवेत्॥ नै० ७।४२ की टीका में नारायण द्वारा उद्धृत।

५. संभुज्यमानाद्य मया निशान्ते स्वप्नेऽनुभूता मधुराधरेयम्।
असीमलावण्यरदच्छदेत्थं कथं मथैव प्रतिपद्यते वा॥ नै० ७।४२

६. अस्तु त्वया साधितमन्नमीनरसादिपीयूषरसातिशायि॥ नै० १४।७८

७. यद्भूपविद्भस्तव सूपकार-क्रियासु कौतूहल-शालि शीलम्॥ १४।७८

(अग्रिम) श्लोक में सूप-शास्त्र-विषयक सूक्ष्म एव विस्तृत नियम निहित किए हैं—"राजा नल की जिह्वाग्रनर्तकी-सी हो कर त्रयी—(वेद) मूल विद्या ने मानों अष्टादश द्वीपों की जय-लक्ष्मी को पृथक् पृथक् विजय करने की इच्छा से अपने छहों अंगों (वेदांगों) के गुणन द्वारा अष्टादश रूप धारण किए थे। (अथवा षड् रसों वाली सूपकार-विद्या ने परस्पर न्यूनाधिक समत्व रूप मे संमिश्रण के द्वारा अट्ठारह रूप धारण किया था)।[1]"

बरातियों के भोजन के प्रसग मे तो कवि ने अपनी सूप-शास्त्र-विषयिणी पूर्ण कुशलता का परिचय दिया है। उदाहरणार्थ, कुछ विशेष पदार्थों का ही उल्लेख पर्याप्त होगा—

बिना टूटे, पूरे खिले हुए महीन चावलों के भात का वर्णन करते हुए कवि कहता है—"उन बरातियों ने वहाँ सुगन्धित चावल स्वाद के साथ खाए। उन चावलों से कुछ भाप निकल रही थी। वे चावल बिना टूटे हुए पक कर भी एक दूसरे से अलग, तथा अत्यन्त कोमल, स्वादिष्ठ एव अत्यन्त महीन थे।[2]"

---

१. अमुष्य विद्यारसनाग्रनर्तकी त्रयीवनीताङ्गगुणेन विस्तरम्।
अगाहताष्टादशतां जिगीषया नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम्॥ नै० १।५

नारायण ने अपनी टीका में इस श्लोक का अर्थान्तर करते हुए लिखा है—
अथवा स्वादुरसोत्पादकप्रकारकथनद्वाराश्रुतासतीलोकस्यरसाग्रंजिह्वाग्रंनर्तयतीति जिह्वाग्रनर्तकी। नलस्य सूपकारविद्या अङ्गानामवयवभूतानां मधुराम्ललवणतिक्तकटुकषायाख्यानां षण्णां रसानां न्यूनाधिकसमत्वरूपेणगुणेनाष्टादशतां प्राप। यथा मधुरे द्रव्ये मधुरद्रव्यान्तरस्य न्यूनः प्रक्षेपः तिक्तेधिकः अम्लेसमः इत्यनेन प्रकारेण सर्वरसानां त्रैविध्येऽष्टादशत्वम्। यद्वा अङ्गानां दुग्धदध्यादीनां। तथा च सूपशास्त्रम् दुग्धं दधि नवनीतम् घोलवने तक्रमस्तु युगम्। मध्वाटविक हविष्यं द्विदलान्नं चेति विज्ञेयम्। कन्दोमूलं शाखा पुष्पं पत्रं फलं चेति अष्टादशकं मांसं भक्ष्याण्युक्तान्ति गिरिसुतया इति। दध्युदकमस्त्वित्युच्यते कणिशभवं व्रीह्यादि शिम्ब्यादिभवं मुद्गादि घण्टकभवं चणकादि इदं त्रिविधम् धान्यम्। भूचरजलचरखेचर भेदात्त्रिविधंमांसम्। षड्साः कन्दमूलफलनालपत्रपुष्पमयं षड्विधं शाकम्। इत्येवं धान्याद्यङ्गगुणेन विस्तरं नीता इति केचित्।

२. अमोलसद्वाष्पमखण्डिताखिलं वियुक्तमन्योन्यममुक्तमार्दवम्।
रसोत्तरं गौरमपीवरं रसादभुञ्जतामोदनमोदनं जनाः॥ नै० १६।६८

दही का रायता—"दही और राई के बने अत्यन्त चर्परे रायते को खाते समय भला कौन सी-सी नहीं कर रहा था। किसका सिर नहीं हिल रहा था। तथा किसके सिर और तालू में खुजलाहट नहीं हो रही थी।[१]"

तेमन[२]—"मृगमास के बने व्यञ्जन (तेमन) को प्रेमपूर्वक खाकर उन बरातियों ने सोचा कि क्या चन्द्रमण्डल में रहने वाले मृग के मास को चन्द्रमा के अमृत के साथ पकाया गया था।[३]"

सामिष तथा निरामिष पदार्थ—"बरातियों को कभी-कभी निरामिष भोजन सामिष लगते थे तथा सामिष निरामिष लगते थे। —चतुर सूपकारों ने उन्हें इस विचित्रता से पकाया था कि बरातियों को भ्रम हो ही जाता था। इस प्रकार उपहास करते हुए उन लोगों को भोजन कराया गया।[४]" मत्स्य, मृग, बकरे, तथा पक्षियों के मास से जो कोमल स्वादिष्ठ एवं सुगन्धित पदार्थ तैयार किए गए उन्हें लोग गिन ही नहीं सकते थे। खाने की बात तो दूर रही।[५]

अन्त में दही-बड़ा—"अन्त में दही-बड़े से सारा भोजन सजा दिया गया। बड़ों के किनारे पर गोल चक्करदार रेखाएं बनी हुई थी तथा घी में पकने के कारण उनका रंग कुछ रक्त मिश्रित पीतिमा लिए हुए हो गया था। मानों यह भोजन विधि की समाप्ति की उसी प्रकार सूचक थी जैसे पुस्तकों की समाप्ति सूचक लिपि में गोल चिह्न बना दिए जाते हैं।[६]"

लोकरीति

नैषध में लोक प्रचलित विविध व्यवहारों का उल्लेख हुआ है। तत्कालीन सामाजिक जीवन का विशेष विवरण तो 'तत्कालीन समाज' नामक अध्याय में

---

१. न राजिकाराद्धमभोजि तत्रकैर्मुखेन सीत्कारकृता दधद्दधि।
धुतोत्तमाङ्गैः कटुभावपाटवादकाण्डकण्डूयितमूर्धतालुभिः॥ नै० १६।७२

२. स्यात्तेमनं तु निष्ठानम्—अमरकोष

३. व्यधुस्तमां ते मृगमांससाधितं रसादशित्वा मृदु तेमनं मनः।
निशाधवोत्संगकुरङ्गजैरदः पलैः सपीयूषजलैः किमश्रपि॥ नै० १६।७६

४. यथामिषेजग्मुरनामिषभ्रमं निरामिषे चामिषमोहमूहिरे।
तथा विदग्धैः परिकर्मनिर्मितं विचित्रमेते परिहस्य भोजिताः॥ नै० १६।८१

५. अराधि यन्मीनमृगाजपत्त्रिजैः पलैर्मृदु स्वादु सुगन्धि तेमनम्।
अशाकि लोकैः कुत एव जेमितुं न तत्तु संख्यातुमपि स्म शक्यते॥ नै० १६।८७

६. समाप्ति-लिप्येव भुजिक्रियाविधेर्दलोदरं वर्तुलयालयीकृतम्।
अलङ्कृतं क्षीरवटैस्तदश्नतां रराज पाकार्पितगैरिकश्रिया॥ नै० १६।९८

सविस्तार देखा जा सकता है। यहाँ केवल इन्ही व्यवहारों का दिग्दर्शन होगा जो सनातन से प्रचलित है तथा जिनको शिष्ट व्यवहार में समाज अब तक मानता चला आ रहा है।

किसी प्रिय जन को बन्धु लोग वनान्त तक अथवा जलाशय तक पहुँचा कर उसे विदा देते है और जब वह दृष्टिपथ से ओझल हो जाता है तो लौटते है।

आगे वर्णित नैषध के श्लोको मे इस लोकरीति का दर्शन होता है—

"जैसे भाई बन्धु अपने प्रिय को कुछ दूर तक पहुँचाने जाते है और उसके आँख के ओझल हो जाने पर वापस लौट आते है उसी प्रकार पुर-वासियो की आँखें उपवन तक नल के पीछे लगी रही, फिर उपवन में नल के ओझल हो जाने पर लौट आयी।[1]" तथा "दमयन्ती की आँखे नल के प्रिय सुहृद हस के पीछे जा रही थी, पर बाष्पवारि उनके लिए अवधि रूप हो गया। (प्रिय को जलाशय तक ही पहुँचाते है।) अत समीप उडते हुए भी हंस दमयन्ती की आँखो से ओझल हो गया, किन्तु चित्तवृत्ति से तो दूर होकर भी ओझल न हुआ।[2]"

दृष्टिदोष को दूर करने के लिये लोग कसोरे (मिट्टी के बर्तन) को गोबर से लीप कर उसमे आटा आदि रखकर मुँह के चारो ओर नीराजना करते हैं।[3]

आगे के श्लोक मे इस लोकाचार का पालन मिलता है—"ब्रह्मा चन्द्रमण्डल को वैदर्भी मुख का समुचित निराजना पात्र बनाकर घुमाया करता है। उस चन्द्र-पात्र मे कलक ही गोमय-पूजन होता है तथा चूर्ण लेप ही के कारण वह पाण्डुर प्रतीत होता है।[4]"

लोकनीति कहती है—मौन रहना स्वीकृति का लक्षण है।[5] तथा जिससे इनकार न किया जावे, वह अनुमति का विषय होता है। नल देवो से अपने

---

१. वनान्तपर्यन्तमुपेत्य सस्पृहं क्रमेण तस्मिन्नवतीर्णदृक्पथे।
न्यवर्तिदृष्टिप्रकरैः पुरौकसामनुब्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः॥ नै० १।७५

२. तस्यादृशौ नृपतिबन्धुमनुब्रजन्त्यास्तंबाष्पवारि नचिराद्वधीबभूव।
पार्श्वेऽपि विप्रचकृषे यदनेनदृष्टे रारादपि व्यवदधे नलु चित्तवृत्तेः॥ नै० ३।१३१

३. गोमयालिप्तेन चूर्णादिचिह्नेन शरावेण दृष्टिदोषनिरासार्थं नीराजनाक्रियत इति लोकाचारः—नै० २।२६ टीका—नारायण

४. धृतलाञ्छनगोमयाञ्चनं विधुमालेपनपाण्डुरं विधिः।
भ्रमयत्युचितं विदर्भजाननीराजनवर्धमानकम्॥ नै० २।२६

५. मौनं स्वीकार-लक्षणम्। अप्रतिषिद्धमनुमतं भवति। नै० ५।१०५ की टीका में नारायण द्वारा उद्धृत।

मौन का इस प्रकार अर्थ न करने को कहते हैं—"आप सबके चित्त को जानते हैं तो मैं भी मौन न रहूंगा क्योंकि मेरा मौन आप महापुरुषों के कार्य के प्रतिकूल होगा। कहने में लज्जा भले ही लगे, पर निषेध न करने के कारण वह बात स्वीकृत हुई न मान ली जाय। (अतः कहूगा अवश्य)[1]"

लोक मे याचितक (मँगनी) प्रायः पिता मित्र से माँगते हैं।[2] दमयन्ती की मुखश्री के प्रति नल उत्प्रेक्षा करते हैं—"कमल अपने पिता जल से तथा चन्द्रमा अपने मित्र दर्पण से (उनमें पड़ने वाले) दमयन्ती की ही मुख कान्ति के प्रतिबिम्ब की याचना करके उसे कभी-कभी (चन्द्रमा रात मे, कमल दिन में) मँगनी के गहने के समान धारण करते हैं।[3]"

'आँखों में सावन-भादों लगाना' एक लोकोक्ति है जिसका प्रयोग अधिक रोने के अर्थ में किया जाता है। दमयन्ती के उन्मुक्त रोदन के प्रति हर्ष कहते है—"नल की बातो को मन में सोचकर, उन्हे सत्य जानकर दमयन्ती को विश्वास हो गया। फिर सूखा बीतने पर उन्मुक्त जल-प्रवाह की भाँति उसकी आँखों मे सावन-भादौं लग गया।[4]"

कज्जल बनाने में एक दीपक जलाकर उसे बर्तन से ढक दिया जाता है जिससे दीपशिखा की कालिख उस बर्तन मे एकत्रित होती रहती है।[5]

अन्धकार का वर्णन करते समय नल प्रिया से कहते हैं—

"प्रिये, सूर्य रूपी दीपक जल रहा था। उसका कज्जल लेने के लिए उसके ऊपर नील आकाश का एक विशाल कड़ाह उलटा कर दिया गया था। दिन भर उस कड़ाह मे कज्जल एकत्रित होता रहा और अन्त मे अधिक होकर निराधार होने के कारण वह सारी कज्जल-राशि भूमि पर आ गिरी और देखो चारो तरफ फैल गयी है। उसी को हम अन्धकार कह रहे है।[6]"

---

१. नै० ४।१०५

२. पितृमित्राभ्यां याचितं दीयते—नै० ७।५६ की टीका में नारायण।

३. अस्यामुखश्रीप्रतिबिम्बमेव जलाच्च तातान्मुकुराच्चमित्रात्।
अभ्यर्थ्य धत्तः खलु पद्मचन्द्रौ विभूषणं याचितकं कदाचित्॥ नै० ७।५६

४. इमागिरस्तस्य विचिन्त्य चेतसा तथेति संप्रत्ययमाससाद सा।
निवासितावग्रहनीरनिर्झरैः नभोनभस्यत्वमलम्भयद्दृशौ॥ नै० ९।८४

५. कज्जलमपि कर्परेधृतंक्रमेण बहुभवद् गुरुत्वादधः पतित॥ नै० २२।३१ की टीका में नारायण।

६. नै० २२।३१

चकई-भंवरा बालकों का एक प्रिय क्रीडनक होता है, जिसे वे एक तागे में लपेटकर नचाया करते हैं।[१] चन्द्रमा के प्रति नल की उत्प्रेक्षा है। "प्रिये यह चन्द्रमा बालक प्रदोष का चाँदी का चकई-भँवरा है। यह बालक लाल डोरे से इसे लपेटे था। अब घुमा कर उसने अपने लाल डोरे खीच लिए और यह खिलौना आकाश में नाचता हुआ चढता चला जा रहा है।[२]"

यह तो लोक सामान्य अनुभव है कि रात्रि मे सर्वत्र सन्नाटा होने के कारण धीरे भी कहा हुआ शब्द दूर तक सुनायी पड़ता है तथा रात्रि में पथिक भी अधिक रास्ता चल लेता है। —[३]

प्रिया की गीतध्वनि के प्रसार के विषय मे नल की उक्ति है —

"प्रिये, तुम्हारी गीत-ध्वनि पथिक की भाँति जितनी दूर रात्रि में जाती है उतनी दिन मे नही, क्योकि सुधांशु की अमृतरश्मियाँ बल देती हैं तथा इसे अन्धकार रूपी वन की शीतलता मिलती है। दिन मे तो घाम और पसीने के कारण थोड़ा भी चलना कठिन हो जाता है।[४]"

---

१. शिशुक्रीडासाधनं हि भ्रमरकं काष्ठमयं भवति॥ नै० २२।५१ की टीका में नारायण।

२. बालेन नक्तं समयेन मुक्तं रौप्यं लसद्बिम्बमिवेन्दुबिम्बम्।
भ्रमिक्रमादुज्झितपट्टसूत्रनेत्रावृति मुञ्चति शोणमानम्॥ नै० २२।५१

३. शब्दो हि रात्रौ स्वभावादतिदूरेऽपिश्रूयते दिवा तु न तथा।
पथिकोऽपि रात्रौ शैत्याद्दूरं गच्छति दिने चाल्पम्॥ नै० २२।१०८ की टीका में नारायण

४. आप्यायनाद्वा रुचिभिः सुधांशोः शैत्यात्तमः काननजन्मनो वा।
यावन्निशायामथ घर्मदुःस्थस्तावद् व्रजत्यह्नि न शब्दपान्थः॥ नै० २२।१०८

चतुर्दश अध्याय

लोक-चित्रण

कवि अपने सामयिक समाज से प्रभावित रहता है। कुशल कवि जिस अतीत के इतिवृत्त को अपने काव्य का कथानक बनाता है उसी अतीत की अन्य स्थितियाँ भी उपस्थित करने का प्रयत्न करता है किन्तु यदि सूक्ष्मेक्षिकया देखा जाय तो वहाँ भी उसका वर्तमान समाज झाँकता दिखायी पड़ता है, क्योकि उसकी अतीत या भविष्य से सम्बद्ध सारी कल्पनाओं का आधार वर्तमान ही रहता है। कवि की कल्पना वर्तमान की नीव पर अतीत तथा भविष्य के प्रासाँद बनाया करती हैं। अतएव किसी काव्य की समालोचना करते समय उसमें चित्रित तत्कालीन समाज का भी विवेचन किया जाता है। कवि 'लोक' अवेक्षण द्वारा भी काव्य-निपुणता प्राप्त करता है। लोक में पशु-पक्षियों का समाज तथा मनुष्यों का समाज दोनों आते हैं।

नैषध में तत्कालीन समाज का पूर्ण सांगोपांग चित्रण किया गया है। समाज की छोटी-मोटी बातों का भी अत्यन्त सरस ढंग से चित्रण हुआ है। संभव है कि है समाज अत्यन्त एकदेशीय तथा संकुचित क्षेत्र में व्याप्त रहा हो, किन्तु कुछ साधारण बाते ऐसी अवश्य ही रही होंगी जो साधारणतया सारे समाज में प्रचलित मानी जा सकती हैं, और इस प्रकार उनका उल्लेख देखकर हम समस्त समाज की अवस्था का अनुमान लगा सकते हैं। श्रीहर्ष के समय के आस-पास अथवा कुछ ही पश्चात् उत्तरीय भारत को मुसलमानों से टक्कर लेनी पड़ी। उनके राज्य धर्म तथा संस्कृति के भाव भारतीय राज्य धर्म तथा संस्कृति के भावो का स्थान लेने के लिए व्याकुल होन लगे थे। अतः हिन्दुओं ने अपने धर्म और भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए अनेक कठोर नियम बनाए, जो इस सात-आठ सौ वर्षो के लम्बे युग में ज्यों-के-त्यों बने रहे, और आज भी प्रायः उसी रूप मे देखने को मिलते हैं। उनकी बहुत कुछ उपयोगिता का नष्ट हो जाना स्वाभाविक ही है—उनको प्रगतिशील तो जानबूझकर नहीं बनाया गया था। नैषध का महत्त्व विशेष रूप से इसीलिए है कि इसमें जिस समाज का चित्रण हुआ है वह वास्तव में विशुद्ध "हिन्दू कालीन समाज है।" तब तक उस पर मुसलमानों के भय की तिमिरच्छाया नहीं पड़ी थी।

उसमें भारतीय संस्कृति का विशुद्ध रूप देखने को मिलता है। बाद में तो शीघ्र ही। उसके रूप में बहुत कुछ परिवर्तन हो जाता है। सम्भव है श्रीहर्ष ने पुराणों का आधार लेकर कुछ बाते ऐसी भी लिखी हों जो वास्तव में उनके समय मे न प्रचलित रही हों, किन्तु श्रीहर्ष-कालीन अन्य प्रमाणों से उन बातों का समर्थन होता देखकर हम सहज मे इस निर्णय पर पहुँच जाते है कि नैषधोक्त बाते प्रायः तात्कालिक समाज से सम्बद्ध है। अस्तु।

वर्णाश्रम

समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तथा शूद्र चारों वर्ण और ब्रह्मचर्य, गृहस्थ वानप्रस्थ तथा सन्यास चारों आश्रम अपनी-अपनी मर्यादा के पालन मे भरसक प्रयत्न करते थे।[१] ब्रह्मचर्य आश्रम मे द्विज बालक गुरु (द्विजराज) के पास रहकर भिक्षाटन द्वारा वृत्ति चलाते हुए विद्याध्ययन करते थे।[२] खेतों में या अन्यत्र बाजार आदि में कही अन्न-कणों को बीनकर शिलोञ्छवृत्ति द्वारा भी जीविका चलाते थे। यह वृत्ति सर्वोत्तम तथा पुण्यमयी मानी जाती थी।[३] ब्रह्मचारी मौञ्जी मेखला पहिनते थे तथा दण्ड (आषाढ) धारण करते थे।[४] पुस्तकें हस्तलिखित होती थी।[५] गृहस्थाश्रम वाले गृह बनाकर रहते थे। वानप्रस्थ गृहत्याग कर वनों में चले जाते थे, तथा यती (सन्यासी) होकर मठों में भी निवास किया करते थे।[६] आश्रमों मे गृहस्थाश्रम सबसे श्रेष्ठ माना जाता था।[७] गृहस्थ वेद का अध्ययन करते थे।[८]

---

१. स्थितिशालिसमस्तवर्णताम्—नै० २।९८ तथा 'वर्णाश्रमाचारपथात्प्रजाभिः।।
—नै० १४।४५

२. अस्याः किमास्यद्विजराजतो वा नाधीयते भैक्षभुजा तरुभ्यः।। नै० ७।४८

३. त्वया जगत्युञ्चितकान्तसारे यदिन्दुनाशीलि शिलोञ्छवृत्तिः।
आरोपि तन्माणवकोऽपि मौलौ स यज्वराज्येऽपि महेश्वरेण।। नै० ८।४२

४. मौञ्जीधृतो धृताषाढानाशशंके स वर्णिनः।
रज्ज्वामी बन्धुमायन्ति हन्तुं दण्डेन मां ततः।। नै० १७।१८०

५. मूर्खान्धकूपपतनादिव पुस्तकानामस्तं गतं वत परोपकृतिव्रतत्वम्।।
नै० ११।४९

६. स गृहे गृहिभिः पूर्णे वने वैश्वानर्वने।
यत्याधारेऽमरागारे क्वासैपि न स्थानमानशे।। नै० १७।१७५

७. वर्षेषु यद्भारतमार्यधुर्याः स्तुवन्ति गार्हस्थ्यमिवाश्रमेषु।। नै० ६।९७

८. दुर्जनस्याजनि क्लिष्टिर्गृहिणां वेदयष्टिभिः।। नै० १७।१८७

गृहस्थ का सबसे बडा कर्तव्य अतिथि-सत्कार था। स्मृतियों में अतिथि-पूजा का बड़ा माहात्म्य कहा ही गया था। श्रीहर्ष ने उसका कई स्थानों पर उल्लेख कर तत्कालीन समाज मे उसकी व्यावहारिकी महत्ता की सूचना दी है। आतिथ्य का आदर्श इस प्रकार था—"शिष्टाचार के अनुसार अतिथि के आने पर सर्वप्रथम नमस्कार तथा प्रिय वचनों द्वारा कुशल अवश्य पूछना चाहिए।[1] अतिथि के सामने अपने को तृण के समान नम्र कर देना चाहिए। तुरन्त अपना ही आसन अतिथि के लिये दे देना चाहिये। हर्ष के आँसुओं के साथ प्रिय मधुर वचनों द्वारा कुशल-प्रश्न पूछना चाहिए।[2] चरण-प्रक्षालन के लिए जल लाने में थोडी भी देर के कारण अपराध सम्भव है, अत. जब तक अन्य सेवा-सम्भार तैयार हो रहा है तब तक हाथ जोड़कर अपनी ऋजुता ही प्रकट करनी चाहिए।[3] आतिथ्य के दान, दया तथा प्रिय-सत्य वचन आवश्यक अग माने जाते थे।[4] किसी पूज्य के आ जाने पर तो उसका अधिक से अधिक आतिथ्य किया जाता था।[5] गृहस्थों के आँगन अतिथियों के चरण-प्रक्षालन-जल से गीले रहते थे।[6]"

वानप्रस्थ आश्रम में ब्राह्मण प्राय. नदियों के किनारे वनों में रहा करते थे।[7] और कदाचित् वे ही आश्रम बनाकर द्विज बालकों को पढाया भी करते थे।[8] वानप्रस्थ आश्रम में भी अतिथि-सत्कार का उतना ही महत्त्व था।[9]

---

१. नत्वाशिरोरत्नरुचापिपाद्यं संपाद्यमाचारविदातिथिभ्यः।
प्रियाक्षरालीरसधारयापि वैधी विधेया मधुपर्कतृप्तिः॥ नै० ८।२०

२. स्वात्मापिशीलेन तृणंविधेयं देयाविहायासनभूर्निजापि।
आनन्दबाष्पैरपिकल्प्यमम्भः पृच्छाविधेयासधुभिर्वचोभिः॥ नै० ८।२१

३. पदोपहारेऽनुपनम्रतापि संभाव्यतेपां त्वरयापराधः।
तत्कर्तुमर्हाञ्जलि-संजनेन स्वसंभृतिःप्राञ्जलतापि तावत्॥ नै० ८।२२

४. प्रियोक्तिदानादरनम्रताद्यैरुपाचरच्चारु स राजचक्रम्॥ नै० १०।२७
दानं दया सूनृतमातिथेयी चतुष्टयीरक्षणसौविदल्ला॥ नै० १०।२८

५. अर्चनाभिरुचितोच्चतराभिश्चारुतं सदकृतातिथिमिन्द्रः।
यावदर्हकरणंकिल साधोः प्रत्यवायधुतये न गुणाय॥ नै० ५।९

६. अतिथीनां पदाम्भोभिरिमं प्रत्यतिपिच्छिले।
अङ्गणेगृहिणां तत्र खलेनानेनचस्खले॥ १७।१६७

७. तत्रानुतीरवनवासितपस्विविप्रा शिप्रा॥ नै० ११।८९

८. प्रसूनबाणाद्वयवादिनी सा काचिद्द्विजेनोपनिषत् पिकेन।
अस्याः किमास्यद्विजराजतो वा नाधीयते भैक्षभुजा तरुभ्यः॥ नै० ७।४८

९. स्थितैः समादायमहर्षिवार्धकाद्वने तदातिथ्यमशिक्षि शाखिभिः॥ नै० १।७७

संन्यासी वेणुदण्ड धारण करते थे।[१] ब्रह्मसाक्षात्कार के लिये योगी पूर्ण प्रयत्नशील रहता था।[२] तप के बल पर योगी को सारी सिद्धियां प्राप्त होती थीं।[३] समाज में ब्राह्मणों का विशेष आदर था। और ब्राह्मणों में भी श्रोत्रिय ब्राह्मणों का सबसे अधिक मान था, क्योंकि वे उद्वेग, राग, मोह, द्वेष आदि दुर्वृत्तियों को अन्तःकरण से त्यागने का प्रयत्न करते थे।[४] ब्राह्मण सौत्रामणी इष्टि (इन्द्र सबन्धी याग) आदि के समय[५] के अतिरिक्त अन्यत्र मदिरापान नहीं करते थे।[६] यदि कहीं किया तो पतित समझे जाते थे।[७] ब्राह्मणों, गौवों, तथा देवों का समाज में आदर तो था ही किन्तु चार्वाक तथा विकृत बौद्ध मतानुयायियों में इनका विरोध भी पर्याप्त हो जाता था।[८] ब्राह्मण शाप भी देते थे।[९]

विद्या के उपयोग की चार अवस्थाएं होती थीं—अध्ययन, बोध, आचरण तथा प्रचार।[१०] चौदह या अट्ठारह विद्याएं अध्ययन का विषय मानी जाती थीं।[११] शास्त्र एक 'नेत्र ही माना जाता था क्योंकि वही उचित अनुचित का वास्तविक रूप बताता था।[१२] पढने के समय पट्टी तथा खडिया का प्रयोग किया जाता

---

१. यतिहस्तस्थितैस्तस्य राम्भैरारम्भि तर्जना॥ नै० १७।१८७

२. यत्रान्धकारः किलचेतसोऽपि जिह्मैतरैर्ब्रह्मतदाप्यवाप्यम्॥ नै० ३।६३

३. योगिनांतु तपसा खिल सिद्धिः॥ नै० ५।३

४. राजौ द्विजानामिहराजदन्ताः सम्बिभ्रतिश्रोत्रियविभ्रमं यत्।
उद्वेगरागादिमृजावदाताश्चत्वार एते तदवैमिमुक्ताः॥ नै० ७।४६

५. मुमुदेमदिरादानं विदन्नेषद्विजन्मनः।
दृष्ट्वासौत्रामणीमिष्टिं तं कुर्वन्तमदूयत॥ नै० १७।१।८२

६. विप्रेधयत्युदधिमेकतमंत्रसत्सुयस्तेषुपञ्चषु विभाय न सीधुसिन्धुः॥ नै० ११।६८

७. किमुदिवंपुनरेति यदीदृशः पतित एष निषेव्य हि वारुणीम॥ नै० ४।७०

८. देवैर्द्विजैः कृताग्रन्थाः पन्थायेषांतदादृतौ।
गां नतैः किंनतैर्व्यक्तं ततोप्यात्मा धरीकृतः॥ नै० १७।६७

९. इतीवपान्थाऽशपतःपिकान्द्विजान्॥ नै० १।९०

१०. अधीतिबोधाचरणप्रचारणैर्दशाश्चतस्रः प्रणयननुपाधिभिः॥ नै० १।४

११. विद्यासुचतुर्दशस्वयम्॥ नै० १।४
अमुष्यविद्यारसनाग्रनर्तकी त्रयीवनीताङ्गगुणेन विस्तरम्।
अगाहताष्टा, दशतांजिगीषयानवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम्॥ नै० १।५

१२. अभारशास्त्राणिदृशंद्वयाधिकांनिजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकां॥ नै० १।६

था।[1] ब्रह्मचर्यकाल की समाप्ति पर विद्यार्थी स्नातक होता था। याज्ञवल्क्य ने स्नातक की परिभाषा इस प्रकार की है—"गुरवे तु वरदत्त्वा स्नायीत तदनुज्ञया। वेदं व्रतानि वा पारं नीत्वा ह्युभयमेव वा।[2]" क्षत्रियवर्ण प्रायः राजा हुआ करता था। राजा आठों लोकपालों का अंश माना जाता था।[3] राजकुमार वेदाध्ययन के साथ किसी अन्य प्रवीण राज से अस्त्र-शस्त्र विद्या भी सीखते थे।[4] मृगया में जीवहिंसा करना राजा के लिए निन्द्य नहीं था।[5] कवि एवं विद्वानों का राज-दरबारों में आदर होता था।[6] राजा के यशस्वी होने में दान तथा पराक्रम दो गुण थे। कभी-कभी दानी नरेश द्वारा यहाँ तक दान दिया जाता था कि याचक जीवन भर के लिए अयाची हो जाता था।[7] द्रव्य वर्षा करते हुए राजा की उपमा मेघ से दी गई है। याचक को उससे सारे अभीष्ट पदार्थ प्राप्त होते थे।[8] दान के विषय में श्रीहर्ष का आदर्श है कि दानी नरेश को याचक का नाम सुनते ही हर्ष से रोमांचित हो जाना चाहिए।[9] जो "दानी याचक की इच्छा को जानते हुए भी उसके कहने की प्रतीक्षा करता है उसे अत्यन्त निन्द्य समझना चाहिए।[10]" राजा प्रतिदिन ब्राह्मणों को दान दिया करता था।[11] दानी

---

१. एतद्गुणानां गणनाङ्कपातः प्रत्यर्थिकीर्तीः खटिकाः क्षिणोति॥ नै० १२।९
कण्ठेशब्दौघसिद्धिक्षतबहुकठिनीशेषभूषानुयातः।
प्राक्संस्कारेणसम्प्रत्यपि घुवतिशिरः पट्टिकापाठजेन॥ नै० १९।६१

२. या० स्मृ०, आचाराध्याय ५१

३. दिगीशवृन्दांशविभूतिः॥ नै० १।६, स भूभृदष्टावपिलोकपालाः॥ नै० ३।८९
विशेषलेशोऽयमदेवदेहमंशागतं तु क्षितिभृत्तयेह॥ नै० ६।९४
तद्वः समेतान्नृपमेनमंशान्वरीतुमन्विष्यतिलोकपालाः॥ नै० १४।४३

४. अस्त्रशस्त्रखुरलीषुविनिन्ये शैष्यकोपनमितानमितौजः॥ नै० २१।५

५. मृगया न विगीयते नृपैरपि धर्मागममर्मपारगैः॥ नै० २।९
मृगयाघाय न भूभुजां घ्नताम्॥ नै० २।१०

६. अजस्रमभ्यासमुपेयुषा समं मुदैव देवः कविना बुधेन च। नै० १।१७

७. अयं दरिद्रो भवितेतिवैधसींलिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम्॥
मृषां न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः प्रणीयदारिद्र्यदरिद्रतां नलः॥ नै० १।१५

८. दारिद्र्यदारिद्र्यविणौघवर्षैरमोघमेघ-व्रतमर्थिसार्थे।
संतुष्टमिष्टानितमिष्टदेवं नाथन्तिकेनाम न लोकनाथम्॥ नै० ३।२५

९. अर्थिनामहृषिताखिललोमा॥ नै० ५।७९

१०. तं धिगस्तुकलयन्नपिवाञ्छामर्थिवागवसरं सहते यः॥ नै० ५।८३

११. विप्रपाणिषु भृशं वसुवर्षी॥ नै० २१।११९

नरेश यज्ञ के समय तो सब कुछ श्रोत्रियों को दे देना चाहता था।[१] क्षत्रिय वीर का रण में लड़कर मरना स्वर्गप्रद था।[२] जो लक्ष्मी पूर्व-जन्मोपार्जित पुण्य के नाश होने पर मिलती है वह वस्तुतः विपत्ति रूप ही है, अतः उसे सत्पात्र को सौंपना उस विपत्ति के प्रतिकार मे की गई शान्तिविधि मानी जाती है।[३] क्षत्रिय के लिए रण से भागना या पराजित होना अत्यन्त अकीर्तिकर होता था।[४] राजा यज्ञ आदि कृत्यों से देवों को तथा कूप, बावली आदि साधनों से प्रजा को सन्तुष्ट रखकर सारे सासारिक सुखों का भागी बनता था।[५] राजा अनेक पत्नियों का स्वामी होता था।[६] शत्रु के साथ बड़ा निर्दय व्यवहार किया जाता था। कभी-कभी नगर जलाना,[७] वध करना,[८] धन का अपहरण करना,[९] गढ़ लूटना[१०] आदि कठोर अत्याचार किए जाते थे। वे मारा मारा-मारा वनों में फिरता[११] स्त्री बच्चे अलग रोते-बिललाते रहते।[१२] अपराध का निर्णय करते समय दिव्यपरीक्षाओं का भी आश्रय लिया जाता था। जल[१३]

---

१. भुङ्क्ते श्रितश्रौत्रियसात्कृतश्रीः॥ नै० ३।२४
२. पार्थिवं हि निजमाजिषु वीरा दूरमूर्ध्वगमनस्यविरोधि।
   गौरवाद्वपुरपास्य भजन्ते मत्कृतामतिथिगौरवऋद्धिम्॥ नै० ५।१५
३. पूर्वपुण्यविभवव्ययलब्धाः श्रीभरा विपदएव विमृष्टाः।
   पात्रपाणिकमलार्पणमासां तासु शान्तिकविधिर्विधिदृष्टः॥ नै० ५।१७
४. स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्धनाशुगप्रगल्भवृष्टि व्ययितस्यसंगरे।
   निजस्यतेजः शिखिनः परश्शता वितेनुरिङ्गालमिवायशः परे॥ नै० १।९
५. इष्टेन पूर्तेन नलस्य वश्याः स्वर्भोगमत्रापि सृजन्त्यमर्त्याः॥ नै० ३।२१
   नलेष्टापूर्तसम्पूर्तेः॥ नै० १७।१०७
६. अभ्यर्थनीयः स गतेन राजा त्वया न शुद्धान्तगतो मदर्थम्॥ नै० ३।९२
   शुद्धान्त सम्भोगनितान्ततुष्टे न नैषधेकार्यमिदं निगाद्यम्॥ नै० ३।९३
७. अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलैः॥ नै० १।१०
८. निवारितास्तेन महीतलेऽखिलं निरीतिभावं गमितेऽतिवृष्टयः।
   न तत्यजुर्नूनमनन्यविश्रमाः प्रतीपभूपालमृगीदृशांदृशः॥ नै० १।११८
९. जगज्जयं तेन च कोशमक्षयं प्रणीतवान्शैशवशेषवानयम्॥ नै० १।१९
१०. अमुष्य दौर्भ्यामरिदुर्गलुण्ठने ध्रुवं गृहीतार्गलदीर्घपानता॥ नै० १।१२
११. अयं किलायात इतीरिपौरवाग्भयादयादस्य रिपुर्वृथा वनम्॥ नै० १२।२५
१२. एतद्भीतारिनारी गिरिबिलविगलद्वासरा—नै० १२।२८
१३. सुषमाविषयेपरिक्षणेनिखिलं पद्मभाजि तन्मुखात्॥ नै० २।२७

जातिशुद्धि[1] अग्नि[2], तुला आदि द्वारा अपराध का निर्णय किया जाता था। अधीन नरेश कर देते[3] और विजेता के द्वार पर हाज़िरी देते[4] तथा रत्न आदि भेट में दिया करते।[5] राजा अपनी अनुपस्थिति मे शासन का भार मंत्रियों पर सौप जाता था।[6]

नैषध मे 'वैश्य' जाति या वर्ण का उल्लेख प्राय नही हुआ है, किन्तु देश के वाणिज्य तथा व्यापार के सकेतों से उनकी सम्पन्न दशा का अनुमान सहज मे लगाया जा सकता है। कुण्डिननगर–वर्णन में श्रीहर्ष कहते है—"आपण (बाजार) सागर की भाँति अपार कोलाहल से पूर्ण रहते थे। शखों, मणियों तथा कौड़ियों की गणना में व्यग्र विक्रेताओं के हाथ मानों उस सागर के केकड़े थे तथा दूकानों मे रक्खी कर्पूर-राशि उसकी बालुका थी।[7] जिन वीथियों में केसर की दूकानें थी वे सन्ध्या के समय ऐसी प्रताती होती थीं मानों अस्तगत सूर्य की किरणे भूलकर वहाँ गिर पड़ी है।[8] वणिकों की दूकानों में विक्रय के लिए फैलाई हुई संसार की समस्त वस्तुओं को मनुष्य उसी प्रकार देखता है जैसे कभी पुरातनकाल में मार्कण्डेय मुनि ने भगवान्

---

१ वर्णसंकीर्णतायां वा जात्यलोपैन्यथापि वा।
ब्रह्महादेः परीक्षासु भङ्गभङ्ग प्रमाणय॥ नै० १७।८६

२. हिमोपमातस्यपरीक्षणक्षणे सतीषु वृत्तिः शतशो निरुपिता॥ नै० ९।५५
जलानलपरीक्षादौ संवादो वेदवेदिते॥ नै० १७।८८

३. अर्पणान्निजकरस्यनरेन्द्रैरात्मनः करदतापुनरुचे॥ नै० २१।१

४. तस्य चीनसिचयैरपिबद्धा, पद्धतिः पदयुगात्कठिनेति।
तां प्यधत्त शिरसांखलु माल्यैं राजराजि रभितः प्रणमन्ती॥ नै० २१।२

५. द्रागुपाह्नियततस्य नृपैतद्दृष्टिदानबहुमानकृतार्थैः।
स्वस्य दिश्यमथ रत्नमपूर्वं यत्नकल्पितगुणाधिकचित्रम्॥ नै० २१।३

६. अथनगरधृतैरमात्यरत्नैः पथिसमियाय स जाययाभिरामः। नै० १६।१२४
न्यस्य मन्त्रिषु स राज्यमादरादाररायमदनं प्रियासखः॥ नै० १८।३

७. बहुकम्बुमणिर्वराटिका गणनाटत्करकर्कटोत्करः।
हिमबालुकयाच्छबालुकः पटुदध्वानयदापणार्णवः॥ नै० २।८८

८. रुचयोऽस्तिमितस्यभास्वतः स्खलिताः यत्रनिरालयाः किल।
अनुसायमभूर्विलेपनापणकश्मीरजपण्यवीथयः॥ नै० २।९०

विष्णु के उदर में समस्त विश्व को देखा था।[१] दूकान में सौरभ-लोभ से निष्पन्द स्थित काले भँवरे को विक्रेता कस्तूरी के साथ तौल देना (उसे पृथक् पहिचान न हो पाती)।[२]

शूद्र वर्ण वेदवाक्य सुनने का अधिकारी नहीं था।[३] चाण्डाल चारों वर्णों से बहिष्कृत होता था। धनुष् के बाण बनाना उसका एक प्रधान व्यवसाय होता था।[४] उसका न कोई स्पर्श करता था, न वह बस्तियों में अधिक दिखायी पड़ता था। उसका निवास वन में होता था। वह मधुपान कर मस्त रहा करता था। उसके हाथ की अँगुली कटी रहती थी।[५] चाण्डाल को जनंगम भी कहते थे। द्विज उसे देखना भी नहीं चाहते थे, पास जाना और बात करना तो दूर रहा,[६] दास-प्रथा भी प्रचलित थी।[७]

विवाह

कवि ने विवाह के (मनु० ३।२१ इत्यादि मे प्रोक्त) आठ प्रकारों में किसी का उल्लेख न करके केवल स्वयंवर का वर्णन किया है। उसी का प्रसग भी था। राजाओं में स्वयवर की विशेष प्रथा थी। कन्या की विवाहोचित अवस्था देखकर पिता स्वयंवर-द्वारा योग्य वर सहज मे पा जाता था।[८] कन्या का पिता लोगों को बुलावा भेजा करता था।[९] स्वयवर में कुमारी को बलात् अपहरण करने वाले भी आते थे ऐसे लोग प्रायः शक्तिशाली तो बहुत होते थे, किन्तु नीच वंश के होते थे, तथा

---

१. विततं वणिजापणेऽखिलं पणितुं यत्र जनेन वीक्ष्यते।
मुनिनेव मृकण्डुसूनुना जगतीवस्तु पुरोदरे हरेः॥ नै० २।९१

२. समसेणमदैर्यदापणे तुलयन्सौरभलोभनिश्चलम्।
पणिता न जनारवैरवैदपि गुञ्जन्तमलिं मलीमसम्॥ २।९२

३. पातुं श्रुतिभ्यामपि नाधिकुर्वे वर्णं श्रुतेर्वर्ण इवान्तिमः किम्॥ नै० ३।६२

४. तवास्मि मां धातुकमभ्युपेक्षसे मृषामरं हामरगौरवात्स्मरम्।
अवेहि चण्डालमनङ्गमंग! तं स्वकाण्डकारस्यमधोःसखा हि सः॥ नै० ९।१५१

५. चण्डालस्ते विषमविशिखः स्पृश्यते दृश्यते न।
ख्यातोऽनङ्गस्त्वयि जयति यः किं नु कृत्ताङ्गुलीकः॥ नै० ९।१५६

६. विमुखान्द्रष्टुमप्येनं जनंगम इव द्विजान्॥ नै० १७।११२

७. तदास्यदास्येपि गतोऽधिकारितां न शारदः पार्विक-शर्वरीश्वरः॥ नै० १।१२०

८. दयितमभिमतं स्वयंवरे त्वं गुणमयमाप्नुहि वासरैः कियद्भिः॥ नै० ४।११९

९. यावदागमयतेऽथ नरेन्द्रान्स स्वयंवरमहाय महीन्द्रः॥ नै० ५।१

समाज में किसी न किसी कारण कुख्यात रहते थे।[१] युवक-समाज स्वयंवर मे आते समय कुमारी की अभिरुचि के गुण तथा शृंगार का अपने में विशेष रूप से प्रदर्शन करना चाहता था।[२] स्वयंवर में प्रायः कलह हुआ करता था।[३] जो कुमार स्वयंवर में आते थे वे प्रायः सत्कुलोत्पन्न, शस्त्र शास्त्र मे पारगत देखने मे सुरूप तथा धन में कुबेर के समान (पर्याप्त धनशाली) होते थे।[४] स्वयंवर मे दर्शक भी आते थे तथा आए हुओं की परिचर्या करने के लिए भी आते थे।[५] स्वयंवर प्रायः इतने विशाल ढग से होता था, उसमे इतने अधिक लोग आते थे, कि वह एक मेला ही प्रतीत होता था।[६] इन्द्रजाल आदि दिखाने वाले भी आते थे।[७] किन्तु वहाँ जाति, वित्त तथा गुण से अधिक कीमत शारीरिक-सौन्दर्य की होती थी।[८] समागत युवक समाज के स्वागत का पूर्ण प्रबन्धक रहता था।[९] नगर के राजमार्ग पर बड़े-बड़े सुन्दर फाटक बनाए जाते थे।[१०] पुरवासी सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित रहते थे। सभी घर सुन्दर चित्रों से विभूषित किए जाते थे।[११] दूर-दूर के लोग जब मिलते थे तो संस्कृत ही उनके परस्पर-वार्तालाप का माध्यम होता था।[१२] फिर निश्चित समय पर राजा (राजकन्या का अभिभावक, पिता भ्राता आदि) अपने दूतों द्वारा उन आमंत्रित अतिथियों को स्वयंवर-सभा में उपस्थित होने के लिये निवेदन करता। तब

---

१. वीरैरनर्हैः प्रसभेन हर्तुम्॥ नै० १०।३
२. येषु येषु सरसा दमयन्ती भूषणेषु यदि वापिगुणेषु।
तत्र तत्र कलयापिविशेषो यः स हि क्षितिभृतां पुरुषार्थः॥ नै० ५।३२
३. किं भुवः परिवृढा न विवोढुं तत्र तामुपगताविवदन्ते॥ नै० ५।४२
४. रथैरथायुः कुलजाः कुमाराः शस्त्रेषु शास्त्रेषु च दृष्टपाराः।
स्वयंवरं शम्बरवैरिकायव्यूहश्रियः श्रीजित-यक्षराजाः। नै० १०।१
द्रष्टुं परैस्तान्परिकर्तुमन्यैः॥ नै० १०।३
५. तलंयथेयुर्न तिला विकीर्णाःसैन्यैस्तया राजपथा बभूवुः। नै० १०।५। इत्यादि
७. बाधाबतेन्द्रादिभिरिन्द्रजालविद्याविदां वृत्तिवधाद्व्यधायि॥ नै० १४।७०
८. जातौ न वित्ते न गुणे न कामः सौन्दर्य एव प्रवणः स वामः॥ नै० १०।१३
९. रम्येषु हर्म्येषु निवेशनेन सपर्यया कुण्डिननाकनाथः।
प्रियोक्तिनानादरनम्रताद्यैरुपाचरच्चारु स राजचक्रम्॥ नै० १०।२७ इत्यादि
१०. पुरे पथि द्वारगृहाणि तत्र चित्रीकृत्यान्युत्सववाञ्छयेव॥ नै० १०।३१
११. विभूषणैःकञ्चुकिताबभुःप्रजा विचित्रचित्रैःस्नपितत्विषो गृहाः॥ नै० १५।१५
१२. अन्योन्यभाषानवबोधभीतेः संस्कृत्रिमाभिर्व्यवहारवत्सु॥ नै० १०।३४

वे अपनी भावभंगिमा के साथ सभामण्डप मे पहुँचते थे।[१] समागत युवकों के गोत्र चरित्र आदि का परिचय देने के लिए विशेष आयोजन करना पडता था।[२] जिस समय पतिंवरा कन्या स्वयंवर-मण्डप मे प्रवेश करती थी, उस समय वहाँ एक अद्भुत कौतूहल उमड़ पड़ता था।[३] कन्या प्रायः पालकी आदि किसी सवारी पर रहती थी[४]। उस समय राजाओं की अपूर्व चेष्टाएँ होती थीं। ये चेष्टाएँ प्राय. अनुभाव रूप ही होती थीं—जैसे रोमांच,[५] अँगुलियाँ फोडना,[६] स्पन्दन,[७] इत्यादि। सभा मे धूप अराग आदि की सुगन्ध उड़ती रहती थी।[८] स्वयवर के विघ्नों को दूर करने के लिये शची का आवाहन किया जाता था, क्योंकि ऐसा विश्वास था कि यदि शची का सान्निध्य न रहे तो युवकगण उसी क्षण एक-दूसरे का सिर फोडने लगे।[९] स्वयवर के अन्त मे कन्या जिस युवक का वरण करती उसके गले मे दूर्वांकुर से सुशोभित मधूकमाला डालती थी।[१०] स्वयंवर के पश्चात् विवाह-सस्कार श्रुति और स्मृति की विधि से सम्पन्न किया जाता था।[११]

---

१. वैदर्भदूतानुनयोपहूतैः शृङ्गारभंगीमनुभावयद्भिः।
स्वयंवरस्थान-जनाश्रयस्तैर्दिने परत्रालमकारि वीरैः॥ १०।३७

२. विचिन्त्यनानाभुवनागतांस्तानमर्त्यसंकीर्त्यचरित्रगोत्रान्।
कथ्याः कथंकारममीसुतायामिति व्यषादि क्षितिपेन तेन॥ नै० १०।६८

३. दासीषु नासीरचरीषु जातं स्फीतं क्रमेणालिषु वीक्षितासु।
स्वाङ्गेषु रूपोत्थमथाद्भुताब्धिमुद्वेलयन्तीमवलोककानाम्॥ नै० १०।९३

४. इमां विमानेन सभां विशन्तीं पपावपाङ्गैरथराजराजिः॥ नै० १०।१०८

५. आसीदसौ तत्र न कोपि भूपस्तन्मूर्तिरूपोद्भवदद्भुतस्य।
उल्लेसुरंगानि मुदा न यस्य विनिद्ररोमांकुरदन्तुराणि॥ नै० १०।१०९

६. आस्फोटिभैमीमवोलक्य तत्र न तर्जनी केन जनेन नाम। नै० १०।११०

७. अस्मिन्समाजे मनुजेश्वरेण तां खञ्जनाक्षीमवलोक्य केन।
पुनः पुनर्लालितमौलिना न भ्रुवौरुदक्षेपितरांद्वयी वा॥ नै० १०।१११

८. आलोकनाय दिविसंचरतांसुराणां तत्रार्चनाविधिरभूदधिवासधूपैः॥ नै० ११।१४

९. न सन्निधात्रीयदिविघ्नसिद्धये पतिव्रता पत्युरनिच्छया शची।
स एव राजव्रजवैशसात्कुतः परस्परस्पर्धिवरः स्वयंवरः॥ नै० ९।७८

१०. दूर्वांकुराढ्यां नलकण्ठनाले वधूर्मधूकस्रजमुत्ससर्ज॥ नै० १४।४८

११. श्रुतिस्मृतीनां तु वयं विदध्महे विधीनिति॥ नै० १५।७

विवाह में स्त्रियाँ मगल गान करती थीं।[१] वर की ओर से दान मे धन (रुपया पैसा) छींटा जाता था।[२] वर का कुल कन्या के कुल से प्रायः उच्चतर होता था।[३] विवाह मे स्त्री-समाजोचित टुटके होते थे।[४] विवाह-मण्डप में हल्दी चावल आदि से रचना की जाती थी।[५] वीणा, शहनाई, घड़ी, घण्टे, ढोल, मृदंग, झँझरी, वशी हुडुक, डफला आदि विभिन्न वाद्य बजते थे।[६] कन्या को पहले मंगल-स्नान कराया जाता था, जो कुल-विशेष की प्रथा के अनुसार होता था। स्नान कराने वाली प्रायः सौभाग्यवती स्त्रियाँ ही होती थीं।[७] मंगलस्नान के बाद कन्या को धवल वस्त्र पहनाया जाता था।[८] इसके पश्चात् उसका विवाहोचित शृगार किया जाता था।[९] पूर्णरूप से अलंकृत होकर कन्या गुरुजनों को प्रणाम करती तथा उनके आशीर्वाद लेती।[१०] वर का भी विवाहोचित शृंगार होता था।[११] इसके पश्चात् वर-यात्रा होती थी जिसे देखने के लिए पुर की सुन्दरियाँ अत्यन्त उत्सुक होती थी।[१२]

---

१. कापिप्रमोदा-स्फुटनिर्जिह्वानवर्णवया मङ्गलगीतिरासाम्॥ नै० १४।५१

२. तथापथि त्यागमयं वितीर्णवान् यथातिभाराधिगमेन मागधैः।
तृणीकृतं रत्ननिकायमुच्चकैश्चिकाय लोकश्चिरमुञ्छमुत्सुकः॥ नै० १५।२

३. कुलश्रिया यः पविताऽस्मदन्वयम्॥ नै० १५।६

४. सृजन्तुपाणिग्रहमङ्गलोचिता मृगीदृशः स्त्रीसमयस्पृशः क्रियाः॥ नै० १५।७

५. क्वचित्तदालेपनदानपण्डिता कमप्यहंकारमगात्पुरस्कृता॥ नै० १५।१२

६. तदानिसस्वानतमां घनं घनं ननाद तस्मिन्नितरां ततं ततम्।
अवापुरुच्चैः सुषिराणिराणितामानमानद्धमियत्तयाध्वनीत्॥ १५।१६
विपञ्चिराच्छादि न वेणुभिर्नते प्रणीतगीतैर्न च तेऽपि झर्झरैः।
नते हुडुक्केन न सोऽपि ढक्कया न मर्दलैः सापिन तेऽपि ढक्कया॥ नै० १५।१७

७. यथाकुलाचारमथावनीन्द्रजां पुरन्ध्रिवर्गः स्नपयाम्बभूवताम्॥ नै० १५।१९

८. असौ मुहुर्जातजलाभिषेचना क्रमाद् दुकूलेन सितांशुनोज्ज्वला॥ नै० १५।२१

९. अवापितायाः शुचिवेदिकान्तरं कलासु तस्याः सकलासु पण्डिताः।
क्षणेन सख्यश्चिरशिक्षणैः स्फुटं प्रतिप्रतीकं प्रतिकर्म निर्ममुः॥ नै० १५।२६

१०. अमोघभावेनसनाभितांगताः प्रसन्नगीर्वाणवराक्षरस्रजाम्।
ततःप्रणम्राधिजाम सा ह्रिया गुरुर्गुरुब्रह्मपतिव्रताशिषः॥ नै० १५।५६

११. तथैव तत्काल मथानुजीविभिः प्रसाधना-संजन-शिल्पपारगैः।
निजस्य पाणिग्रहणक्षणोचिता कृता नलस्यापि विभौ विभूषणा॥ नै० १५।५७

१२. विदर्भनाम्नस्त्रिदिवस्य वीक्षितुं रसोदयादप्सरसस्तमुज्ज्वलम्।
गृहाद्गृहादेत्यधृतप्रसाधना व्यराजयन्राजपथानथाधिकम्॥ नै० १५।७३

वरयात्रा प्रायः रात को ही निकलती थी।[१] राजा की बरात में तो पूरी चतुरङ्गिणी रहती थी।[२] कन्यापक्ष वाले आगे से ही जाकर बरात का स्वागत करते थे।[३] इसके पश्चात् विवाह-विधि होती थी। (इसका विस्तृत विवेचन धर्मशास्त्र वाले प्रकरण में किया जा चुका है, अतः यहाँ पुनरुक्ति भय से नही कर रहे हैं)। विवाह के समय कन्या का पिता वर को यौतक (दहेज) में अनेक उपहार भेट करता था कुछ उसके अपने होते थे तथा कुछ सम्बन्धियों, मित्रों, आदि द्वारा भेजे हुए रहते थे।[४] पुत्री की विदा मे दुःख होना तो स्वाभाविक ही है, उसके घर के लोग कुछ दूर तक पहुँचाने भी जाते थे,[५] प्रिय-जन को जलाशय तक तो पहुँचाते ही थे।[६]

लज्जा स्त्रियों का आभूषण माना जाता था।[७] उन्हे अपने चरित्र का सबसे अधिक ध्यान रखना पडता था।[८] पतिव्रता के लिए पति-शुश्रूषा ही सबसे बडी निधि थी। उसी से उनके भोग-सुख तथा पुण्याभिवृद्धि रूप लौकिक और पारलौकिक प्रयोजन सिद्ध होते थे।[९] पति-सेवा के सामने उन्हे स्वर्ग भी हीन समझ

---

१. अदीपि रात्रौ वरयात्रया तया चमूरजोमिश्रतमिस्रसम्पदा॥ नैः १६।४

२. परार्ध्यवेषाभरणैः पुरःसरैःसमंजिहानेनिषधावनीभुजि।
दधे सुनासीरपदाभिधेयतां स रूढिमात्राद्यदिवृत्र-शात्रवः॥ नै० १६।३
हरिद्विपद्वीपिभिरांशुकैर्नभौ नभस्वदाध्मापनपीनितैरभूत्।
तरस्वदश्वध्वजिनीध्वजैर्वनं विचित्र चीनाम्बरवल्लिवेल्लितम्॥ नै० १६।६

३. निर्दिश्य बन्धूनित इत्युदीरितं दमेन गत्वार्घपथे कृतार्हणम्॥ नै० १६।१०

४. सखा यदस्मै किल भीमसंज्ञया सयक्षसख्याधिगतं ददौभवः।
ददौ तदेषश्वसुरः सुरोचितं नलाय चिन्तामणिदाम कामदम्॥ नै० १६।१६

५. तथाकिमाजन्मनिजांकवर्धिताम् प्रहित्य पुत्रीं पितरौ विषेदतु।
विसृज्य तौ तं दुहितुः पतियथा विनीततालक्षगुणीभवद्गुणम्॥ नै० १६।११६
निजादनुव्रज्य स मण्डलावधेर्नलं निवृत्तौ चटुलापतां गतः।
तडागकल्लोल इवानिलं तटाद्धृताननतिर्व्याववृते वराटराट्॥ नै० १६।११७

६. तस्या दृशौ नृपतिबन्धुमनुव्रजन्त्यास्तं वाष्पवारि न चिरादवधीबभूव॥
नै० ३।१३१

७. विचिन्त्य बालाजनशीलशैलं लज्जानदीमज्जदनंगनागम्॥ नै० ३।६८

८. न्यवेशि रत्नत्रितये जिनेन यः स धर्मचिन्तामणिरुज्झितो यथा।
कपालिकोपानलभस्मनः कृते तदेव भस्म स्वकुले स्तृतं तया॥ नै० ९।७१

९. शुश्रूषिताहे तदहं तमेव पतिं मुदेपि व्रतसम्पदेऽपि॥ नै० ६।९४

पड़ता था। पति-सेवा द्वारा ही वे अपने मंगलमय धर्म को बढाना चाहती थीं।[१] पातिव्रत की अग्नि में अपना जीवन तृण के समान होम किए रहती थीं। उसकी रक्षा में उन्हे किसी सुख की चिन्ता नहीं रहती थी।[२] स्त्रियाँ विदुषी होती थी। वे अपने कारण पति के कर्तव्य पालन में किसी प्रकार का विघ्न नहीं करना चाहती थीं। क्योंकि उसमें उन्हीं को कलक मिलता।[३] सती-प्रथा का पूर्ण प्रचार था। सती ललनाओं को अग्नि-ताप उतना दु:खद नहीं था जितना पति-विरह-ताप। अतएव वे अपने मृतपति की सेवा के लिए पतिशव के साथ ही अग्नि में प्रविष्ट हो जाती थीं।[४] सती अपने सतीत्व के प्रताप से पापी पति को भी स्वर्ग पहुँचाती थीं,[५] किन्तु घोर पाप करने वाले पति के साथ पत्नी प्रायः सती नहीं होती थीं।[६] सती ललनाएँ पातिव्रत्य की रक्षा के लिए अपने जीवन को भी तृण के समान त्यागने के लिए तैयार थीं।[७] मृणालतन्तु के समान अत्यन्त भंगुर पतिव्रता-मर्यादा के थोडी भी चंचलता से टूटने का भय रहता था।[८] पति के मरने पर स्त्रियाँ अपनी चूड़ियाँ (शंखवलय) तोड़ डालती थीं।[९] जन-समाज में पर्दा-प्रथा का प्रचलन उस समय भी था। इसका विचार अवश्य रहता था, जिससे स्त्री के साथ खुलकर समाज में जाना पुरुष के लिए लज्जाजनक होता था।[१०] अन्त:पुरस्थ कन्याओं और

---

१. तत्रास्मियत्युर्वरिवस्ययेह शर्मोमिकिर्मीरितधर्मलिप्सुः॥ नै० ६।९७

२. सतीव्रतेग्नौ तृणयामि जीवितं स्मरस्तु किं वस्तु तदस्तु भस्म यः॥ नै० ९।७०

३. न विदुषितरा कापि त्वत्तस्ततो नियतक्रिया।
पतनदुरिते हेतुर्भर्तुर्मनस्विनि मास्म भूः॥
अनिशभवदत्यागादेनं जनः खलु कामुकी।
सुभगमभिधास्यत्युद्दामा परांकवदावदः॥ नै० १९।२४

४. दहनमाशुविशन्ति कथंस्त्रियः प्रियमयासुमुपासितुमुद्धुराः॥ नै० ४।४६

५. दहनमविशद्दीप्तिर्यास्तं गते गतवासरप्रशमसमयप्राप्ते पत्यौविवस्वति रागिणी।
अधरभुवनात्सोद्धृत्यैषाहठात्तरणेः कृतामरपतिपुरप्राप्तिर्वत्तेसतीव्रतमूर्तिताम्॥
नै० १९।४४

६. अनुममार न मार कथं नु सा रतिरतिप्रथितापि पतिव्रता।
इयदनाथवधूववपातकी दयितयापि तयासि किमुज्झितः॥ नै० ४।७९

७. सतीव्रतेऽग्नौतृणयामि जीवितम्॥ नै० ९।७०

८. मृणालतन्तुच्छिदुरासतीस्थितिर्लवादपि त्रुट्यति चापलात्किल॥ नै० ९।३१

९. अदः समित्सम्मुखवीरयौवतत्रुटद्भुजाकम्बुमृणालहारिणी॥ नै० १२।३५

१०. त्रपास्य न स्यात्सदसि स्त्रियान्वयात्—नै० १५।३

स्त्रियों की व्यभिचारदोष से रक्षा की जाती थी।[१] व्यभिचारिणी के सिर के केश काटकर उसे घर से निकाल दिया जाता था।[२]

भोजन

नैषध में अनेकों भोजन-पदार्थों का नामोल्लेख हुआ है। सत्तू[३] से लेकर उत्तमोत्तम मिठाई तक का वर्णन हुआ है। अन्न-मीन-रसादि उत्तम भोजन समझा जाता था।[४] मालपुआ का भोजन के अतिरिक्त पूजा मे भी प्रयोग होता था।[५] भोजन मे छुआ-छूत का विशेष ध्यान सर्वत्र नहीं रक्खा जाता था। कुछ बराती लोग वेश्याओं का परोसा भोजन खाते थे।[६] हा, भोजन करते समय उच्छिष्ट-मुँह से किसी को कोई छूते नहीं थे। यज्ञ मे होम-शेष सोमपान के समय यह नियम अवश्य लागू नहीं होता था।[७] भोजन मे—भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, और चोष्य—चारों प्रकार के पदार्थ होते थे। लेह्य पदार्थ तेल या घी मे तैयार किया जाता था।[८] पदोहर के भोजन में चावल का प्रधान स्थान रहता था।[९] महीन चावल सुगन्धित, बिना टूटे पककर एक दूसरे से अलग हुए कोमल एव स्वादिष्ट बनाए जाते थे।[१०]

---

१. कन्यान्तःपुरबाधनाय यदधीकारान्न दोषाः॥ नै० ४।११६
ईर्ष्यता रक्षतो नारीर्धिक्कुलस्थितिदाम्भिकान्।
स्मरान्धत्वाविशेषेपि तथा नरमरक्षतः॥ नै० १७।४२
२. दिनमिवदिवाकीर्तिस्तीक्ष्णैः क्षुरैः सवितुः करै
स्तिमिरकबरीलूनांकृत्वा निशां-निरदीधरत्॥ नै० १९।५५
३. प्रतिहट्टपथे घरट्टजात् पथिकाह्वानदसक्तुसौरभैः॥ नै० २।८५
सृजति शिशिरमोदश्रेणीमयैरुदसक्तुभिः॥ नै० १९।१४
४. अस्तु त्वयासाधितमन्नमीनरसादि पीयूषरसातिशायि॥ नै० १४।७८
५. अलम्भितुङ्गासनसन्निवेशनादपूपनिर्माणविदग्धयादरः॥ नै० १५।१२
६. धराप्सरोभिर्वरयात्रयागतानभोजयद्भोजकुलाङ्कुरः क्वचित्॥ नै० १६।४८
७. स तुतोषाश्नतोविप्रान्दृष्ट्वा स्पृष्टपरस्परान्।
होमशेषीभवत्सोमभुजस्तान्वीक्ष्य दूनवान्॥ नै० १७।१९८
८. प्रलेहजस्नेहधृतानुबिम्बनां चुचुम्ब कोऽपि स्रितभोजनच्छलः॥ नै० १६।८६
९. माध्यंदिनादनुविधेर्वसुधासुधांशुरास्वादितामृतमयौदनमोदमानः॥ नै० २१।१२०
१०. अमी लसद्बाष्पमखण्डिताखिलं वियुक्तमन्योन्यममुक्तमार्दवम्।
रसोत्तरं गौरमपीवरं रसादभुञ्जतामोदनमोदनं जनाः॥ नै० १६।६८

खीर मे स्वाद के लिए घी भी डालते थे ।[1] दही और राई के साथ चर्परा रायता बनाया जाता था ।[2] मृग के मास से अत्यन्त स्वादिष्ठ तेमन (रसादार-साग-शोरवा) तैयार किया जाता था ।[3] पके चावल के साथ चीनी भी खाते थे ।[4] सूप-कला की इतनी उन्नति हो चुकी थी कि निरामिष तथा सामिष दोनों प्रकार के पदार्थ कभी-कभी इस प्रकार बनाए जा सकते थे कि निरामिष सामिष-सा तथा सामिष निरामिष-सा प्रतीत होता था ।[5] मास के तरह-तरह के पदार्थ बनते थे ।[6] मत्स्य, मृग, बकरे, और पक्षियों आदि के मास का खाने मे प्रयोग किया जाता था ।[7] अनेक वस्तुओं के सयोग से ऐसा भी पदार्थ बनाया जाता था, जिसका स्वाद तथा रूप उन सभी मिश्रित वस्तुओं से भिन्न होता था और वह असमय की वस्तु लगता ।[8] बकेनी (बहुत दिन की ब्याई हुई) भैंस का दही विशेष स्वादिष्ठ माना जाता था ।[9] भोजन के अन्त में (आजकल के समान ही) दही-बड़ा परोसा जाता था ।[10] शक्कर के भी तरह-तरह के पदार्थ बनाए जाते थे ।[11] 'मिष्टान्नेन समापयेत्' के अनुसार मिठाइयाँ सबके अन्त मे खायी जाती थी, और उनमें लड्डू प्रधान रहता था ।[12] भोजन में षड्रस के पदार्थ तैयार किए जाते थे ।[13] भोजन कर चुकने के बाद मुख-शुद्धि रूप

---

१. यदादिहेतुः सुरभिःसमुद्भवे भवेद्यदाज्यं सुरभिर्ध्रुवं ततः।
वधूभिरेभ्यः प्रवितीर्य पायसं तदोघकुल्यातटसैकतं कृतम्॥ नै० १६।७०
२. न राजिकाराद्धमभोजि तत्र कैर्मुखेन सीत्कारकृता दधद्दधि॥ नै० १६।७३
३. व्यघुस्तमां ते मृगमांससाधितं रसादशित्वा मृदु तेमनं मनः॥ नै० १६।७६
४. क्रमेण कूरं स्पृशतोष्मणः पदं सितां च शीतां चतुरेण वीक्षिता॥ नै० १६।७९
५. यथामिषे जग्मुरनामिषभ्रमं निरामिषे चामिषमोहमूहिरे॥ नै० १६।८१
६. नखेन कृत्वाधरसन्निभां निभाद्युवा मृदुव्यञ्जनमांसफालिकाम्॥ नै० १६।८२
७. अराधि यन्मीनमृगाजपत्रिजैः पलैर्मृदुस्वादु सुगन्धि तेमनम्॥ नै० १६।८७
८. अनेकसंयोजनया तथाकृतैर्निकृत्य निष्पिष्य च तादृगर्जनात्।
अमी कृताकालिकवस्तुविस्मयं जना बहुव्यञ्जनमभ्यवाहरन्॥ नै० १६।८३
९. अमीभिराकण्ठमभोजि तद्गृहे तुषारधारामृदितैव शर्करा।
हयद्विषद्वष्कयणीपयः सुतं सुधाह्लदात्पंकमिवोद्धृतं दधि॥ नै० १६।९३
१०. अलङ्कृतं क्षीरवटैस्तदश्नतां रराज पाकार्पितगैरिकश्रिया॥ नै० १६।९८
११. स्मर शार्करमास्वाद्य त्वया राद्धमिति स्तुवन्॥ नै० २०।९१
१२. घनैरमीषां परिवेषकैर्जनैरवर्षि वर्षोपलगोलकावली॥ नै० १६।१००
१३. न षड्विधिः षिड्गजनस्य भोजने तथा यथा यौवतविभ्रमोद्भवः॥
नै० १६।१०९

में पान-सुपारी का प्रयोग किया जाता था।[1] दिन मे केवल दो बार भोजन करने का नियम था।[2]

वस्त्राभूषण

साधारणतया सस्कृत साहित्य में भारतीय परिधान के वर्णन के प्रसंग में पुरुषों के लिए अधोवस्त्र और उत्तरीय तथा स्त्रियों के लिए दुकूल और कंचुक का उल्लेख मिलता है। युद्ध आदि के समय पुरुषों के परिधान कुछ और विशेष ढग के हो जाते थे, किन्तु साधारणतया भारत ऐसे उष्ण देश में अधिक वस्त्रों की आवश्यकता नहीं समझ पड़ती थी। यों शरीर के सहज सौन्दर्य, स्वास्थ्य, ओजस्वी मुखमण्डल, सशक्त अग आदि का विशेष महत्त्व था और वही वास्तविक शृंगार माना जाता था।[3] हॉ, आभूषणों—विशेषतया स्वर्णनिर्मित तथा रत्नजटित-से शरीर-सौन्दर्य को अवश्य बढ़ाया जाता था। स्वस्थ सुन्दर शरीर की शोभा अलंकारों से निस्सन्देह ही बढ जाती है। नैषध मे परिधान तथा विभूषणों का पर्याप्त उल्लेख हुआ है। क्योंकि प्रसंग स्वयवर तथा विवाह का है। शरीर को हर प्रकार से अलंकृत करने के लिए इससे बढ़कर और कौन अवसर होगा। स्नान के पश्चात् पुरुष एक धवल अधोवस्त्र पहनते थे।[4] तथा वक्षःस्थल पर उत्तरीय वस्त्र लपेटते थे।[5] स्त्रियाँ केवल एक दुकूल (साड़ी) धारण करती थीं, जो इस ढंग से पहनी जाती थी कि उत्तरीय और अधोवस्त्र दोनों का काम दे जाय।[6] स्त्रियाँ कभी-कभी कटि के अधोभाग मे दुकूल के नीचे एक वस्त्र और पहनती थी जिसे चण्डातक कहते थे।[7] ऐसा वस्त्र प्रायः नर्तकियों का होता था। नारायण ने पूर्वोक्त श्लोक की टीका से चण्डातक के विषय मे लिखा है—"चण्डातक वह वस्त्र है जिसे नर्तकियाँ नीचे पहनती हैं। यह नृत्य में उपयोगी होता है, आगे और पीछे

---

१. मुखे निधाय क्रमुकं नतानुगैः॥ नै० १६।११०

२. इति द्विकृत्वःशुचिमृष्टभोजिनां दिनानि तेषां कतिचिन्मुदा ययुः॥ नै० १६।११२

३. स्वयं तदङ्गेषु गतेषु चारुतां परस्परेणैव विभूषितेषु च।
किमूचिरेऽलङ्करणानि तानि तद् वृथैव तेषां करणं बभूव यत्॥ नै० १५।४८

४. मर्त्यलोकमदनः सदशत्वं बिभ्रदभ्रविशदद्युतितारम्।
अम्बरं परिदधे विधुमौलेः स्पर्धयेव दशदिग्वसनस्य॥ नै० २१।१४

५. आववार हृदयं न समन्तादुत्तरीयपरिवेषमिषेण॥ नै० २१।१५

६. असौ मुहुर्जातजलाभिषेचना क्रमाद्दुकूलेन सितांशुनोज्वला॥ नै० १५।२१

७. श्लथैर्दलैः स्तम्भयुगस्य रम्भयोश्चकास्ति चाण्डातकमण्डिता स्म सा॥ नै० १६।८

गूया जाता था,[१] फिर उनमें करुण आदि पुष्पों की कलियाँ गूथी जाती थीं।[२] भाल पर स्वर्णमयी पट्टिका बाँधी जाती थी।[३] नेत्रों में अपागों तक व्याप्त होने वाली अंजन-रेखा दी जाती थी।[४] कानों में इन्दीवर (नील कमल) पहना जाता था जो कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता था, मानों सुन्दरी को देखकर कामान्ध होने वाले किसी रसिक की दो आँखे है।[५] इसके अतिरिक्त कानों मे अन्य मणि जटित आभूषण[६] तथा कुण्डल[७] भी पहने जाते थे। ओठों पर अलक्तक लगाने के पूर्व मोम लगाकर उन्हे चिकना कर लिया जाता था।[८] कण्ठ मे मोतियों का सात लरों का हार भी पहना जाता था।[९] विवाह की मंगलवेला मे बाहुओं मे मगल कंकण पहने जाते थे जो कहीं-कहीं शखों के भी बने होते थे।[१०] चरणों में यावक लगाया जाता था।[११] ये सभी प्रायः विवाह आदि मगल वेला में ही स्त्रियों के शृङ्गार होते थे। चरणों में लगा यावक ऐसा प्रतीत होता था, मानों जिस कामाग्नि ने विरहावस्था मे सुन्दरी को सताया था, वही अब कान्तसगम के समय उसके चरणों मे नत हुआ है।[१२] स्त्रियाँ अपने पूर्ण रूप से अलङ्कृत स्वरूप का प्रतिबिम्ब स्वच्छ दर्पण में देखा करती थी।[१३]

---

१. अबन्धितन्मूर्धजपाशमञ्जरी कयापि धूपग्रहधूमकोमला॥ नै० १५।२९
२. तदर्पितैस्ता करुणस्य कुड्मलैर्जहास तस्याःकुटिला कचच्छटा॥ नै० १५।३१
३. धृतैतया हाटकपट्टिकालिके बभूव केशाम्बुदविद्युदेव सा॥ नै० १५।३२
४. अपाङ्गमालिङ्ग्यतदीयमुच्चकैरदीपि रेखा जनिताञ्जनेन या॥ नै० १५।३४
५. धृतं वतंसोत्पलयुग्ममेतया व्यराजदस्यां पतिते दृशाविव।
मनोभुवान्ध्यं गमितस्य पश्यतःस्थिते लगित्वा रसिकस्य कस्यचित्॥ नै० १५।३९
६. विदर्भपुत्रीश्रवणावतंसिकामणीमहःकिंशुककार्मुकोदरे॥ नै० १५।४०
७. अनाचरत्तथ्यमृषाविचारणां तदाननं कर्णलता-युगेन किम्।
बबन्ध जित्वा मणिकुण्डले विधू द्विचन्द्रबुद्धयाकथितावसूयकौ॥ नै० १५।४१
८. निवेशितं यावकरागदीप्तये लसत्तदीयाधरसीम्नि सिक्थकम्॥ नै० १५।४३
९. अवाप्य तन्त्रीरथ सप्तमुक्तिकासरानराजत्परिवादिनी स्फुटम्॥ नै० १५।४४
१०. रराजतुर्माङ्गलिकेन संगतौ भुजौ मुदत्या वलयेन कम्बुनः॥ नै० १५।४५
११. पदद्वयेऽस्या नवयावरञ्जना जनैस्तदानीमुदनीयतार्पिता॥ नै० १५।४६
१२. कृतापराधः सुतनोरनन्तरं विचिन्त्यकान्तेन समं समागमम्।
स्फुटं सिषेवे कुसुमेषुपावकः स रागचिह्नश्चरणौ न यावकः॥ नै० १५।४७
१३. मणीसनाभौ मुकुरस्य मण्डले बभौ निजास्यप्रतिबिम्बदर्शिनी॥ नै० ०१५।५०

कभी कभी आगे-पीछे दो दर्पण रखकर सारे शरीर का रूप देखा जाता था।[1] पूर्वोक्त सारा विवरण सम्पन्न घरों की स्त्रियों के लिए है। गरीबों की स्त्रियां पीतल के गहनों से भी अपनी शोभा बढ़ा लेती थीं।[2] फिर चांदी पर सोने की कलई (मुलम्मा) करके सोने के नकली आभूषण भी बनते थे।[3] विवाहादि विशेष अवसरों पर पुरुषों का भी श्रृङ्गार होता था। पुरुषों के भी केश लम्बे होते थे। उन्हें बांधकर फिर फूलों की कलियों से गूंथा जाता था।[4] राजा लोग शिर पर रत्न-जटित मुकुट धारण करते थे।[5] ललाट पर रत्न-जटित वीरपट्टिका नामक स्वर्ण अलकार धारण किया जाता था।[6] दोनों भौहों के मध्य में तिलक-बिन्दु लगाया जाता था।[7] चन्दन भी लगाते थे।[8] पुरुष भी कानों में कुण्डल पहनते थे।[9] गले में मोतियों की माला पहनी जाती थी।[10] विवाह के समय हाथ में कङ्कण बांधा जाता था।[11] भुजाओं में रत्न-खचित भुजबन्द आदि आभूषण धारण किए जाते थे।[12] राजा आदि श्रीमान् लोग कभी-कभी आचूड़ रत्नाभूषण धारण करते थे।[13] चरणों मे जूते पहनते थे।[14]

---

१. तथापि जिग्ये युगपत्सतीयुगप्रदर्शितादर्शबहूभविष्णुना॥ नै० १५।५१

२. अकाञ्चने किञ्चननायिकाङ्गकेकिमारकूटाभरणेन न श्रियः॥ नै० ९।२८

३. आदत्तदीप्रं मणिमम्बरस्य दत्वा यदस्मै खलु सायधूर्तः।
रज्यत्तुषारद्युतिकूटहेम तत्पाण्डुजातं रजतं क्षणेन॥ नै० २२।५०

४. नृपस्य तत्राधिकृताः पुनः पुनर्विचार्य तान्बन्धमवापिग्रन्कचान्॥ नै० १५।५८

५. अनर्घ्यरत्नौघमयेन मण्डितौ रराज राजा मुकुटेन मूर्द्धनि॥ नै० १५।६०

६. नलस्य भाले मणिवीरपट्टिकानिभेन लग्नः परिधिर्विधोर्बभौ॥ नै० १५।६१

७. उपभ्रु तद्वर्तुल चित्ररूपिणी धनुः समीपे गुलिकेव सम्भृता॥ नै० १५।६२

८. अचुम्बि या चन्दनबिन्दुमण्डली नलीय-वक्त्रेण सरोज-तर्जिना॥ नै० १५।६३

९. कपोलपालीजनिजानुबिम्बयोः समागमात्कुण्डलमण्डलद्वयी।
नलस्य.......................॥ नै० १५।६५

१०. श्रितास्य कण्ठं गुरुविप्रवन्दनाद्विनम्रमौलेश्चिबुकाग्रचुम्बिनी॥ नै० १५।६६

११. कृतार्थयन्नर्थिजनाननारतं बभूव तस्यामरभूरुहः करः।
तदीयमूलेनिहितं द्वितीयवद्ध्रुवं दधे कङ्कणमालवालताम्॥ नै० १५।६८

१२. रराजदोर्मण्डनमण्डलीजुषोः स वज्रमाणिक्यसितारुणत्विषोः॥ नै० १५।६९

१३. आचूडमोघैर्निचुलितमिव तं भूषणानाम् मणीनाम्॥ नै० १५।९२

१४. ..उपानहौ ततः पदे रेजतुरस्य बिभ्रती॥ नै० १।१२३

विलास

नैषध में राजमहल के विलास-सम्बन्धी उपकरणों का विस्तृत विवरण है। "प्रासाद" के अन्तःकक्ष श्यामवर्ण के उत्तम अगुरु से सुवासित रहते थे। वातायनों पर चन्दन और कपूर के विशेष विधान के कारण उसको स्पर्श करके आने वाला पवन अत्यन्त शीतल तथा सुगन्धित होता था।[1] महल मे अत्यन्त सुगन्धित तेलों के दीप जलाए जाते। उन दीपों की बत्तियां 'कामशर' धूप से बनायी जाती थीं।[2] विलासी श्रीमानों के प्रासाद का मणिखचित भूपृष्ठ सर्वप्रथम कर्पूर-सुवासित जल से धोया जाता, फिर उस पर कुङ्कुम तथा कस्तूरी का लेप किया जाता और अन्त में विलासियों के चलनेवाले मार्ग पर पर्वतीय सुगन्धित पुष्पों की मालाए फैलाई जाती थीं।[3] इस प्रकार रत्न-खचित प्रासाद भूमि पर किसी कक्ष मे विलासी की पुष्प-शैय्या रहती जो अत्यन्त मृदु, रम्य, तथा सुगन्ध-पूर्ण होती थी।[4] प्रासाद के निकट गृहवाटिका मे कलियों के खिलने की सौरभधारा बहा करती।[5] वह वाटिका सभी ऋतुओं में फूलों से समृद्ध रहती थी।[6] प्रासाद का कोई भाग तो सम्पूर्णतया स्वर्णनिर्मित था, कोई निर्मल रत्नों से खचित था, कहीं चित्रशाला बनी थी और कहीं प्रकाश और अन्धकार की चञ्चल व्यवस्था के कारण जादूगरी से परिपूर्ण लगता था।[7] मदनोद्दीपन के लिए प्रासाद मे यत्र-तत्र शृङ्गार रसानुकूल चित्र बने रहते।[8] कही पुत्तलिकाओं के नृत्य होते रहते।[9] प्रासाद की भीत्तियों मे

---

१. धूपितं यदुदरान्तरं चिरं मेचकैरगरुसारदारुभिः।
जालजालधृतचन्द्रचन्दनक्षोदमेदुरसमीरशीतलम्॥ नै० १८।५
२. क्वापि कामशरवृत्तवर्तयो यं महासुरभि तैलदीपिकाः॥ नै० १८।६
३. कुङ्कुमैणमदपङ्कलेपिताः क्षालिताश्च हिमबालुकाम्बुभिः।
रेजुरध्वततशैलजस्रजो यस्यमुग्धमणिकुट्टिमा भुवः॥ नै० १८।७
४. नैषधाङ्गपरिमर्दमेदुरामोदमार्दवमनोज्ञवर्णया।
यद्‌भुवः क्वचनसूनशय्यया भाजि भालतिलकप्रगल्भता॥ नै० १८।८
५. क्वापि यन्निकटनिष्कुटस्फुटत्कोरकप्रकरसौरभोर्मिभिः।
सान्द्रमाद्रियत ॥ नै०१८।९
६. ऋद्धसर्वऋतुवृक्षवाटिका॥ नै० १८।१०
७. कुत्रचित्कनकनिर्मिताखिलः क्वापि चास्थिरविधैन्द्रजालिकः॥ नै० १८।११
८. चित्रतत्तदनुकार्यविभ्रमाधाप्यनेकविधरूपरूपकम्॥ नै० १८।१२
भित्तिचित्रलिखिताखिलक्रमा यत्रतस्थुरितिहाससंकथाः।
पद्मनन्दनसुतारिरंसुतामन्दसाहसहसन्मनोभुवः॥ नै० १८।२० इत्यादि
९. भित्तिगर्भगृहगोपितैर्जनैर्यः कृताद्‌भुतकथादिकौतुकः।
सूत्रयन्त्रजविशिष्ट-चेष्टयाश्चर्यसञ्जि बहुशालभंजिकः॥ नै० १८।१३

जड़े हुए रत्नों की प्रभा से अँधेरी रात में भी चन्द्रिका छिटका करती। यन्त्र से चलने वाले शीतल जल के फव्वारों के धारा-सम्पातों के कारण ग्रीष्म ऋतु में भी उसके पास गर्मी की बेचैनी नहीं आने पाती थी।[1] प्रासादों में काम-शास्त्र-विशारद सारिकाएं, मदन-मत्त गौरैया पक्षी तथा हंस-मिथुन बने (पोषित) रहते थे।[2] वीणा तथा वंशी की मधुरध्वनियां, वाटिका में कोकिल की कूक एवं भ्रमरों की गुंजारों तथा आभूषणों के परस्पर-शिञ्जन मदन को और उद्दीपन करते।[3] अन्त. कक्ष में कहीं रति और काम की प्राणप्रतिष्ठा की हुई मूर्तियां भी रहती थीं।[4] द्वार पर किन्नरियों के उच्चकोटि के गीतों का झकार दिनरात गूंजा करता।[5] ऐसे प्रासादों मे उन्नत-स्तनी सुन्दरिया स्नान के पूर्व अपने प्रभुओं को सर्वप्रथम कर्पूर, अगुरु, कस्तूरी, चन्दन तथा कक्कोल के मिश्रित चूर्ण से बने यक्ष-कर्दम नामक द्रव्य से कोमल मर्दन करतीं और अन्त में जिस पर सुगन्ध के कारण भौरें मंडरा रहे हों, ऐसे कर्पूर-चन्दन से सुगन्धित जल से स्नान करातीं।[6]

विनोद के भी अनेक साधन होते थे। शिष्ट समाज मे काव्य-शास्त्र विनोद के साधन होते थे।[7] अर्थ-समस्या भी मन बहलाने का एक कारण बनती थी।[8] वृक्षों की शाखाओं में हिंडोले डालकर भी आनन्द लिया जाता था।[9] इन्द्रजाल

---

१. तामसीष्वपि तमीषु भित्तिगै रत्नरश्मिभिरमन्दचन्द्रिकः।
यस्तपेऽपि जलयन्त्रपातुकासारदूरधुततापतन्द्रिकः॥ नै० १८।१४

२. यत्रपुष्पशरशास्त्रकारिकासारिकाध्युषितनागदन्तिका॥ नै० १८।१५
यत्र मत्तकलविंकशीलिताश्लीलकेलिपुनरुक्तवक्तयोः।
क्वापि दृष्टिभिरवापि वापिकात्तंसहंसमिथुनस्मरोत्सवः॥ नै० १८।१६

३. यत्र वैणरववैणवस्वरैर्हुंकृतै रुपवनीपिकालिनाम्।
कङ्कणालिकलहैश्च नृत्यतां कुब्जितं सुरतकूजितं तयोः॥ नै० १८।१७

४. यत्प्रतिष्ठितरतिस्मरार्चयोः॥ नै० १८।१८

५. नानिशं त्रुटति यन्मुखे पुरा किन्नरीविकटगीतिझंकृतिः॥ १८।१९

६. यक्षकर्दममृदुन्मृदिताङ्गं प्राक्कुरङ्गमदमोलितमौलिम्।
गन्धवार्भिरनुबन्धितभृङ्गैरङ्गनाः सिषिचुरुच्चकुचास्तम्॥ नै० २१।७

७. अजस्रमभ्यासमुपेयुषा समं मुदैव देवः कविना बुधेन च।
दधौ पटीयान्समयं नयन्नयं दिनेश्वरश्रीरुदयं दिने दिने॥ नै० १।१७

८. प्रियसखीनिवहेन सहाथ सा व्यरचयद्गिरमर्धसमस्यया॥ नै० ४।१०१

९. खेलां विधातुमधिशाखविलम्बिदोलालोलाखिलाङ्गजनताजनितानुरागे॥
नै० ११।७४

आदि खेल देखने को मिलते थे।[1] बरातों मे परिहास-विनोद खुलकर होता था।[2] दोपहर के भोजन के पश्चात् शुक, कोकिल, वीणा द्वारा श्रीमान् लोग मनोविनोद किया करते थे।[3] बच्चों के विनोद तो कई प्रकार के होते थे। बच्चे खपडों के टुकड़े पानी में इस तरह फेकते थे कि वे पानी मे छोटी-छोटी लहरियों को काटकर कुछ दूर तक दौड़ते हुए चले जाते थे।[4] चकई-भंवरा बनाकर उसे डोरी में बाधकर नचाया करते थे।[5] (ये बाल-विनोद आज भी ज्यों के त्यों देखे जा सकते हैं)।

चित्रकला

श्रीहर्ष के समय तक भारतीय चित्रकला बहुत उन्नत दशा को पहुच चुकी थी। नैषध में उसके अनेक उल्लेख मिलते हैं। वास्तविक रूप सामने रक्खे बिना ही कुशल चित्रकार कल्पना-द्वारा सुन्दरतम पुरुष तथा सुन्दरतम स्त्री का चित्र लीला-गृह की भित्तियों पर बना देते थे।[6] चित्र मे वयःसन्धि की सूक्ष्मताओं तक को व्यक्त कर दिया जाता था। शैशव के अवशिष्ट क्रियावृत्तों को रोमावलिरूप यष्टिका से वर्जित करती हुई-सी यौवन के द्वार पर खड़ी मानो युवावस्था से परिचय पाने के लिए उत्सुक सुन्दरी का आलेख्य बना लेते थे।[7] "आलेख्य-पट पर किसी सखी ने सुन्दरी के लीलाकमल को तो चित्रित कर दिया, किन्तु करकमल न चित्रित कर सकी, उसी प्रकार कान का इन्दीवर तो बना दिया, किन्तु नयनेन्दीवर न बना पाई।"[8]

---

१. बाधाबतेन्द्रादिभिरिन्द्रजालविद्यदाविदां वृत्तिवधाद्व्यधायि॥ नै० १४।७०

२. कटाक्षणाज्जन्यजनैर्निजप्रजाः क्वचित्परीहासमचीकरत्तराम्॥ नै० १६।४८

३. तामन्वगादशितबिम्बविपाकचञ्चोः स्पष्टं शलाटुपरिणत्युचितच्छदस्य।
कीरस्य कापि करवारिरुहे वहन्ती सौन्दर्यपुञ्जमिव पञ्जरमेकपाली॥
नै० २१। १२२

४. बालकेलिषुतदायदलावीः कर्परीभिरभिहत्य तरङ्गान्॥ नै० २१।७९

५. बालेन नक्तंसमयेनमुक्तं रौप्यं लसद्बिम्बमिवेन्दुबिम्बम्।
भ्रमिक्रमादुज्झितपट्टसूत्रनेत्रावृति मुञ्चति शोणिमानम्॥ नै० २२।५१

६. प्रियं प्रियां च त्रिजगज्जयिश्रियौ लिखाधिलीलागृहभित्ति कावपि।
इति स्म सा कारुवरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते॥ नै० १।३८

७. कौमारगन्धीनि निवारयन्ती वृत्तानि रोमावलिवेत्रचिह्ना।
सालिख्य तेनैक्ष्यत यौवनीयद्वाःस्यामवस्थां परिचेतुकामा॥ नै० ६।३८

८. विलेखितुं भीमभुवो लिपीषु सख्यातिविख्याति भृतापि यत्र।
अशाकि लीलाकमलं न पाणिरपारि कर्णोत्पलमक्षि नैव॥ नै० ६।६४

रूप भी लोकोत्तर था और चित्रकलाविद् भी अत्यन्त रसिक! नगर मे गृहभित्तियों को आलेख्य रचना द्वारा सजाने की प्रथा थी।[1] राजप्रसाद में चित्रों की प्रतिमाओं का अभिनय इतना सजीव तथा उनका रङ्ग-विधान इतना स्वाभाविक एव कौशलपूर्ण था कि उन्हे देखकर महाशिल्पी विश्व-रचयिता के भी सिर आश्चर्य मे हिलने लगते थे।[2] विलास-भवन में कहीं भित्ति पर ब्रह्मा का पुराण-प्रसिद्ध अपनी पुत्री के साथ रमण करने की इच्छा से आगे बढना तथा मदन का उनका उपहास करना आदि सारी कथा क्रम-पूर्वक विस्तार के साथ चित्रित थी।[3] कहीं-कहीं गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या के कामुक देवेन्द्र का पर-स्त्री-गमन का दुस्साहस भी चित्रित था, वह मानों भगवान् कामदेव की विजय-घोषणा हो।[4] कहीं ऐसे ऋषि का चित्र बनाया गया था जो अपने तपःसागर को कठिन साधना के पश्चात् प्रायः पार कर चुका है। किन्तु इसी बीच भयभीत इन्द्र विघ्न करने के लिये सुन्दरी अप्सराओं को भेजते हैं। बेचारा तपस्वी भी एक तैरने वाले की भांति—जो अधिक थकने के कारण किनारे से कुछ दूर पर ही पहुंच कर घड़ों के सहारे जल मे ही विश्राम करने लगता है—उन सुन्दरियों के अभिराम स्तनों पर थका हुआ सा विश्राम कर रहा है—(और इस प्रकार अन्त मे उसका आसन डोल जाता है)।[5]

संगीतकला

सगीत-कला भी चित्र-कला की ही भांति पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त हो चुकी थी। स्वरों तथा मूर्च्छनाओं की सूक्ष्मताओं पर विशेष ध्यान रहता था। कुशल वीणा-वादक की पञ्चमस्वर की मूर्छनाओं को सुन लोग मुग्ध हो बेसुध तक हो जाते थे।[6]

---

१. ते तत्र भैम्याश्चरितानि चित्रे चित्राणि पौरैः पुरि लेखितानि।
निरीक्ष्यनिर्न्युर्दिवसम् ....॥ नै० १०।३५

२. चित्रतत्तदनुकार्यविभ्रमाधाय्यनेकविधरूपरूपकम्
वीक्ष्य यं बहुधुवञ्शिरो जरावातकी विधिरकल्पि शिल्पिराट्॥ नै० १८।१२

३. भित्तिचित्रलिखिताक्रमा यत्र तस्थुरितिहाससंकथाः।
पद्मनन्दनसुतारिरंसुतामन्दसाहसहसन्मनोभुवः ॥ नै० १८।२०

४. पुष्पकाण्डजयडिण्डिमायितं यत्र गौतमकलत्रकामिनः।
पारदारिकविलाससाहसं देवभर्तुरुदटङ्कि भितिषु॥ नै० १८।२१

५. नीतमेव करलभ्यपारतामप्रतीर्य मुनयस्तपोर्णवम्।
अप्सरःकुचघटावलम्बनात्स्थायितः क्वचन यत्र चित्रगाः॥ नै० १८।२६

६. समाज एवालपितासु वैणिकैर्मुमूर्च्छ यत्पञ्चममूर्च्छनासु च॥ नै० १।५२

तौर्यत्रिक (संगीत) की नृत्य, गीत, वाद्य, तीनों शाखाओं का चरमविकास हो चुका था।[१] राजकुमारियों को वीणा आदि वाद्य तथा गान की शिक्षा देने का उचित प्रबन्ध किया जाता था।[२] कुण्डिनपुर की धवल गृहपङ्क्तियाँ मङ्गलमृदङ्गों की उच्च-ध्वनि का सम्पूर्ण रूप से प्रतिशब्द करके अपनी गम्भीरता का परिचय देती हुई अपनी चञ्चल पताका द्वारा मानों लोगों मे अपनी नृत्यकला के पाण्डित्य का अभिनय करा रही थी।[३] पुत्तलिकानृत्य भी प्रचलित ही था।[४] गाने के व्यवसाय वाली सुन्दरिया (किन्नरिया) उच्चकोटि के गीत गाती। उनके गीत कृष्णमृग के सीगों के समान आरोह-अवरोह की अनेक भङ्गियों से युक्त तथा शृङ्गाररस की विशेष धारा के समान श्रुतिमधुर होतें।[५] गीत प्रारम्भ करने के पूर्व वीणा के तार मिलाते समय गायक कुछ अतिमधुर अव्यक्त शब्द किया करते।[६] सात तारों वाली परिवादिनी वीणा प्रायः अधिक प्रचलित थी।[७] वादिका की अगुलिया द्रुतगति से तारों पर दौड़ती हुई रह रह कर ऊपर की खूँटियों को घुमाती हुई ऐसी प्रतीत होती थी मानों सकाम करिणी गजेन्द्र के पास अपनी सूंड हिलाती हुई चञ्चलता-पूर्ण क्रीड़ाएं करती हुई निषाद-ध्वनि मे शब्द कर रही हो।[८] वीणा के अतिस्पष्ट मधुर गीत बड़े आकर्षक

---

१. विलासवापीतटवीचिवादनात्पिकालिगीतेः शिखिलास्यलाघवात्।
वनेपि तौर्यत्रिकमारराध तं क्व भोगमाप्नोति न भाग्यभाग्जनः॥ नै० १।१०२

२. भैमीमुपावीणयदेत्य यत्र कलिप्रियस्य प्रियशिष्यवर्गः।
गन्धर्ववध्वः स्वरमध्वरीणतत्कंठनात्मैकधुरीणवीणः॥ नै० ६।६५

३. उत्तुंगमंगलमृदंगनिनादभंगीसर्वानुवाद विधिबोधितसाधुमेधाः।
सौधस्रजः प्लुतपताकतयाभिनिन्युर्मन्ये जनेषु निजतांडवपंडितत्वम्॥ नै० ११।६

४. सूत्रयन्त्रजविशिष्टचेष्टयाश्चर्यसंजिबहुशालभंजकः॥ नै० १८।१३

५. कृष्णसारमृगशृंगभङ्गुरा स्वादुरुज्ज्वलरसैकसारिणी।
नानिशं त्रुटति यन्मुखे पुरा किन्नरीविकटगीतिझंकृतिः॥ नै० १८।१९

६. तासामभासत कुरङ्गदृशां विपञ्ची किञ्चित्पुरः कलितनिष्कलकाकलीका॥
नै० २१।१२५

७. तां प्रागसावविनियं परिवादमेत्य लोकेऽधुनापि विदिता परिवादिनीति॥
नै० २१।१२६

८. नादं निषादमधुरं ततमुज्जगार साध्यासभागवनिभृत्कुलकुञ्जरस्य।
स्तम्बेरमीव कृतसश्रुतिमूर्धकम्पा वीणा विचित्रकरचापलमाभजन्ती॥
नै० २१।१२७

होते थे।[1] नैषध मे नाट्यकला का भी उल्लेख हुआ है। नल के विलास-भवन में चन्द्रमा के अपने गुरु की पत्नी तारा के साथ कामुक व्यवहार वाले आख्यान को लेकर भरत मुनि-प्रणीत नाट्य-शास्त्र के अनुसार लिखी गई नाटिकाएं प्राङ्गण में खेली जाती थीं।[2]

देव-पूजा

देवोपासना प्रातः, मध्याह्न तथा सन्ध्या तीनों वेलाओं मे की जाती थी।[3] यह दृढ़ विश्वास था कि देव ही हम मानवों के कल्पवृक्ष है। हमारी की हुई परिक्रमाएँ उन देवरूप कल्पवृक्षों के आलवाल है, चन्दन-लेप तथा धूप आदि परिचर्या ही उनके लिए जलसेचन है। इस प्रकार प्रसन्न हो वे देव हमे हमारे अभीष्ट मनोरथ रूपी फल देते है।[4] देवों को श्रद्धापूर्वक किया गया नमस्कार सर्वार्थ-सिद्धि का प्रधान साधन होता है।[5] दर्शन देकर देव वरदान अवश्य देते है। अतः ध्यान-बल से या अन्य किसी प्रकार से किया गया देव-दर्शन निश्चित रूपसे अभीष्ट-सिद्धिप्रद होता है।[6] देवों का ध्यान में प्रत्यक्ष होना फल-प्राप्ति का प्रथम रूप ही है।[7] फिर, फल की प्राप्ति के लिए सुस्थचित्त से की गई आराधना से देवगण निश्चय ही प्रसन्न होते है।[8] देवगण प्रसन्न होकर कुछ देते नहीं, केवल मनुष्य की बुद्धि सुधार देते है, जिसके द्वारा उसे सब कुछ सुलभ हो जाता है।[9] नैषध में देवपूजा की विस्तृत

---

१. तद्दम्पतिश्रुतिमधून्यथ चाटुगाथा वीणास्तथा जगुरतिस्फुटवर्णबन्धम्॥
नै० २१।१२९

२. गौरभानुगुरुगेहिनीस्मरोद्वृत्तभावमितिवृत्तमाश्रिताः।
रेजिरे यदजिरेऽभिनीतिभिर्नाटिका भरतभारतीसुधा॥ नै० १८।२३

३. यानेव देवान्नमसि त्रिकालं न तत्कृतघ्नीकृतिरौचिती ते॥ नै० ६।८५

४. प्रदक्षिणप्रक्रमणालवालविलेपधूपाचरणाम्बुसेकैः ।
इष्टं च मिष्टं च फलं सुवाना देवा हि कल्पद्रुमकाननं नः॥ नै० १४।२

५. सुरेषु हि श्रद्दधतां नमस्या सर्वार्थसिध्यङ्गमिथः समस्या॥ नै० १४।३

६. यत्तान्निजे सा हृदि भावनाया बलेन साक्षादकृताखिलस्यान्।
अभूदभीष्टाप्रतिभूः स तस्या वरं हि दृष्टा ददते परं ते॥ नै० १४।४

७. सुपर्वणां हि स्फुटभावना या सा पूर्वरूपं फलभावनायाः॥ नै० १४।७

८. आमुद्यते यत्सुमनोभिरेवं फलस्य सिद्ध्यै सुमनोभिरेव॥ नै० १४।५

९. देवा हि नान्यद्वितरन्ति किन्तु प्रसद्यते साधुधियं ददन्ते॥ नै० १४।९

विधि दी गयी है। पूजा मे पुष्प प्रधान उपकरण समझे जाते थे।[1] देवालय के गर्भागार में पूजा के लिए प्रायः ब्रह्मचारी रक्खे जाते थे। गर्भागार तक जाने की सर्वसाधारण को आज्ञा नहीं रहती थी।[2] पूजा के उपकरणों मे पुष्पमाला, अगुरु, चन्दन, का धूप,[3] आरती के लिए दीप,[4] कुङ्कुम[5], चन्दन,[6] कस्तूरी[7], नैवेद्य के लिए दही-भात,[8] रंगविरङ्ग पुष्प[9] तथा अन्य अनेक वस्तुए रहती थी। सर्वप्रथम सन्ध्योपासना तथा सूर्य पूजा करके तब अन्य-देव-पूजन प्रारभ किया जाता था।[10] शिवपूजा में धतूर का पुष्प[11] तथा रुद्राक्ष-माला पर शतरुद्री का जप[12] प्रधान विधि समझे जाते थे। विष्णु पूजा में द्वादश-केशव-मूर्तिया 'ओं नमो भगवते वासुदेवाय' द्वादशाक्षर मन्त्र,[13] श्वेत-

---

१. ....तानथ जाति-जातैः। आनर्च गीत्यन्वितषट्पदैः सा स्तवप्रसूनस्तबकैर्नवीनैः॥ नै० १४।६
दृष्टं प्रसूनोपमया मयान्यत्र धर्मशर्मोभयकर्मठंयत्॥ नै० १४।८५

२. पूतपाणिचरणः शुचिनोच्चैरध्वनानितरपादहतेन।
ब्रह्मचारिपरिचारि सुरार्चावेश्म राजऋषिरेष विवेश॥ नै० २१।२१

३. क्वापि यन्नभसि धूपजधूमैर्मेचकागुरुभवैर्भ्रमराणाम्।
भूयते स्म सुमनः सुमनः स्रग्दामधामपटले पटलेन॥ नै० २१।२२

४. ते धृता वितरितुं त्रिदेशभ्यो यत्रहेमतिलका इव दीपाः॥ नै० २१।२३

५. कुङ्कुमेन परिपूरितमन्तः शुक्तयः शुशुभिरे॥ नै० २१।२४

६. अङ्कचुम्बिघनचन्दनपङ्कं यत्रगारुडशिलाजममत्रम्॥ नै० २१।२५

७. गर्भमेणमदकर्दमसान्द्रं भाजनानि रजतस्य भजन्ति॥ नै० २१।२६

८. भूरिशर्करकरम्भबलीनाम्॥ नै० २१।२७

९. खर्वमाख्यदमरौघनिवासं पर्वतं क्वचन चम्पकसम्पत्।
मल्लिकाकुसुमराशिरकार्षीद्यत्र च स्फटिकसानुमनुच्चम्॥ नै० २१।२८

१०. श्वैत्यशैत्यजलदैवतमन्त्रस्वादुताप्रमुदितां चतुरक्षीम्।
वीक्ष्यमोघधृतसौरभलोभं घ्राणमस्य सलिलघ्रमिवासीत्॥ नै० २१।१७
सम्यगर्चति नलेऽर्कमतूर्णम् . ...॥ नै० २१।३२

११. हेमनामकतरुप्रसवेन त्र्यम्बकस्तदुपकल्पितपूजः॥ नै० २१।३४?

१२. व्यापृतस्य शतरुद्रियजप्तौ पाणिमस्य नवपल्लवलीलम्।
भृङ्गभङ्गिरिवरुद्रपराक्षश्रेणिरश्रयत रुद्रपरस्य॥ नै० २१।४०

१३. उत्तमं स महतिस्म महीभृत् पुरुषं पुरुषसूक्त विधानैः।
द्वादशापि च केशव-मूर्तीं द्वादशाक्षरमुदीर्य ववन्दे॥ नै० २१।४०

पुष्पों की माला पर शालग्राम की श्याममूर्ति,[1] नीलारविन्दों की माला,[2] विभिन्न रङ्ग के फूलों की माला,[3] अनेक प्रकार के पकाए चावलों का नैवेद्य, कस्तूरी-द्वार पूजा, शंख में जल लेकर पूजा,[4] कृष्णागुरु का धूप,[5] रत्नमयी मालतीमाला,[6] और पूजोपचार के पश्चात् स्तवन आदि मुख्य विधियां होती थी।[7] विष्णु के मत्स्य, कच्छप, वराह नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि, तथा दत्तात्रेय[8] बलराम अवतारों की विशेष पूजा होती थी। कृष्णप्रिया राधा[9] की पूजा होने लगी थी। वामन का त्रिविक्रम रूप प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध रहा है—उसकी भी पूजा विशेष विधि से होती थी।[10] दत्तात्रेय अवतार सम्भवतः बौद्धधर्म की प्रतिक्रिया के रूप में प्रसिद्धि पा चुका था।[11] क्योंकि बुद्ध की भाति दत्तात्रेय को भी अद्वैतवादी कहते हैं। शिव-विष्णु के ऐक्य की स्थापना कालिदास के समय से भी पूर्व हो चुकी थी। स्वय कालिदास ने ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव को एक ही मूर्ति के तीन रूप कहा है[12]—श्रीहर्ष

---

१. मल्लिकाकुसुमदुण्डुभकेन स भ्रमीवलयितेन कृतेतम्।
आसने निहित मैक्षत साक्षात्कुंडलीन्द्रतनु कुण्डलभाजम्॥ नै० २१।४२

२. मेचकोत्पलमयी बलिबन्द्धुस्तद्बलिस्रगुरसि स्फुरति स्म॥ नै० २१।४३

३. स्वर्णकेतकशतानि स हेम्नः पुण्डरीक घटना रजतस्य।
मालयारुणमणेः करवीरं तस्य मूर्द्धिन पुनरुक्तमकार्षीत्॥ नै० २१।४४

४. नाल्पभक्तबलिरन्ननिवेद्यैस्तस्य हारिणमदेन स कृष्णः।
शंखचक्रजलजातवदर्चः शंखचक्रजलपूजनयाभूत्॥ नै० २१।४५

५. राज्ञि कृष्णलघुधूपनूमाः पूजयत्यहिरिपुध्वजमस्मिन्॥ नै० २१।४६

६. अर्धनिःस्वमणिमाल्यविमिश्रैः स्मेरजातिमयदामसहस्रैः।
तं पिधाय विदधे बहुरत्नक्षीरनीरनिधिमग्नमिवैषः॥ नै० २१।४७

७. सूक्तिमौक्तिकमयैरथहारैर्भक्तिमैहत हरेरूपहारैः॥ नै० २१।५१

८. छद्ममत्स्यवपुषस्तव पुच्छास्फालनाज्जलमिवोद्धतमब्धेः।
श्वैत्यमेत्य गगनाङ्गणसंगादाविरस्ति विबुधालयगङ्गा॥ नै० २१।५५ इत्यादि

९. प्राणवत्प्रणयिराध न राधापुत्रशत्रुसखिता सदृशी ते॥ नै० २१।८३

१०. मां त्रिविक्रम पुनीहि पदे ते किं लगन्नजनि राहुरुपानत्।
किं प्रदक्षिणनकृद्भ्रमिपाशं जाम्बवानदित ते बलिबन्धे॥ नै० २१।९६

११. सन्तमद्वयमयेऽध्वनि दत्तात्रेयमर्जुनयशोर्जनबीजम्।
नौमि योगजयितानघसंज्ञं त्वामलर्कभवमोहतमोर्कम्॥ नै० २१।९३

१२. एकैवमूर्तिबिभिदे त्रिधा सा सामान्यमेषां प्रथमावरत्वम्।
विष्णोर्हरस्तस्य हरिःकदाचित् वेधास्तयोस्तावपिधातुराद्यौ॥ कु० स० ७।४४

ने विशेषरूप से शिव-विष्णु दोनों की उपासना का उल्लेख कर एक तो नल की पुराण-प्रसिद्ध शिव-भक्ति का निर्वाह किया है, और दूसरे तात्कालिक शैव-वैष्णव मत की मौलिक एकता की सूचना दी है। हरि-हर रूप की विशेष रूप से प्रार्थना करते हुए नल कहते हैं—"प्रभु आपने हरिहर रूप में धड के ऊपर दो रूप क्यों धारण किए? उस रूप में एक रूप धड़ होना चाहिए था और दूसरा सिर। उसी प्रकार नरसिंह रूप मे क्यों सिर और धड मे भेद कर दिया? पर स्वतन्त्रसत्ता वाले से किसी बात के बुरे भले के लिए प्रश्न कौन कर सकता है?[1]" पूजा के अन्त में श्रीहर्ष ने उस सारी पूजा को हरि-हर की पूजा बताया है।[2] विष्णु के 'राम' नाम का महत्त्व भी प्रतिष्ठित हो चुका था। नल विष्णु की प्रार्थना करते हुए कहते हैं—"देव, हम संसारी जीव यद्यपि कोई रहस्यमय विशेषता नहीं जानते पर इतना अवश्य कहेंगे कि आप का राम-नाम सारे गुणों का निधान है, अन्यथा आपने ही लगातार परशुराम राम, बलराम, तीन अवतारों मे वही नाम क्यों धारण किया।[3]" पुरुष ही नहीं, स्त्रियां भी देवपूजा करती थीं।[4]

साधारण सामाजिक-जीवन

नैषध में सामाजिक जीवन के और भी अनेक पहलुओं का चित्रण हुआ है, जिनसे साधारण जनता के चरित्र के आदर्श का पता लगता है। उपकार करनेवाले का प्रत्युपकार करना कर्तव्य था—प्रत्युपकार बड़ा हो या छोटा इसका विचार आवश्यक नहीं।[5] सज्जनों का साथ श्रेयस्कर समझा जाता था। धनिकों की निधि रुपया-पैसा है, किन्तु सज्जनों की तो गुणवान् व्यक्तियों का सान्निध्य ही सबसे बड़ी निधि है।[6] महापुरुष दूसरे द्वारा किए गए अपने प्रति अपराध को अपना ही अपराध

---

१. ऊर्ध्वदिक्कक्ष्लानां द्विरकार्षीः किं तनुं हरिहरीभवनाय।
किं च तिर्यगभिनो नृहरित्वे कः स्वतन्त्रमनु नन्वनुयोगः॥ नै० २१।१०४

२. श्रेयसा हरिहरं परिपूज्य प्रह्व एष शरणं प्रविवेश॥ नै० २१।११९

३. अस्मदाद्यविषयेऽपि विशेषे रामनाम तव धाम गुणानाम्।
अन्वबन्धि भवतैव तु कस्मादन्यथा ननु जनुस्त्रितयेऽपि॥ नै० २१।११४

४. भीमात्मजापि कृतदैवतभक्तिपूजा पत्यौ च भुक्तवति भुक्तवती ततोऽनु॥
नै० २१।१२१

५. अचिरादुपकर्तुराचरेदथवात्मौपयिकीमुपक्रियाम्।
पृथुरित्थमथाणुरस्तु सा न विशेषे विदुषामिहग्रहः॥ नै० २।१४

६. धनिनामितरः सतां पुनर्गुणवत्सन्निधिरेव सन्निधिः॥ नै० २।५३

कहते हैं। यह वास्तव में उनके हृदय की निर्मलता का सूचक है।[1] सत्पुरुष परस्त्री को कटाक्ष से भी नहीं देखते थे, उन्हे सानुराग देखना या उनके अङ्ग का स्पर्श करना तो दूर था। सत्पुरुष को दूसरे से अधिक स्वयम् अपने से लज्जा होती है।[2] वस्त्राभूषण आदि जो वस्तु अपने पास रहती उसे अपने मित्र या पिता से मांग लेते थे।[3] शिष्टाचार का समाज में पूरा ध्यान रहता था। आचारहीन पुरुष निन्दित समझा जाता था।[4] यद्यपि सदा की भांति उस समय भी कुछ लोग ऐसे थे जो आनन्द का मूल कारण स्वच्छन्दता को ही अपनाने का—मनमाना करने का—उपदेश देते थे,[5] जिन्होंने अगम्यागमन के लिये अपने प्राणों को हथेली पर रख छोड़ा था, जिन्होने लज्जा, भय, सब को ही तिलाञ्जलि दे दी थी, तथा दूतियों ने जिनकी सारी सम्पत्ति साफ कर दी थी,[6] जो कामवश परदारागमन को बुरा नही कहते थे,[7] जो चार्वाक-सिद्धान्तों का प्रचार-सा करते थे।[8] किन्तु समाज में ऐसे लोगों की कोई प्रतिष्ठा न थी, उनकी, बात ही कोई नहीं मानता था। आपद्धर्म की भी मान्यता थी। दमयन्ती कहती है—"विपत्ति के समय जब शास्त्रविहित कर्म किसी प्रकार रक्षा न करे तो वर्जित कर्म भी कर लेना चाहिए। जैसे पानी बरसने के कारण राजमार्ग में कीचड़ हो जाने पर विद्वान् पुरुष अन्य बुरे मार्ग से भी चले जाते हैं।"[9] सज्जन को अपने हृदय की शुद्धि

---

१. आदर्शतां स्वच्छतयाप्रयासि सतां स तावत्खलु दर्शनीयः।
आगः पुरस्कुर्वति सागसं मां यस्यात्मनीदं प्रतिबिम्बितं ते॥ नै० ३।५६

२. निमीलनस्पष्टविलोकनाभ्यां कदर्थितस्ताः कलयन्कटाक्षैः।
स रागदर्शीव भृशं ललज्जे स्वतः सतां ह्रीः परतोऽति गुर्वी॥ नै० ६।२२

३. अस्या मुखश्रीप्रतिबिम्बमेव जलाच्च तातान्मुकुराच्च मित्रात्।
अभ्यर्थ्य धत्तः खलु पद्मचन्द्रौ विभूषणं याचितकं कदाचित्॥ नै० ७।५६

४. महाजनाचारपरम्परेदृशी स्वनाम नामाददते न साधवः।
अतोभिधातुं न तदुत्सहे पुनर्जनः किलाचारमुचं विगायति॥ नै० ९।१३

५. स्वाच्छन्द्यमृच्छतानन्दकन्दलीकन्दमेककम्॥ नै० १७।१५

६. अगम्यार्थं तृणप्राणाः पृष्ठस्थीकृतभीह्रियः।
शम्भलीभुक्तसर्वस्वा जना यत्पारिपार्श्विकाः॥ नै० १७।१५

७. ईर्ष्यया रक्षतो नारीर्धिक्कुलस्थितिदाम्भिकान्।
स्मरान्धत्वाविशेषेपि तथा नरमरक्षतः॥ नै० १७।४२

८. प्रावोन्मज्जनवद्यज्ञफलेऽपि श्रुतिसत्यता।
का श्रद्धा तत्र धीवृद्धाः कामाध्वा यत्खिलीकृतः॥ इत्यादि नै० १७।३७–८३

९. निषिद्धमप्याचरणीयमापदि क्रिया सती नावति यत्र सर्वथा।
घनाम्बुना राजपथे हि पिच्छिले क्वचिद्बुधैरप्यपथेन गम्यते॥ नै० ९।३६

की विशेष चिन्ता थी पर लोकापवाद का भय बना ही रहता था, क्योंकि लोगों के मुंह पर कौन हाथ धर सकता है।[१] वे तो लोक-रक्षण में प्रवृत्त विष्णु को जनार्दन (लोकपीडक) तथा प्रलय के समय ससार के प्राण पी जाने वाले महादेव को शिव (मङ्गलकारी) कहते हैं।[२] श्री हर्ष ने भाग्यवाद का बड़ा समर्थन किया है। नैषध में स्थान-स्थान पर भाग्य-विधान की बलवत्ता का गान किया गया है। नल अपने मन में सोचते हैं—"देवेच्छासे विनाश-शील वस्तु की चिकित्सा इन्द्र भी नहीं कर सकते।"[३] लोग धर्मप्रवण होते थे। ऐसा विश्वास था कि धर्म, अर्थ, काम तीनों के फल पुण्यशील धर्मधन व्यक्ति के सदा अधीन रहते हैं।[४] पितरों के प्रति श्रद्धा थी। गयाश्राद्ध के लिये लोग नाना देशों से आते थे।[५] नल-राज्य में घर-घर में पितरों का तर्पण करते समय गिरे हुए काले तिलों को देखकर कलि इस प्रकार डरा मानों वे साक्षात् काल ही हों।[६] यज्ञों का पूर्ण प्रचार था। महापराक आदि व्रत जिनमे बारह दिनों तक अनवरत उपवास करना पड़ता था—किए जाते थे।[७] पुत्र-प्राप्ति के लिये पुत्रेष्टि, शत्रु मारण के लिये श्येनयाग तथा वृष्टि के लिये कारीरी-इष्टि (याग) किए जाते थे और इनका फल भी प्रत्यक्ष देखा जाता था।[८] हवन के घी की गन्ध तथा यज्ञ-धूम सर्वत्र दिखलाई पडते थे।[९] घर-घर में यज्ञ की अग्नि बनी रहती

---

१. स्फुटत्यदः किं हृदयं त्रपाभराद्यदस्य शुद्धिर्विबुधैर्विबुध्यताम्।
　विदन्तु ते तत्त्वमिदं तु दन्तुरं जनाननैः कः करमर्पयिष्यति॥ नै० ९।१२५

२. जनावनायोद्यमिनं जनार्दनं क्षये जगज्जीवपिबं शिवं वदन्॥ नै० ९।१२४

३. न वस्तु दैवस्वरसाद्विनश्वरं सुरेश्वरोऽपि प्रतिकर्तुमीश्वरः॥ नै० ९।१२६

४. अमुञ्चतः पुण्यमनन्यभक्तेः स्वहस्तवास्तव्य इव त्रिवर्गः॥ नै० १४।८१

५. याचतः स्वगयाश्राद्धं प्रेतस्याविश्य कंचन।
　नानादेशजनोपज्ञाः प्रत्येषि न कथाः कथम्॥ नै० १७।९०

६. पितॄणां तर्पणे वर्णैः कीर्णाद्वेश्मनिवेश्मनि।
　कालादिव तिलात्कालाद्दूरमत्रसदत्रसः॥ १७।१६९

७. महापराकिणः श्रौतधर्मैकबलजीविनः।
　क्षणाभक्षणमूर्च्छाल स्मरन्विस्मयसे न किम्॥ नै० १७।९३
　स पार्श्वमशकद्गन्तुं न वराकः पराकिणाम्।
　मासोपवासिनां छायालङ्घो घनमस्खलात्॥ नै० १७।१७५

८. पुत्रेष्टिश्येनकारीरीमुखा दृष्टफलामखाः॥ नै० १७।९४

९. नै० १७।१६६

थी।[1] स्थान-स्थान पर यज्ञ यूप गड़े दिखायी पड़ते थे।[2] अग्नीषोम[3] इन्द्रयाग,[4] सर्वमेध,[5] राजसूय,[6] वामदेव्य,[7] अग्निष्टोम, पौर्णमास,[8] सोम,[9] सर्वस्वार,[10] महाव्रत,[11] अश्वमेध[12] आदि यज्ञों का अनुष्ठान किया जाता था। नल के राज्य में हिंसा, कलह, कम देखने को मिलते थे।[13] स्नान के पश्चात् तिलक धारण किया जाता था।[14] द्विज लोग प्रातः, मध्याह्न, तथा सन्ध्या तीनों वेलाओं में सन्ध्योपासन किया करते थे।[15] नल के राज्य में कलि पाखण्डी की खोज में भटकता हुआ भी पाता है उसके स्थान पर वेद विद्वान्।[16] तपःस्वाध्याय की वृद्धि थी।[17] वेदध्वनि भी सुनने को मिला करती

---

१. पुटपाकमसौ प्राप क्रतुशुष्ममहोष्मभिः॥ नै० १७।१६८
२. यज्ञयूपघनां जज्ञौ स पुरं शङ्कुसङ्कुलाम्॥ नै० १७।१७२
३. हिंसागर्वी मखे वीक्ष्य रिरंसुर्धावति स्म सः।
सा तु सौम्यवृषासक्ता खरं दूरान्निरास तम्॥ १७।१७७
४. दृष्ट्वा सौत्रामणीमिष्टिम्॥ नै० १७।१८२
५. तत्र ब्रह्महणं पश्यन्नतिसन्तोषमानशे।
निर्वर्ण्य सर्वमेधस्य यज्वानं ज्वरति स्म सः॥ नै० १७।१८६
६. क्षपणार्थी सदीक्षस्य स चाक्षपणमैक्षत॥ नै० १७।१८९
७. कर्म तत्रोपनम्राया विश्वस्या वीक्ष्य तुष्टवान्।
स मम्लौ तं विभाव्याथ वामदेव्याम्युपासकम्॥ नै० १७।१९४
९. जुघूर्णे पौर्णमासेक्षी सोमं सो मन्यतान्तकम्॥ नै० १७।१९६
१०. आनन्द निरक्ष्यायं पुरे तत्रात्मघातिनम्।
सर्वस्वारस्य यज्वानमेनं दृष्ट्वाथ विव्यथे॥ नै० १७।२०२
११. क्रतौ महाव्रते पश्यन् ब्रह्मचारीत्वरीरतम्॥ इत्यादि, नै० १७।२०३
१२. यज्वभार्याश्वमेधाश्व ...इत्यादि॥ नै० १७।२०४
१३. क्वापि नापश्यदन्विष्यन् हिंसामात्मप्रियामसौ।
स्वमित्रं तत्र न प्राप्नोदपि मूर्ख मुखे फलिम्॥ नै० १७।१७६
१४. स्नातॄणां तिलकैर्मेने ......इत्यादि॥ नै० १७।१७०
१५. त्रिसन्ध्यं तत्र विप्राणां सपश्यन्नघमर्षणम्॥ नै० १७।१९१
१६. प्राप्नुवन् वेदपण्डितान्......नै० १७।१८५
१७. तपःस्वाध्याययज्ञानामकाण्डद्विष्टतापसः।
स्वविद्विषां श्रियं तस्मिन् पश्यन्नुपतताप सः॥ नै० १७।१९३

थी।[१] तन्त्रोपासना का भी पूर्ण प्रचार था।[२] सदाचार की प्रतिष्ठा थी।[३] अग्निहोत्र में आहवनीय, गार्हपत्य तथा दक्षिण तीनों अग्नियों की पूजा होती थी।[४] ब्राह्मणेतर जातियां सुरतगोष्ठी मे मधुपान किया करती थी।[५] लोग जगन्नाथ जी, प्रयाग, बदरिकाश्रम आदि तीर्थो का भी भ्रमण करते थे।[६] शपथ भी खाते थे।[७] स्नान के पूर्व आचमन करते तथा संकल्प पढ़ते थे।[८] शरीर में लालमिट्टी लगाते,[९] तथा कुश से मार्जन करने का[१०] नियम था।

प्रचलित धारणाएँ

नैषध मे समाज के अन्धविश्वासो का भी यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है। भूतों पिशाचों की सत्ता मे विश्वास था।[११] यात्रा के समय भरत, अर्जुन, पृथु आदि का नामोच्चारण तथा अन्य मङ्गल-विधि करते थे।[१२] नेत्रस्फुरण मे विश्वास[१३] करते थे।

---

१. न वेदध्वनिरालम्बमम्बरे (कलये) विततार वा॥ नै० १७।१९५

२. नै० १४।८८ आदि में वर्णित स्वयं चिन्तामणि-मन्त्र ही उदाहरण रूप है।

३. नापश्यत् सोऽभिनिर्भुक्ताञ्जीवन्मुक्तानवैक्षत॥ नै० १७।१९७

४. नित्यसत्रे तां स त्रेतां पर्यतूतुषत्॥ नै० २०।१०

५. त्वयान्याः क्रीडयन् मन्येमधुगोष्ठिरुपेक्षितः॥ नै० २०।८०

६. ताभिर्दृश्यत एष यान् पथि महाज्येष्ठीमहे मन्महे
यदृग्भिः पुरुषोत्तमः परिचितः प्राग्मञ्चमञ्चन् कृतः।
सस्ने माघमघातिघातियमुना गङ्गौघयोगे यया॥ नै० १५।८९
साऽशृणोत्तस्य वाग्भागमनत्या सत्तिमत्यपि।
कल्पग्रामाल्पनिर्घोषं बदरीव कृशोदरी॥ नै० २०।१०५

७. आमन्त्र्य तेनदेव त्वां तद्वैयर्थ्यं समर्थये।
शपथः कर्कशोदर्कः सत्यं सत्योपि दैवतः॥ नै० २०।११८

८. कल्प्यमानममुनाचमनार्थं गाङ्गमम्बु चुलुकोदरचुम्बि॥ नै० २१।१०

९. मुक्तमाप्य दमनस्य भगिन्या भूमिरात्मदयितं धृतरागा।
अङ्गसंगमनुकं परिरेभे तं मृदो जलमृदूर्गृहयासुम्॥ नै० २१।११

१०. मूलमध्यशिखर-स्थित-वेधः शौरिशम्भुकरकांघ्रिशिरःस्थैः।
तस्य मूर्ध्नि चकरे शुचिदर्भैर्वारि वान्तमिवगाङ्गतरङ्गैः॥ नै० २१।१२

११. शशकलङ्क! भयङ्कर! मादृशां ज्वलसि यन्निशि भूतपतिं श्रितः॥ नै० ४।५५

१२. प्रवसते भरतार्जुनवैन्यवत्स्मृतिधृतोऽपि नल! त्वमभीष्टदः॥ नै० ५।१३४

१३. अन्यत्पुनः कम्प्रमपि स्फुरत्वात्तस्याः पुरः प्राप नवोपभोगम्॥ नै० ६।६

शुभ के समय आंखों से आसू गिरना अशुभ माना जाता था।[१] नासिका के दक्षिण वामस्वर इत्यादि से भी शकुन का विचार किया जाता था।[२] यात्रा में प्रतिकूल पवन भी अपशकुन समझा जाता था।[३] दिग्दाह, भस्मवृष्टि, भूकम्प, रक्तवृष्टि आदि अशुभ उत्पात माने जाते थे।[४] प्रभात बेला में प्रथम-शय्योत्थान के समय अपने प्रिय का मुख देखना शुभकारक माना जाता था।[५]

जैन तथा बौद्ध-सम्प्रदाय

श्रीहर्ष के समय तक भारतवर्ष मे जैन तथा बौद्ध सम्प्रदायों का बहुत ह्रास हो चुका था। नैषध मे वैदिक क्रियाओं का इतना अधिक उल्लेख बौद्ध-धर्म के ह्रास का सूचक है। श्रीहर्ष के आश्रयदाता कान्यकुब्ज तथा काशी के अधिपति गहडवाल राजाओं के बहुसंख्यक दानपत्रों (ताम्रलेखों) से प्रमाणित है कि उन्होंने ब्राह्मणों को षट्कर्मों के पालन और वैदिक मार्ग का पुनरुद्धार करने के लिए अनेकशः दान दिए थे। इससे भी उस समय बौद्ध-संख्या का ह्रास होना निश्चित है। साधारण जनता को भी बौद्ध सम्प्रदाय में आए दोषों के कारण उससे खिन्नता हो गयी थी। फिर भी देश के किन्ही भागो मे इसके मानने वाले थे। सिन्धु देश मे अब भी लोगों की बुद्ध के उपदेशों पर आस्था थी।[६] अब जैन साधु तथा बौद्ध क्षपणक कम दिखायी देते थे।[७] जैन-सम्प्रदाय का वैदिक धर्म से अधिक सघर्ष कभी नहीं रहता था, अतः वैदिक धर्म के उत्थान से उसे कोई विशेष क्षति नही उठानी पड़ती थी। श्रीहर्ष के समय

---

१. दृशोरमङ्गल्यमिदं मिलज्जलं करेण तावत्परिमार्जयामि ते॥ नै० ९।१०६

२. तत्कालवेद्यैः शकुनस्वराद्यैराप्तामवाप्तां नृपतिः प्रतीत्य॥ नै० १०।९१

३. हा हा प्रतीपपवनाशकुनान्न जग्मुः॥ नै० ११।२२

४. यद्भर्तुः कुरुते भिषेणनमयं शक्रो भुवःसा ध्रुवं,
दैग्दाहैरिव भस्मभिर्मघवता वृष्टैर्धृतोद्धूलना।
शंभोर्मा बत सांधिवेलनटनं भाजिव्रतं द्रागिति-
क्षोणीनृत्यति मूर्तिरष्टवपुषोऽसृग्वृष्टिसंध्याधिया॥ नै० १२।९२

५. प्रथमशकुनं शय्योत्थायं तवास्तु विदर्भजा।
प्रियजनमुखाम्भोजात्तुङ्गं यदङ्ग न मङ्गलम्॥ नै० १९।२

६. जिनोक्तिषु श्राद्धतयेव सैन्धवाः॥ नै० १।७१

७. अपश्यज्जिनमन्विष्यन्नजिनं ब्रह्मचारिणाम्।
क्षपणार्थी सदीक्षस्य स चाक्षपणमैक्षत॥ नै० १७।१८९

भी दिगम्बर जैन साधु दिखायी पड़ते थे।[१] देश में तमाम बौद्ध स्तूप बने थे।[२] बुद्ध की विष्णु के अवतार के रूप मे पूजा होने लगी थी। विष्णु-भक्त लोग बुद्ध के क्षणिकवाद, अद्वयवाद, मारविजय, आदि का भावोद्रेक के साथ गान करते थे।[३] बौद्ध-सम्प्रदाय में भिक्षुणियां (योगिनिया) भी धर्मोपदेश दिया करती थी।[४] विहारों में कस्तूरी तथा कर्पूर द्वारा बुद्ध भगवान की पूजा करने वाला पुण्य भागी माना जाता था।[५]

---

१. क्लिन्नकृत्याम्भसा वस्त्रं जैनप्रव्रजिती कृते॥ नै० २०।१२९

२. भूरिशर्करकरम्भबलीनामालिभिः सुगतसौधसखानाम्॥ नै० २१।२७

३. एकचित्ततिरद्वयवादिन्नत्रयीपरिचितोऽथ बुधस्त्वम्।
पाहि मां विधुतकोटिचतुष्कः पञ्चबाणविजयी षडभिज्ञः॥ नै० २१।८७ इत्यादि

४. किं योगिनीयं रजनी रतीशं याजीजिवत्पद्ममम्मुहच्च।
योगर्द्धिमस्या महतीमलग्नमिदं वदत्यम्बरचुम्बि कम्बु॥ नै० २२।२२
प्रबोधकालेऽहनि बाधितानि ताराः ख-पुष्पाणि निदर्शयन्ती।
निशाह शून्याध्वनि योगिनीयं मृषा जगद्दृष्टमपि स्फुटाभम्॥ नै० २२।२३

५. ताराविहारभुवि चन्द्रमयीं चकार यन्मण्डलीं हिमभुवं मृगनाभिवासम्।
तेनैव तन्वि! सुकृतेन मते जिनस्य स्वर्लोकलोकतिलकत्वमवाप धाता॥
नै० २२।१३४

पञ्चदश अध्याय

प्रदान

संस्कृत साहित्य में नैषध का महत्त्वपूर्ण स्थान

कवि किसी काव्य की रचना किसी अन्तर्भावना-विशेष से प्रेरित होकर ही करता है। उस काव्य का वही मूल उद्देश्य एवं प्राणरूप होता है। अतः उस काव्य की समीक्षा करते समय समालोचक का यह प्रथम कर्तव्य होता कि वह उस उद्देश्य अथवा प्रयोजन को वस्तुतः समझने का प्रयत्न करे। क्योकि उस उद्देश्य को प्रत्यक्ष करते ही समालोचक स्वयं कवि के आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है, फिर उसकी समालोचना भी यथार्थ ही होती है।

नैषध में नल-दमयन्ती का चरित्र ही प्रधान वस्तु है। इस प्रकार आज की समालोचना की भाषा मे हम उसे 'चरित्र-प्रधान' काव्य कह सकते है। किन्तु उससे घटनाओं के संघटन, वस्तुओं के रोचक विवरण और भावो तथा रसो के निरूपण में किसी प्रकार की क्षति नही पहुंचने पायी है। सब का पूर्णतम निर्वाह हुआ है। यहां तक कि हम चाहें तो नैषध को 'घटना-प्रधान, भाव या रस प्रधान' अथवा 'वर्णन-प्रधान' भी नाम दे सकते है। किन्तु ध्यान से देखने पर घटना, भाव, रस तथा वर्णन के सौष्ठव से नायक-नायिका के चरित्र का ही विकास होता दिखाई पड़ता है, जिसका विस्तृत विवेचन कथानक के औचित्य वाले अध्याय मे किया जा चुका है। यह श्रीहर्ष की बडी भारी सफलता है। समाज के सम्मुख एक महान् आदर्श नायक एवं आदर्श नायिका का चरित्र रखना ही श्रीहर्ष का नैषध की रचना का प्रयोजन समझ पडता है। केवल नायक के चरित्र का सौन्दर्य अथवा केवल नायिका के चरित्र की उदात्तता दिखाने में काव्य एकाङ्गी एवं अपूर्ण रहता। अतः श्रीहर्ष ने नल-दमयन्ती दोनों के चरित्रों को समाज के सम्मुख पूर्ण देदीप्यमान रूप में रक्खा। यह नैषध की अपनी विशेषता है, जो संस्कृत साहित्य में बहुत कम देखने को मिलती है।

पूर्वोक्त उद्देश्य के साथ श्रीहर्ष जीवन में धर्म, अर्थ, और काम के मंजुल सन्तुलन का भी सन्देश देते हैं। शृंङ्गार प्रधान होते हुए भी नैषध मे अर्थ धर्म (तथा मोक्षोपाय) का भी समान महत्त्व माना गया है। इस प्रकार कवि नैषध द्वारा पूर्ण आदर्श जीवन की प्रतिष्ठा चाहता है।

श्रीहर्ष के परवर्तीकाल की सस्कृत काव्य-रचनाओ पर सबसे अधिक प्रभाव नैषध का पड़ा है। यदि श्रीहर्ष और पहले हुए होते तो सम्भवतः उनके समक्ष भट्टि, माघ आदि का इतना प्रभाव न पड पाता। नैषध का कथानक बनकर तो नल-चरित और भी समुज्ज्वल एल लोकप्रिय हो गया। बाद के कवियो ने न केवल-नैषध की वर्णनशैली को अपनाया अपितु नल-कथा को भी बहुत अपनाया। नल चरित पर अनेक काव्य नाटक एव चम्पू लिखे गए।[१]

प्रसिद्ध विद्वानो द्वारा नैषध पर की गई टीकाओं का इतनी अधिक सख्या में होना भी नैषध की प्राचीन काल से प्रियता तथा प्रसिद्धि का द्योतक है। नैषध पर टीका लिखना विद्वत्ता का प्रमाण माना जाता था—नैषध का अध्ययन वैदुष्य-कारक माना जाता था—"नैषध विद्वदौषधम्।" नैषध के कुछ प्रसिद्ध टीका-कारो का उल्लेख आफ्रेरवट के कैटॅलाग्स कैटॅलागरम् में इस प्रकार हुआ है।

---

१. क्षेमीश्वर का नैषधानन्द (नाटक), लक्ष्मीधर का नलवर्णन (काव्य), रामचन्द्र के नाट्य दर्पण में उद्धृत नलविक्रम, रामचन्द्र का नलविलास (नाटक), नारायण भट्ट का नलायिनी चरित (सम्भवतः चम्पू), रघुनाथ का नलाभ्युदय (नाटक), वामन भट्ट का नलाभ्युदय (महाकाव्य), जीव विबुध का नलानन्द (नाटक), वासुदेव का नलोदय (काव्य), नीलकण्ठ का नल-चरित (नाटक), अज्ञातनाम कवि का नल-भूमिपाल (रूपक), नलकथार्णव, अगस्त्य की नल-कीर्ति-कौमुदी, कालीपाद तर्काचार्य का नल-दमयन्तीय '(नाटक), किसी अज्ञात नाम कवि का नल-हरिश्चन्द्रीय (श्लेष काव्य), माणिक सूरि का नलायन (महा-काव्य), कृष्ण दीक्षित का नैषध-पारिजात, श्रीनिवास दीक्षित का नैषधानन्द, कृष्णानन्द का सहृदयानन्द (काव्य), वन्दारु भट्ट का उत्तर-नैषध, रङ्गनाथ का दमयन्ती-कल्याण, चक्र कवि का दमयन्ती-परिणय (काव्य), राम-शास्त्री का भैमी-परिणय (नाटक), हरदत्त का राघवनैषधीय (श्लेष काव्य), घनश्याम का आबोधाकर (श्लेष काव्य), अज्ञात कवि का कल्याण-नैषध (काव्य), कृष्ण राम का सारशतक (नैषध का सारांश काव्य), पण्डित अ० व० नरसिंहा-चारी का आर्यानैषध (नैषध का सारांश), विद्याधर और लक्ष्मण का प्रतिनैषध, महामहोपाध्याय वेंकट रङ्गनाथ का मञ्जुल-नैषध (नाटक), सुदर्शनाचार्य का अनर्घनलचरित महानाटक, शारदातनय के भावप्रकाशन में उद्धृत विधि-विलसित (नाटक), दमयन्ती-काव्य (चण्डपाल की टीका सहित) इत्यादि कृतियाँ डा० एम० कृष्णामाचारिया द्वारा, हिस्ट्री आफ क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर, में तथा डा० सु० कु० दे द्वारा 'हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर' में उल्लिखित हैं।

१. आनन्द राजानक

राजानक उपाधि से ये काश्मीरी समझ पड़ते है। इन्होने काव्यप्रकाश पर 'काव्यप्रकाश-निदर्शन' नाम की टीका लिखी थी। इनका समय १७वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। इनकी नैषध की टीका का नाम 'नैषधीय तत्त्वविवृति' है, जैसा कि पाण्डुलिपि-लेखक मधुसूदन के इन श्लोको से स्पष्ट है :—

वर्षे ऋतुरसाख्याते मासे माधवसंज्ञके।
कृष्णपक्षे चतुर्दश्यामश्विभे सूर्यवासरे॥
नैषधाभिधकाव्यस्य श्रीहर्षेण कृतस्य च।
राजानकानन्दकृता तत्तत्त्वविवृतिः शुभा॥
मधुसूदनेन लिखिता शोधनीया सदा बुधैः॥

—BORI, D XIII, P 476, No.385

२. ईशानदेव

इनका समय १४वी शताब्दी है। ईशानदेव शैव थे। काशी में रहते हुए उन्होने नैषध की टीका की थी। इनकी टीका का नाम सम्भवतः नैषध-टिप्पण था। इनकी टीका वि० स० १३७८ मे सम्पन्न हुई थी, जैसा कि इन्होने स्वयं कहा है :—

. . . त्रयोदशशतं यद् विक्रमाद् भूपते.
सप्तत्या सहितं ततोपिवसुभिस्त्वस्मान्मया श्रीमता।
श्री काश्या वसता. . . . . . . .टिप्पणं

शवाचार्यतपस्विना विरचित शकै (शाक.) सहस्रै मितम्। ईशानदेवने विद्याधरी टीका की बड़ी प्रशसा की है—"टीका वा बहुतो विचारजटिलां पश्यन्तु विद्याधरीम्।" उन्होने बड़े सरल शब्दो मे पूर्ववर्ती आचार्यो की कृतज्ञता स्वीकार की है :—

"माधुकरीं समाश्रित्य वृत्तिमेतदिहार्जितम्।
मया तपस्विना तस्मादलं काव्यविदां हसैः॥

—BORI, D No. 386 P. 477

३. उदयनाचार्य

ये किरणावली-रचयिता उदयन से भिन्न थे। इन्होंने गीतगोविन्द और रघुवंश पर भी व्याख्यायें लिखी थी। इनका दूसरा नाम उदयाकराचार्य भी था।

इनकी नैषध-टीका का नाम 'मनोहारिणी' था। इनके जीवनकाल के विषय में कुछ निश्चित रूप से नही कहा जा सकता है।

४. गोपीनाथ

इनकी रघुवंश की टीका 'कविकान्ता' का समय १६७७ संवत् दिया हुआ है। इनकी अन्य कृतियाँ 'दशकुमार-कथा', 'सप्तशती' तथा काव्यप्रकाश की 'सुमनो-मनोहरा' टीका है। इनकी नैषध की टीका का नाम 'हर्ष-हृदय' है। सम्भवतः इनके गुरु श्रीधर थे, जिनसे इन्होने नैषध विषयक-व्युत्पत्ति प्राप्त की थी। वे स्वयं कहते है :—

'सितज्योत्स्नामेषश्श (–धाश–) मिततमसः श्रीधरसुधां (धी)–
सुधांशोरादाय प्रगुणवचसां सारममृतम्।
नवामेतां वापी मिव कवि(वरो हर्ष–') हृदया–
भिधां गोपीनाथो नलचरितटीकां वितनुते।

Triemial cat. Mss. collected for the Gov. ori. Mss. Lib Madras, vol. V, No. 4486.

५. चाण्डूपण्डित

इनकी टीका का समय वि० सं० १३५३ है, इन्हीं के शब्दों में :—

"श्री विक्रमार्क (समयात्) शरदामथ त्रिःपञ्चाशता समधिकेषु शतेष्वितेषु।
तेषु त्रयोदशसु भाद्रपदे च शुक्लपक्षे त्रयोदश तिथौ रविवासरे च।"

चाण्डू पण्डित धोलक के निवासी थे। ये नागर श्रोत्रिय ब्राह्मण थे। इनके गुरु का नाम वैद्यनाथ था। चा० प० ने ऋग्वेद पर भी भाष्य लिखा था, जो पूरा उपलब्ध नहीं होता है। इन्होंने होम-चतुष्टय किया था। सम्राट् स्थपति आदि की उपाधि से विभूषित थे। इनकी टीका का नाम 'नैषध-दीपिका' है। यह सारा विवरण चा० पं० ने स्वय प्रथम सर्ग की टीका के अन्त में इस प्रकार दिया है :—

'इति धवलक्कक-वास्तव्य-नागर-श्रोत्रियावतंस-पण्डित-श्री-वैद्यनाथ-शिष्यऋग्-भाष्यकृल्लक्ष-होमचतुष्टयकृत्-सम्राट्स्थपति-सप्तसोम-संस्थाया जिह्वा दशाहाग्नि-विद् (चिद्) दीक्षित-श्रीचाण्डू-विरचिताया नैषध-दीपिकायां हंसगमनो नाम प्रथमः सर्गः।

'नैषध-दीपिका' एक पाण्डित्यपूर्ण टीका है। चा० प० ने विद्याधर की टीका का भी उल्लेख किया है—"टीकां यद्यपि सोपपत्ति-रचना-विद्याधरो निर्ममे" इत्यादि।

बाईसवें सर्ग के अन्त में चा० प० ने अपने पिता का नाम आल्गि पण्डित तथा माता का नाम गौरीदेवी बताया है। नूतन काव्य नैषध श्री मुनिदेव से पढ़ा था :—

श्रीमानाल्गिपण्डितः स्वसमयाविर्भूतसर्वाश्रम
श्चाण्डूपण्डितसंज्ञितं प्रसुषुवे श्रीगौरिदेवी च यम्।
बुद्धा श्रीमुनिदेवसज्ञ-विबुधात् काव्यं नवं नैषध
द्वाविंशे शशिवर्णने विवरण सर्गे स टीकां व्यधात्।

'नैषध-दीपिका' की पाण्डुलिपि "भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट" पूना में सुरक्षित है।

६. चारित्रवर्धन

इनका समय पन्द्रहवी शताब्दी के मध्य के आसपास माना जाता है। नैषध पर इनकी टीका का नाम 'तिलक' है। चा० व० ने कुमारसम्भव तथा रघुवंश पर भी टीकाएँ लिखी थी। उन दोनों का नाम शिशु-हितैषिणी है। राघव-पाण्डवीय, शिशुपालवध तथा मेघदूत पर भी इनकी टीकाएँ है। जैन काव्य "सिन्दूरप्रकर" पर भी इन्होने टीका लिखी है, जिसका रचना-काल १५०५ वि० (१४४९ ई०) है।

७. जिनराज

इनका समय १७वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध के लगभग है। इनकी नैषध टीका का नाम 'सुखावबोधा' है—'इति श्री-जिनसूरि-विरचिताया सुखावबोधायां. . . श्री नैषध महाकाव्यवृत्तौ प्रथमः सर्गा.।' इनके गुरु का नाम श्री जिनसिंह-सूरि था—'ते श्रीमज्जिनसिंह-सूरि-गुरवो मे सन्तु सानुग्रहाः।' इत्यादि। इनकी नैषध टीका को 'जिन-राजी' भी कहते है। इस टीका के अतिरिक्त इन्होने और अनेक ग्रन्थ भी लिखे रहे होगे जो इस समय नही मिलते। "श्री जिनविजय—खरतरगच्छपट्टावली संग्रह", पृ० ३६ के अनुसार जिनराज सं० १६९९, आषाढ़ शुक्ल ९ को स्वर्गवासी हुए थे—"एव विधाः जिनमतोन्नतिकारकाः समस्त-तर्क-व्याकरणच्छन्दो-लकारकोशकाव्यादि-विविधशास्त्रपारिणो नैषधीय-काव्यसंबन्धी

जिनराजीवृत्त्याद्यनेकनवीनग्रन्थविधायकाः श्रीबृहत्खरतरगच्छनायकाः श्रीजिनराजसूरय· स० १६९९ आषाढ सु० ९ पत्तने स्वर्गभाज.।

८. नरहरि

इनका समय १३वीं शताब्दी के मध्य के आसपास माना जा सकता है। इनकी नैषध टीका का नाम दीपिका है। इनके पिता का नाम स्वयभू तथा माता का नाल्मा था। इनके गुरु विद्यारण्य योगी थे। इनके पिता के चरणो की निरन्तर आराधना त्रिलिङ्गाधिपति किया करते थे। प्रत्येक सर्ग के अन्त मे श्रीहर्ष की ही भॉति उन्होने भी अपना पूर्वोक्त परिचय कुछ इस प्रकार दुहराया है :—

य प्रासूत त्रिलिङ्गक्षितिपतिसतताऽऽराधिताङ्घ्रिः स्वयम्भूः
पातिव्रत्यैकसीमा सुकविनरहरिं नाल्मा यं च माता।
य विद्यारण्यियोगी कलयति कृपया तत्कृतौ दीपिकाया
द्वाविंशश्चारुसर्ग. सुकृतसुखयशोधाम नीराजितो भूत्।

नरहरि की दीपिका टीका सम्भवतः दक्षिण भारत मे उस काव्य पर प्रथम टीका थी, जैसा कि नरहरि के इस वाक्य से प्रतीत होता है—"असंनिधावन्यनिबन्धनाना कदापिकुर्यादुपकारमेतत्। तरङ्गिणीनां तरणेरभावे तुम्बीफलेनापि तरन्ति पूरम्॥"

नरहरि ने प्रारम्भ में ही अपनी नम्रता तथा नैषध एवं कवि की रमणीयता का सुन्दर शब्दों में उल्लेख किया है.—

'न मम मतिविलासो वासनाभ्यासजवो (जो वा)
विविधबहुनिबन्धस्कन्धसंवाहन वा।
तरलयति मनो मे केवलं नैषधीयं
चरित मखिललोकश्लोकनीयं कवेश्च॥' इत्यादि

इनकी और रचनाओ के विषय में कोई ज्ञान नही है।

९. नारायण

ये महाराष्ट्र प्रान्त के थे। इनका पूरा नाम नारायण वेदरकर था। इनकी नैषध टीका का नाम नैषधप्रकाश है, जो प्रकाशित हो चुकी है, तथा नैषध की सर्वश्रेष्ठ टीका मानी जाती है। उनके पिता नरसिंह पण्डित, माता मदालसादेवी, गुरु रामेश्वर तथा गुरुपत्नी सीतादेवी थी। उन्होंने अपना परिचय इस प्रकार दिया है :—

"नत्वा श्रीनरसिहपण्डितपितु पादारविन्दद्वय
मातुश्चापि .मदालसेत्यभिधया विख्यातकीर्तेः क्षितौ
श्रीरामेश्वर-सीतयो सुमनसोर्गुर्वोरगर्वो यथा–
बुद्धि श्रीनिषधेन्द्र-काव्यविवृति निर्माति नारायण.॥"

और प्रति सर्ग के अन्त मे कहते है :—

'इति श्री वेदरकरोपनामकश्रीमन्नरसिहपण्डितात्मजनारायणकृतौ नैषधीय-प्रकाशे'—इत्यादि।

नारायण ने मेदिनीकोश के उद्धरण दिए है, तथा उनकी टीका की एक पाण्डुलिपि मे वि० स० १६९३ (१६३७ ई०) अङ्कित है, अतः प्रो० हान्दिकी नारायण का समय १४वी शताब्दी तथा १७वीं शताब्दी के भीतर मानते है।

१०. भगीरथ

म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने इनका समय १७वी शताब्दी माना है। इनकी नैषध की टीका का नाम भागीरथी है, और प्रत्येक सर्ग को प्रवाह कहा है। इनके पिता हर्षदेव थे, जो सोमपायी पुरोहित बलभद्र के वशज थे। बलभद्र कूर्माचल (कुमाऊँ) के नरेश श्री रुद्रचन्द्र के वशज महाराज उद्योतचन्द्र के आश्रित पुरोहित थे। भगीरथ ने अपने को 'आवसथ्य' कहा है, सम्भवतः यह उनका उपनाम या गोत्र-नाम था। उन्ही के शब्दों में—"इति श्रीकूर्माचलेन्द्रश्रीरुद्रचन्द्र–गोत्रापत्य-कल्पद्रुमाद्यधिक-राजर्षिवर्य-श्रीमदुद्योतचन्द्राश्रितपुरोहित-सोमपायि-बलभद्रगोत्रापत्य-हर्षदेवात्मजावसथ्यभगीरथविरचिताया भागीरथ्याख्याया नैषध-व्याख्यायामष्टमः प्रवाहः।"

नैषध के अतिरिक्त भगीरथ ने 'काव्यादर्श', 'किरातार्जुनीय', 'कुमार', 'देवीमाहात्म्य', 'महिम्नस्तोत्र', 'मेघदूत', 'रघुवंश' तथा 'शिशुपालवध' पर भी टीकाएँ लिखी थी।

११. भरतमल्लिक या भरतसेन

इनका समय १७वी शताब्दी का मध्य था। इनके पिता गौरङ्गमल्लिक थे, जो हरिहरखान के वंशज थे। ये शैव थे। इनकी नैषध टीका का नाम सुबोधा है। इन्हीं के शब्दों में—"हरिहरखानवंशसम्भूतगौराङ्गमल्लिकात्मज-श्रीभरतसेन-कृतायां नैषध-टीकयां सुबोधाया द्वितीय. सर्ग.।"

भरतसेन की कुछ ये मौलिक रचनाएँ है—१ उपसर्गवृत्ति, २ एकवर्णार्थ-सग्रह, ३. कारकोल्लास, ४ द्रुतबोधव्याकरण, ५. द्विरूपध्वनिसग्रह, ६. वैद्य-कुलतत्त्व, ७. सुखलेखन, ८. गणपाठ।

इन्होंने नैषध के अतिरिक्त इन अन्य ग्रन्थो पर भी टीकाएँ की थी :—

१ अमर-कोश, २ किरातार्जुनीय, ३. कुमारसम्भव, ४ घटकर्पर, ४. नलोदय, ६ भट्टिकाव्य, ७. मेघदूत, ८ लिङ्गादिसंग्रह, ९. रघुवश, १० शिशु-पालवध और ११. कुमारभार्गवीय।

१२. भवदत्त या भवदेव

इन्होने अपने वश का बड़ा विस्तृत परिचय दिया है। इनके पिता का नाम देवदत्त तथा माता का अरुन्धती था। इनकी नैषध टीका का नाम सारसरस्वती है, जिसे उन्होने अपने यौवन के प्रारम्भ में ही लिखा था—'तथापि बाल्याच्चपलत्व-मुच्चैरेत्य(—रत्र) प्रवृत्तोस्मि विधातुमेताम्। टीका यथावद् विधुरोऽपि काव्य बालस्य किं कृत्यविधौ विचार।' इनमें पर्याप्त विनयशीलता दिखाई पड़ती है। इनकी नैषध टीका का समय लक्ष्मण स० २१६ अर्थात् ई० सन् १३३५ दिया हुआ है—("रसचन्द्रनेत्रगणिते वर्षे तथा लक्ष्मणे")। इनकी अन्य रचनाओं में केवल 'शिशुपालवध' की टीका 'तत्त्वकौमुदी' का पता चलता है।

१३. मथुरानाथ शुक्ल

इन्होंने 'अघपञ्चविवेचन' आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। इनकी नैषध की टीका अपूर्ण मिलती है।

१४. मल्लिनाथ

रघुवश आदि के प्रसिद्ध टीकाकार हैं। इनकी नैषध की टीका का नाम 'जीवातु' है। इनका समय १५वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध के लगभग है। इनको अपनी टीका की श्रेष्ठता का अभिमान है :—

> "श्रीमल्लिनाथविदुषा विदुषां मतेन तेनैष नैषधकथामृतकाव्यबन्धः।
> व्याख्यायते स्फुटसभावगुणार्थशब्दसध्वन्यलङ्कृतिरहस्यविदा मुदे तत्।"
> "क्षुद्रव्याख्याविषार्तानां श्रीहर्षकवि सदगिराम्। उज्जीवनाय जीवातु-र्जीयदिषमया कृत.॥"

१५. महादेव विद्यावागीश

इनका समय १७वी शताब्दी का प्रारम्भ है, क्योकि 'आनन्दलहरी' की टीका का समय १६०६ ई० है। इनकी नैषध टीका का कोई विशेष नाम नही है। यह अत्यन्त संक्षिप्त है—जैसा कि उन्होने स्वय कहा है :—

"श्री रामचरणौ नत्वा महादेवाख्यशर्मणा।
नैषधीयप्रबन्धेऽस्मिन्नतिसक्षिप्य लिख्यते।।

अपनी टीका के प्रारम्भ मे इन्होने श्लोक में पूरे सर्ग का सक्षेप मे कथानक दे दिया है। नैषध-टीका के अतिरिक्त इन्होने 'आनन्दलहरी' तथा "जातकार्णव" पर भी टीकाएँ लिखी हैं।

१६. रामचन्द्र शेष

इनका समय १५वी शताब्दी का उत्तरार्ध तथा १६वी का पूर्वार्ध माना जा सकता है। उनकी नैषध की टीका का नाम भावद्योतनिका है, इसे 'सर्वानिवद्यकरिणी' भी कहा है। इन्हें कविकुल-तिलक की भी उपाधि थी—'इति कविकुलतिलक श्रीशेषरामचन्द्रविरचिताया नैषधीयचरितभाव-द्योतनिकायां सर्वानिवद्यकरण्यामष्टमः सर्गः।' ये काशी के शेषनारायण के शिष्य थे।

१७. वंशीवदन शर्मा

इनके पिता का नाम वसिष्ठ तथा माता का रायमती था :—

श्री वशीवदनं विशिष्टविनय विद्वज्जनप्रीणन
सूते रायमती सती मतिमती श्रीमान् विशिष्टः स्वः यत् (वसिष्ठः
स्वयम्) इत्यादि।

इनकी नैषध-टीका अत्यन्त सक्षिप्त है। ये राम के भक्त थे :—

श्री-राम-चरणौ नत्वा वशीवदन-शर्मणा।
नैषधीयप्रबन्धेऽस्मिन्नि (न्न) ति सक्षिप्य उच्यते।

इनकी अन्य कृतियाँ—गोपीचन्द्र के 'संक्षिप्तसार' की टीका, 'कृदन्तटीका' 'तद्धितटीका', 'सन्धिटीका,' 'सुबन्तपादविवरण', 'कारकपादटिप्पणी' हैं। इनका समय १३वीं शताब्दी के लगभग माना जा सकता है।

१८. विद्याधर

इनके पिता का नाम रामचन्द्र भिषक् और माता का सीता था। इनकी उपाधि साहित्यविद्याधर थी :—

"श्रीसौरद्विजवंशमौक्तिकमणिश्रीरामचन्द्रोभिषक्
श्रीसीता सुपतिव्रता गुणवती सीतेव माता च यम्।
श्रीविद्याधरमात्मज प्रसुषुवे साहित्यविद्याधरो '(र)
तस्यायं विगत प्रबन्धविषये सर्गो द्विसख्यायुत' ॥

इनकी नैषध की टीका विद्याधरी या साहित्य-विद्याधरी नाम से प्रसिद्ध है। यह नैषध की सबसे प्राचीन टीका उपलब्ध है। चाण्डू पण्डित ने इस टीका को 'सोपपत्ति' माना है। इसमे नैषध के श्लोको के अलङ्कार आदि का भी विवेचन किया गया है। इनका समय १३वी शताब्दी के मध्य के लगभग है।

१९. विद्यारण्य योगी

वस्तुतः टीकाकार नरहरि है, जिन्होने विद्यारण्य का अपने गुरु-रूप में उल्लेख किया है।

२०. विश्वेश्वराचार्य

ये भट्ट वंश के थे। आचार्य इनकी उपाधि थी। इको गागाभट्ट भी कहते थे। ये कमलाकर भट्ट तथा नैषध के ही टीकाकार लक्ष्मण भट्ट के भतीजे थे। इनके पिता का नाम दिनकर भट्ट था। विश्वेश्वर की नैषध टीका का नाम "पदवाक्यार्थ पञ्जिका" है। इस टीका के अतिरिक्त इन्होंने लगभग १४ अन्य ग्रन्थ भी लिखे, जिनका विवरण 'कैटलाग्स कैटलागरम्' में देखा जा सकता है। इनके चाचा कमलाकर का समय १६१२ ई० निश्चित है, अतः इनका समय सत्रहवी शताब्दी सुगमता से निश्चित की जा सकती है। विश्वेश्वराचार्य ने छत्रपति शिवाजी का राज्याभिषेक भी सन् १६७४ ई० मे देखा था।

२१. श्रीदत्त

म० म० काणे ने इनका समय १३वी शताब्दी के अन्त के आसपास माना है। इनकी अन्य कृतियाँ 'श्राद्धकल्प', 'आचारादर्श' तथा 'समयप्रदीप' मानी जाती हैं।

२२. श्रीनाथ

इनके पिता का नाम श्रीकराचार्य था।—"श्री कराचार्यपुत्रेण श्रीमच्छ्रीनाथ शर्मणा। प्रीतये विदुषां चक्रे कृत्य-काल-विनिर्णय.।" इनकी अन्य कृतियाँ 'भोगि-

नीदण्डक', 'कृत्यतत्त्वार्णव', 'रघुवश टीका' है। इनका समय १४वी शताब्दी का पूर्वार्द्ध है।

२३. सदानन्द

इनकी नैषध टीका अत्यन्त अपूर्ण टिप्पणी के रूप मे मिली है। टीकाकार के विषय में कुछ अधिक ज्ञात नही। इनकी दो अन्य कृतियाँ और मानी जाती हैं—(१) सिद्धान्त-चिन्तामणि (ज्योतिष), (२) पद्यत्रयीव्याख्यानम्।

इनके अतिरिक्त करीब इतनी ही अन्य टीकाएँ भी नैषध पर मिलती हैं।

संस्कृत काव्य परम्परा का प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अन्य सब प्रकार से चरमोत्कृष्ट स्वरूप नैषध है। गद्यकाव्यो मे जैसे बाण की कादम्बरी अद्वितीय रही है पद्यकाव्यो में उसी प्रकार नैषध अप्रतिम है। कुछ विद्वानों ने कालिदास के रघुवंश तथा कुमारसम्भव को प्रकृतिपरक अर्थात् स्त्रीचरित्र का महत्त्व बताने वाला, भारवि का किरात तथा माघ का शिशुपालवध पुरुष परक, अर्थात् पुरुष चरित्र को महनीय करने वाला कहा है, एव नैषध को प्रकृति-पुरुष-परक अर्थात् स्त्री-पुरुष दोनों के चरित्र को समान रूप में महान् बताने वाला काव्य माना है :—

"द्वे स्तोत्रे प्रकृते:, पुसो द्वे, चैकमुभयोरपि।
पञ्चस्वेतेषु पाण्डित्यं पुरुषार्थोहि पञ्चम.।"

कवि की अद्भुत कल्पना से सम्पन्न तथा अपरिमेय व्युत्पत्ति से समृद्ध होकर भी मृदु पदावली, प्रसाद-गुण तथा वैदर्भी-शैली के कारण नैषध सदा से विद्वानों का कण्ठहार रहा है। इसकी वैदर्भी-शैली की प्रशंसा करते हुए हंस ने उचित ही कहा था :—

धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इत स्तुति· का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥

—नै० ३।११६

सहायक ग्रन्थावली

१. ऋग्वेदसंहिता
२. शुक्लयजुर्वेदसंहिता
३. रेलिजन एंड फिलासफी आफ दि वेद—कीथ
४. शतपथ ब्राह्मण—अच्युतग्रन्थमाला १९९४ वि०
५. तैत्तरीय आरण्यक
६. अष्टाध्यायी—पाणिनि
७. पाणिनीय शिक्षा ,
८. बृहद्दैवज्ञरञ्जन—लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस प्रकाशन, १९८१ वि०
९. बृहत् सहिता—वराहमिहिर
१०. बृहज्जातक

उपनिषद्

११. छान्दोग्य उपनिषद्
१२. बृहदारण्यक उप०
१३. तैत्तरीय उप०
१४. मुण्डक उप०
१५. नारायण उप०
१६. आश्वलायनश्रौतसूत्र
१७. आपस्तम्बश्रौतसूत्र
१८. वाल्मीकि रामायण—नि० सा० प्रे०
१९. महाभारत—चित्रशाला प्रेस, पूना
२०. वायुपुराण
२१. मत्स्यपुराण
२२. स्कन्दपुराण
२३. लिङ्गपुराण
२४. कूर्मपुराण
२५. अग्निपुराण

२६. श्रीमद्भावगत पुराण
२७. शिवपुराण
२८. देवीभागवत
२९. मार्कण्डेयपुराण
३०. अग्निपुराण
३१. हरिवंशपुराण
३२. विष्णुपुराण
३३. भविष्यपुराण
३४. ब्रह्मपुराण
३५. ब्रह्मवैवर्तपुराण
३६. पद्मपुराण
३७. ब्रह्माण्डपुराण
३८. महिम्नःस्तोत्र
३९. अहिर्बुध्नसहिता—आड्यार पुस्तकालय, अड्यार मद्रास
४०. साधनमाला—गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज़
४१. जातक—वी० फाउसबोल द्वारा सम्पादित : टूबर एंड कं० लंदन।
४२. आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प —त्रि० सं० सि०
४३. मनु-स्मृति—गुजराती प्रिंटिंग प्रेस बम्बई १९१३ ई०।
४४. याज्ञवल्क्य स्मृति—मिताक्षरा-सहित नि० सा० प्रे०, १९१८
४५. निर्णयसिन्धु—नि० सा० प्रेस
४६. चरकसंहिता
४७. सुश्रुतसहिता
४८. न्यायसूत्र, गौतम—वात्स्यायन-भाष्य-सहित
४९. वैशेषिक-सूत्र, कणाद—उपस्कार-सहित
५०. तर्कभाषा
५१. न्यायसूत्र—वात्स्यायन-भाष्य पर न्यायवार्तिक-सहित
५२. न्यायसूत्र—न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका-सहित, का० सं० सि०
५३. सर्वसिद्धान्तसग्रह—रा० ब०, एम० रङ्गाचार्य द्वारा प्रकाशित, मद्रास
५४. किरणावली—उदयन
५५. न्यायकन्दली—झा अनुवाद
५६. षड्वर्गप्रकरण—त्रिवेन्द्रम् सं० सि०
५७. तर्कसंग्रह—चौ० सं० सि०

५८. प्रशस्तपादभाष्य—व्योमशिवाचार्य-कृत व्योमवतीसहित — का० स० सि०
५९ विवरणप्रमेयसग्रह—ब० एस० एस०
६०. सर्वमत-सग्रह—त्रि० स० सि०
६१. श्लोकवार्तिक—कुमारिल-पार्थसारथि की टीका-सहित
६२. वेदान्त-सूत्र—शङ्कर-भाष्य-सहित
६३. वेदान्त-सूत्र—शङ्कर-भाष्य तथा भामती-सहित
६४. वेदान्त-सूत्र—श्रीभाष्य-सहित
६५. प्रकरण-पञ्चिका
६६. विधि-विवेक—मण्डन मिश्र : (न्यायकणिका-सहित, बनारस प्रकाशन)
६७. षड्दर्शन-समुच्चय—हरिभद्र : एशियाटिक सोशायटी प्रकाशन
६८. न्यायसार—भासर्वज्ञ : त्रि० स० सि०
६९. न्यायकुसुमाञ्जलि—उदयन
७०. सर्वदर्शनसंग्रह—सायणमाधव, पूना प्रकाशन
७१. साख्यकारिका—ईश्वरकृष्ण
७२. योग-सूत्र—पतञ्जलि, व्यासभाष्य-सहित
७३. योग-सूत्र—तत्त्ववैशारदी-सहित
७४. अद्वैयत्रवज्र-संग्रह
७५. बोधिचर्यावतार
७६. बोधिचर्यावतारपञ्जिका
७७. श्रीमद्भगवद्गीता
७८. खण्डन-खण्ड-खाद्य—चौखम्बा संस्कृत सिरीज़ १९१४ ई०।
७९. गौडपादकारिका
८०. राजतरङ्गिणी—कल्हण
८१. बहत्कथामञ्जरी—क्षेमेन्द्र
८२. कथासरित्सागर—सोमदेव भट्ट : नि० सा० प्रे०
८३. प्रबन्धकोश —राजशेखर सूरि
८४. अनेकार्थ-सग्रह—हेमचन्द्र, जकराया प्रकाशन १८९३ ई०
८५. अमरकोश—अमरसिंह, भानुजि दीक्षित की टीका-सहित : नि०सा०प्रे०।
८६. कामसूत्र—वात्स्यायन . निर्णयसागर प्रेस
८७. जातिभास्कर—खेमराज श्रीकृष्णदास
८८. चिन्तामणि—प० रामचन्द्र शुक्ल, इडियन प्रेस प्रयाग, १९५१ ई० नूतन

८९. काव्यप्रकाश—मम्मट, भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना
९०. ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धन, अभिनव•की लोचन टीका सहित, काव्य माला १८९१ ई०
९१. ध्वन्यालोक—आनन्द-वर्धन, चौ० स० सि०, बनारस
९२. व्यक्तिविवेक—महिम-भट्ट, त्रिवेन्द्रम स० सि०
९३. काव्य-कल्पलता—अरिसिंह, अमरचन्द्रयति की वृत्ति-सहित, काशी सस्कृत सिरीज
९४. काव्य-मीमासा—राजशेखर, चौ० सं० सिरीज़, १९३४ ई०
९५. दशरूपक—धनंञ्जय, काव्यमाला
९६. काव्यादर्श—दण्डी
९७. काव्यालंकार—भामह
९८. काव्यालकार-सूत्र—वामन
९९. वक्रोक्तिजीवित—कुन्तक, डा० दे द्वारा सम्पादित
१००. काव्यालंकार—रुद्रट
१०१. अलंकार-सर्वस्व—रुय्यक, जयरथ टीका सहित काव्यमाला १८९३।
१०२. काव्यानुशासन—हेमचन्द्र, काव्यमाला
१०३. काव्यानुशासन —वाग्भट्ट, काव्यमाला
१०४. कविकण्ठाभरण—क्षेमेन्द्र, चौ० सं० सि०
१०५. साहित्य-दर्पण—विश्वनाथ
१०६. रसगङ्गाधर—पण्डित-राज जगन्नाथ
१०७. नैषध—श्री हर्ष, नारायण की नैषध-प्रकाश टीका सहित, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९४२ ई०
१०८. नैषध—श्रीहर्ष, चाण्डू पण्डित की नैषधदीपिका सहित, भण्डारकर ओरिएण्टल इन्स्टी० पूना से प्राप्त
१०९. नैषध—श्रीहर्ष, विद्याधर की विद्याधरी सहित, भं० ओ० रि० इं० पूना से प्राप्त
११०. नैषध—श्रीहर्ष, नारायण की नैषध-प्रकाश टीका सहित, भं० ओ० सि० इं० पूना से प्राप्त
१११. नैषध—श्रीहर्ष, मल्लिनाथ की जीवातु सहित
११२ नैषध—श्रीहर्ष, हान्दिकी, अंग्रेज़ी-अनुवाद-सहित
११३. श्रीकण्ठचरित—मङ्ख
११४ मेघदूत—कालिदास

११५. बुद्धचरित—अश्वघोष
११६. कुमारसम्भव—कालिदास
११७. शिशुपालवध—माघ
११८. धर्मशर्माभ्युदय—हरिचन्द्र, काव्यमाला : नि० सा० प्रे०
११९. रघुवंश—कालिदास
१२०. किरात—भारवि
१२१. भर्तहरिशतक—भर्तृहरि, बम्बई संस्कृत सिरीज १८८५ ई०
१२२. नल चम्पू—त्रिविक्रम भट्ट
१२३. अनर्घराघव—मुरारि, रुचपति की टीका सहित, निर्णय सागर प्रेस, बबई।
१२४. उत्तर-रामचरित —भवभूति
१२५. अभिज्ञान-शाकुन्तल—कालिदास
१२६. प्रबोध चन्द्रोदय—कृष्णमिश्र
१२७. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स—काणे, नवीन संस्करण १९५१ (संस्कृत अलंकार शास्त्र का इतिहास (अंग्रेजी)
१२८ हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर—दे . कलकत्ता यूनिवर्सिटी १९४७ (संस्कृत में साहित्य का इतिहास अंग्रेजी)
१२९. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर—कीथ (संस्कृत साहित्य का इतिहास, अंग्रेजी)
१३०. हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर—डा० एम० कृष्णामाचारियर
१३१. इण्डियन एण्टीक्वेरी
१३२. जे० बी० आर० ए० एस०
१३३. सिद्धभारती (द्वितीय भाग), इण्डोलाजिकल सिरीज, होशियारपुर
१३४. प्रो० श्रीधर रामकृष्ण के द्वितीय भ्रमण का विवरण
१३५. सरस्वती भवन स्टडीज
१३६. ओरियण्टल कान्फ्रेंस, प्रयाग, १९२६ ई० का विवरण
१३७. न्यू इण्डियन एण्टीक्वेरी
१३८. जे० बी० ओ० आर० एस०
१३९. इण्डियन कल्चर
१४० झा-स्मारक-ग्रन्थ (अंग्रेज़ी)